Appendix-II

University of Rajasthan
Jaipur

SYLLABUS

(IIIrd Semester :- Geography)

Three / Four Year U.G. Programme in Social Science/ Science

B. A. (UG 9101) / B. Sc. Biology (UG 0802) / B. Sc. Maths (UG 0803)

(Syllabus for Regular as well as Non-collegiate students)

SUBJECT: GEOGRAPHY

B.A./B.Sc. III & IV Semester

(2024-25)

Dy. Registrar
(Academic)
University of Rajasthan
JAIPUR

Syllabus

B. A. (UG 9101) / B. Sc. Biology (UG 0802) / B. Sc. Maths (UG 0803)

Semester III (2024-25)

GEO- 63T- 201- Physical Geography-II

Code of Course	Title of the Course	Level of the Course	Credits of the Course
GEO- 63T- 201	Physical Geography-II	6	4
Types of the Course	**Delivery type of the Course**		
Major	Lecture, 60 Lectures including diagnostic and formative assessments during lecture hours		
Prerequisites	Central Board of Secondary Education or Equivalent		
Objectives of the Course	To attain knowledge in detail about physical geography and associated branches.		

Note:- There will be no internal Assessment and mid-term exam for Non-collegiate (NC) students. The main theory exam for NC Students will be out of 100 maximum marks.

Duration- 3 Hours

Max. Marks- 20+80 (100)
Min. Marks- 8+32 (40)

Pattern of Examination	Bifurcation of Marks	
	Regular Students	**NC Students**
Part A	10 × 2= 20	10 × 2= 20
Part B	15 × 4=60	20 × 4= 80
Total	**80**	**100**

Note:

1. *Internal assessment will be as per University Norms.*
2. *End Semester Examination question paper will comprise of two parts: Part A and Part B.*
3. *Part A will comprise of TWO questions consisting Map Work and Multiple-Choice Questions (MCQs)/ Short Answer type questions.*

Dy. Registrar
(Academic)
University of Rajasthan
JAIPUR

4. *Part B will comprise of FOUR descriptive questions with Internal choice from each unit.*
5. *In all student will have to attempt total 6 questions, 2 questions from Part A and 4 questions from Part B.*

Syllabus

Unit – I

Composition & Structure of the Atmosphere; Insolation & Heat budget of the Earth; Atmospheric Temperature: Horizontal and Vertical distribution; Inversion of Temperature; Atmosphere Pressure, Pressure belts & Planetary winds.

वायुमण्डल का संगठन एवं संरचना, सूर्यातप एवं पृथ्वी का ऊष्मा बजट, वायुमंडलीय तापमान का क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर वितरण, तापमान की विलोमता, वायुदाब, वायुदाब पेटियाँ और ग्रहीय पवनें।

Unit – II

Mechanism of Indian monsoon and jet streams; Classification of Clouds and Precipitation; Types of Air Masses, Fronts & Cyclones; Classification of World Climate- Koppen's Thornthwaite's & General climatic classification.

भारतीय मानसून प्रणाली एवं जेट स्ट्रीम, बादलों और वर्षा का वर्गीकरण, वायुराषियाँ, वाताग्र एवं चक्रवातों के प्रकार, विष्व जलवायु का वर्गीकरण – कोपेन, थोर्नथ्वेट एवं सामान्य जलवायु वर्गीकरण।

Unit – III

Oceanography: Definition, nature and Scope; Hydrological Cycle; Surface Configuration of Pacific, Atlantic and Indian Ocean's bottom; Horizontal and Vertical distribution of Oceanic Temperature and Salinity.

महासागरीय विज्ञानः परिभाषा, प्रकृति और विषय क्षेत्र, जल चक्र, प्रशांत, अटलांटिक और हिंद महासागर के तलीय उच्चावच, महासागरीय तापामन एवं लवणता का क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर वितरण।

Unit – IV

Oceanic Movements- Tides, Waves and Oceanic Currents; Coral Reefs; Oceanic Deposits.

महासागरीय संचलन– ज्वारभाटा, लहरें एवं महासागरीय धाराएँ, प्रवाल भित्ति, महासागरीय निक्षेप।

Recommended Readings:

- Bloom, A. L. (2003). Geomorphology: A Systematic Analysis of Late Cenozoic Landforms.

Dy. Registrar
(Academic)
University of Rajasthan
JAIPUR

Unit-I
(कक्षा - प्रथम)

Topic:- Composition and structure of The Atmosphere.
(वायुमण्डल का संगठन व संरचना)

प्रश्न:- (1) वायुमण्डल के संघटन एवं विभिन्न परतों की संरचना को समझाइये (2014, 2018, 2022)

उत्तर:- Atmosphere – Atmos - वाष्प vapour
sphere - मण्डल

परिभाषा:- पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए वायु के विस्तृत आवरण को वायुमण्डल कहते हैं,

मॉक हाउस के अनुसार:- "वायुमण्डल गैस की एक पतली परत है। जो गुरूत्वाकर्षण के कारण पृथ्वी के साथ जुड़ी हुई है"

वायुमण्डल का संघटन:- वायुमण्डल कई गैसों का मिश्रण है, गैसों के अलावा वायुमण्डल में जलवाष्प तथा धूलकण भी पाये जाते हैं। पृथ्वी की सतह पर विभिन्न प्रकार के जीवों का अस्तित्व इसी वायुमण्डल के कारण ही सम्भव होता है, सागर तल से 29 हजार km तक वायुमण्डल विद्यमान है।

(i) नाइट्रोजन :-(Nitrogen):-(N_2)
वायुमण्डल मे सर्वाधिक मात्रा में उपस्थित गैस है, जीवों मे पाये जाने वाले नाइट्रोजनी यौगिकों में वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का उपयोग होता है। यह गैस रंगहीन, गंधहीन, स्वादहीन माना जाता है, यह गैस वायुमण्डल मे 128 Km की ऊँचाई तक पायी जाती है,

(2) ऑक्सीजन :-(Oxygen) O_2
इसे प्राण वायु भी कहते हैं, ऑक्सीजन अन्य रासायनिक तत्वों के साथ सुगमता से मिलकर अनेक प्रकार के यौगिको की रचना करती है। यह गैस वस्तुओं के जलने के लिए आवश्यक है। वायुमण्डल में यह 64 Km की ऊँचाई तक फैली हुई है,

(3) आर्गन :-(Argon):-
आर्गन कम महत्व की एक निष्क्रिय गैस है, पोटेशियम के आइसोटोप के रेडियोधर्मी क्षय के अवशेष मे आर्गन उत्पन्न होती है। इसका उपयोग बिजली के बल्बों, वेल्डिंग तथा लेसर मे होता है।

(4) (CO_2) कार्बन - डाइ - ऑक्साइड :-
यह गैस भारी होने के कारण केवल 32 Km की ऊचाई तक विद्यमान रहती है, सभी प्रकार की वनस्पतियाँ प्रकाश संश्लेषण के दौरान इसका उपयोग करती है। इसकी अधिक मात्रा होने से प्रदूषण का कारण बनती है।

(5) हाइड्रोजन :- (Hydrogen) :-
हल्की होने के कारण यह गैस 1100 km की ऊँचाई पर भी पायी जाती है, वायुमण्डल में यह अत्यल्प अंश (0.01%) के रूप में पाई जाती है।

(6) ओजोन :- (Ozone) :-
यह ऑक्सीजन के तीन अणुओं से मिलकर बनती है, यह सूर्य से आने वाली पराबैंगनी विकीरण को अवशोषित कर लेती है, यदि ओजोन इन किरणों को नहीं सोखती तो ये पृथ्वी तल पर पहुँचकर जीव-जगत् के अस्तित्व के लिए खतरा बन सकती है।

(7) जलवाष्प :- (Water Vapours) :-
जलवाष्प अधिकांशत वायुमण्डल की निचली परतों तक सीमित रहती है, ऊँचाई में वृद्धि के साथ जलवाष्प की मात्रा में कमी होती जाती है। जलवाष्प की वायु में अधिकतम 5% प्रतिशत रहती है, जलवाष्प का 90 प्रतिशत भाग 8 km की ऊँचाई तक सीमित है। वायुमण्डल में जलवाष्प की औसत मात्रा 2% प्रतिशत है, जलवाष्प सूर्य से आने वाले सूर्यताप के कुछ भाग को अवशोषित कर लेती है। जलवाष्प के संघनन से ही वृष्टि सम्भव होती है, यह धरातल के तापमान को सम बनाये रखने में सहायक होती है,

(8) एयरोसोल्स एवं धूल के कण :- (Dust Particles) :-
वायुमण्डल का संचलन बड़ी मात्रा में ठोस एवं तरल रूप में तैरते कणों की मात्रा पर निर्भर करता है। वायुमण्डल में पवन की गति के कारण सूक्ष्म धूल के कण उड़ते रहते हैं, इनमें सूक्ष्म मिट्टी,

धुआँ, परागकण, राख, ज्वालामुखी धूल प्रमुख हैं। वायुमण्डलीय गैसों तथा धूल कणों के द्वारा प्रकीर्णित होता है। उसी से आकाश नीले रंग का दिखाई देता है, ये कण ही सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय आकाश में लाल और नारंग रंग की आभा का निर्माण करते हैं, जिसे "गोधूलि बेला" कहते हैं।

☆. वायुमण्डल की संरचना :- (Structure of the Atmosphere):-

⇒ तापमान तथा वायुदाब के आधार पर वायुमण्डल को निम्न मण्डलों में बाटा गया है,

(1) शोभ मण्डल (Troposphere):-
(2) समताप मण्डल (Stratosphere):-
(3) मध्य मण्डल (Mesosphere):-
(4) ताप मण्डल (Thermosphere):-
(5) आयन मण्डल (Ionosphere):-
(6) बहिर्मण्डल :- (Exosphere):-

(i) शोभमण्डल :- (Troposphere):- (ट्रोपोस्फेयर) → टीजरेन्स-डी-बोर्ट (1908)

- यह वायुमण्डल की सबसे निचली परत है। इस परत की धरातल से औसत ऊँचाई (12-13) km है। भूमध्य रेखा पर 16-18 km व ध्रुवों पर 6-8 km है, इस परत में ऊँचाई में वृद्धि के साथ तापमान में गिरावट आती है। इसमें प्रति 1 कि.मी. की ऊँचाई पर 6.5°C तापमान गिर जाता है, जिसे तापमान की 'सामान्य ह्रास दर' कहते हैं, इस परत में मौसम सम्बन्धी घटनाएँ

होती है, इस परत में जलवाष्प तथा धूल-कण सबसे अधिक मात्रा में होते हैं,

⇒ शोभमण्डल की ऊपरी सीमा शोभ सीमा कहते हैं, यह 1.5 Km मोटी परत होती है। यह शोभ मण्डल तथा समताप मण्डल के मध्य एक संक्रमण क्षेत्र के रूप में स्थित है।

(2) समताप मण्डल:- (Stratosphere)(स्ट्रेटोस्फेयर):-
यह शोभमण्डल के ऊपर का भाग होता है। इस परत की औसत ऊँचाई 50 किलोमीटर है। इस परत में तापमान सम रहता है, यह मण्डल मौसमी हलचल से मुक्त रहता है, इसमें क्षीण क्षैतिज हवा चलती रहती है,

ओजोन मण्डल:-
समताप मण्डल के उपरी भाग में 30 से 50 Km. के मध्य ओजोन गैस उपस्थित होती है। यह सूर्य से आने वाली पराबैंगनी विकिरणों का शोषण कर ताप नियंत्रण मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है,

⇒ ओजोन परत की खोज - 1913 फ्रेंच चार्ल्स फेब्री एवं हेनरी ब्यूजिन ने की थी। इसके गुणों की खोज - डाब्सन ने की ओजोन की मात्रा को मापने की इकाई को 'डाब्सन इकाई' कहा जाता है,

⇒ मानवीय क्रिया कलापों के कारण ओजोन परत का विलीकरण हो रहा है। जेट्यान से निकला धुआ, CFC, नाइट्रोजन के ऑक्साइड आदि से ओजोन का ह्रास हो रहा है,

(3) मध्य मण्डल :- (Mesosphere):- यह समताप मण्डल के ऊपर 50-80 Km की ऊँचाई तक विस्तृत है, इस परत में ऊँचाई के साथ तापमान गिरने लगता है, तथा तापमान -80°C रह जाता है, इसके आगे पुनः तापमान बढ़ने लगता है, इस परत मे वायुदाब अत्यधिक न्यून होता है,

(4) ताप मण्डल :- (Thermosphere):- (थर्मोस्फीयर)
मध्य मण्डल के ऊपर वाला वायुमण्डलीय भाग तापमण्डल कहलाता है इसमें ऊँचाई के साथ तीव्र गति से तापमान बढ़ने लगता है यहा तापमान 1000°C से अधिक रहता है, यहा की वायु इतनी विरल होती है कि इस भाग में हाथ फैलाया जाये तो गर्मी महसूस नही हो पाती है क्योंकि विरल गैसे बहुत ही कम ऊष्मा को रख पाती है.

(5) आयन मण्डल :-
यह परत मध्य मण्डल सीमा के ऊपर 80 से 400 Km की ऊँचाई तक फैली है, यहाँ पर उपस्थित गैस के कण विद्युत आवेशित होते है, ऐसे विद्युत आवेशयुक्त कणों को आयन कहते है यह परत पृथ्वी से प्रेषित रेडियो तरंगो को परावर्तित कर वापस पृथ्वी पर भेजती है.
- इसकी ऊपरी सीमा पर तापमान 1100°C हो जाता है, इसी भाग में 'ध्रुवीय ज्योति (Aurora) भी दृष्टिगोचर होती है,
इसमे ~~अनेक~~ अनेक आयनित परत होती है।

(i) D परत - 80-90 km के मध्य दीर्घ रेडियों तरंगों का परावर्तन
(ii) E - परत - 90-100 km के मध्य वायु तरंगों का परावर्तन
(iii) F - परत - (F_1 व F_2) (F_1 150-200 km मध्यम व वायु तरंगों का, F_2 - 200-300 km अधिक दूरी के लिए रेडियों सम्प्रेषण)
(iv) G - परत :- 400 km पराबैंगनी फोटोन की प्रतिक्रिया के कारण

(6) बहिर्मण्डल :- (Exosphere) :-
इसका विस्तार 400 km के ऊपर पाया जाता है। यहाँ वायु अत्यन्त विरल पाई जाती है। इसमें हाइड्रोजन तथा हीलियम जैसी गैसों की प्रधानता रहती है, इस परत की वायु बहुत ही विरल है और धीरे-2 बाह्य अन्तरिक्ष मे विलीन हो जाती है।

वायुमण्डल का महत्व :- निम्न रूप में उपयोगी है।

(i) जीवन का आधार -
(ii) पराबैंगनी विकिरण से सुरक्षा -
(iii) मौसम तथा जलवायु
(iv) तापमान का संतुलन
(v) रेडियों प्रसारण -
(vi) उल्काओं से सुरक्षा -

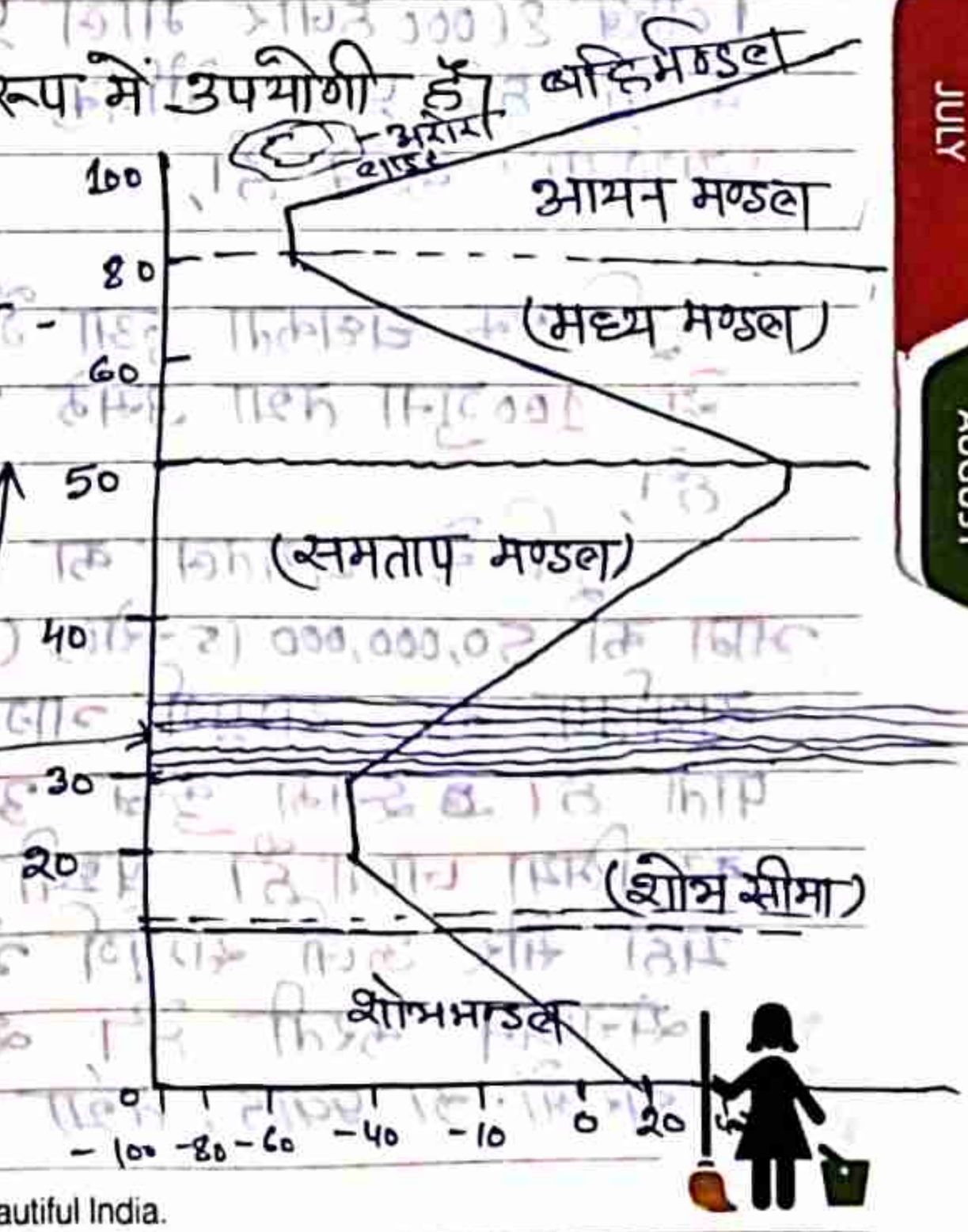

Topic :- Insolation -(सूर्यातप)

प्रश्न-1 सूर्यातप क्या है। सूर्यातप को प्रभावित करने वाले कारकों का विवेचन कीजिये।, (2014, 2023)

उत्तर :- वायुमण्डल तथा पृथ्वी की उष्मा का प्रधान स्त्रोत सूर्य है,

परिभाषा :- क्रिचफील्ड के अनुसार:- "सूर्य से पृथ्वी तक पँहुचने वाली विकिरण ऊर्जा को सूर्यातप कहते हैं"।

ट्रिवार्था के अनुसार :- "लघु तरंगों के रूप में संचालित और 1 लाख 86000 हजार मील प्रति सैकण्ड की गति से भ्रमण करती हुई प्राप्त सौर्यिक ऊर्जा को सौर्य विकिरण या 'सूर्यातप' कहते है,

⇒ सूर्य एक धधकता हुआ गैसीय पिण्ड है, इसका व्यास पृथ्वी से 100 गुना तथा उसके आयतन से 100,000 गुना अधिक है,

सूर्य के धरातल का तापमान 6000°C तथा केन्द्रीय भाग का 50,000,000 (5 करोड़) (फारेनाइट) बताया जाता है। सूर्यातप का सम्पूर्ण भाग पृथ्वी तल तक नही पहुँच पाता है। इसका कुछ अंश वायुमण्डल द्वारा शोषित कर लिया जाता है। पृथ्वी तल पर प्राप्त होने वाली यही सौर ऊर्जा सम्पूर्ण भौतिक एवं जैविक घटनाओं का संचालन करती है, इसी से पवन संचार, सागरीय धाराओं का प्रवाह, तथा जलवायु का आविर्भाव होता है।

सूर्यातप का मापन :- 'पाइरोहेलियोमीटर' द्वारा किया जाता है,

- पृथ्वी के किसी निश्चित क्षेत्र पर, किसी निश्चित समय में सौर विकिरण का जो अंश प्राप्त किया जाये वह सूर्यातप कहलाता है, सूर्य की ऊर्जा का प्रधान स्त्रोत इसका आन्तरिक भाग है जहाँ पर अत्यधिक दबाव तथा उच्च तापमान के कारण नाभिकीय फ्यूजन के कारण हाइड्रोजन का हीलियम में रूपान्तर होने से उष्मा का जनन होता है।

- यह उष्मा परिचालन तथा संवहन द्वारा सूर्य की बाहरी सतह तक पहुंचती है, सूर्य की बाह्य सतह से निकलने वाली ऊर्जा को 'फोटान' कहते है तथा सूर्य की बाह्य सतह को फोटोस्फीयर कहते है, इस सतह से ऊर्जा का विद्युत चुम्बकीय तरंग द्वारा विकिरण होता है।

⇒ पृथ्वी की सतह के प्रति इकाई क्षेत्र पर सूर्य से प्राप्त ऊर्जा प्राय: स्थिर रहती है इसे सौर्यिक स्थिरांक कहते है, प्रति वर्ग सेन्टीमीटर प्रति मिनट 2 ग्राम कैलोरी है।

⇒ सूर्य की निकली उष्मा लघु तरंगो के रूप मे होती है।

⇒ पृथ्वी से विकीर्ण ऊर्जा दीर्घ तरंगो के रूप में होती है,

⇒ सूर्य का प्रकाश पृथ्वीतल पर 8 मिनट 20 सैकण्ड में पहुंचता है,

⇒ किम्बल के अनुसार केवल सौर ऊर्जा का '43' प्रतिशत भाग ही पृथ्वी तक पहुंचता है।

• सूर्यातप को प्रभावित करने वाले कारक :- इसको निम्नलिखित कारक प्रभावित करते है,

(1) वायुमण्डल का प्रभाव :-
(2) सूर्य की किरणों का सापेक्ष तिरछापन :
(3) दिन की अवधि :-
(4) पृथ्वी से सूर्य की दूरी -
(5) सौर कलंक / धब्बे -
(6) भूमि का ढाल -
(7) बादल और वर्षा -

(1) वायुमण्डल का प्रभाव :- सूर्य की प्रकाश किरणों को वायुमण्डल की पारदर्शक मोटी परत से होकर गुजरना होता है जिससे सूर्यातप का प्रकीर्णन, परावर्तन, तथा अवशोषण होता रहता है। (बिखरना)

⇒ प्रकीर्णन से आकाश का नीला रंग, सूर्योदय व सूर्यास्त के समय लालिमा दिखना आदि।

⇒ परावर्तन :- मेघ व हिम द्वारा प्रकाश (सूर्यातप का कुछ भाग लौटा दिया जाता है। (35%)

⇒ सूर्यातप का 14% भाग वायुमण्डल द्वारा अवशोषित हो जाता है।

⇒ सूर्यातप का केवल 51 प्रतिशत भाग ही पृथ्वी को प्राप्त होता है।

(2) सूर्य की किरणों का सापेक्ष तिरछापन :- पृथ्वी गोलाकार होने के कारण सूर्यतप सर्वत्र समान नही होता है। भूमध्य रेखा पर सूर्य की किरणे लम्बवत् होती है।

परन्तु ध्रुवों की ओर जाने पर ये किरणें तिरछी होती जाती है।

(i) लम्बवत किरणें धरातल के कम क्षेत्र पर गिरती है। जिस कारण उस स्थान का ताप अधिक हो जाता है। जबकि तिरछी किरणे धरातल के अधिक क्षेत्र पर गिरती है।

(2) लम्बवत किरणे वायुमण्डल की पतली परत को पार करती है। जबकी तिरछी किरणे वायुमण्डल की मोटी परत को पार करती है। जिस कारण ताप की अधिकांश मात्रा वायुमण्डल में नष्ट हो जाती है।

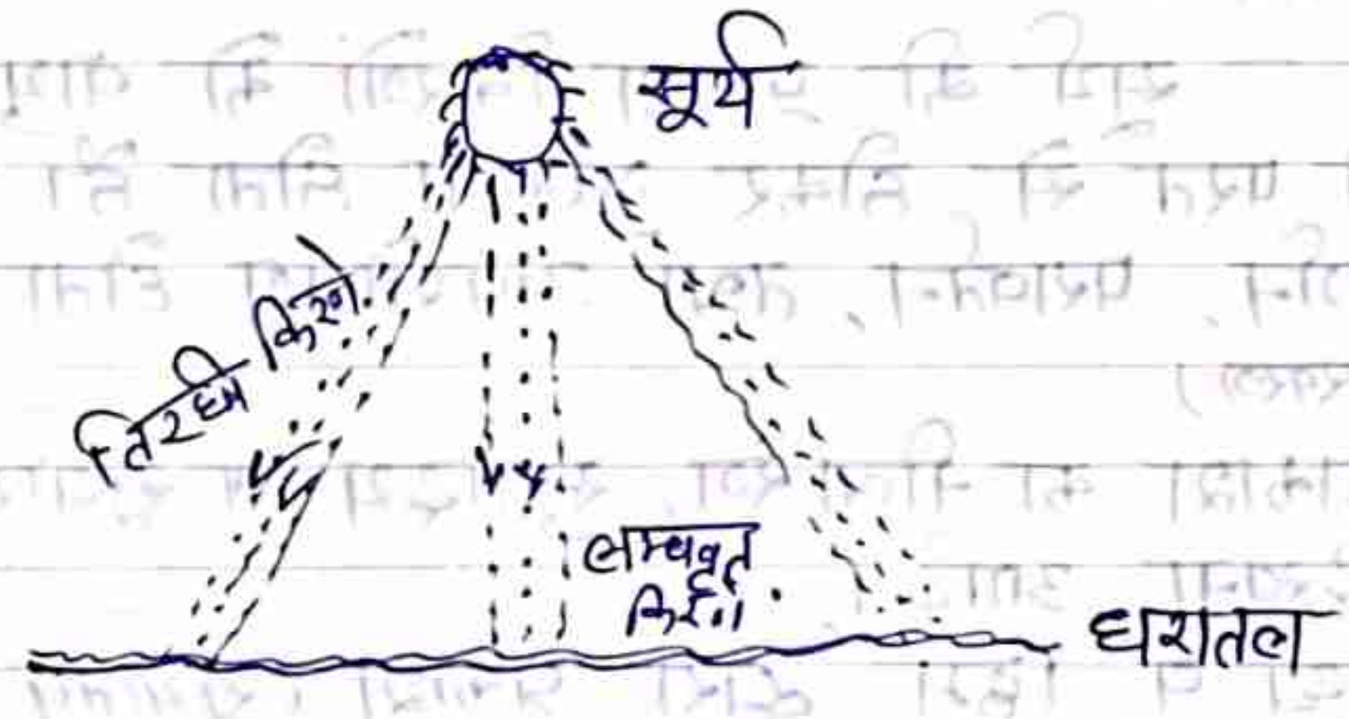

(3) दिन की अवधि:- दिन की अवधि जितनी अधिक होगी सूर्यातप की मात्रा उतनी ही अधिक होगी।

- पृथ्वी की दैनिक तथा वार्षिक गति के कारण भूमध्य रेखा के अलावा शेष भागों पर दिन की अवधि में अन्तर होता रहता है।

(i) सूर्य उत्तरायण -

(ii) सूर्य दक्षिणायन -

- 21 मार्च तथा 23 सितम्बर को दिन-रात बराबर होते हैं,

अक्षांश	0°	17°	41°	49°	63°	66.5°	67°21'	70°	90°
दिन की अवधि	12	13	15	15°	15	20	24	4 माह	6 माह

(5) पृथ्वी से सूर्य की दूरी :-

पृथ्वी वृत्ताकार कक्ष के सहारे सूर्य की परिक्रमा करती है। जिस कारण सूर्य से दूरी में परिवर्तन होता रहता है। औसत रूप से पृथ्वी सूर्य से 149 मिलियन km दूर है।

- जब पृथ्वी सूर्य से निकटतम दूरी पर होती है (147 मिलियन km) उपसौर (3 जनवरी) (91,500,000 मील) उस समय अधिकतम ताप तथा 4 जुलाई को पृथ्वी सूर्य से 152 मिलियन km दूरी अपसौर (94,500,000) पर न्यूनतम ताप मिलना चाहिए। लेकिन जनवरी के माह में जब पृथ्वी सूर्य से निकटतम दूरी पर होती है। ग्रीष्म काल के बजाय शीत काल होता है। (4) जुलाई को शीतकाल के बजाय ग्रीष्म काल होता है। लेकिन जनवरी में उ० गोलार्द्ध में जितनी सर्दी होनी चाहिए उसकी अपेक्षा 7 प्रतिशत कम होती है। तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में गर्मियों मे 7 प्रतिशत अधिक तीव्र होती है।

(5) (सौर धब्बे / सौर कलंक) :- चन्द्रमा के समान सूर्य तल (सतह पर) कलंक या धब्बे मिलते है। ये धब्बे बनते और बिगड़ते रहते है। इनका कोई स्थायी रूप नही होता है। यह चक्रीय रूप मे बनते है। एक चक्र 11 वर्ष मे पूर्ण होता है। ऐसा माना जाता है कि जब सौर कलंकों धब्बों की संख्या अधिक हो जाती है, तो सूर्यातप की मात्रा भी अधिक प्राप्त होती है। लेकिन इनकी मात्रा कम होने पर सूर्यातप कुछ कम मात्रा मे प्राप्त होता है। (पूर्णतया सिद्ध नही)

(6) भूमि का ढाल :- धरातल के जो ढाल सूर्य के सामने आते है। वे भाग सूर्यातप अधिक प्राप्त करते है। तथा जो ढाल सूर्य से विपरित दिशा मे होते है। वहाँ पर सूर्यताप कम प्राप्त होता है। वहाँ तापमान भी कम पाया जाता है।

(7) बादल तथा वर्षा :- धरातल पर स्थित वे क्षेत्र जहाँ पर हमेशा बादल छाए रहते है। तथा वर्षा भी अधिक होती है। वहाँ सूर्यातप कम प्राप्त होता है। क्योंकि बादल सूर्य की किरणों का परावर्तन कर देते है,

अर्थात् किसी निश्चित दशा में लघु तरंग विकिरण का दीर्घतरंग विकिरण की अपेक्षा अधिक प्रकीर्णन होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है : यदि किसी विकिरण तरंग की लम्बाई (wavelength) 0.4 माइक्रोमीटर है तथा दूसरी विकिरण तरंग की लम्बाई 0.8 माइक्रोमीटर है तो बड़ी तरंगदैर्घ्य (0.8 माइक्रोमीटर) द्वारा प्रकीर्णन की मात्रा छोटी तरंगदैर्घ्य (0.4 माइक्रोमीटर) द्वारा प्रकीर्णन की मात्रा का सोलहवां भाग ही होगी।

प्रकीर्णन के द्वितीय नियम, जिसका प्रतिपादन गुस्ताव माई (Gustave Mie) ने 1908 में किया, के अनुसार 'जिन कणों की व्यास तथा तरंगदैर्घ्य (सौर्यिक विकिरण की) के बीच अनुपात रेले प्रकीर्णन करने वाले कणों की व्यास तथा सौर्यिक विकिरण तरंग की लम्बाई (wavelengths) के बीच अनुपात से अधिक होता है तो ऐसे कण (molecules) सभी तरंगदैर्घ्य वाली प्रकाश तरंगों का प्रकीर्णन करते हैं। प्रकाश का आगे की दिशा में पीछे की दिशा की तुलना में अधिक प्रकीर्णन होता है' (ओलिवर तथा हिडोरे, 2003)। दृश्य प्रकाश स्पेक्ट्रम में विकिरण तरंग के प्रकीर्णन की मात्रा विभिन्न किरणों की बढ़ती तरंगदैर्घ्य के अनुरूप बढ़ती जाती है।

प्रश्न

33.6 ऊष्मा बजट (ऊर्जा सन्तुलन) का वर्णन करें।

(Heat Budget-Energy Balance)

'पृथ्वी की क्षैतिज सतह पर पहुंचने वाले सकल सौर्यिक विकिरण को **भूमण्डलीय विकिरण** (global radiation) कहते हैं। इसके अन्तर्गत सूर्य से प्राप्त प्रत्यक्ष लघुतरंग विकिरण एवं वायुमण्डल से प्रकीर्ण विसरित विकिरण (scattered diffuse radiation) को सम्मिलित किया जाता है' (ओलिवर तथा हिडोरे, 2003)। सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि पृथ्वी की सतह एवं वायुमण्डल द्वारा प्राप्त सौर्यिक विकिरण की मात्रा एवं पृथ्वी की सतह से बहिर्गामी दीर्घ तरंग पार्थिव विकिरण एवं वायुमण्डल से ऊष्मा के क्षय की मात्रा में सन्तुलन होता है। ज्ञातव्य है कि पृथ्वी की बाहरी सतह पर प्राप्त सौर्यिक ऊर्जा का ऊष्मा ऊर्जा में रूपान्तरण होता है जिसके द्वारा पृथ्वी की बाहरी सतह गर्म होती है। पृथ्वी की सतह गर्म होने पर स्वयं ऊर्जा का दीर्घ तरंग के रूप में विकिरण करती है। सूर्य से पृथ्वी एवं उसके वायुमण्डल की ओर होने वाले विकिरण को **प्रवेशी लघुतरंग सौर्यिक विकिरण** कहते हैं जबकि पृथ्वी से शून्य एवं वायुमण्डल में होने वाला विकिरण को **बहिर्गामी दीर्घतरंग पार्थिव विकिरण** कहा जाता है। पृथ्वी एवं वायुमण्डल का ऊष्मा बजट, जो वायुमण्डल तथा पृथ्वी की सतह द्वारा प्राप्त सौर्यिक विकिरण (ऊर्जा) एवं पृथ्वी की सतह तथा वायुमण्डल द्वारा ऊर्जा के क्षय का विवरण प्रस्तुत करती है, को **पृथ्वी एवं वायुमण्डल का ऊर्जा सन्तुलन** या **भूमण्डलीय विकिरण सन्तुलन** (global radiation balance) भी कहा जाता है।

पृथ्वी के वायुमण्डल की बाहरी (ऊपरी) सीमा पर पहुंचने वाली सकल सौर्यिक ऊर्जा की मात्रा को पृथ्वी एवं वायुमण्डल के ऊष्मा/ऊर्जा बजट की व्याख्या के लिए 100 यूनिट या 100 प्रतिशत के रूप में लिया जाता है। पृथ्वी एवं वायुमण्डल के ऊष्मा बजट या ऊष्मा/ऊर्जा सन्तुलन की व्याख्या जी०टी० ट्रीवार्था माडल के आधार पर की जा रही है।

जी० टी० ट्रीवार्था के अनुसार ऊष्मा बजट

पृथ्वी के वायुमण्डल की बाहरी सीमा पर पहुंचने वाले सकल सौर्यिक विकिरण को 100 प्रतिशत के रूप में लिया गया है। अत: पृथ्वी एवं वायुमण्डल के ऊष्मा बजट एवं ऊष्मा/ऊर्जा सन्तुलन के लिए प्रयुक्त सभी आंकड़े प्रतिशत में हैं।

(1) प्रवेशी लघुतरंग सौर्यिक विकिरण तथा पृथ्वी एवं वायुमण्डल का ऊष्मा बजट

पृथ्वी अपनी ऊर्जा का अधिकांश भाग सूर्य से लघुतरंग सौर्यिक विकिरण के माध्यम से प्राप्त करती है। पृथ्वी सूर्य से उत्सर्जित समस्त ऊर्जा का मात्र 1/2 अरबवां भाग ही प्राप्त कर पाती है। इस ऊष्मा ऊर्जा को 100 प्रतिशत मान लिया जाता है। ज्ञातव्य है कि यह 100 प्रतिशत उस सौर्यिक ऊर्जा को प्रदर्शित करता है जो पृथ्वी के वायुमण्डल की बाहरी सीमा पर पहुँचती है। इस तरह पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रविष्ट होने वाली सकल सौर्यिक ऊर्जा का 35 प्रतिशत भाग धूलिकणों द्वारा प्रकीर्णन (6%), बादलों (27%) तथा धरातलीय सतह से प्रत्यावर्तन (2%) की प्रक्रियाओं द्वारा शून्य में वापस लौटा दिया जाता है, 51 प्रतिशत भाग धरातलीय सतह द्वारा प्रत्यक्ष विकिरण के रूप में प्राप्त किया जाता है तथा वायुमण्डल द्वारा (ओजोन, आक्सीजन आदि द्वारा) 14 प्रतिशत भाग का अवशोषण कर लिया जाता है। पृथ्वी की सतह पर प्राप्त 51 प्रतिशत ऊर्जा के अन्तर्गत 34 प्रतिशत ऊर्जा प्रत्यक्ष सौर्यिक विकिरण के रूप में तथा 17 प्रतिशत ऊर्जा विसरित दिवा प्रकाश (diffuse day light) के रूप में प्राप्त होती है। वायुमण्डल की ऊष्मा बजट के अन्तर्गत 48 प्रतिशत सौर्यिक ऊर्जा होती है जिसमें 14 प्रतिशत ऊर्जा प्रवेशी लघुतरंग सौर्यिक विकिरण के अवशोषण एवं 34 प्रतिशत ऊर्जा बहिर्गामी दीर्घतरंग पार्थिव विकिरण से प्राप्त होती है।

(2) बहिर्गामी दीर्घतरंग पार्थिव विकिरण तथा ऊष्मा सन्तुलन

सूर्य से ऊष्मा ऊर्जा प्राप्त करने के बाद पृथ्वी भी अपनी सतह से दीर्घतरंग के माध्यम से वायुमण्डल में ऊर्जा का विकिरण करती है (चित्र 3.4)। पृथ्वी से होने वाले विकिरण (पार्थिव विकिरण) को **प्रभावी विकिरण** (effective radiation) भी कहा जाता है क्योंकि यह वायुमण्डल के निचले भाग को गरम करने में सहायता करता है। पृथ्वी द्वारा सूर्य से प्राप्त 51 प्रतिशत ऊर्जा में से 23 प्रतिशत ऊर्जा का धरातलीय सतह से दीर्घतरंग द्वारा वायुमण्डल में विकिरण द्वारा क्षय हो जाता

है। इस विकिरण (23%) में से 6 प्रतिशत ऊर्जा का वायुमण्डल द्वारा अवशोषण (absorption) कर लिया जाता है तथा 17 प्रतिशत ऊर्जा सीधे शून्य में चली जाती है। पार्थिव ऊर्जा का 9 प्रतिशत भाग संवहन एवं विक्षोभ (turbulence) में खर्च हो जाता है और 19 प्रतिशत ऊर्जा वाष्पीकरण में खर्च हो जाती है। यह ऊर्जा संघनन के बाद संघनन की गुप्त ऊष्मा (latent heat of condensation) के रूप में वायुमण्डल को प्राप्त हो जाती है। इस तरह वायुमण्डल द्वारा सूर्य से (14 प्रतिशत) तथा पृथ्वी से (34 प्रतिशत) प्राप्त कुल ऊर्जा 48 प्रतिशत होती है जो विभिन्न रूपों में विकिरण द्वारा शून्य में चली जाती है।

तालिका 33.2 : पृथ्वी एवं वायुमण्डल की ऊष्मा बजट तथा भूमण्डलीय विकिरण सन्तुलन (जी० टी० ट्रीवार्था के अनुसार)

1. प्रवेशी लघुतरंग सौर्यिक विकिरण (प्रतिशत में)			100
वायुमण्डल की ऊपरी सीमा पर पहुंचने वाली सकल ऊर्जा			
(अ) वायुमण्डल में सौर्यिक विकिरण के क्षरण (depletion) की सकल मात्रा (a + b + c)			35
(a) बादलों से प्रत्यावर्तन	27		
(b) धरातल से प्रत्यावर्तन	2		
(c) धूलिकणों एवं जल कणों द्वारा प्रकीर्णन	6		
सौर्यिक विकिरण की शेष सुलभ मात्रा			65
(ब) पृथ्वी द्वारा प्राप्त सौर्यिक ऊर्जा (a + b, 34 + 17 = 51)			51
(a) प्रत्यक्ष विकिरण से प्राप्त	34		
(b) विसरित दिवा प्रकाश द्वारा प्राप्त	17		
(स) वायुमण्डल द्वारा प्राप्त सौर्यिक ऊर्जा (प्रवेशी सौर्यिक विकिरण एवं बहिर्गामी पार्थिव विकिरण से प्राप्त) (a + b = 14 + 34 = 48)			48
(a) ओजोन, आक्सीजन, जलकण आदि द्वारा प्रवेशी सौर्यिक विकिरण के अवशोषण द्वारा	14		
(b) बहिर्गामी पार्थिव विकिरण से प्राप्त	34		
2. बहिर्गामी दीर्घतरंग पार्थिव विकिरण तथा पृथ्वी एवं वायुमण्डल का ऊष्मा सन्तुलन			
(अ) पृथ्वी द्वारा प्राप्त सकल ऊर्जा	51	(ब) पृथ्वी द्वारा क्षय की गयी ऊर्जा (a + b + c, 23 + 9 + 19 =51)	51
		(a) प्रत्यक्ष विकिरण क्षय द्वारा	23
		(b) संवहन एवं विक्षोभ (turbulence) द्वारा क्षय	9
		(c) वाष्पीकरण में खर्च	19
3. वायुमण्डल का ऊष्मा सन्तुलन			
(अ) वायुमण्डल द्वारा कुल प्राप्त ऊर्जा	48	(ब) वायुमण्डल से कुल क्षय ऊर्जा	48
(a) प्रवेशी सौर्यिक विकिरण से प्राप्त ऊर्जा	14		
(b) पृथ्वी की सतह से प्रभावी विकिरण से प्राप्त ऊर्जा	6		
(c) संवहन एवं विक्षोभ से प्राप्त ऊर्जा	9		
(d) संघनन की गुप्त ऊष्मा से प्राप्त ऊर्जा	19		
वायुमण्डल द्वारा प्राप्त सकल ऊर्जा	48	वायुमण्डल से क्षय हुई कुल ऊर्जा	48
वायुमण्डलीय ऊष्मा/ऊर्जा सन्तुलन = प्राप्ति (48) – क्षय (48) = 0			

स्रोत : जी० टी० ट्रीवार्था

ज्ञातव्य है कि जी०टी० ट्रीवार्था द्वारा प्रस्तुत पृथ्वी एवं वायुमण्डल के ऊष्मा सन्तुलन का माडल अत्यधिक सरलीकृत (oversimplified) है क्योंकि इसके अन्तर्गत वायुमण्डलीय जलवाष्प एवं बादलों द्वारा पार्थिव विकिरण के **पुन: विकिरण** (reradiation)या **प्रतिलोम विकिरण** (counter-radiation) को सम्मिलित नहीं किया गया है। उल्लेखनीय है कि पृथ्वी से जितनी ऊर्जा का वायुमण्डल में प्रभावी विकिरण होता है उसके एक बड़े भाग का वायुमण्डल में स्थित जलवाष्प, बादल, कार्बन डाइ आक्साइड आदि द्वारा पृथ्वी की सतह की ओर पुन: विकिरण हो जाता है। पार्थिव ऊष्मा/ऊर्जा के वायुमण्डल से धरातलीय सतह को पुन: वापस करने वाली विकिरण की प्रक्रिया को **प्रतिलोम विकिरण** (counter-radiation) कहते हैं। प्रतिलोम विकिरण की यह प्रक्रिया मुख्य रूप से वायुमण्डलीय कार्बन डाइ आक्साइड एवं जलवाष्प द्वारा सम्पादित होती है। इस प्रक्रिया द्वारा धरातलीय सतह एवं निचले वायुमण्डल की गरमाहट बनी रहती है। इसी कारण से इस प्रतिलोम विकिरण की प्रक्रिया को **हरितगृह प्रभाव** (greenhouse effect) कहते हैं। स्पष्ट है कि पृथ्वी एवं वायुमण्डल की ऊष्मा बजट एवं ऊर्जा सन्तुलन के अन्तर्गत पुन: विकिरण या प्रतिलोम विकिरण की प्रक्रिया को भी सम्मिलित किया जाना आवश्यक है।

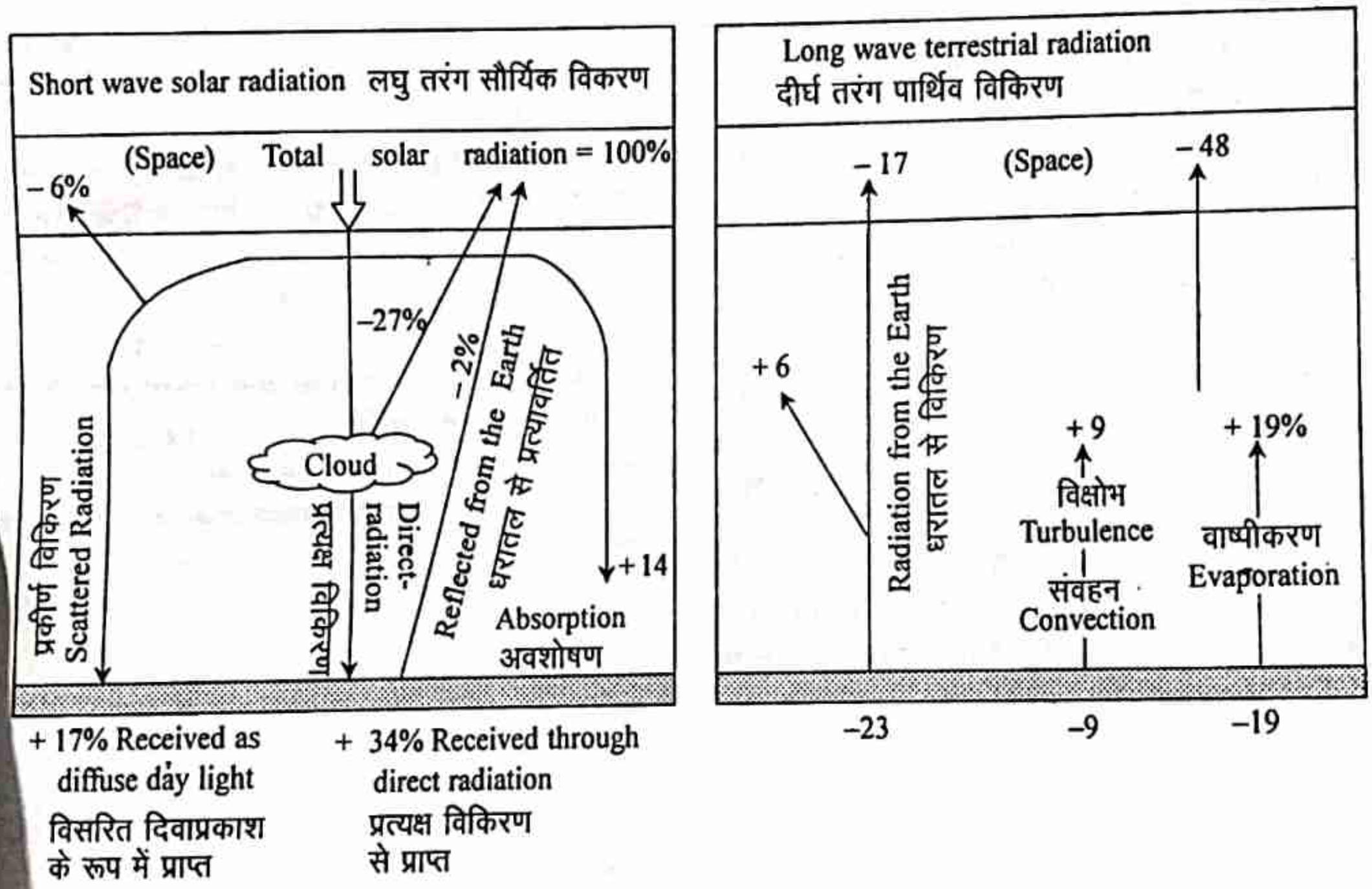

चित्र 33.4 : पृथ्वी एवं वायुमण्डल के विकिरण या ऊष्मा का सन्तुलन।

33.7 शुद्ध विकिरण एवं अक्षांशीय ऊष्मा सन्तुलन (Net Radiation and Latitudinal Heat Balance)

लघुतरंग प्रवेशी सौर्यिक विकिरण एवं दीर्घतरंग बहिर्गामी पार्थिव विकिरण के अन्तर को नेट विकिरण (net radiation) या **शुद्ध विकिरण** कहते हैं। उपर्युक्त विवरण से तो यही आभास होता है कि समस्त भूमण्डल में शुद्ध विकिरण तो कम से कम सैद्धान्तिक रूप में शून्य (zero) ही है परन्तु यह वास्तविकता से परे है। यदि हम सूर्यातप के प्रादेशिक वितरण पर दृष्टिगत करें तो शून्य विकिरण की संकल्पना गलत प्रमाणित होती है।

धरातल पर कतिपय स्थान ऐसे हैं जहां पर खर्च की गयी ऊर्जा से प्राप्त ऊर्जा अधिक होती है क्योंकि सौर्यिक ऊर्जा का निवेश, पार्थिव ऊर्जा के बहिर्गमन की तुलना में अधिक तेज गति से होता है। अर्थात् जिस गति से सौर्यिक ऊर्जा का धरातल तक आगमन होता है उतनी गति से धरातलीय सतह से ऊर्जा का बहिर्गमन नहीं हो पाता है। इसी तरह कुछ स्थानों पर धरातलीय सतह से बहिर्गामी पार्थिव विकिरण द्वारा ऊर्जा का क्षय प्रवेशी सौर्यिक विकिरण द्वारा धरातलीय सतह पर ऊर्जा की प्राप्ति से अधिक रफ्तार से होता है। इन प्रक्रियाओं के कारण धरातलीय सतह पर कहीं पर **ऊर्जा आधिक्य** (energy surplus) तो कहीं पर **ऊर्जा अल्पता** (energy deficit) के क्षेत्र बन जाते हैं। जहां पर प्रवेशी सौर्यिक ऊर्जा बहिर्गामी पार्थिव ऊर्जा से अधिक होती है वहां पर **ऊर्जा सरप्लस (आधिक्य)**

होता है परन्तु जहां पर प्रवेशी सौर्यिक ऊर्जा से बहिर्गामी पार्थिव ऊर्जा अधिक होती है वहां पर **ऊर्जा डेफिसिट** (ऊर्जा न्यूनता) होता है।

ऊर्जा सरप्लस एवं ऊर्जा डेफिसिट क्षेत्रों का निर्धारण एवं अध्ययन दो स्तरों पर किया जा सकता है : (1) **पृथ्वी की सतह पर**, तथा (2) **वायुमण्डल में** । ज्ञातव्य है कि दोनों में अक्षांश मुख्य आधार है।

1. पृथ्वी की सतह पर : यदि धरातल पर भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर नेट विकिरण के वितरण को देखा जाय तो ये तथ्य सामने आते हैं : (i) 20^0 उ० से 20^0 द० अक्षांशों के बीच वृहद् ऊर्जा सरप्लस क्षेत्र (ऊर्जा आधिक्य क्षेत्र) है जहां पर सौर्यिक विकिरण से प्राप्त ऊर्जा धरातलीय सतह से बहिर्गामी पार्थिव विकिरण से खर्च ऊर्जा से अधिक होती है। यहां ऊर्जा सरप्लस का वार्षिक मान 100 किलो एंजली रहता है; (ii) निम्न अक्षांशों (अयनवर्ती क्षेत्रों) के ऊर्जा सरप्लस क्षेत्रों से मध्य अक्षांशों की ओर नेट विकिरण तेजी से कम होता जाता है; (iii) उत्तरी एवं दक्षिणी गोलार्द्धों में 70^0 अक्षांश पर नेट विकिरण लगभग शून्य होता है; तथा (iv) ध्रुवीय क्षेत्र सतत ऊर्जा डेफिसिट मण्डल होते हैं।

(2) जे० ई० हाब्स (1980) के अनुसार, यदि वायुमण्डल में नेट विकिरण के अक्षांशीय वितरण को देखा जाय तो प्रतीत होता है कि वायुमण्डल स्वयं प्रत्येक अक्षांश पर विकिरण का **नेट घाटे वाला क्षेत्र** (net loser) है। अर्थात् वायुमण्डल में प्रत्येक अक्षांश पर सौर्यिक विकिरण की प्राप्ति की मात्रा की तुलना में वायुमण्डल से बहिर्गामी दीर्घतरंग से खर्च ऊर्जा की मात्रा अधिक होती है। इस तरह स्पष्ट है कि वायुमण्डल **सतत ऊर्जा घाटा** (perennial energy deficit) का मण्डल है क्योंकि ऊर्जा का घाटा सदा 60 किलो ऐंजली वार्षिक से अधिक रहता है।

(3) यदि धरातलीय सतह एवं वायुमण्डल के नेट विकिरण को मिला दिया जाय तो संयुक्त '**धरातलीय सतह - वायुमण्डल सिस्टम**' के नेट विकिरण मान की गणना की जा सकती है। इस संयुक्त आँकड़े के आधार पर तीन ऊर्जा मण्डल का निर्धारण किया गया है : (i) 40^0 उ० से 30^0 द० अक्षांश के बीच स्थित **सरप्लस विकिरण का वृहद क्षेत्र**, (ii) **डेफिसिट विकिरण का** उत्तरी उच्च अक्षांशीय क्षेत्र, तथा (iii) डेफिसिट विकिरण (विकिरण-न्यूनता) का दक्षिणी उच्च अक्षांशीय क्षेत्र (ए० यन० स्ट्रालर, 1978)।

उपर्युक्त विवरण से यह विदित होता है कि ऊष्मा का दो तरफा स्थानान्तरण होना चाहिए : भूतल से वायुमण्डल की ओर तथा भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर (J. E. Hobbs, 1980)। यह प्रक्रिया सम्भव हो सकती है यदि भूतल से वायुमण्डल में तथा उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धीय (निम्न अक्षांशीय) विकिरण आधिक्य/ऊर्जा आधिक्य क्षेत्रों से उच्च अक्षांशीय (ध्रुवीय) ऊर्जा न्यूनता के क्षेत्रों में ऊष्मा का परिवहन हो। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर ऊष्मा के परिवहन की प्रक्रिया को **ऊष्मा का देशान्तरीय परिवहन** कहा जाता है। ऊष्मा का यह देशान्तरीय परिवहन **ज्ञेय ऊष्मा** (sensible heat) के रूप में वायुमण्डलीय संचरण (हवायें) तथा महासागरीय धाराओं द्वारा सम्पन्न होता है जिसके अन्तर्गत उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धीय ऊर्जा आधिक्य क्षेत्रों से ज्ञेय ऊष्मा का उच्च अक्षांशीय ऊर्जा न्यूनता के क्षेत्रों की ओर परिवहन होता है। ज्ञेय ऊष्मा के रूप में ऊष्मा का वायुमण्डल में लम्बवत (vertical) परिवहन ऊपर उठती हवाओं तथा गुप्त ऊष्मा (latent heat) द्वारा सम्पन्न होता है।

प्रश्न :- वायुमण्डलीय तापमान का क्षैतिज और उर्ध्व वितरण
प्रश्न :- तापीय विलोमता

34

तापमान

(Temperature)

34.1 तापमान : सामान्य परिचय

यहाँ पर तापमान का अभिप्राय वायुमण्डलीय तापमान से है। अप्रत्यक्ष रूप से वायुमण्डल के ताप का प्रधान स्रोत सूर्य ही है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से उसे सूर्य से स्वल्प मात्रा में ही ऊष्मा मिल पाती है, जबकि अधिकांश ऊष्मा पार्थिव ऊर्जा (terrestrial energy) से प्राप्त होती है। वायुमण्डल सूर्य तथा पृथ्वी से अलग-अलग रूपों में ऊष्मा ग्रहण करता है तथा उसका विसर्जन करता है। वायुमण्डल के गर्म तथा शीतल होने की क्रियाएं मुख्य रूप से सीधे सौर्यिक विकिरण से प्राप्त ऊर्जा द्वारा पृथ्वी से **परिचालन** (conduction), **संवहन** (convection) तथा **विकिरण** (radiation) की विधियों से सम्पादित होती हैं।

यह उल्लेखनीय है कि सामान्य लोगों के लिए **ऊष्मा** (heat) तथा **तापमान** (temperature) समानार्थी होते हैं परन्तु वास्तविक रूप में जहां तक इनके सही अर्थ का प्रश्न है, ये दोनों शब्द एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। ऊष्मा, ऊर्जा का एक रूप है जबकि तापमान किसी तत्व या वस्तु की गर्माहट (hotness) या शीतलता (coldness) की गहनता का परिचायक है। दूसरे शब्दों में, ऊष्मा किसी तत्व या वस्तु में निहित ऊर्जा की मात्रा को दर्शाती है जबकि तापमान उस तत्व या वस्तु के प्रति इकाई आयतन में ऊर्जा या ऊष्मा की मात्रा की माप (measure) को प्रदर्शित करता है जिससे उस तत्व या वस्तु की तप्तता (hotness) या शीतलता का बोध होता है। इस प्रकार ऊष्मा को जोड़ने या घटाने (ऊष्मा में वृद्धि या ह्रास) पर किसी तत्व या वस्तु का तापमान बढ़ाया या घटाया जा सकता है। किसी एक तत्व या वस्तु से दूसरे तत्व या वस्तु में ऊष्मा का स्थानान्तरण परिचालन, संवहन तथा विकिरण की प्रक्रियाओं द्वारा किया जा सकता है।

किसी वस्तु का तापमान ऊष्मा की ऊर्जा के प्रवाह को भी निर्धारित करता है। अधिक तापमान (अधिक ऊष्मा) वाली वस्तु से कम तापमान (कम ऊष्मा) वाली वस्तु की तरफ ऊष्मा का प्रवाह तथा स्थानान्तरण होता है। इस तरह स्पष्ट है कि तापमान गतिज ऊर्जा (kinetic energy) का भी माप है। किसी निश्चित आयतन वाली वायु के तापमान का निश्चित समय में डिग्री F (फार्नहाइट मापक) या डिग्री C (सेल्सियस या सेण्टीग्रेड मापक) में थर्मामीटर द्वारा मापन किया जाता है। फार्नहाइट तथा सेल्सियस मापक में क्वथनांक / हिमांक (ice point) क्रमशः 32^0 तथा 0^0 होता है।

4.2 ऊष्मा का स्थानान्तरण
(Transfer of Heat Energy)

अधिकतम तापमान वाली वस्तु से न्यूनतम तापमान वाली वस्तु में ऊष्मा ऊर्जा का स्थानान्तरण परिचालन, संवहन तथा विकिरण की प्रक्रियाओं द्वारा होता है। बिना किसी माध्यम के एक वस्तु से दूसरे वस्तु में ऊष्मा ऊर्जा के गमन को **विकिरण** (radiation) कहते हैं। सूर्य की बाहरी सतह यानि फोटोस्फीयर से ऊर्जा का विद्युतचुम्बकीय लघु विकिरण तरंगों के माध्यम से बाहर की ओर गमन या उत्सर्जन होता है। धरातलीय सतह सौर्यिक विकिरण ऊर्जा को ग्रहण करके गरम होती है तथा वह दीर्घतरंग के रूप में विकिरण करती है। वायुमण्डल दीर्घतरंग पार्थिव (terrestrial, पृथ्वी से) विकिरण का एक बड़ा हिस्सा प्राप्त करके गरम होता है तथा इस ऊष्मा को **प्रतिलोम विकिरण/ आकाशीय विकिरण** (counter-radiation या sky radiation) के माध्यम से धरातल को वापस लौटा देता है। इस तरह सूर्य से धरातलीय सतह, धरातलीय सतह से वायुमण्डल तथा पुनः

वायुमण्डल से धरातलीय सतह की ओर ऊष्मा का विकिरण अत्यन्त जटिल हो जाता है। धरातलीय सतह से कुछ ऊष्मा का निचले वायुमण्डल में स्थित कणिकीय पदार्थों (particulate matters) द्वारा वायुमण्डल में गमन होता है। ऊष्मा के स्थानान्तरण की इस प्रक्रिया को **परिचालन** (conduction) कहते हैं। एक वस्तु से दूसरी वस्तु में ऊष्मा ऊर्जा के स्थानान्तरण की तीसरी प्रक्रिया **संवहन** (convection) है जिसके तहत ऊष्मा का स्थानान्तरण तत्वों की गति द्वारा होता है (पृथ्वी-वायुमण्डल सिस्टम में तत्व द्रव्यमान हवा होती है)।

4.3 वायुमण्डल का गर्म एवं ठंडा होना (Heating and Cooling of Atmosphere)

पृथ्वी के धरातलीय सतह (स्थलीय एवं जलीय सतह) पर प्राप्त सौर्यिक ऊर्जा का **सेन्सिबुल ऊष्मा** में रूपान्तरण होता है। ज्ञातव्य है कि सेन्सिबुल ऊष्मा वह होती है जिसे सामान्य थर्मामीटर से नापा जा सके। धरातलीय सतह में भण्डारित इस ऊर्जा का दीर्घतरंग के रूप में धरातलीय सतह से वायुमण्डल में विकिरण द्वारा गमन हो जाता है। धरातलीय सतह से ऊष्मा ऊर्जा के विकिरण की प्रक्रिया को **धरातलीय विकिरण** (ground radiation) या **पार्थिव विकिरण** (terrestrial radiation) कहते हैं। यहां पर धरातलीय विकिरण से मतलब स्थलीय एवं जलीय, दोनों सतहों से विकिरण से है। इस धरातलीय विकिरण को वायुमण्डल ग्रहण करता है तथा उसके एक भाग का धरातलीय सतह की ओर पुनः विकिरण (re-radiation) कर देता है। इस तरह वायुमण्डल से धरातलीय सतह की ओर ऊष्मा के विकिरण को **प्रतिलोम विकिरण** (counter-radiation) या **आकाशीय विकिरण** (sky radiation) कहते हैं। प्रतिलोम विकिरण की प्रक्रिया वायुमण्डलीय कार्बन डाइ आक्साइड एवं जलवाष्प द्वारा सम्पादित होती है। वायुमण्डल का गर्म एवं ठंडा होना निम्न प्रक्रियाओं द्वारा सम्पन्न होता है : (1) सौर्यिक विकिरण का प्रत्यक्ष अवशोषण, (2) परिचालन, (3) संवहन, (4) पार्थिव विकिरण, (5) संघनन, (6) एडियाबेटिक प्रक्रिया आदि।

1. प्रत्यक्ष सूर्यातप से वायुमण्डल का गर्म होना

सूर्य से ऊर्जा का विकिरण लघु तरंगों के रूप में होता है। वायुमण्डल में स्थित ओजोन, जलवाष्प आदि द्वारा सौर्यिक ऊर्जा का 14 प्रतिशत भाग अवशोषण (absorption) द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। इसका लगभग 7 प्रतिशत वायुमण्डल के निचले भाग में 2 किमी० की ऊँचाई तक फैल जाता है। स्पष्ट है कि इस न्यून मात्रा द्वारा वायुमण्डल का गर्म होना अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता है।

2. परिचालन (Conduction)

किसी भी वस्तु में पदार्थों के अणुओं द्वारा ऊष्मा के स्थानान्तरण एवं गमन को **परिचालन** कहा जाता है। परिचालन क्रिया के अन्तर्गत एक अणु स्पर्श द्वारा दूसरे अणु को ऊष्मा प्रदान करता है। परिचालन की प्रक्रिया द्वारा ऊष्मा का गमन (transmission) एवं स्थानान्तरण (transfer) दो रूपों में होता है : (1) एक ही वस्तु के एक भाग से दूसरे भाग में, (2) किसी एक वस्तु से उसके सम्पर्क में स्थित दूसरी वस्तु में। परिचालन की प्रक्रिया तभी प्रभावी हो सकती है जबकि दो वस्तुओं के तापमान या एक ही वस्तु के विभिन्न भागों के तापमान में विभिन्नता होती है तथा यह क्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि दोनों वस्तुओं या एक ही वस्तु के विभिन्न भागों का तापमान समान न हो जाय। स्पष्ट है कि परिचालन की प्रक्रिया में ऊष्मा का गर्म वस्तु से अपेक्षाकृत ठंडी वस्तु में अणुओं द्वारा गमन होता है। आणविक गति (molecular movement) द्वारा ऊष्मा के गमन एवं स्थानान्तरण की दर वस्तु की ऊष्मा संचालकता (heat conductivity) पर निर्भर करती है। जो वस्तु परिचालन द्वारा ऊष्मा का स्थानान्तरण तीव्र गति एवं उच्च दर से करती है उसे **ऊष्मा का सुचालक** (good conductor of heat) कहते हैं परन्तु जो वस्तु ऊष्मा के स्थानान्तरण में बाधा उपस्थित करती है उसे **ऊष्मा का कुचालक** (bad conductor of heat) कहते हैं। धातुएं ऊष्मा की अच्छी चालक होती हैं जबकि हवा ऊष्मा की न्यून चालक (poor conductor) होती है।

इसी सामान्य नियम के अनुसार जब दिन में पृथ्वी की ऊपरी सतह सौर्यिक विकिरण से ऊष्मा प्राप्त करके अधिक गर्म हो जाती है तो उसके सम्पर्क में आने वाली वायु में धरातल से ऊष्मा का गमन होने लगता है, जिस कारण हवा गर्म होने लगती है। वास्तव में वायु ऊष्मा की अच्छी चालक नहीं (poor conductor of heat) होती है, जिस कारण धरातल से केवल कुछ फीट (लगभग एक मीटर) तक ही वायुमण्डल का भाग गर्म हो पाता है, यद्यपि विक्षोभ (turbulence) तथा पवन संचरण से वायुमण्डल का कुछ अधिक भाग गर्म हो जाता है। वैसे वायुमण्डल को ऊष्मा प्रदान करने की यह एक गौण प्रक्रिया ही है जो कि मुख्य रूप से ग्रीष्म काल तथा दिन के समय प्रभावकारी होती है। जाड़े की रात में विकिरण द्वारा धरातल का तापमान अधिक गिर जाता है जिस कारण धरातलीय सतह ठंडी हो जाती है, जबकि वायुमण्डलीय भाग गर्म होता है। अब सम्पर्क में आने वाले वायुमण्डल का तापमान कम होने लगता है क्योंकि परिचालन द्वारा उसकी ऊष्मा ठंडी धरातलीय सतह में स्थानान्तरित होने लगती है। इस तरह वायुमण्डल ठंडा होने लगता है।

3. पार्थिव विकिरण (Terrestrial Radiation)

बिना किसी पदार्थीय माध्यम (material medium, यथा: ठोस, तरल एवं गैस) के एक वस्तु से दूसरी वस्तु में ऊष्मा के स्थानान्तरण की प्रक्रिया को विकिरण कहते हैं। पृथ्वी की

सतह से वायुमण्डल में होने वाले विकिरण को धरातलीय विकिरण या पार्थिव विकिरण कहते हैं। विकिरण द्वारा ऊष्मा ऊर्जा का प्रवाह विकिरण के दो मूलभूत नियमों द्वारा नियंत्रित होता है : (1) **वेन का विस्थापन नियम**, तथा (2) **स्टीफन-बोल्जमैन नियम**। इन नियमों का विवरण पिछले अध्याय (अध्याय 3, सूर्यातप) में दिया जा चुका है।

कोई भी वस्तु निश्चित तापमान पर विभिन्न प्रकार की ऊष्मा तरंगें प्रसारित करती है जिसे विकिरण कहते हैं। विकिरण लघु तथा दीर्घ तरंगों के रूप में होता है, जो कि विकिरण करने वाली वस्तु के आकार तथा तापमान पर निर्भर करता है। जो वस्तु अपनी ओर आने वाले सम्पूर्ण विकिरण का अवशोषण करती है तथा किसी भी तापमान पर अधिकतम ऊर्जा का विकिरण करती है उसे **पूर्ण कृष्णिका** (black body) कहते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उस वस्तु का रंग काला होगा। हिम भी कृष्णिका होती है क्योंकि यह अपने ऊपर पड़ने वाले सम्पूर्ण दृश्य प्रकाश (visible light) का प्रत्यावर्तन करती है। **सम्पूर्ण तरंग आदर्श कृष्णिका** (perfect all-wave black body) से निकलने वाले विकिरण की तीव्रता तथा तरंग दैर्घ्य (wavelength) का विकिरण निरपेक्ष तापमान (absolute temperature) पर निर्भर करता है। यह तापमान निरपेक्ष शून्य से अंकित किया जाता है (निरपेक्ष शून्य मात्र केल्विन में ही होता है)। इस सम्बन्ध में आदर्श कृष्णिका का विकिरण **स्टीफेन बोल्जमैन नियम** (Stefan-Boltzman law) के अनुसार कार्य करता है। इस नियम के अनुसार कृष्णिका से विकिरण का अभिवाह (निस्सरण, flux of radiation) उसके (कृष्णिका के) निरपेक्ष तापमान की चौथी शक्ति के प्रत्यक्ष समानुपातिक होता है–The flux of radiation from a black body is directly proportional to the fourth power of its absolute temperature.

पृथ्वी सौर्यिक विकिरण द्वारा प्रसारित ऊर्जा का 51 प्रतिशत भाग प्राप्त करती है। यह ऊर्जा ऊष्मा में बदल दी जाती है। ऊष्मा प्राप्त करने के बाद पृथ्वी की सतह गर्म होकर विकिरण करना प्रारम्भ कर देती है। स्मरणीय है कि सौर्यिक विकिरण के लिए वायुमण्डल बड़े पैमाने पर पारदर्शक होता है (वायुमण्डल सौर्यिक ऊर्जा का केवल 14 प्रतिशत ही ग्रहण कर पाता है) परन्तु पार्थिव विकिरण के लिएं एक कम्बल का कार्य करता है। पृथ्वी अपना विकिरण दीर्घ तरंगों के रूप में करती है, जिसका अधिकांश भाग (90 प्रतिशत) वायुमण्डल में स्थित जलवाष्प तथा कार्बन डाइ आक्साइड एवं ओजोन गैसें ग्रहण कर लेती हैं, जिससे वायुमण्डल का अधिकांश भाग गर्म होता रहता है। इस तरह वायुमण्डल में कार्बन डाइ आक्साइड तथा जलवाष्प की मात्रा जितनी अधिक होगी, बहिर्गामी पार्थिव विकिरण का उतना ही अधिक अवशोषण होगा। रेगिस्तानी (गर्म) भागों में वायुमण्डल में जलवाष्प की निहायत कमी के कारण रात्रि के समय तापमान अत्यधिक नीचा इसलिए हो जाता है कि पार्थिव विकिरण द्वारा ऊष्मा आसानी से शून्य में चली जाती है। इस तरह वायुमण्डल का प्रभाव खिड़की के काँच के समान होता है जो कि सौर्यिक विकिरण की लघु तरंगों को प्रविष्ट तो होने देता है, परन्तु पार्थिव विकिरण की दीर्घ तरंगों को बाहर जाने से रोकता है। इस कारण वायुमण्डल धरातल के तापमान को ऊँचा बनाये रखने में सहायता प्रदान करता है। वायुमण्डल के इस प्रभाव को **हरित गृह प्रभाव (ग्रीन हाउस इफेक्ट**–green house effect) कहते हैं। विकिरण की विधि सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि इसमें किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती है। वायुमण्डल में स्थित जलवाष्प तथा गैसें पार्थिव विकिरण से ऊष्मा प्राप्त करके अपने ऊपर तथा नीचे, दोनों ओर दीर्घ तरंग के रूप में विकिरण करती हैं। इस प्रक्रिया के कारण विकिरण की तरंगों में इतनी जटिलता आ जाती है कि पृथ्वी की ऊष्मा के नष्ट होने की गति मन्द हो जाती है। चूँकि जलवाष्प जो कि प्रवेशी तथा बहिर्गामी (incoming and outgoing) दोनों प्रकार के सौर्यिक तथा पार्थिव विकिरण का अधिक अवशोषण करती है, केवल वायुमण्डल के निचले भाग में ही केन्द्रित होती है, अत: ऊँचाई के साथ-साथ प्रवेशी तथा बहिर्गामी दोनों विकिरण बढ़ता जाता है। इसी कारण से उच्च पर्वतों को पृथ्वी की **विकिरण खिड़की** (radiation window) कहते हैं।

स्मरणीय है कि पृथ्वी से विकिरण एक सतत प्रक्रिया है, परन्तु सौर्यिक विकिरण से ऊष्मा सदैव प्राप्त नहीं होती है (रात्रि में नहीं)। दिन के लगभग 12 बजे तक धरातल पर प्राप्त ऊष्मा पृथ्वी से विकिरण द्वारा नष्ट ऊष्मा से अधिक होती है, जिस कारण लगातार ऊष्मा के संचयन से दिन के दो बजे से चार बजे तक धरातलीय तापमान बढ़ता रहता है। रात्रि में सौर्यिक विकिरण से प्राप्त होने वाली ऊष्मा समाप्त हो जाती है, परन्तु पृथ्वी से विकिरण द्वारा ऊष्मा के सतत नष्ट होने से धरातल ठंडा होने लगता है, जिस कारण वायु का तापमान गिरने लगता है।

4. संवहन (Convection)

पदार्थों के द्रव्यमान (mass) के संचलन (movement) द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान में ऊष्मा के स्थानान्तरण की प्रक्रिया को संवहन कहा जाता है। संवहन की प्रक्रिया केवल तरल पदार्थों (यथा : जल) या गैसों में ही प्रभावी हो सकती है। सौर्यिक विकिरण से ऊष्मा प्राप्त करने के बाद धरातल गर्म होने लगता है, जिस कारण उसके सम्पर्क में आने वाली वायु गर्म होकर ऊपर उठती है तथा फैलकर हल्की हो जाती है। इसके विपरीत ऊपर स्थित वायु अपेक्षाकृत ठंडी होने के कारण भारी होने से नीचे उतरती है, जिस कारण नीचे उतरने से

सिकुड़ कर भारी होने से तथा धरातलीय तापमान से गर्म होती है। पुन: हल्की होकर ऊपर उठती है। इस तरह वायुमण्डल में संवहन तरंगों का आविर्भाव होता है, जिससे ऊष्मा का स्थानान्तरण होते रहने से वायुमण्डल ऊँचाई तक गर्म होता जाता है। इसी तरह से धरातल पर क्षैतिज संवहन तरंगों का भी आविर्भाव होता है। इनके अलावा वायुमण्डल कुछ अन्य गौण विधियों से भी गर्म होता है। सौर्यिक तथा पार्थिव ऊष्मा का कुछ भाग वाष्पीकरण तथा संघनन (condensation) के रूप में लगा रहता है। इस तरह संघनन की गुप्त ऊष्मा (latent heat) द्वारा भी वायुमण्डल गर्म होता है।

5. एडियाबेटिक विधि द्वारा वायुमण्डल का गर्म एवं ठंडा होना

एडियाबेटिक क्रियाविधि से वायुमण्डल का गर्म एवं ठंडा होना वायु के ऊपर उठने तथा नीचे बैठने से होता है। तापमान के लम्बवत वितरण की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि ऊँचाई के साथ प्रति 1000 मीटर पर तापमान में 6.5^{0}C की कमी हो जाती है। ऊँचाई के साथ तापमान में गिरावट की सामान्य दर को **सामान्य तापपतन दर** (normal lapse rate) कहते हैं। एक निश्चित आयतन एवं तापमान वाली हवा ऊपर उठने पर वायुदाब में कमी आने के कारण फैलती है, परिणामस्वरूप ठंडी होती है। इसके विपरीत नीचे उतरती निश्चित आयतन एवं तापमान वाली हवा सिकुड़ती है, अत: इसका आयतन कम होता है परन्तु इसका तापमान बढ़ता है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वायु के तापमान में उसके ऊपर उठने या नीचे बैठने के कारण परन्तु बिना किसी अतिरिक्त ऊष्मा के आने या जाने से, परिवर्तन होता है। वायु के तापमान में उसके फैलने या संकुचन से होने वाले परिवर्तन को **तापमान का एडियाबेटिक परिवर्तन** कहते हैं।

तापमान का एडियाबेटिक परिवर्तन दो प्रकार का होता है : (1) **शुष्क एडियाबेटिक परिवर्तन**, तथा (2) **आर्द्र एडियाबेटिक परिवर्तन**। ऊपर उठती असम्पृक्त हवा का तापमान प्रति 1000 मीटर पर 10^{0}C की दर से कम होता है। इसी तरह जब असम्पृक्त हवा नीचे बैठती है तो उसका तापमान 10^{0}C प्रति 1000 मीटर की दर से बढ़ता है। तापमान में इस तरह के होने वाले परिवर्तन को शुष्क एडियाबेटिक परिवर्तन कहते हैं। संघनन के बाद हवा के ऊपर उठने पर उसके तापमान में कमी की दर कम हो जाती है (6^{0}C/1000 मीटर) क्योंकि संघनन की गुप्त ऊष्मा (latent heat of condensation) वायु में मिल जाती है। तापमान में इस तरह के परिवर्तन को आर्द्र एडियाबेटिक परिवर्तन कहते हैं। इसे **प्रतिबन्धित एडियाबेटिक दर** (retarded adiabatic rate) भी कहते हैं।

34.4 तापमान का वितरण

धरातल पर तथा निचले वायुमण्डल में तापमान के स्थानिक एवं कालिक वितरण (spatial and temporal distribution) का अत्यधिक महत्व होता है क्योंकि विभिन्न प्रकार की मौसम दशाओं, जलवायु प्रकारों एवं जलवायु प्रदेशों, वनस्पति प्रदेशों, जीव-जन्तुओं तथा मानव का अस्तित्व तापमान के क्षैतिज एवं लम्बवत वितरण पर आधारित होता है। तापमान के वितरण का अध्ययन कई रूपों में किया जाता है, यथा : (1) **कालिक वितरण**, एवं (2) **स्थानिक वितरण**। तापमान के स्थानिक वितरण का अध्ययन दो रूपों में किया जाता है : (अ) तापमान का क्षैतिज वितरण, एवं (ब) तापमान का लम्बवत वितरण। तापमान के क्षैतिज वितरण को प्रादेशिक वितरण के रूप में भी व्यक्त किया जाता है। तापमान के स्थानिक वितरण पर कई कारकों का नियंत्रण होता है, यथा : भूमध्यरेखा से दूरी या अक्षांश, सागर तल से ऊँचाई, सागर तट से दूरी, स्थल एवं जल के गुण, धरातलीय सतह के गुण, धरातलीय ढाल का स्वरूप, प्रचलित पवन, महासागरीय धारायें आदि। तापमान के वितरण की विवेचना के पहले तापमान के वितरण पर इन कारकों के प्रभावों की व्याख्या आवश्यक है। ज्ञातव्य है कि धरातल पर एवं निचले वायुमण्डल में तापमान के वितरण में विभिन्नतायें पायी जाती हैं। इन्हीं विभिन्नताओं के आविर्भाव के लिए जिम्मेदार कारकों को **तापमान के नियंत्रक** (controls of temperature) कहते हैं।

तापमान के वितरण को प्रभावित करने वाले कारक (तापमान के नियंत्रक)

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है, निम्न कारक धरातलीय सतह एवं निचले वायुमण्डल में तापमान के वितरण को नियंत्रित करते है:

1. अक्षांश का प्रभाव

धरातलीय सतह के पास किसी भी स्थान विशेष के वायुमण्डल का तापमान उस स्थान पर प्राप्त सूर्यातप की मात्रा पर निर्भर करता है। चूंकि धरातल पर प्राप्त होने वाली सूर्यातप की मात्रा भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर घटती जाती है क्योंकि सौर्यिक किरणें ध्रुवों की ओर अत्यधिक तिरछी होती जाती हैं अत: वायु का तापमान भी भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर कम होता जाता है। उल्लेखनीय है कि सूर्य की किरणें वर्ष भर भूमध्यरेखा पर लगभग लम्बवत होती हैं परन्तु वहां पर अधिकतम तापमान नहीं होता है बल्कि अधिकतम तापमान 20^0 उ० अक्षांश पर जुलाई में अंकित किया जाता है क्योंकि प्रवेशी सौर्यिक विकिरण के बड़े भाग का निम्न अक्षांशों में (भूमध्यरेखीय क्षेत्र) में बादलों द्वारा प्रत्यावर्तन द्वारा तथा वाष्पीकरण द्वारा क्षय हो जाता है जबकि अयनवर्ती क्षेत्रों में खुले आकाश के कारण प्रवेशी सौर्यिक विकिरण का प्रत्यावर्तन नहीं हो पाता है तथा यहां पर वायु के अवतलन (subsidence)के कारण उच्च वायुदाब की स्थिति रहती है।

कर्क एवं मकर रेखाओं के पास धरातलीय सतह का अधिकतम तापन (heating) होता है अत: अयनरेखाओं के

पास अधिकतम तापमान अंकित किया जाता है। ध्रुवीय क्षेत्रों में न्यूनतम तापमान होता है। अब तक का सर्वाधिक 58°C का तापमान लीबिया के **अल अजीज** में 1922 के सितम्बर महीने में अंकित किया गया था। 57°C का द्वितीय उच्चतम तापमान संयुक्त राज्य अमेरिका के कैलिफोर्निया प्रान्त की **'मृत्यु घाटी'** (Death Valley) में 1913 के जुलाई महीने में अंकित किया गया था। ये चरम तापमान अयनरेखाओं के पास रेतीली सतह के अत्यधिक गर्म हो जाने के कारण सम्भव होते हैं। आज तक न्यूनतम अंकित तापमान -89°C है जिसे अण्टार्कटिका के ओस्टाक में 1983 में अंकित किया गया था, जबकि - 68°C का द्वितीय न्यूनतम तापमान रूस के वरखोयान्स्क में नापा गया है। अति न्यून तापमान होने का मुख्य कारण है सूर्यातप की प्राप्त न्यूनतम मात्रा परन्तु स्थायी हिमाच्छादित सतह के कारण अधिकतम प्रत्यावर्तन तथा धरातलीय सतह से विकिरण द्वारा ऊष्मा का अधिकतम क्षय होना।

2. सागर तल से ऊँचाई

धरातलीय सतह से ऊँचाई के साथ प्रति एक हजार मीटर पर 6.5°C की दर से तापमान में कमी होती जाती है क्योंकि (i) वायुमण्डल की ऊष्मा का प्रमुख स्रोत धरातलीय सतह है जिससे परिचालन, संवहन एवं विकिरण की प्रक्रियाओं द्वारा ऊष्मा का वायुमण्डल में स्थानान्तरण होता है। इस प्रकार वायुमण्डल का निचला भाग जो धरातलीय सतह के सीधे सम्पर्क में होता है, अधिक ऊष्मा प्राप्त करता है जबकि उसके ऊपर स्थित वायुमण्डलीय परत कम ऊष्मा प्राप्त कर पाती है। ऊँचाई के साथ धरातलीय सतह से ऊष्मा का वायुमण्डलीय परतों में गमन कम होता जाता है, अत: ऊँचाई के साथ तापमान भी कम होता जाता है। (ii) धरातलीय सतह की वायु की परत का घनत्व अधिक होता है तथा ऊँचाई के साथ घटता जाता है जिस कारण तापमान ऊँचाई के साथ कम होता जाता है। (iii) वायुमण्डल की निचली परत में जलवाष्प एवं धूलिकणों की मात्रा अधिक होती है तथा ऊँचाई के साथ कम होती जाती है। इस कारण से धरातलीय दीर्घतरंग द्वारा विकीर्ण ऊष्मा का अवशोषण ऊँचाई के साथ घटता जाता है जिस कारण तापमान भी कम होता जाता है।

3. सागर से दूरी

सागरीय पर्यावरण के कारण तटीय भागों की मौसम सम्बन्धी दशाओं में समरसता आ जाती है क्योंकि स्थलीय एवं सागरीय हवाओं के दैनिक चक्र के कारण तटवर्ती सागरीय भागों एवं तटवर्ती स्थलीय भागों में ऊष्मा का मिश्रण अधिक होने से तापमान सम्बन्धी विभिन्नता कम हो जाती है। यही कारण है कि सागर तटीय क्षेत्रों में दैनिक तापान्तर न्यूनतम होता है परन्तु सागर तट से स्थल की ओर बढ़ती दूरी के साथ दैनिक, मासिक तथा वार्षिक तापान्तर बढ़ते जाते हैं, क्योंकि ग्रीष्म एवं शरदकाल के मौसमों में तापीय विषमता बढ़ती जाती है। सागरीय जलवायु की प्रमुख विशेषता न्यूनतम दैनिक तापान्तर का होना है, जबकि महाद्वीपीय जलवायु में उच्च दैनिक तापान्तर होता है।

4. स्थल एवं जल का स्वभाव

स्थल तथा जल के विरोधी स्वभाव के कारण तापमान के वितरण में पर्याप्त अन्तर होता है। स्थलीय भाग जलीय भाग की अपेक्षा शीघ्र गर्म तथा शीघ्र ठंडा हो जाता है। इसी कारण से स्थल तथा जल पर सूर्यातप की समान मात्रा मिलने पर भी स्थल का तापमान जल से अधिक हो जाता है। स्थल के जल की अपेक्षा शीर्घ गर्म तथा ठंडा होने के कई कारण बताये जा सकते हैं :

(1) स्थलीय भाग में सूर्य की किरणें मात्र एक मीटर तक ही प्रविष्ट हो पाती हैं क्योंकि भूमि सौर्यिक किरणों के लिए अपारदर्शी (opaque) होती है जबकि जल में कई मीटर तक (कम से कम 20 मीटर तक, सागर तल से 20 मीटर की गहराई वाला भाग इसी कारण से प्रकाशित मण्डल photic zone कहा जाता है) प्रविष्ट हो जाती हैं। परिणामस्वरूप स्थलीय भाग आसानी से शीघ्र गरम हो जाता है। वास्तव में स्थलीय भाग की मृदा एवं शैल वाली पतली परत (एक मीटर मोटी) जल्दी गर्म हो जाती है क्योंकि धरातलीय सतह की पतली परत के कम से कम पदार्थों के द्रव्यमान (mass of materials) में सूर्यातप का अधिकाधिक सान्द्रण (concentration) हो जाता है। दूसरी तरफ धरातलीय पतली परत से ऊष्मा का उत्सर्जन भी उतनी ही शीघ्रता से सम्पन्न होता है जिस कारण वह शीघ्र ठंडी भी हो जाती है। इसके विपरीत जलीय भाग में सूर्यातप की उतनी ही मात्रा को बहुत अधिक जलराशि को गरम करना पड़ता है क्योंकि सौर्यिक किरणें सागरीय जल में अत्यधिक गहराई तक प्रविष्ट हो जाती हैं। इस कारण से सागरीय जल देर से गरम एवं ठंडा होता है। यही कारण है कि दिन में समान क्षेत्र वाली स्थलीय सतह का तापमान सागरीय क्षेत्र की तुलना में अधिक हो जाता है, यद्यपि दोनों क्षेत्रों में सूर्यातप की समान मात्रा मिलती है। रात में इसके विपरीत स्थिति होती है।

(2) स्थलीय भाग पर ऊष्मा एक स्थान पर केन्द्रित होती है क्योंकि स्थल स्थायी होता है। अत: परिचालन द्वारा ऊष्मा का स्थानान्तरण एवं पुनर्वितरण मन्द गति से सम्पन्न होता है। ज्ञातव्य है कि 24 घण्टे में स्थलीय भाग में तापमान का नीचे की ओर वितरण मात्र 10 सेण्टीमीटर की गहराई तक ही प्रभावी हो पाता है क्योंकि स्थल का तापीय गुणांक (thermal coefficient) बहुत कम होता है। रात के समय ऊष्मा का स्थलीय भाग से उत्सर्जन भी उतनी ही शीघ्रता से हो जाता है। अत: स्थलीय भाग शीघ्र गरम एवं शीघ्र ठंडा हो जाता है। दूसरी तरफ सागरीय जल गतिशील होता है। सागरीय जल का ऊपरी भाग सूर्यातप से दिन में गर्म होने के बाद हल्का होकर

अन्यत्र स्थानान्तरित हो जाता है तथा नीचे से ठंडी जलराशि ऊपर आ जाती है जिसे सूर्य की किरणों को गर्म भी करना पड़ता है। इसी तरह सागरीय जल में धारायें, लहरें, ज्वार-भाटा आदि गतियां भी ऊष्मा को स्थानान्तरित करती रहती हैं, जिससे सागरीय जल भाग के गर्म होने की अवधि लम्बी हो जाती है।

(3) सागरीय भाग में वाष्पीकरण अधिक होने से सूर्यातप की अधिकांश मात्रा खर्च हो जाती है। अत: सागरीय भाग को आवश्यकता से कम ऊष्मा प्राप्त होती है जबकि स्थलीय भाग पर अपेक्षाकृत कम वाष्पीकरण होता है।

(4) स्थलीय भाग की अपेक्षा जलीय भाग की विशिष्ट ऊष्मा (specific heat, एक ग्राम तत्व के तापमान को 1^0C बढ़ाने के लिए जितनी ऊष्मा की मात्रा की आवश्यकता होती है उसे विशिष्ट ऊष्मा कहते हैं) अधिक होती है (स्थल की विशिष्ट ऊष्मा = 0.19 cal/g/^{0}C, जल की विशिष्ट ऊष्मा = 1.0 cal/g/^{0}C) क्योंकि जल का सापेक्षिक घनत्व स्थल के सापेक्षिक घनत्व से बहुत कम होता है। स्पष्ट है कि थल की अपेक्षा जल के उतने ही भाग को गर्म करने के लिए अधिक ऊष्मा की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, एक घनफुट जल को 1^0C गर्म करने के लिए एक घनफुट भूमि की अपेक्षा दोगुनी ऊष्मा की आवश्यकता होती है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि समान द्रव्यमान वाले जल एवं भूमि के भागों में सूर्यातप की समान मात्रा प्राप्त होने पर भूमि का तापमान जल की अपेक्षा अधिक हो जायेगा।

(5) स्थलीय सतह की तुलना में सागरीय सतह का **अलबिदो** (प्रवेशी लघुतरंग सौर्यिक विकिरण का प्रत्यावर्तन) अधिक होता है। अर्थात् स्थलीय सतह की तुलना में सागरीय सतह से सौर्यिक विकिरण का अधिक प्रत्यावर्तन (reflection) होने से जलीय भाग को कम सूर्यातप मिल पाता है। ज्ञातव्य है कि यह एक सामान्य कथन है क्योंकि भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर धरातलीय सतह में विभिन्नतायें मिलती है। 60^0 अक्षांश से आगे जाने पर हिमाच्छादित सतह का प्रतिशत बढ़ता जाता है, अत: धरातलीय सतह का अलबिदो भी बढ़ता जाता है।

(6) सागरीय भाग अधिकतर मेघाच्छादित (clouded) रहते हैं अत: स्थलीय भाग की तुलना में कम सूर्यातप प्राप्त करते हैं। ज्ञातव्य है कि बादल धरातलीय सतह से होने वाले बहिर्गामी दीर्घतरंग पार्थिव विकिरण के अधिकांश भाग का अवशोषण करके उसे धरातलीय सतह को प्रतिलोम विकिरण (counter-radiation) द्वारा वापस कर देते हैं। इस प्रक्रिया द्वारा सागरीय सतह से ऊष्मा के क्षय की प्रक्रिया मन्द पड़ जाती है अत: सागरों के ऊपर स्थित वायु का ठंडा होना भी मन्द हो जाता है। दूसरी तरफ स्थलीय सतह तेज गति से अधिक सूर्यातप प्राप्त करती है क्योंकि बदली अपेक्षाकृत कम होती है परन्तु बादलों के अभाव में या कम होने पर स्थलीय सतह से ऊष्मा का क्षय भी उतनी ही तेज गति से होता है। इस प्रकार स्थल पर तापान्तर अधिक होता है, जो महाद्वीपीय जलवायु का द्योतक है। इसके विपरीत जलीय सतह पर तापान्तर कम होने से सागरीय जलवायु होती है।

5. धरातलीय विशेषतायें

हिमाच्छादित सतह से सौर्यिक विकिरण के अधिक मात्रा में परावर्तित हो जाने से कम ऊष्मा मिलने से तापमान कम हो जाता हैं, जबकि रेतीली मिट्टी में सौर्यिक विकिरण का अधिक अवशोषण होने से तापमान (दिन में) अधिक हो जाता है। सौर्यिक ऊर्जा का हिम 70 से 90%, घासों वाला भाग 14 से 37%, काली मिट्टी 8 से 14% तथा कोणधारी वन 10% भाग का परावर्तन कर देता है। वनस्पति से आच्छादित भाग में अधिक ऊष्मा वृक्षों द्वारा प्राप्त जल के वाष्पीकरण में खर्च हो जाती है, जिस कारण सतह का तापमान ऊँचा नहीं हो पाता है। सारणी 4.1 में विभिन्न सतहों के अलबिदो को दर्शाया गया है।

तालिका 34.1 : विभिन्न सतहों का अलबिदो (प्रतिशत में)

सतह	सौर्यिक विकिरण का परावर्तित प्रतिशत	सतह	सौर्यिक विकिरण का परावर्तित प्रतिशत
हिम आवरण	70–90	वन	5–10
रेत	20–30	जल	3–5
घास	14–37	गहरे बादल	70–80
शुष्क भूमि	15–25	पतले बादल	25–80
तर भूमि	10	काली मिट्टी	8–14

6. धरातलीय ढाल

धरातलीय ढाल का वह भाग जो सूर्य की ओर (सूर्योन्मुखी ढाल) होता है, अपेक्षाकृत अधिक सूर्यातप प्राप्त करता है क्योंकि सौर्यिक किरणें लगभग सीधी पहुंचती हैं। अत: सूर्योन्मुखी ढाल पर सूर्यविमुखी ढाल (leeward slope) की अपेक्षा अधिक तापमान होता है क्योंकि सूर्यविमुखी ढाल पर सूर्य की किरणों के तिरछेपन के कारण कम सूर्यातप प्राप्त होता है। उत्तरी गोलार्द्ध में पूर्व-पश्चिम दिशा में विस्तृत पर्वतों के दक्षिणी ढालों पर उत्तरी ढालों की तुलना में अधिक सूर्यातप मिलने से तापमान अधिक रहता है। यही कारण है कि अल्पाइन पर्वतों (यूरोप में) के दक्षिणी ढालों पर स्थित घाटियों में मानव अधिवास होते हैं तथा कृषि कार्य सम्भव हो पाता है। सागरतटीय पर्वतों के पवनोन्मुखी ढालों (windward slopes) पर महासागरीय प्रभाव एवं ऊपर उठती पवनों के कारण अपेक्षाकृत कम तापमान रहता है (उठती हवा का तापमान प्रति एक हजार मीटर पर 10^0C की दर से कम होता जाता है) जबकि पवनविमुखी ढाल पर अपेक्षाकृत अधिक तापमान पाया जाता है। यही कारण है कि दक्षिणी भारत में पश्चिमी घाट के पश्चिमी एवं पूर्वी ढालों के तापमान में काफी अन्तर होता है।

उच्चावच्च के सन्दर्भ में भी धरातलीय आकृतियां तापमान के स्थानिक वितरण में विभिन्नतायें उत्पन्न करती हैं। पश्चिम से पूर्व दिशा में फैले गिरिराज हिमालय तथा उसकी शृंखलायें भारत को साइबेरिया से आने वाली बर्फीली तेज हवाओं से रक्षा प्रदान करती हैं, अन्यथा भारत जाड़े में अतिशीत क्षेत्र हो जाता तथा गर्मियां भी सर्द हो जातीं। दूसरी तरफ संयुक्त राज्य अमेरिका में पूर्व-पश्चिम दिशा में फैले किसी भी पर्वतीय अवरोध के अभाव में आर्कटिक कनाडा से उत्पन्न बर्फीली प्रचण्ड ध्रुवीय हवायें बिना किसी रोक-टोक के खाड़ी तटीय क्षेत्रों तक पहुंच जाती हैं तथा शरदकाल में न्यूओर्लियन्स, गाल्वेस्टन तथा ह्यूस्टन नगरों का तापमान हिमांक के नीचे चला जाता है। इसके विपरीत ग्रीष्मकाल में गर्म उष्णकटिबन्धी वायुराशियां बिना अवरोध के देश के अन्दर प्रविष्ट होकर तापमान को सामान्य से अधिक बढ़ा देती हैं।

7. प्रचलित पवन

प्रचलित पवन अपने क्षेत्र से चल कर प्रभावित क्षेत्र में पर्याप्त परिवर्तन लाती हैं। निचले अक्षांशों से उच्च अक्षांशों की ओर चलने वाली हवाएं तापमान अधिक तथा ऊँचे अक्षाशों से निचले अंक्षांशों की ओर आने वाली हवाएं तापमान कम कर देती हैं। सागरीय भागों से स्थलीय भागों की ओर चलने वाली हवाएं वहाँ पर सागरीय प्रभाव लाती हैं, जिससे तापान्तर कम हो जाता है। पर्वतों के ऊपरी भाग से आने वाली हवाएं घाटियों में तापमान नीचा कर देती हैं। शीतोष्ण चक्रवातों के आगमन के समय तापमान ऊँचा तथा चले जाने के बाद अचानक कम हो जाता है। गर्म सागरीय धाराओं के ऊपर से आने वाली हवाएं तटीय भागों पर तापमान ऊँचा कर देती हैं जब कि ठंडी धाराओं के सम्पर्क में आने वाली हवाएं तटीय भाग में तापमान कम कर देती हैं। स्थायी ग्रहीय हवाएं (व्यापारिक, पछुवा, ध्रुवीय) भी अपनी विशेषताओं से प्रभावित क्षेत्र में तापमान में अन्तर लाती हैं।

कभी-कभी स्थानीय हवायें स्थानीय तापमान में नाटकीय परिवर्तन कर देती हैं। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका में राकी पर्वत के पूर्वी ढलानों पर गर्म चिनूक हवा के आगमन पर तापमान में अचानक 30^0-40^0F तक वृद्धि हो जाती है। यही कारण है कि यहां पर चरागाह वर्ष भर खुले रहते हैं। भारत के उत्तरी मैदानी क्षेत्रों में गर्मियों में अति गर्म लू हवा के आने पर तापमान 40^0-48^0C तक हो जाता है तथा ताप लहर (heat waves) चलने से कई लोग लू लगने से कालकवलित हो जाते हैं।

8. महासागरीय धारायें

गर्म अक्षांशों से चलने वाली गर्मधाराएं शीतोष्ण तथा शीतकटिबंधों में तटीय भागों में औसत से तापमान अधिक कर देती हैं। गल्फस्ट्रीम यूरोप के उत्तरी-पश्चिमी भाग तथा क्यूरोसिवो जापान तथा उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट पर अधिक ऊष्मा लाती है। लेब्राडोर, पीरू तथा कैलिफोर्निया धाराएं ठंडी होने के कारण प्रभावित क्षेत्रों में तापमान अधिक नीचा कर देती हैं। गर्म तथा ठंडी धाराएं किसी स्थान पर मिलने पर कुहरा उत्पन्न करती हैं।

9. मेघाच्छादन (Cloud Cover)

आकाश में बादलों की स्थिति (बादल आवरण का प्रतिशत, बादलों के प्रकार तथा उनकी मोटाई) स्थानीय, दैनिक तथा मौसमी तापमान को प्रभावित करती है, जिसके द्वारा तापान्तर निर्धारित होता है। यह आनुभविक सत्य है कि बदली वाली रात (clouded night) के समय बादल रहित रात की तुलना में तापमान अधिक रहता है। इसी तरह बादलरहित रात एवं दिन की अपेक्षा बादल सहित रात एवं दिन गर्म होते हैं। यह स्थिति इसलिए उत्पन्न होती है कि बादल धरातलीय सतह से होने वाले बहिर्गामी दीर्घतरंग पार्थिव विकिरण की अधिकांश मात्रा का अवशोषण कर लेते हैं तथा उसे पुन: धरातल की ओर प्रतिलोम प्रत्यावर्तन (counter radiation) की प्रक्रिया द्वारा वापस लौटा देते हैं। इस तरह धरातलीय सतह से ऊष्मा का क्षय अवरुद्ध हो जाता है। परिणामस्वरूप धरातलीय सतह एवं उसके ऊपर स्थित सीमा पवन परत (boundary air layer) गरम रहती है। इसके विपरीत रात में बादल रहित आकाश (खुला आकाश) की स्थिति में धरातलीय सतह से ऊष्मा का क्षय अबाध गति से होता रहता है। ज्ञातव्य है कि बादलों के अभाव में प्रवेशी लंघुतरंग विकिरण दिन में आसानी से धरातलीय सतह तक सीधे पहुंच जाता है और धरातल के शीघ्र गर्म होने

से तापमान बढ़ने लगता है। परिणामस्वरूप दैनिक तापान्तर अधिक होता है। निष्कर्ष के रूप में यह व्यक्त किया जा सकता है कि मेघाच्छादन की स्थिति में दैनिक तापान्तर कम परन्तु मेघरहित आकाश की स्थिति में दैनिक तापानतर अधिक होता है।

34.5 तापमान का लम्बवत वितरण
(Vertical Distribution of Temperature)

वैज्ञानिक पर्यवेक्षणों के आधार पर अब यह तय हो चुका है कि वायुमण्डल में धरातल से ऊँचाई पर जाने पर तापमान में गिरावट आती जाती है परन्तु तापमान की गिरावट की दर में मौसम, दिन की अवधि तथा स्थिति के अनुसार अन्तर आता रहता है। औसत रूप से तापमान प्रति एक हजार फीट की ऊँचाई पर 3.6^0 फा० (प्रति हजार मीटर पर 6.5^0 सें०) की दर से कम हो जाता है। तापमान के इस पतन को **सामान्य पतन दर** (normal lapse rate) कहते हैं। सामान्य पतन दर का परिकलन धरातलीय सतह के औसत तापमान 15^0C तथा 11 किमी० की ऊँचाई पर औसत -59^0C तापमान के आधार पर किया जाता है। 11 किमी० की ऊँचाई तक कुल तापमान का ह्रास = $15^0 + -59^0 = 74^0 = 74/11 = 6.7^0C$, अत: एक किलोमीटर पर ताप पतन 6.5^0 होता है। यह तापमान के अक्षांशीय क्षैतिज पतन दर से 1000 गुना अधिक है परन्तु वास्तविक पतन दर, जिसे **पर्यावरणीय पतन दर** (environmental lapse rate) कहते हैं, में स्थानिक तथा कालिक परिवर्तन होते हैं। 1.5 से 2 किमी० की ऊँचाई तक निचले क्षोभमण्डल में पतन दर में बार-बार परिवर्तन होते हैं परन्तु ऊपरी क्षोभमण्डल (2 किमी० से ट्रोपोपाज तक) में पतन दर में कम परिवर्तन होता है। ग्रीष्मकाल में शरदकाल से तथा दिन में रात से पतन दर ऊँचा होता है। क्षोभमण्डल में धरातलीय सतह से ऊँचाई के साथ तापमान में गिरावट से यह प्रमाणित हो जाता है कि वायुमण्डल धरातलीय सतह से परिचालन, संवहन एवं विकिरण की प्रक्रियाओं से ऊष्मा प्राप्त करता है। इस तरह से यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे धरातलीय सतह से ऊँचाई (लम्बवत दूरी) बढ़ती जाती है, अर्थात् वायुमण्डल की ऊष्मा के स्रोतस्थल (धरातलीय सतह) की लम्बवत दूरी बढ़ती जाती है, वायुमण्डल को ऊष्मा की आपूर्ति भी उसी दिशा एवं अनुपात में घटने लगती है, अत: ऊँचाई के साथ तापमान घटने लगता है। ऊँचाई के साथ तापमान के घटने के निम्न कारण हैं :

➤ वायुमण्डल का निचला भाग पृथ्वी के सम्पर्क में होने से शीघ्र ऊष्मा प्राप्त कर लेता है तथा स्वयं गर्म हो लेने के बाद ही संवहन तरंगों से ऊष्मा ऊपर की ओर स्थानान्तरित करता है। इस प्रकार वायुमण्डल की प्रत्येक ऊपर की परत अपनी निचली परत की अपेक्षा देर में तथा कम मात्रा में ऊष्मा प्राप्त करती है।

➤ वायुमण्डल के निचले भाग में ऊपर स्थित वायु परतों के कारण भार अधिक होता है तथा ऊपर जाने पर हवा का घनत्व कम हो जाता है तथा हवा फैलकर विरल हो जाती है। ज्ञातव्य है कि कम घनत्व वाली विरल हवा में ऊष्मा धारण करने की क्षमता बहुत कम होती है।

➤ पार्थिव विकिरण का अवशोषण करने वाले धूलिकण, जलवाष्प तथा गैसों का सान्द्रण निचले भाग में अधिक होता है तथा ऊँचाई के साथ कम हो जाता है। फलस्वरूप निचले भाग में पार्थिव ऊर्जा का अवशोषण अधिक होने से तापमान अधिक हो जाता है। ऊँचाई के साथ पार्थिव ऊर्जा के घटते अवशोषण के कारण तापमान घटने लगता है।

ज्ञातव्य है कि वायुमण्डल में ऊँचाई के साथ तापमान के घटने की प्रवृत्ति मात्र क्षोभमण्डल तक ही सीमित रहती है। क्षोभमण्डल की ऊपरी सीमा को **ट्रोपोपाज** कहते हैं जिसकी भूमध्य- रेखा तथा ध्रुवों पर औसत ऊँचाई क्रमश: 16 किमी० तथा 6 किमी० है। अर्थात् ट्रोपोपाज की ऊँचाई भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर कम होती जाती है परन्तु ट्रोपोपाज पर तापमान में भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर वृद्धि होती जाती है (क्योंकि ऊँचाई कम होती जाती है)।

सागर तल से ट्रोपोपाज की ऊँचाई में मौसम के साथ अन्तर होता है। जुलाई तथा जनवरी में भूमध्य रेखा पर ट्रोपोपाज की ऊँचाई 17 किमी० रहती है तथा इस ऊपरी सीमा का वायुमण्डलीय तापमान -70^0 सेग्रे० रहता है। 45^0 उ० अक्षांश पर जुलाई में इसकी ऊपरी सीमा 15 किमी० (तापमान -60^0 सेंग्रे०) तथा जनवरी में 12.5 किमी० (तापमान -58^0 सेंग्रे०) होती है। उ० ध्रुव पर जुलाई में यह सीमा 10 किमी० (तापमान -45^0 सेंग्रे०) एवं जनवरी में 9 किमी० (तापमान -58^0 सेंग्रे०) होती है। स्पष्ट है कि ट्रोपोपाज पर तापमान भूमध्य रेखा पर अत्यन्त कम (-70^0 सेंग्रे०) तथा ध्रुवों पर अपेक्षाकृत अधिक (भूमध्य रेखा से) होता है। चूँकि परिवर्तन मण्डल में सामान्य पतन दर (normal lapse rate, 6.5^0 सेंग्रे० प्रति हजार मीटर) समान होती है अत: भूमध्यरेखा पर ट्रोपोपाज की 17 किमी० की ऊँचाई पर तापमान का कम हो जाना स्वाभाविक है जबकि ध्रुवों पर ट्रोपोपाज की स्थिति 9-10 किमी० होने पर भूमध्यरेखीय ट्रोपोपाज की अपेक्षा अधिक तापमान होता है।

ट्रोपोपाज के ऊपर स्ट्रैटोस्फीयर (समतापमण्डल) में ऊँचाई के साथ तापमान में वृद्धि होती है तथा सागर तल से 50 किमी० की ऊँचाई पर तापमान बढ़कर 0^0C या 32^0F हो जाता है। यह समतापमण्डल की ऊपरी सीमा है जिसे **स्ट्रैटोपाज** कहते हैं। स्ट्रैटोपाज के ऊपर मध्यमण्डल (mesosphere) में ऊँचाई के साथ तापमान में पुन: गिरावट होने लगती है। मध्यमण्डल की ऊपरी सीमा अर्थात् **मेसोपाज** (सागर तल से ऊँचाई 80 किमी०) पर तापमान -80^0C होता है। मेसोपाज से ऊपर तापमण्डल (thermosphere) में जाने पर ऊँचाई के साथ तापमान में पुन: वृद्धि होती जाती है। यह अनुमान किया गया है कि तापमण्डल की ऊपरी सीमा पर तापमान 1700^0C रहता

है परन्तु अत्यधिक कम घनत्व होने के कारण गैसें अत्यन्त हल्की हो जाती हैं, परिणामस्वरूप इस उच्च तापमान की साधारण थर्मामीटर से माप नहीं की जा सकती।

क्षोभमण्डल में कतिपय खास दशाओं में कभी-कभी ऊँचाई के साथ तापमान में गिरावट के बजाय तापमान में वृद्धि होती है, अर्थात् ठंडी वायुपरत के ऊपर गरम वायुपरत की स्थिति हो जाती है। इस दशा को **तापीय प्रतिलोमन** (inversion of temperature) कहते हैं। तापमान के लम्बवत वितरण की इस विशिष्ट दशा अर्थात् तापीय प्रतिलोमन (तापमान के लम्बवत वितरण की सामान्य दशा के विपरीत दशा) का अलग से उल्लेख आवश्यक है। ज्ञातव्य है कि तापीय प्रतिलोमन, तापमान के लम्बवत वितरण का ही भाग है।

34.6 तापीय प्रतिलोमन (Inversion of Temperature)

सामान्य परिचय

सामान्य नियमानुसार क्षोभमण्डल या अधोमण्डल में ऊँचाई के साथ तापमान (1000 मीटर पर 6.5°C की दर से) घटता जाता है परन्तु इस सामान्य तापपतन के विपरीत कभी-कभी कालिक तथा स्थानीय रूप से ऊँचाई के साथ तापमान बढ़ता जाता है। इसे **ऋणात्मक ताप पतन दर** (negative lapse rate) की संज्ञा प्रदान की जाती है। इस क्रिया के कारण नीचे अपेक्षाकृत ठंडी वायु की परत तथा उसके ऊपर गर्म वायु की परत की स्थिति हो जाती है। इस स्थिति या दशा को **'तापमान का प्रतिलोमन'** कहा जाता है। यह दशा धरातल के निकट भी हो सकती है। अधिक ऊँचाई पर होने वाला प्रतिलोमन अधिक स्थायी होता है, क्योंकि पार्थिव विकिरण द्वारा ऊपरी गर्म परत को ठंडा करने में अधिक समय लगता है, जबकि धरातल के निकट होने वाला प्रतिलोमन अल्पकालिक होता है, क्योंकि विकिरण द्वारा धरातल के निकट ठंडी परत का लोप शीघ्र हो जाता है। तापीय प्रतिलोमन के कारण ऊपर गर्म तथा हल्की वायु तथा नीचे ठंडी एवं भारी वायु के कारण वायुमण्डल में स्थिरता आ जाती है, परन्तु यह स्थिरता सौर्यिक तथा पार्थिव विकिरण द्वारा विलीन हो जाती है। तापीय प्रतिलोमन ध्रुवीय प्रदेशों, मध्य अक्षांशों के हिमाच्छादित भागों तथा घाटियों में अधिक होता है। गर्म तथा ठंडी जलधाराओं के संगम स्थल पर भी यह दशा उपस्थित हो जाती है।

तापीय प्रतिलोमन के प्रकार

तापमान का प्रतिलोमन कई प्रकार की दशाओं में विभिन्न कारकों के फलस्वरूप होता है। कभी सतह के पास या सतह के ऊपर वायुमण्डल की स्थिर दशाओं में होता है तो कभी ठंडी तथा गर्म हवाओं के एक दूसरे के प्रदेश में आगमन के कारण होता है तथा कभी वायुमण्डल की किसी खास परत के ऊपर या नीचे गतिशील होने के कारण होता है। इस आधार पर तापीय प्रतिलोमन को तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जाता है : (1) तापीय प्रतिलोमन (thermal inversion)–यद्यपि 'तापीय' शब्द भ्रामक है क्योंकि प्रत्येक प्रकार का प्रतिलोमन तो तापमान से ही सम्बन्धित है, तथापि इसका प्रयोग इसलिए किया जा रहा है कि इस तरह के प्रतिलोमन में केवल पार्थिव विकिरण तथा ऊष्मा ह्रास में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। पवन का संचार नगणय होता है। भ्रम से बचने के लिए इसे **विकिरण प्रतिलोमन** (radiation inversion) कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसे **अप्रवाही प्रतिलोमन** (non-advectional inversion) भी कहा जाता है। पुन: ऊँचाई के आधार पर तापीय प्रतिलोमन को (अ) धरातलीय प्रतिलोमन (surface inversion), तथा (ब) उच्चतलीय प्रतिलोमन (upper air inversion) दो उपविभागों में विभाजित करते हैं। (2) अभिवहनीय या सम्पर्कीय प्रतिलोमन (advectional inversion), तथा (3) यांत्रिक प्रतिलोमन (mechanical inversion)।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर तापमान के प्रतिलोमन को निम्न प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है :

1. **अप्रवाही प्रतिलोमन** (non-advectional inversion)
   - (i) धरातलीय प्रतिलोमन या विकिरण प्रतिलोमन,
   - (ii) उच्च वायुमण्डलीय प्रतिलोमन (upper air inversion)
2. **प्रवाही प्रतिलोमन** (advectional inversion)
   - (i) वाताग्री या चक्रवातीय प्रतिलोमन,
   - (ii) घाटी प्रतिलोमन (लम्बवत प्रतिलोमन),
   - (iii) धरातलीय प्रतिलोमन (क्षैतिज प्रतिलोमन)

यहां पर लम्बवत तथा क्षैतिज प्रतिलोमन से तात्पर्य है वायु के संचरण की दिशा (लम्बवत प्रवाह तथा क्षैतिज प्रवाह)।

3. **यांत्रिक प्रतिलोमन** (mechanical inversion)
   - (i) अवतलन प्रतिलोमन (subsidence inversion),
   - (ii) विक्षोभ (turbulence)एवं संवहनीय प्रतिलोमन

1. धरातलीय या विकिरण प्रतिलोमन (Ground or Radiation Inversion)

धरातल के निकट वायुमण्डल के सबसे निचले भाग में घटित होने के कारण इसे धरातलीय प्रतिलोमन की संज्ञा दी जाती है। इस तरह का प्रतिलोमन मुख्य रूप से मध्य तथा उच्च अक्षांशों के हिमाच्छादित भागों में जाड़े की लम्बी रात्रि के समय होता है। रात्रि के समय पृथ्वी की सौर्यिक ऊष्मा की प्राप्ति समाप्त हो जाती है, जबकि पार्थिव विकिरण के निर्विरोध तीव्र गति से सम्पादित होने के कारण ऊष्मा का नाश अधिक होता है, जिस कारण धरातल ठंडा हो जाता है तथा उसके सम्पर्क में आने वाली वायु भी ठंडी हो जाती है, जबकि उसके

ठीक ऊपर ऊष्मा का कम ह्रास होने से गर्म वायु की परत होती है। परिणामस्वरूप नीचे तापमान कम तथा ऊपर अधिक होने से तापीय प्रतिलोमन की स्थिति हो जाती है। इस तरह का प्रतिलोमन धरातलीय सतह से विकिरण द्वारा होता है। अत: इसे **विकिरण प्रतिलोमन** कहते हैं। इस प्रकार के प्रतिलोमन के लिए निम्न अनुकूल दशाएं आवश्यक हैं :

➤ जाड़े की दीर्घ रात्रि होनी चाहिए, ताकि बहिर्गामी पार्थिव विकिरण प्रवेशी सौर्यिक विकिरण से अधिक सक्रिय हो सके, जिस कारण प्राप्त ऊष्मा से नष्ट ऊष्मा अधिक हो जाय और धरातल का तापमान ऊपर से कम हो जाय।

➤ आकाश स्वच्छ तथा बादल रहित या अत्यधिक उच्च बादल होने चाहिए, ताकि पार्थिव विकिरण द्वारा ऊष्मा का ह्रास तीव्र तथा अबाध गति से सम्पन्न हो सके। बदली की स्थिति में पार्थिव विकिरण शिथिल पड़ जाता है।

➤ धरातल के पास शुष्क पवन हो, ताकि वह पार्थिव विकिरण का अधिक अवशोषण न कर सके। जलवाष्पों से युक्त आर्द्र पवन पार्थिव विकिरण का अधिक अवशोषण कर लेती है।

➤ वायुमण्डल शान्त तथा स्थिर होना चाहिए तथा पवन संचरण मन्द होना चाहिए, ताकि तापमान का स्थानान्तरण एवं मिलावट न हो सके।

➤ हिम से आच्छादित धरातल, जिस कारण सौर्यिक विकिरण का अधिकाधिक परावर्तन हो सके। हिम ताप का कुचालक होने के कारण ऊष्मा का ऊपरी प्रवाह रोक देता है

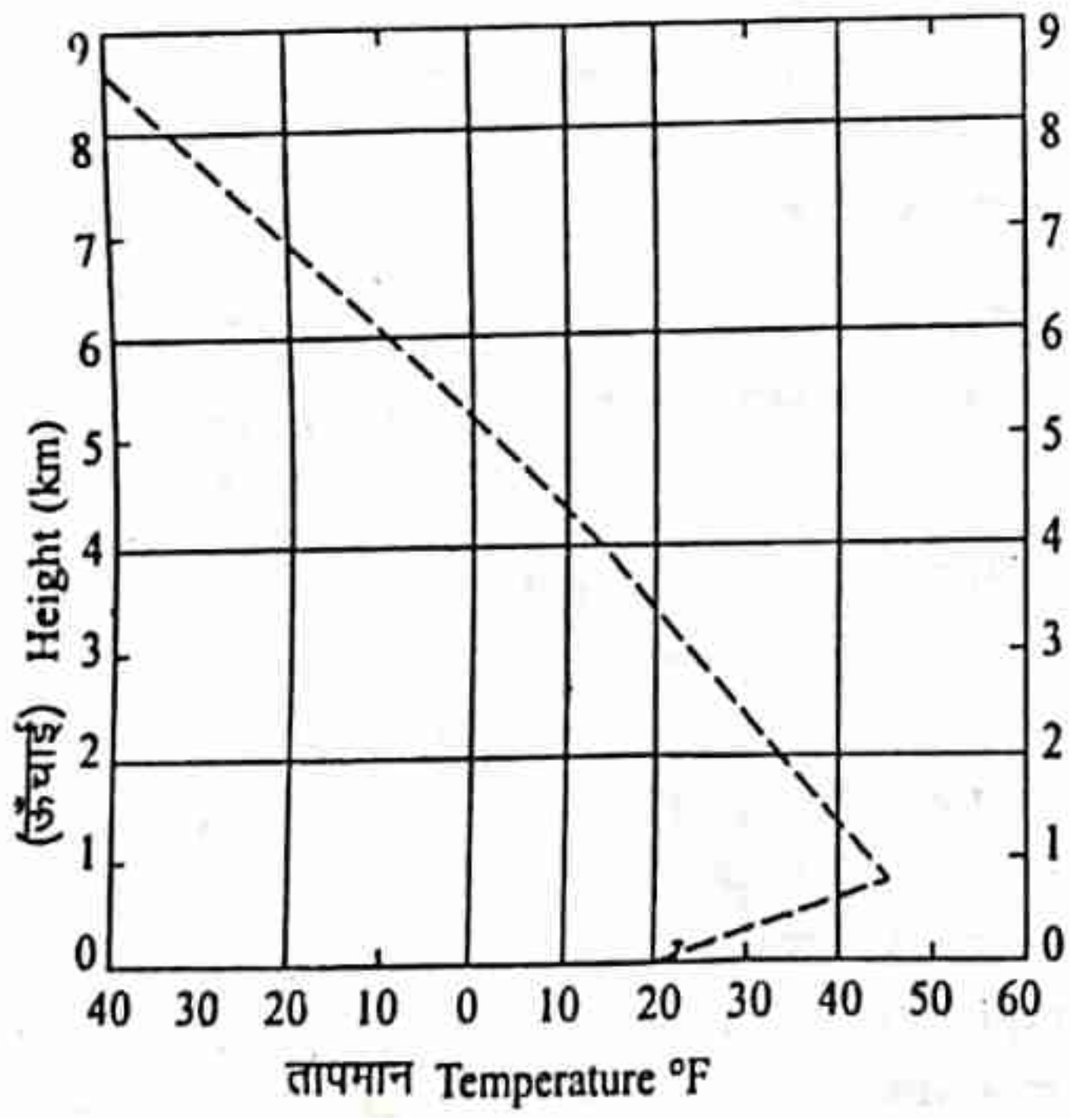

चित्र 34.1 : धरातलीय या विकिरण तापीय प्रतिलोमन का प्रदर्शन।

अर्थात् धरातल के नीचे की ऊष्मा ऊपर जाकर वायुमण्डल को गर्म नहीं कर पाती है।

चूंकि इस तरह का प्रतिलोमन वायुमण्डल की स्थिर दशाओं में सम्पादित होता है, अत: इसे **स्थिर प्रतिलोमन** (static inversion) या **अप्रवाही प्रतिलोमन** (non-advectional inversion) भी कहा जाता है। भूमध्यरेखीय भागों में इस तरह का प्रतिलोमन केवल शीतकालीन रात्रियों में ही होता है, परन्तु ऐसी स्थिति अल्पकालिक होती है। प्राय: सुबह के साढ़े सात बजे तक यह स्थिति रहती है तथा सूर्योदय के साथ समाप्त होने लगती है। यह प्रतिलोमन निम्न अक्षांशों में 10 मीटर से 15 मीटर तथा मध्य अक्षांशों में कुछ सौ मीटर तथा उच्च अक्षांशों में एक किलोमीटर की ऊँचाई तक होता है। स्पष्ट है कि धरातलीय प्रतिलोमन की अवधि निम्न अक्षांशों से उच्च अक्षांशों की ओर बढ़ती जाती है। धरातलीय प्रतिलोमन के कारण कुहरा (fog) प्राय: होता रहता है। शहरों पर तो यह सामान्य स्थिति होती है।

उच्च वायुमण्डलीय तापीय प्रतिलोमन
(Upper Air Temperature Inversion)

यह प्रतिलोमन दो प्रकार का होता है–(i) **अप्रवाही उच्च वायुमण्डलीय प्रतिलोमन**, तथा (ii) **यांत्रिक प्रतिलोमन** (इसका उल्लेख आगे किया जायेगा)। वायुमण्डल में धरातल से 15 से 80 किलोमीटर के बीच ओजोन गैस मिलती है। यह गैस स्वभावत: सौर्यिक विकिरण की पराबैंगनी किरणों (ultra-violet rays) का अवशोषण करके अपना तापमान बढ़ा लेती है, जिस कारण उसके ऊपर तथा नीचे दोनों तरफ कम तापमान होने से प्रतिलोमन की स्थिति आ जाती है। यदि ओजोन गैस न होती तो सूर्य की सभी पराबैगनी किरणें सतह पर आकर उसका तापमान इतना बढ़ा देतीं कि समस्त धरातलीय जल वाष्प में परिणत हो जाता। इस प्रतिलोमन के लिए आवश्यक है कि वायुमण्डलीय परत में लम्बवत् या क्षैतिज गति नहीं होनी चाहिए (अधिक) अन्यथा तापमान में स्थानान्तरण तथा मिलावट प्रारम्भ हो जायेगी। यह प्रतिलोमन सदैव 15 किमी० से अधिक ऊँचाई पर होता है।

2. अभिवहनीय या सम्पर्कीय प्रतिलोमन
(Advectional Inversion)

इस तरह के तापीय प्रतिलोमन को गतिक प्रतिलोमन (dynamic inversion) की भी संज्ञा प्रदान की जाती है। वायुमण्डल का अस्थिर होना तथा प्रबल क्षैतिज पवन संचार अत्यावश्यक होते हैं। हवाओं के क्षैतिज रूप में गतिशील होने से उत्पन्न प्रतिलोमन अधिक स्थायी तथा व्यापक होता है, जिसका जलवायु सम्बन्धी अधिक महत्व होता है। इस तरह का प्रतिलोमन निम्न तीन दशाओं में होता है :

➤ जब क्षैतिज स्तर पर गर्म हवा ठंडी हवा के ऊपर आ जाय या ठंडी हवा गर्म हवा को ठेल कर ऊपर कर दे। यह दशा शीतोष्ण चक्रवातों में होती है।

➤ जब क्षैतिज स्तर पर गर्म वायु का अपेक्षाकृत ठंडी वायु के क्षेत्र में या ठंडी वायु का अपेक्षाकृत गर्म वायु के क्षेत्र में प्रवाह हो। यह दशा सागर तटीय क्षेत्रों में होती है।

➤ जब गर्म एवं ठंडी हवा में लम्बवत गति हो। यह स्थिति पर्वतीय घाटियों में मिलती है।

उपर्युक्त आधारों पर प्रवाही तापीय प्रतिलोमन को तीन प्रकारों में विभाजित करते हैं : (i) वाताग्री या चक्रवातीय प्रतिलोमन (frontal or cyclonic inversion), (ii) क्षैतिज प्रवाही प्रतिलोमन, तथा (iii) घाटी प्रतिलोमन।

(i) चक्रवातीय प्रतिलोमन : शीतोष्ण कटिबन्धों में चक्रवातों के शीतवाताग्र (cold front) में जब भारी तथा ठंडी हवा का गर्म हवा के प्रदेश में प्रवेश होता है, तो अपने भारीपन के कारण ठंडी हवा हल्की गर्म हवा को धकेल कर ऊपर कर देती है, जिस कारण नीचे ठंडी हवा तथा ऊपर गर्म हवा होने के कारण तापीय प्रतिलोमन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसे **चक्रवाती प्रतिलोमन** की संज्ञा भी प्रदान की जा सकती है।

(ii) क्षैतिज प्रवाही प्रतिलोमन : जब किसी भी स्थान में गर्म वायु ठंडी वायु के प्रदेश में या ठंडी वायु गर्म वायु के प्रदेश में प्रवेश करती है तो ठंडी वायु भारी होने के कारण सदैव नीचे बैठने का प्रयास करती है तथा गर्म एवं हल्की वायु ऊपर चली जाती है जिस कारण तापमान का प्रतिलोमन प्रारम्भ हो जाता है। जब गर्म वायु गतिशील होती है तो प्रतिलोमन महाद्वीपों पर जाड़े के समय तथा महासागरों पर गर्मियों में होता है, परन्तु जब ठंडी वायु सक्रिय होकर गर्म वायु प्रदेश में जाती है, तो प्रतिलोमन महाद्वीपों पर गर्मियों में तथा महासागरों पर सर्दियों में होता है। इस तरह का प्रतिलोमन निम्न अक्षांशों में होता रहता है। गर्म तथा ठंडी जलधाराओं के मिलने के कारण भी तापीय प्रतिलोमन प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह के प्रतिलोमन को **क्षैतिज प्रवाही प्रतिलोमन** भी कहा जा सकता है।

(iii) घाटी प्रतिलोमन : पर्वतीय घाटियों में विकिरण तथा अभिवहन (advection) की सहायता से प्रतिलोमन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसे **घाटी प्रतिलोमन** या लम्बवत् प्रवाही प्रतिलोमन कहा जाता है। जाड़े की रात्रि में घाटियों के ऊपरी भाग या ढालानों के ऊपरी भाग से पार्थिव विकिरण के कारण ऊष्मा के नष्ट होने से तापमान कम हो जाता है, जिस कारण उसके सम्पर्क में आने वाली वायु ठंडी होने लगती है। इसके विपरीत घाटियों के तलस्थ (तली) भागों में विकिरण से अपेक्षाकृत कम ऊष्मा ह्रास के कारण तापमान ऊँचा होने से वायु गर्म तथा हल्की रहती है। ऊपर स्थित ठंडी वायु भारी होने के कारण नीचे बैठने लगती है जिस कारण वायु में अधोमुखी संचरण (downward circulation) प्रारम्भ हो जाता है। ये ठंडी हवाएं घाटी की तली में पहुँचकर गर्म तथा हल्की वायु को ऊपर ढकेलने लगती हैं जिस कारण उसमें उपरिमुखी संचरण (upward circulation) प्रारम्भ हो जाता है। परिणामस्वरूप ऊपरी भाग में गर्म तथा निचले भाग में ठंडी वायु होने के कारण प्रतिलोमन की स्थिति उपस्थित हो जाती है। इस स्थिति के कारण घाटियों के निचले भाग में तीव्र पाला (frost) पड़ता है, जबकि ऊपरी भाग पाला रहित होता है।

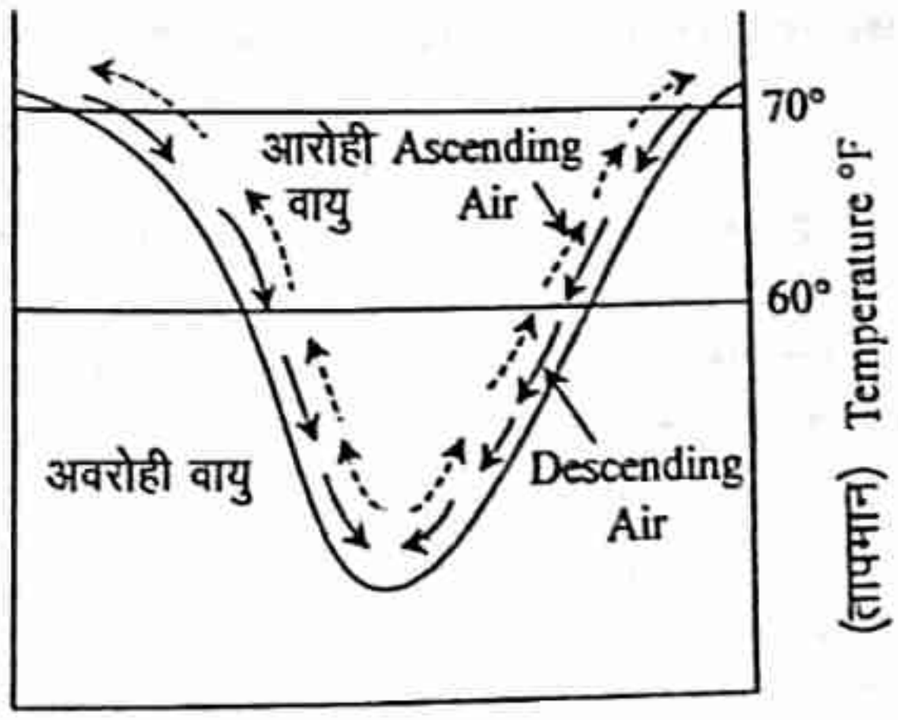

चित्र 34.2 : घाटी तापीय प्रतिलोमन का प्रदर्शन

3. यांत्रिक प्रतिलोमन (Mechanical Inversion)

इस तरह का प्रतिलोमन धरातल से ऊपर वायुमण्डल में ऊँचाई पर होता है। इसमें न तो पार्थिव या सौर्यिक विकिरण का हाथ रहता है, न ही गैसों के अवशोषण तथा पवन के सम्पर्क का ही। यह प्रतिलोमन वायुमण्डल में वायु के ऊपर या नीचे गतिशील होने के कारण होता है। इस तरह का प्रतिलोमन दो रूपों में होता है। कभी-कभी अचानक गर्म वायु तीव्रता से ऊपर चली जाती है, जहाँ पर शीतल वायु होती है। भारी होने के कारण शीतल वायु नीचे हो जाती है तथा प्रतिलोमन प्रारम्भ हो जाता है। दूसरी स्थिति में जब वायु नीचे उतरती है तो सम्पीडन के कारण गर्म होने लगती है। लम्बे समय तक इस क्रिया के कारण तापमान इतना अधिक हो जाता है कि एक व्यापक क्षेत्र में नीचे उतरते समय मार्ग में ही गर्म स्थिर वायु परत का आविर्भाव हो जाता है। इस परत के नीचे कम तापमान होने से प्रतिलोमन की स्थिति हो जाती है। इस तरह का यांत्रिक प्रतिलोमन प्रतिचक्रवातीय दशाओं के साथ अधिक होता है। मध्य अक्षांशों में जहाँ पर वायु उतरती है, यांत्रिक प्रतिलोमन एक सामान्य प्रक्रिया होती है। स्मरणीय है कि प्रतिलोमन के कारण वायुमण्डल में स्थिरता आ जाने से वर्षा नहीं हो पाती है। यही कारण है कि व्यापारिक हवाओं का ध्रुवों की ओर वाला भाग शुष्क होता है।

तापीय प्रतिलोमन का महत्व

यद्यपि तापमान का प्रतिलोमन वायुमण्डल की स्थानीय तथा अस्थायी क्रिया है, तथापि इसके कारण कई प्रकार के मौसम तथा जलवायु सम्बन्धी प्रभाव होते हैं जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव मानव तथा उसके आर्थिक विकास पर पड़ता है।

(1) ऊपर गर्म तथा नीचे ठंडी वायु की परतों के कारण कुहरा (fog) प्रारम्भ हो जाता है, जबकि गर्म वायु में नमी कम होती है। इस तरह का कुहरा जाड़े की रात्रियों में प्राय: छाया रहता है, क्योंकि चिमनियों के धुएं प्रतिलोमन परत में पहुँच कर इसे आसान बना देते हैं। औद्योगिक एवं नगरी क्षेत्रों के ऊपर घरों एवं चिमनियों से निकलने वाले धुएं एवं सल्फर डाइ आक्साइड का जब कुहरे से सम्बन्ध हो जाता है तो जहरीले कुहरे का निर्माण होता है। इसे **नगरीय स्माग** या मात्र **स्माग** कहते हैं। इस तरह के जहरीले कुहरे का निर्माण दिसम्बर, 1930 में बेल्जियम की म्यूज घाटी में, अक्टूबर 1948 में संयुक्त राज्य अमेरिका के पेन्शनवेलिया प्रान्त के डोनोरा में तथा 1952 में लंदन में हुआ था जिससे सैकड़ों लोग या तो मर गये या बीमर हो गये। गर्म तथा ठंडी सागरीय धाराओं के मिलन स्थान पर घना तथा व्यापक कुहरा पड़ता है। न्यू फाउण्डलैण्ड के पास गर्म गल्फस्ट्रीम तथा ठंडी लेब्राडोर की जलधाराओं के मिलने के कारण कुहरा का पड़ना एक सामान्य सी बात होती है। कुहरा द्वारा हानि भी होती है, लाभ भी। घने कुहरे के कारण दृश्यता कम हो जाने के कारण सागरों में जलयानों तथा स्थल पर वायुयानों की दुर्घटनायें प्राय: घटती रहती हैं। कहीं-कहीं पर फसलों तथा फलों की खेती के लिए कुहरा लाभप्रद होता है। अरब में यमन की पहाड़ियों पर दिन के दोपहर तक कुहरा छाया रहता है। इस कारण कहवा के पौधों का सूर्य की तीक्ष्ण किरणों के प्रहार से बचाव हो जाता है। छायादार पौधों (केला आदि) के लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

(2) तापमान प्रतिलोमन के समय यदि ऊपर स्थित गर्म वायु में आर्द्रता वर्तमान होती है तथा नीचे स्थित ठंडी वायु का तापमान हिमांक बिन्दु (freezing point) से कम हो जाता है तो पाला पड़ने लगता है। तुषार या पाला निश्चित रूप से आर्थिक दृष्टिकोण से हानिकर होता है। इसके प्रकोप से रातों-रात फलों के बाग, खड़ी फसलें आदि नष्ट हो जाती हैं। पर्वतीय घाटियों के तलस्थ भागों में पाला एक सामान्य सी बात होती है। कैलिफोर्निया की घाटियों के निचले भाग में पाले से फलों के बाग को आये दिन नुकसान होते रहते हैं। पौधों को पाले से बचाने के लिए गैस, विद्युत यंत्रों आदि से वायु को गर्म करते हैं। नये बागों को घाटियों के ऊपरी भाग में लगाया जा रहा है। सन् 1913, 1917 तथा 1923 में कैलिफोर्निया में पाले से फलों के बागों को अपार क्षति उठानी पड़ी। ब्राजील की पहाड़ियों पर भी घाटियों के तलस्थ भागों को छोड़ दिया जाता है तथा उनके ऊपर ढलानों पर ही कहवा के बाग लगाये जाते हैं। द० फ्रान्स में फलों तथा सब्जियों की खेती को पाले से प्राय: हानि होती रहती है। स्विटजरलैण्ड में भी घाटियों का ऊपरी भाग आबाद होता है, जहाँ पर होटल, मनोरंजन गृह, फलों के बाग आदि होते हैं, जबकि निचला भाग वीरान होता है। तापीय प्रतिलोमन के कारण ही साइबेरिया की घाटियों में ऊपरी शीत हवाओं के तलस्थ भागों में चले आने के कारण संसार का न्यूनतम तापमान मिलता है।

(3) तापीय प्रतिलोमन के कारण वायुमण्डल में स्थिरता आ जाती है, जिस कारण वायु का उपरिमुखी तथा अधोमुखी संचलन स्थगित हो जाता है, जिस कारण वर्षा की संभावनाएं कम हो जाती हैं। जहाँ पर पवन के नीचे उतरने के कारण प्रतिलोमन होता है अर्थात् प्रतिचक्रवातीय दशाएं होती हैं, वहाँ पर शुष्कता बढ़ जाती है। यही कारण है कि भूमध्यरेखा के दोनों ओर 20^0–30^0 अक्षांशों के मध्य महाद्वीपों के पश्चिमी भागो में, जो प्रतिचक्रवातों के प्रमुख प्रदेश हैं, मरुस्थल पाये जाते हैं।

34.7 तापमान का क्षैतिज वितरण

सामान्य रूप से तापमान भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर कम होता जाता है। इस तरह अधिकतम तापमान निम्न अक्षांशों में तथा न्यूनतम तापमान उच्च अक्षांशों में मिलता है। परन्तु यह स्मरणीय है कि अधिकतम तापमान भूमध्य रेखा पर या उसके पास न होकर कर्क तथा मकर रेखाओं के पास होता है, क्योंकि भूमध्य रेखा के समीपस्थ भागों में आकाश के बादलों से आच्छादित रहने के कारण सभी सूर्यातप धरातल को गर्म करने के लिए प्राप्त नहीं हो पाता है तथा अधिकांश ऊष्मा वाष्पीकरण में खर्च हो जाती है, जबकि कर्क तथा मकर रेखाओं के पास खुले आकाश के कारण सौर्यिक ऊष्मा अबाध गति से धरातल पर पहुँच जाती है। भूमध्य रेखा पर अधिकतम तापमान न होकर 17.5° से 23.5° अक्षांशीय मण्डल में अधिकतम तापमान के कारणों की व्याख्या निम्न रूप में की जा सकती है :

➤ 6° उ० से 6° द० अक्षांशों के बीच भूमध्य रेखीय क्षेत्र में सूर्य 30 दिनों तक लगभग लम्बवत होता है जबकि 17.5° से 23.5° अक्षांशों के मध्य सूर्य 86 दिनों तक लगभग लम्बवत होता है, अत: अयन रेखाओं (23.5°) के पास अधिकतम सूर्यातप मिलने के कारण तापमान अधिकतम हो जाता है।

➤ साल के अधिकांश समय लगभग खुले आकाश (बादलरहित) के कारण सूर्यातप का अबाध रूप से निवेश होता रहता है जिस कारण धरातलीय सतह गरम हो जाती है। इसके विपरीत निम्न अक्षांशों (6° उ० से 6° द०) में मेघाच्छादित आकाश के कारण प्रवेशी सौर्यिक विकिरण का कुछ भाग प्रत्यावर्तित हो जाता है।

➤ भूमध्यरेखीय भागों में वाष्पीकरण एवं संवहन द्वारा सूर्यातप की अधिक मात्रा खर्च हो जाती है जबकि अयनरेखाओं के पास न्यूनतम वाष्पीकरण होता है।

➤ अयन रेखाओं के पास वायु के नीचे उतरने से हवायें गर्म हो जाती हैं तथा उच्च दाब के कारण प्रतिचक्रवातीय दशायें उत्पन्न हो जाती हैं।

उपर्युक्त विषमताओं को छोड़कर सामान्य रूप से भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर, खासकर उच्च अक्षांशों में तापमान तेजी से घटता जाता है। तापमान के इस घटने की दर को ताप प्रवणता (temperature gradient) कहते हैं। कर्क तथा मकर रेखाओं के मध्य लगभग 45° मोटी मेखला के अन्तर्गत तापमान की गिरावट अत्यन्त मन्द होती है, जिस कारण ताप प्रवणता प्राय: नगण्य होती है। तापमान के क्षैतिज वितरण का प्रदर्शन तथा अध्ययन **समताप रेखाओं** (isotherms) के द्वारा किया जाता है।

समताप रेखाएँ (Isotherms)

समान तापमान वाले (सागर तल पर) स्थानों को मिलाने वाली रेखा को 'समताप रेखा' कहते हैं। इसके लिए सबसे पहले सभी स्थानों के वास्तविक तापमान को सागर तल के तापमान के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। इस तरह समताप रेखाएँ किसी भी स्थान का वास्तविक तापमान न बताकर सागर तल का तापमान बताती हैं। इस तरह का मानचित्र कृषकों के लिए लाभकारी प्रमाणित नहीं हो पाता है, क्योंकि उनको स्थान विशेष का वास्तविक तापमान चाहिए। सामान्य रूप से समताप रेखाएँ पूर्व-पश्चिम दिशा में खींची जाती हैं, जो कि प्राय: अक्षांशों के समान्तर होती हैं, जिससे साफ प्रमाणित होता है कि तापमान के क्षैतिज वितरण पर अक्षांशों का सर्वाधिक नियंत्रण होता है। समताप रेखाएँ प्राय: सीधी हुआ करती हैं, परन्तु महासागरों तथा महाद्वीपों की मिलन-सीमा पर उनमें झुकाव आ जाता है, जिसका प्रमुख कारण स्थल तथा जल के गर्म तथा ठंडा होने के स्वभाव में अन्तर का होना है। दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की अधिकता के कारण समताप रेखाएँ दूर-दूर तक सीधी रेखाओं के रूप में होती हैं। जब समताप रेखाएं पास- पास होती हैं तो उससे तापमान में तीव्रता से परिवर्तन का आभास होता है तथा वे तीव्र ताप प्रवणता (steep temperature gradient) को प्रदर्शित करती हैं। इसके विपारीत उनका दूर-दूर होना क्षीण ताप प्रवणता को इंगित करता है। गर्मी के समय स्थल से सागर की ओर जाने वाली समताप रेखा भूमध्य रेखा की ओर तथा शीतकाल में ध्रुवों की ओर मुड़ जाती है। सागर से स्थल की ओर जाने वाली समताप रेखाओं की स्थिति इसके विपरीत होती है। तापमान का कटिबन्धीय एवं प्रादेशिक वितरण यद्यपि क्षैतिज वितरण के अन्तर्गत आता है परन्तु इसकी आगे अलग शीर्षक के अन्तर्गत विवेचना की जायेगी।

तापमान का प्रदेशीय वितरण

1. प्राचीन ग्रीक विचारकों के अनुसार

तापमान का प्रादेशिक वितरण वास्तव में क्षैतिज वितरण ही होता है, परन्तु ग्लोब को तापमान की दृष्टि से कुछ ऐसे खास प्रदेशों या मण्डलों में विभक्त कर लेते हैं, जिनमें तापमान का वितरण तथा उनकी विशेषताएँ लगभग समान होती हैं। इन मण्डलों का सीमांकन अक्षांशों के आधार पर किया जाता है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर प्राचीन ग्रीक विद्वानों ने ग्लोब को तीन प्रमुख कटिबंधों में विभाजित किया था :

(1) उष्ण कटिबंध (torrid zone) : भूमध्य रेखा के दोनों ओर 23.5° अक्षांशों (कर्क तथा मकर रेखाओं के बीच) तक विस्तृत भाग को उष्ण कटिबंध के अन्तर्गत रखते हैं, जहाँ भूमध्य रेखा पर सूर्य की किरणें लम्बवत होती हैं तथा शेष भागों में सूर्य वर्ष में कम से कम एक बार लम्बवत अवश्य होता है। भूमध्य रेखा के आस-पास वाले भाग में वर्ष भर ऊँचा तापमान रहने के कारण शीत ऋतु नहीं होती, परन्तु कर्क तथा मकर रेखाओं के पास ग्रीष्म तथा शीत ऋतु साफ उभर आती हैं।

(2) शीतोष्ण कटिबन्ध (temperate zone) : इसका विस्तार दोनों गोलार्द्धों में 23.5° तथा 66.5° अक्षांशों के बीच पाया जाता है। इस भाग में दिन तथा रात्रि की अवधि अधिक होती है परन्तु 24 घण्टे से कम ही होती है। सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायन की स्थितियों के कारण ऋतुओं में पर्याप्त अन्तर होता है। ग्रीष्म तथा शीत ऋतुओं के तापमान में अत्यधिक अन्तर होता है।

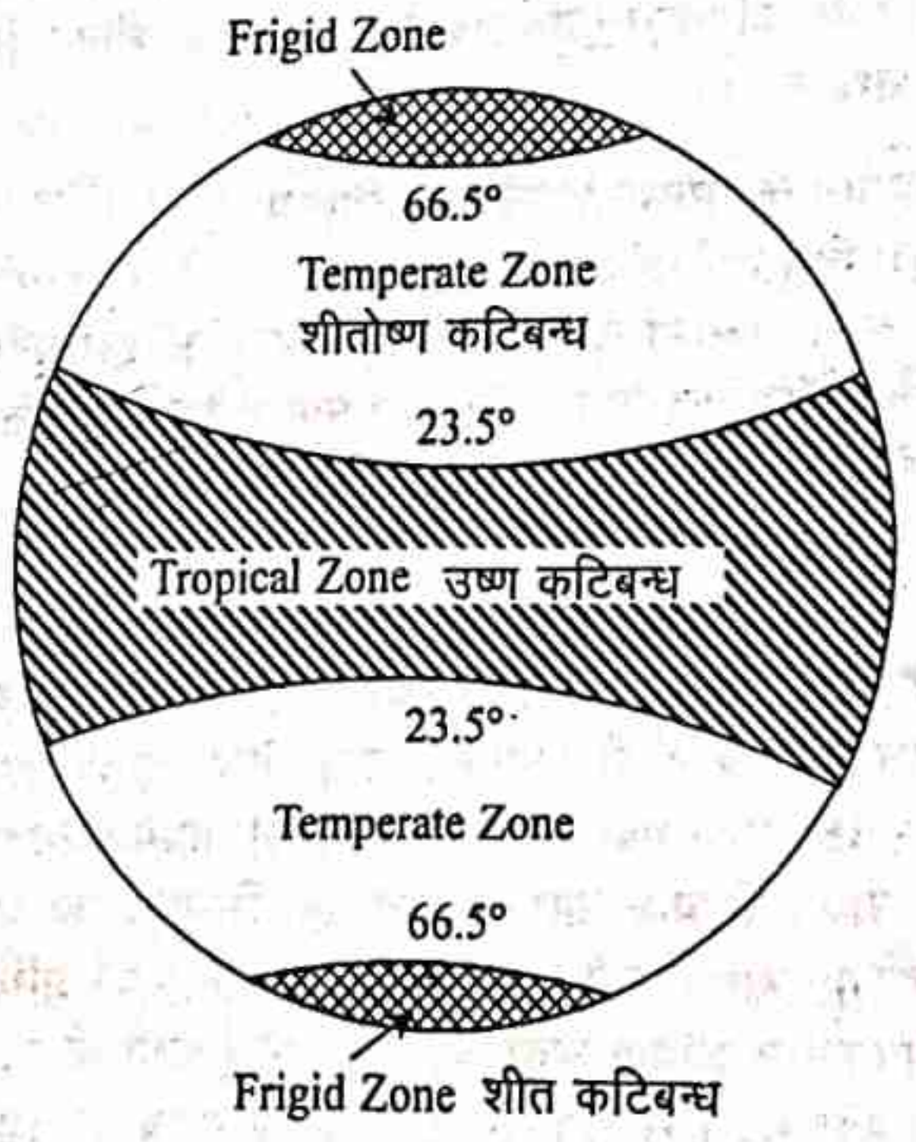

चित्र 34.3 : प्राचीन ग्रीक विचारकों के अनुसार तापमान कटिबन्ध।

(3) शीत कटिबंध (frigid zone) : दोनों गोलार्द्धों में 66.5° तथा ध्रुवीय केन्द्रों के बीच शीत कटिबन्ध की स्थिति होती है, जहाँ पर सूर्य की किरणों के अत्यधिक तिरछेपन के कारण

तापमान नीचा रहता है। दिन तथा रात्रि की अवधि 24 घंटे से अधिक होती है। ध्रुवों के पास 6 महीने का दिन तथा 6 महीने की रात्रि होती है। सूर्य कभी भी लम्बवत् नहीं हो पाता है।

2. सूपन के अनुसार

ग्रीक विचारकों ने तापीय कटिबंधों के निर्धारण में अक्षांशों को आवश्यकता से अधिक महत्व प्रदान कर दिया था। तापमान के वितरण पर स्थल तथा जल के विषम स्वभाव, प्रचलित पवन, सागरीय धाराओं आदि का भी अधिक प्रभाव होता है। सूपन महोदय ने इन कारकों को ध्यान में रखकर तापमान के कटिबन्धों का निर्धारण समताप रेखाओं के आधार पर किया है। उष्ण कटिबन्ध की सीमा का निर्धारण 68° फा० (20° सें०) की वार्षिक समताप रेखा द्वारा किया जाना चाहिए। उत्तरी गोलार्द्ध में शीतोष्ण तथा शीत कटिबंधों का निर्धारण जुलाई की 50° फा० (10° सें०) की समताप रेखा तथा द० गोलार्द्ध में जनवरी की 50° फा० (10° सें०) की समताप रेखा द्वारा किया जाता है।

3. सूपन की विधि में संशोधन

आगे चलकर सूपन की विधि में भी संशोधन किया गया तथा ग्लोब को सात विभिन्न तापमान के कटिबन्धों में विभाजित किया गया:

1. उष्ण कटिबन्ध, 2. उपोष्ण कटिबन्ध (उ० तथा द०), 3. शीतोष्ण कटिबन्ध (उ० तथा द०), और 4. शीत कटिबंध (उ० तथा द०)।

4. तापमान का सामान्य प्रादेशिक वितरण

(1) विषुवत रेखीय प्रदेश : विषुवत रेखा के 5° उत्तरी तथा 5° दक्षिणी अक्षांशों के बीच विस्तृत भाग को इस प्रदेश के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। प्रकाश रेखा विषुवत रेखा को सदैव दो बराबर भागों में काटती है, जिस कारण दिन तथा रात्रि बराबर समय (12-12 घंटे) की होती है। सूर्य की किरणें लम्बवत् चमकती हैं, जिस कारण वर्ष भर तापमान ऊँचा बना रहता है। वार्षिक तापान्तर स्थलों पर 4° फा० तथा सागरों पर केवल 1° फा० ही होता है, परन्तु औसत दैनिक तापान्तर 10° - 15° फा० तक होता है। कभी भी तापमान 67° फा० (20° सें०) से कम नहीं हो पाता है। सिंगापुर का वार्षिक तापान्तर 4° फा० होता है। 92° फा० (33° सें०) का अधिकतम तापमान मई में अंकित किया जाता है, परन्तु कभी भी वह 88° फा० (31° सें०) से कम नहीं होने पाता है। सूर्य की उत्तरायण तथा दक्षिणायन स्थितियों के कारण साल में दो उच्चतम तथा दो न्यूनतम तापमान होते हैं, परन्तु इनमें खास अन्तर नहीं हो पाता है। अत्यधिक तापमान के कारण सदैव वायुमण्डल में नमी बनी रहती है, जिस कारण यह प्रदेश मानव के लिए स्वास्थ्यप्रद नहीं होता है। सागर तल से 420. मी० की ऊँचाई पर पर्वतीय भागों में हिमपात होता है।

(2) अन्तरा-उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश (Inter-tropical region) : इस प्रदेश का विस्तार दोनों गोलार्द्धों में 5° तथा 12° अक्षांशों के बीच पाया जाता है। यद्यपि तापमान वर्ष पर ऊँचा रहता है, तथापि ग्रीष्म तथा शीत ऋतुओं के बीच अन्तर स्पष्ट हो उठता है। यद्यपि सागरीय भागों पर तापमान का ऋतुवत् परिवर्तन अधिक नहीं हो पाता है, परन्तु महाद्वीपों पर ग्रीष्म काल अधिक गर्म तथा शीत ऋतु ठंडी हो जाती है। सबसे उष्ण तथा ठण्डे महीनों का तापमान क्रमश: 82° फा० (28° सें०) तथा 70° फा० (21° सें) होता है। इस तरह वार्षिक तापान्तर 12° से 15° फा० तथा दैनिक तापान्तर 20° फा० तक बढ़ जाता है।

(3) उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश (tropical region) : दोनों गोलार्द्धों में 12° से 25° अक्षांशों के मध्य विस्तृत भाग को उष्ण कटिबन्ध के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं। निम्न अक्षांशों से उच्च अक्षांशों की ओर तापमान घटता जाता है। गर्मियों में दिन की अवधि 14 घण्टे तथा जाड़े में रात्रियाँ 14 घण्टे की होती हैं। गर्मियों में उत्तरी गोलार्द्ध में जुलाई तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में जनवरी में सूर्य की किरणें लम्बवत् होती हैं। इस तरह प्रत्येक भाग में साल में एक बार उच्चतम तथा एक बार न्यूनतम तापमान होता है। इस प्रदेश में प्रत्येक मास का तापमान कम से कम 65° फा० (18° सें) अवश्य होता है। रेगिस्तानी भागों में गीष्मकाल में 90° फा० (32° सें०) का तापमान अंकित किया जाता है, परन्तु यह 120° फा० (49° सें०) से ऊपर उठ जाता है। 1922 के सितम्बर मास में (लिबिया के अल अजीज) में 136° फा० (58° सें०) तापमान अंकित किया गया था। रात्रि में मरुस्थलों में तापमान 40° फा० (4.4° सें०) तक हो जाता है। शीतकाल का औसत तापमान 75° फा० (24° सें०) (विषुवत् रेखा की ओर आने वाले भाग में) तथा 65° फा० (19.4° सें०) (ध्रुवों की ओर वाले भाग में) अंकित किया जाता है। इस तरह ग्लोब का उच्चतम तापमान यहीं पर अंकित किया जाता है।

(4) उपोष्ण कटिबंधीय प्रदेश (sub-tropical region) : इस प्रदेश का विस्तार 25° से 45° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में पाया जाता है। सूर्य की किरणों के अपेक्षाकृत अधिक तिरछेपन के कारण सर्दियों में तापमान अधिक गिर जाता है तथा कभी-कभी ध्रुवीय शीत लहर के आगमन के कारण तापमान हिमांक के नीचे चला जाता है, उदाहरण के लिए, द० संयुक्त राज्य अमेरिका। सबसे गर्म तथा ठंडे महीने का तापमान औसत रूप में क्रमश: 75° फा० (24° सें०) तथा 48° फा० (9° सें०) होता है। बगदाद का सबसे गर्म तथा ठंडे महीनों का तापमान क्रमश: 94° फा० तथा 46° फा० होता है। कभी-कभी यहाँ पर जुलाई में 109° से 113° फा० तथा जनवरी में 31° फा० तक तापमान अंकित किया जाता है। महाद्वीपों के प० तटीय भागों में औसत वार्षिक तापान्तर 30°

फा० तथा आन्तरिक भागों में 30° से 70° फा० तक होता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में वार्षिक तापान्तर जल के अधिक विस्तार के कारण 20°-30° फा० होता है। प्राय: प्रत्येक स्थलीय भाग में कम से कम 4 मास का तापमान 70° फा० (21° सें०) से अधिक तथा 4 मास का 60° फा० (15.5° सें०) से कम होता है।

(5) शीतोष्ण कटिबन्धीय प्रदेश (temperate region) : दोनों गोलार्द्धों में 45° से 66.5° अक्षांशों के बीच वाला भाग 'शीतोष्ण कटिबन्ध' के अन्तर्गत होता है। दिन की अवधि लम्बी होने पर भी सूर्य की किरणों के अत्यधिक तिरछेपन के कारण तापमान बहुत कम हो जाता है। शीत तथा ग्रीष्म ऋतुओं के बीच का अन्तर अत्यधिक हो जाता है। जाड़े में तापमान हिमांक के नीचे गिर जाता है, जिस कारण कनाडा, साइबेरिया आदि का अधिकांश भाग हिमाच्छादित हो जाता है। कहीं-कहीं पर गर्म सागरीय धाराओं के कारण जाड़े का तापमान नीचे नहीं जा पाता है, उदाहरण के लिए, उत्तरी-पश्चिमी यूरोप तथा इंग्लैण्ड का भाग। द० प० आयरलैण्ड में स्थिल वैलेनटिया नगर का तापमान इसी कारण से किसी भी मास में 40° फा० (4.4° सें०) से कम नहीं हो पाता है। इस प्रदेश की सबसे बड़ी विशेषता अधिक वार्षिक तापान्तर से सम्बन्धित है। ब्लाडीवोस्टक का सबसे गर्म तथा ठण्डे महीनों का तापमान क्रमश: 69° तथा 6° फा० होता है, जिस कारण वार्षिक तापान्तर 63° फा० हो जाता है। यहीं पर कभी-कभी गर्मियों में तापमान 66° फा० हो जाता है तथा सर्दियों में -22° फा० तक गिर जाता है, जिस कारण वार्षिक तापान्तर 88° फा० तक हो जाता है। यह तापान्तर कभी-कभी विशेष परिस्थितियों में 148° फा० तक पहुँच जाता है।

(6) टुण्ड्रा प्रदेश (tundra region) : यह शीतोष्ण कटिबन्धीय तथा ध्रुवीय प्रदेशों के बीच पाया जाता है। सूर्य की किरणें इतनी तिरछी हो जाती हैं कि अधिकांश भागों में प्राय: धरातल के समानान्तर हो जाती हैं, जिस कारण कम सूर्यातप मिलने के कारण तापमान अत्यधिक कम हो जाता है। नवम्बर से अप्रैल तक (उ० गोलार्द्ध) औसत तापमान हिमांक से नीचा हो जाता है तथा न्यूनतम तापमान 40° फा० तक होना सामान्य बात होती है। अधिकांश भागों में गर्मियों में भी हिम पिघल नहीं पाती है । वरखोयांस्क ग्लोब का सबसे ठंडा स्थान है, जहाँ न्यूनतम तापमान -93° फा० तक गिर जाता है।

(7) ध्रुवीय प्रदेश (polar region) : यह प्रदेश उत्तरी तथा द० ध्रुवों के चतुर्दिक पाया जाता है। अधिकांश भागों में सूर्य की किरणें धरातल पर नहीं आ पाती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में प्राय: सभी भाग वर्ष भर हिमाच्छादित रहते हैं। स्थान-स्थान पर उत्तरी गर्म धारा गर्मियों में कुछ हिम पिघला पाती है। उत्तरी ध्रुव पर जनवरी का तापमान 40° फा० हो जाता है। वार्षिक तापान्तर 60°-70° फा० से अधिक होता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में ध्रुव के पास स्थल (अण्टार्कटिका महाद्वीप) के कारण जाड़े में तापमान-80° फा० तक गिर जाता है। सूर्य कभी भी क्षितिज पर प्रकट नहीं हो पाता है। दैनिक तापान्तर वार्षिक तापान्तर से कम होता है। सूर्यातप के अभाव में रात-दिन के तापमान में अन्तर न होने के कारण दैनिक तापान्तर नगण्य होता है।

34.8 तापमान का कालिक वितरण
(Temporal Distribution)

धरातल पर तापमान के कालिक वितरण के अन्तर्गत मौसमी वितरण का अध्ययन किया जाता है। इसके लिए जनवरी को शरदकाल एवं जुलाई को ग्रीष्मकाल का प्रतिनिधि माना जाता है। एक तरह से यह वितरण भी तापमान का क्षैतिज वितरण ही है। अत: इस तरह के तापमान वितरण को **तापमान का मौसमी क्षैतिज वितरण** भी कहते हैं। भूपटल पर जुलाई तथा जनवरी के महीने तापमान की दृष्टि से चरम स्थिति को प्रदर्शित करते हैं। यदि ग्लोब पर जनवरी तथा जुलाई के महीनों में तापमान के वितरण पर दृष्टिपात किया जाय (चित्र 4.4 तथा 4.5) तो कई तथ्य उभर कर सामने आ जाते हैं : (1) उत्तरी गोलार्द्ध में जुलाई का महीना अत्यधिक गर्म तथा जनवरी का ठंडा होता है, जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में जुलाई अत्यधिक ठंडा तथा जनवरी अत्यधिक गर्म महीना होता है। (2) दोनों गोलार्द्धों पर सूर्य के ऋतुवत् स्थानान्तरण के कारण समताप रेखाओं में अक्षांशीय खिसकाव होता है, परन्तु यह खिसकाव महाद्वीपीय भागों पर अधिक होता है। (3) जुलाई तथा जनवरी महीनों में अधिकतम तापमान स्थलीय भाग पर होता है। जनवरी महीने में न्यूनतम तापमान एशिया तथा उत्तरी अमेरिका में मिलता है। (4) उत्तरी गोलार्द्ध में जनवरी में समताप रेखाएँ गर्म महासागरों पर अचानक ध्रुवों की ओर तथा अपेक्षाकृत ठण्डे महाद्वीपों पर भूमध्य रेखा की ओर झुक जाती हैं। जुलाई में इसके विपरीत स्थिति होती है। परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में जलाधिक्य के कारण समताप रेखाओं में अचानक झुकाव या मोड़ नहीं हो पाता है। (5) ताप प्रवणता जाड़े में अधिक तथा गर्मी में कम होती हैं। (6) जनवरी की समताप रेखायें (चित्र 4.5) उत्तरी गोलार्द्ध में तीव्र ताप प्रवणता को इंगित करती हैं जैसा कि समताप रेखाओं की पास-पास स्थिति से प्रकट होता है जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में अपेक्षाकृत दूर-दूर स्थित समतापरेखायें मन्द ताप प्रवणता को दर्शाती हैं क्योंकि उत्तरी गोलार्द्ध में स्थलीय भाग तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में जलीय भाग की बहुलता है। उत्तरी गोलार्द्ध में पूर्वी तटीय भागों में तीव्र ताप प्रवणता होती है जबकि पश्चिमी तटीय भाग में मन्द (gentle) ताप प्रवणता रहती है (चित्र 4.4 तथा 4.5)।

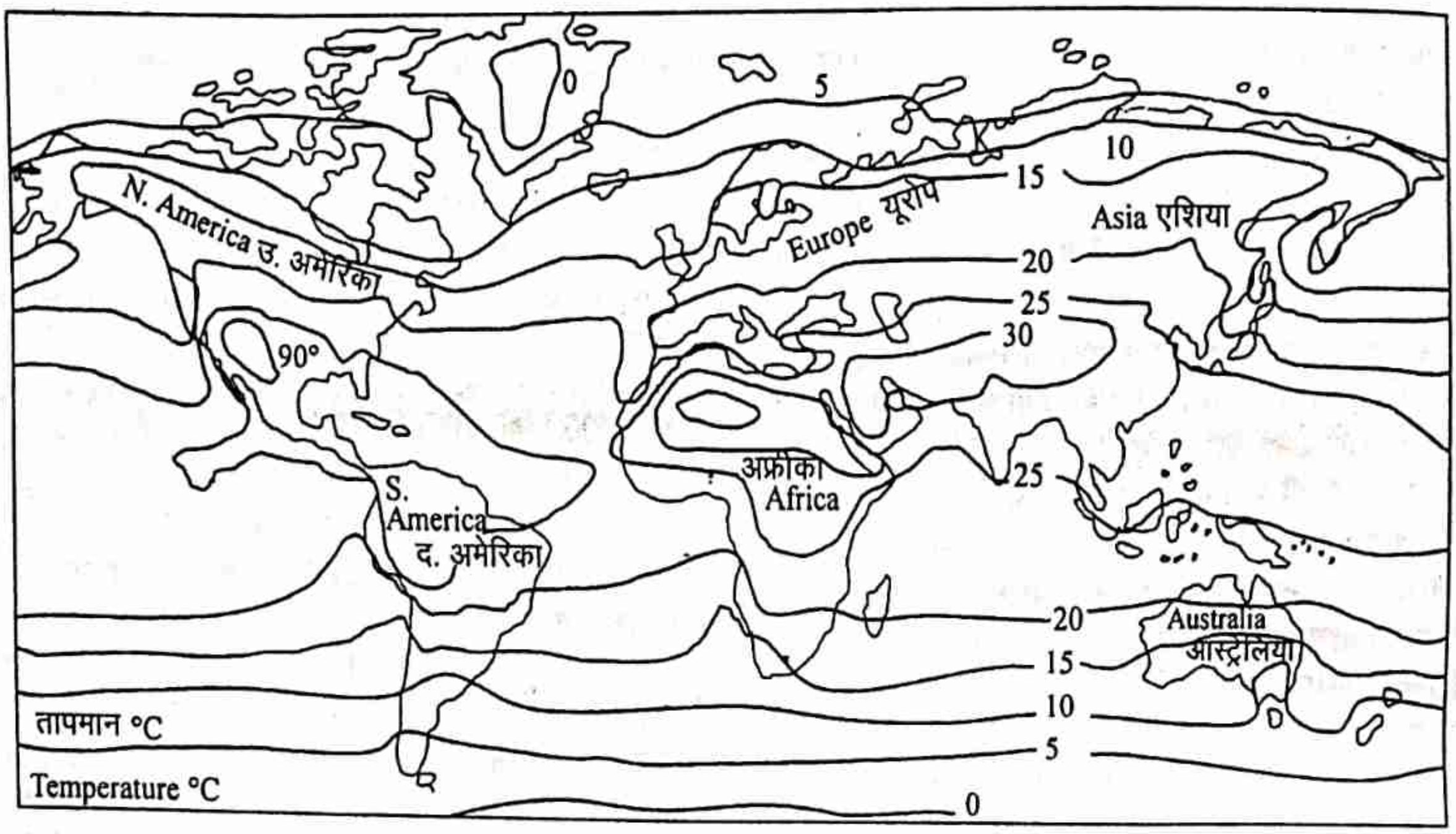

चित्र 34.4 : भूमण्डलीय स्तर पर जुलाई में समताप रेखाओं द्वारा तापमान के क्षैतिज वितरण का प्रदर्शन

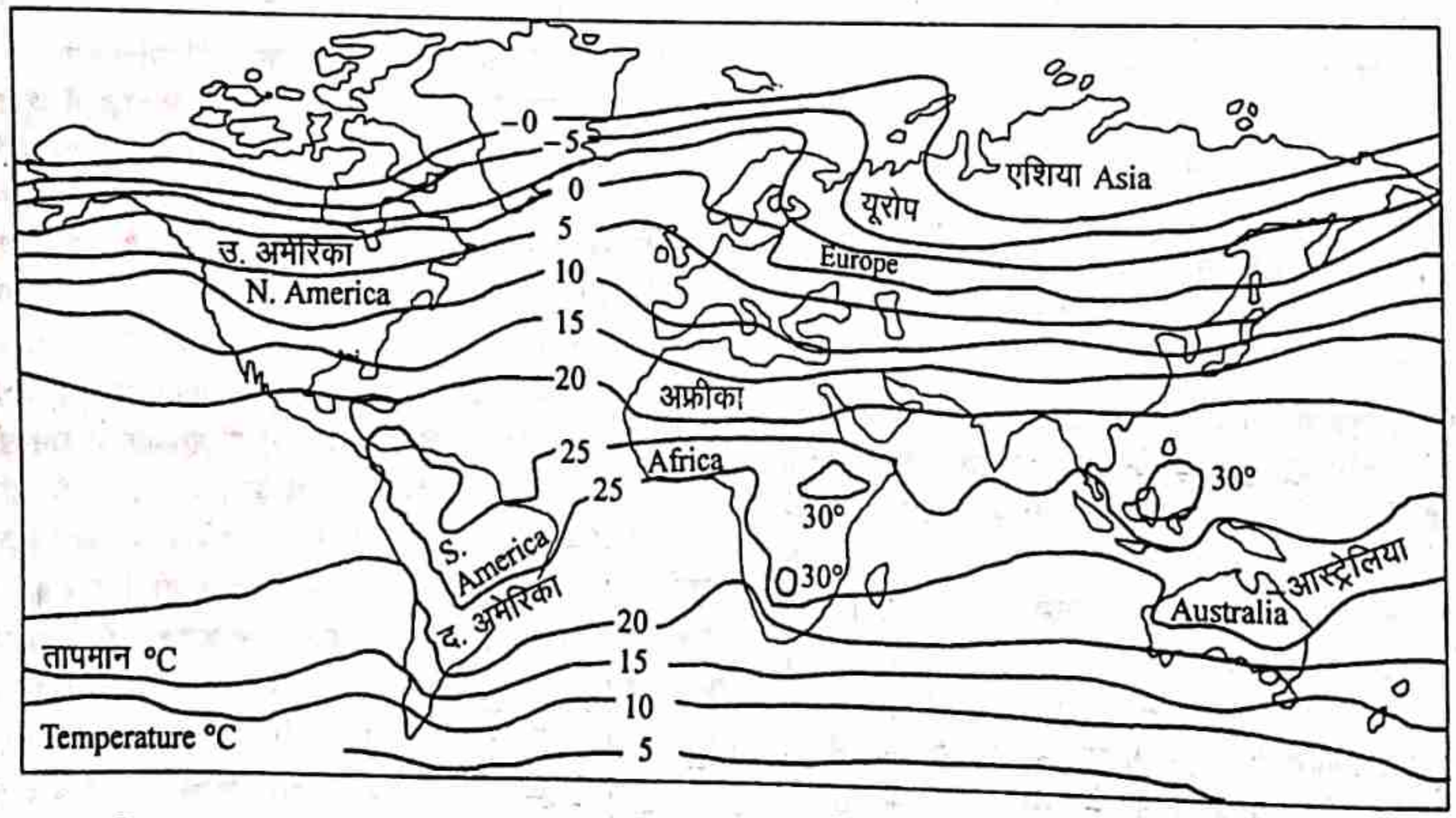

चित्र 34.5 : भूमण्डलीय स्तर पर जनवरी में समताप रेखाओं द्वारा तापमान के क्षैतिज वितरण का प्रदर्शन

4.9 समविसंगत तापमान
(Isanomalous Temperature)

किसी भी स्थान विशेष के औसत तापमान तथा उस स्थान के अक्षांश के औसत तापमान के अन्तर को **तापीय विसंगति** (thermal anomaly) कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि 30° अक्षांश का औसत वार्षिक तापमान 20°C सें० है तथा उसी अक्षांश पर स्थित 'अ' स्थान का औसत वार्षिक तापामान 30°C है, तो इसमें तापीय विसंगति 10°C की है। इसी तरह समान तापीय विसंगति को **समविसंगत तापमान**, समान तापीय विसंगति वाले स्थानों को मिलाने वाली रेखाओं को **'सम विसंगत रेखा'** (isanomals) तथा उससे प्रदर्शित मानचित्र को **'सम विसंगत मानचित्र'** (isanomalous map) कहते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में

स्थलीय भागों की अधिकता के कारण दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा तापीय विसंगति अधिक होती है। जब स्थान विशेष का तापमान उसके अक्षांश की अपेक्षा अधिक होता है तो **धनात्मक विसंगति** (positive anomaly) तथा कम होने पर **ऋणात्मक विसंगति** (negative anomaly) होती है। जनवरी मास के मानचित्र पर महासागरों पर धनात्मक तथा महाद्वीपों पर ऋणात्मक तापीय विसंगति होती है। सर्वाधिक तापीय विसंगति मध्य अक्षांशों में स्थित महासागरों के पूर्वी भाग तथा तत्सम्बन्धित महाद्वीपों के तटीय पश्चिमी भागों में होती है, जबकि सर्वाधिक ऋणात्मक विसंगति उ० पू० साइबेरिया में होती है जहाँ पर अक्षांश के औसत तापमान से 8°C कम तापमान होता है। गर्मियों में महाद्वीपों पर धनात्मक तथा महासागरों पर ऋणात्मक विसंगति होती है। महाद्वीपों पर विषुवत रेखा से 40° अक्षांश तक धनात्मक (पूरे वर्ष में) विसंगति तथा 40° से 90° तक ऋणात्मक विसंगति होती है।

तापीय विसंगति स्थल एवं जल के वितरण प्रतिरूप एवं वर्ष के विभिन्न ऋतुओं द्वारा नियंत्रित होता है। धरातलीय सतह एवं उसके ऊपर स्थित वायु के गरम एवं ठंडा होने में स्थल एवं जल के परस्पर विरोधी गुणों के प्रभावों का इस अध्याय के अनुभाग 4.3 में विवेचन पहले ही किया जा चुका है।

प्रश्न :- वायुदाब पेटियाँ का वर्णन
प्रश्न :- ग्रहीय पवनों का वर्णन

35

वायुदाब तथा पवन संचार

(Air Pressure and Air Circulation)

35.1 वायुमण्डलीय दाब : अर्थ तथा महत्व

वायु एक भौतिक वस्तु है जो कि विभिन्न गैसों का यांत्रिक मिश्रण होती है। उसका अपना स्वयं का भार (weight) होता है। इस कारण धरातल पर वायु अपने भार द्वारा दबाव डालती है। धरातल पर या सागर तल पर क्षेत्रफल की प्रति इकाई (जैसे एक वर्ग इंच या एक वर्ग गज आदि) पर ऊपर स्थित वायुमण्डल की समस्त परतों के पड़ने वाले भार को ही **'वायुदाब'** कहा जाता हैं। सागर तल पर वायुदाब सर्वाधिक होता है, जहां पर एक वर्ग इंच क्षेत्र पर 14.7 पौण्ड (1 किग्रा० प्रतिवर्ग सेंमी०) का दाब होता है। वायुदाब के मापन के लिए इंच, सेण्टीमीटर, मिलीबार (mb)का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में वायुदाब नापने के लिए नली में पारे (mercury) की ऊँचाई नापते हैं। सागर तल पर ऊँचाई 29.92" या 76 सेंमी० या 1013.25 मिलीबार होती है। पारे की 0.1 इंच की ऊँचाई लगभग 3.4 mb के बराबर होती है। इस तरह सागर तल पर वायुदाब 1013.25 mb होता है। सागर तल पर समान वायुदाब वाले क्षेत्रों को मिलने वाली रेखा को **समदाब रेखा** (isobar) कहते हैं। वायुदाब का अंकन साधारण वायुदाब मापी, फोर्टिन बैरोमीटर तथा निर्द्रव वायुदाब मापी (aneroid barometer) द्वारा किया जाता है। ऊँचाई के साथ वायुदाब में प्रति 600 फीट (180 मीटर) पर 1 इंच या 3.4 मिलीबार की दर से वायुदाब घटने लगता है। परन्तु यह दर कुछ हजार फीट की ऊँचाई तक ही सम्भव हो पाती है। इसके आगे वायु के हल्के तथा विरल होने के कारण वायुदाब तीव्रता से कम होने लगता है। सामान्य रूप से 1800 फीट (540 मीटर) की ऊँचाई तक वायुमण्डल का आधा दाब स्थित होता है। अत्यधिक ऊँचाई पर आक्सीजन की कमी तथा वायुदाब की कमी के कारण मानव के नाक-कान से खून आने लगता है तथा घुटन बढ़ने लगती है। ऊँचे पर्वतों पर चढ़ते समय इसका स्पष्ट आभास होता है। वायुदाब तथा तापमान में विपरीत सम्बन्ध होता है अर्थात् तापमान के अधिक होने पर वायुदाब कम तथा कम होने पर अधिक होता है, इसी से कहा है कि जब थर्मामीटर ऊँचा तो बैरोमीटर नीचा तथा थर्मामीटर नीचा तो बैरोमीटर ऊँचा होता है। वायुभार के वितरण पर ऊँचाई, तापमान, वायु प्रवाह, पृथ्वी का घूर्णन (rotation), जलवाष्प आदि का प्रभाव अधिक होता है। वायुदाब का अध्ययन, लम्बवत् वितरण तथा क्षैतिज वितरण, दो रूपों में किया जाता है।

प्रश्न -

35.2 वायुदाब की पेटियाँ (Pressure Belts)

ग्लोब पर वायुदाब के वितरण का अध्ययन समदाब रेखाओं की सहायता से किया जाता है। यदि वायुदाब के स्थल वितरण पर दृष्टिपात किया जाय तो उन्हें दो प्रकारों से विभाजित किया जा सकता है : (1) उच्च वायुदाब तथा उससे प्रदर्शित क्षेत्र प्रतिचक्रवात या **'उच्च'** (high) के नाम से जाना जाता है। (2) निम्न वायुदाब को चक्रवात या गर्त (depression) या निम्न (low) कहा जाता है। यदि समस्त ग्लोब पर दृष्टि डाली जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि उच्च दाब तथा निम्न दाब का कुछ

निश्चित प्रणाली के अन्तर्गत सुस्पष्ट वितरण है। यदि पृथ्वी को साधारणीकरण के लिए समरूप (या तो केवल सभी स्थल या सभी जल) मान लिया जाय तो निश्चित रूप से वायुदाब का वितरण क्रमबद्ध मेखलाओं के रूप में पाया जाता। परन्तु स्थल तथा जल के असमान वितरण के कारण मेखलाओं की क्रमबद्धता में व्यवधान पड़ जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में इन मेखलाओं के कई केन्द्र होते हैं, परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में मेखलाएँ अविच्छिन्न रूप में पायी जाती है। धरातल पर वायुदाब का भूमध्य रेखा से ध्रुवों तक कोई नियमित वितरण नहीं होता है। भूमध्यरेखा के पास अधिक तापमान के कारण निम्न वायुदाब होता है तथा कर्क एवं मकर रेखाओं के पास उच्च वायुदाब मिलता है। यहाँ से ध्रुवों की ओर तापमान में गिरावट

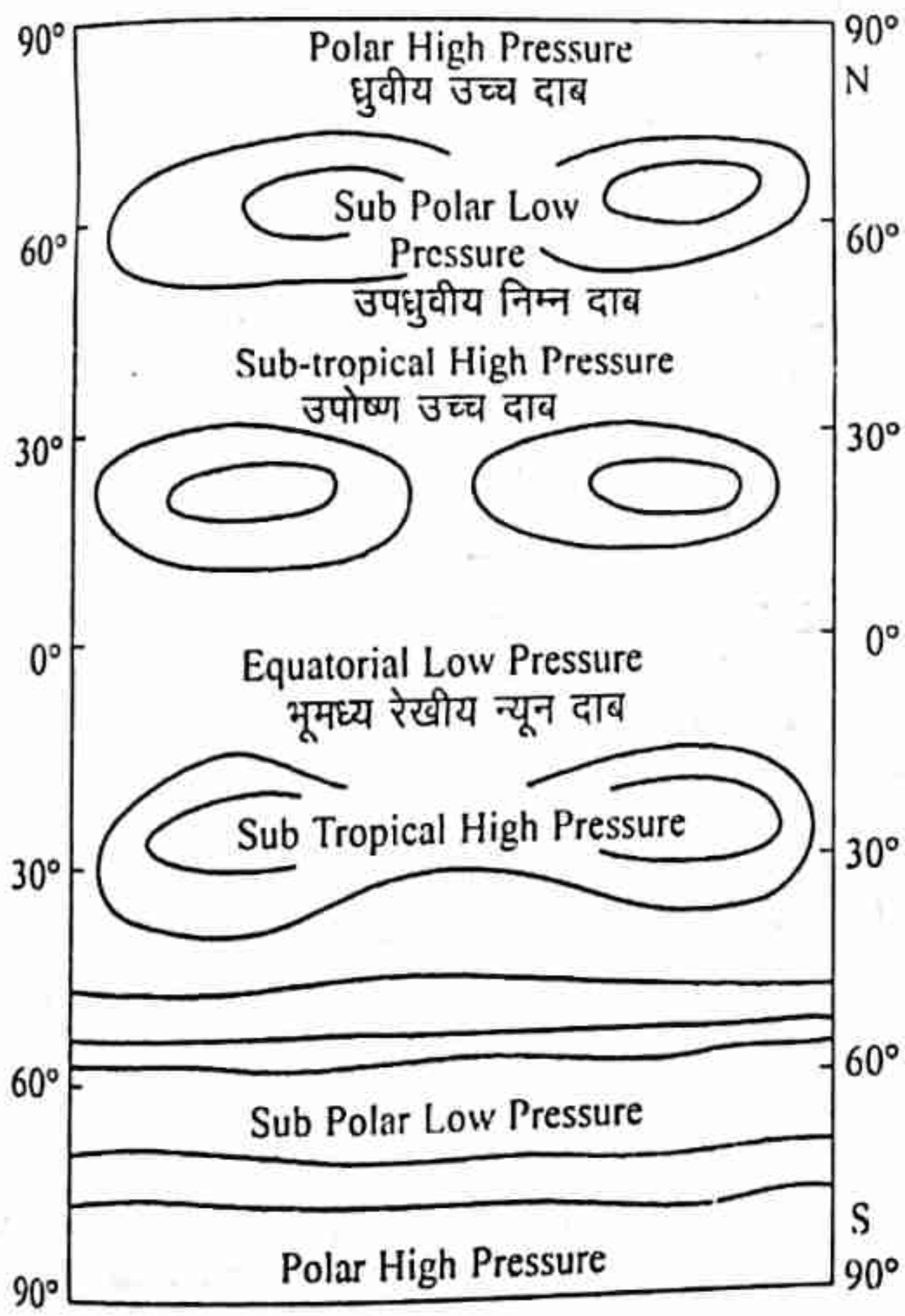

चित्र 35.1 : वायुदाब का सामान्य आदर्श वितरण।

के कारण वायुदाब को बढ़ना चाहिए, परन्तु वह 60° अक्षांशों के पास निम्न हो जाता है। पुनः ध्रुवों की ओर यह कम तापमान के कारण उच्च हो जाता है। स्पष्ट है कि वायुदाब की पेटियों की उत्पत्ति में केवल तापमान का ही हाथ नहीं होता है, वरन् गतिक कारक (dynamic factors) भी महत्वपूर्ण होते हैं। ग्लोब पर वायुदाब की कुल सात पेटियाँ (मेखलाएँ) होती हैं। उत्पत्ति की प्रक्रिया के आधार पर वायुदाब की पेटियों को दो वृहद् समूहों में विभाजित किया जाता है–(1) तापजन्य वायुदाब पेटी (thermal pressure belt), जिसमें भूमध्य रेखीय न्यून वायुदाब तथा ध्रुवीय उच्च वायुदाब को सम्मिलित किया जाता है। (2) गतिजन्य वायुदाब (dynamically induced pressure belts), जिसमें उपोष्ण उच्च वायुदाब तथा उपध्रुवीय कम वायुदाब (चित्र 35.1) को सम्मिलित किया जाता है।

1. भूमध्यरेखीय निम्न वायुदाब की पेटी

इस पेटी का विस्तार भूमध्यरेखा के दोनों ओर 5° अक्षांशों तक मिलता है, परन्तु यह स्थिति स्थायी नहीं होती है। सूर्य के ऋतुवत् उत्तरायण तथा दक्षिणायन होने के कारण इस पेटी में खिसकाव व स्थानान्तरण होता रहता है। भूमध्यरेखा पर वर्ष भर सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं तथा वर्ष भर दिन-रात बराबर होते हैं, जिस कारण अत्यधिक तापमान के कारण हवाएं गर्म होकर फैलती हैं तथा ऊपर उठती हैं। इस कारण सदैव निम्न दाब बना रहता है। वायुमण्डल में अधिक नमी भी कम वायुदाब के लिए जिम्मेदार है। स्पष्ट है कि इस कम दाब की पेटी का तापमान से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इसी कारण से इसे तापजन्य (thermally induced) न्यून वायुदाब कहते हैं। इस क्षेत्र में धरातल पर हवाओं में गति कम होने के कारण शान्त वातावरण रहता है। इसी कारण से इस पेटी को **डोलड्रम** (doldrum-शान्त क्षेत्र – a region of calm) कहा जाता है। धरातल से कुछ ऊँचाई के बाद इस अवस्था के विपरीत पवन प्रवाह सक्रिय होता है तथा शान्त वातावरण भंग हो जाता है।

2. उपोष्ण उच्च वायुदाब पेटी

दोनों गोलार्द्धों में 30°–35° अक्षांशों के मध्य उच्च वायुदाब पाया जाता है। ध्यान देने योग्य है कि इस भाग में शीतकाल के दो महीनों को छोड़कर वर्ष भर ऊँचा तापमान रहता है। गर्मियों

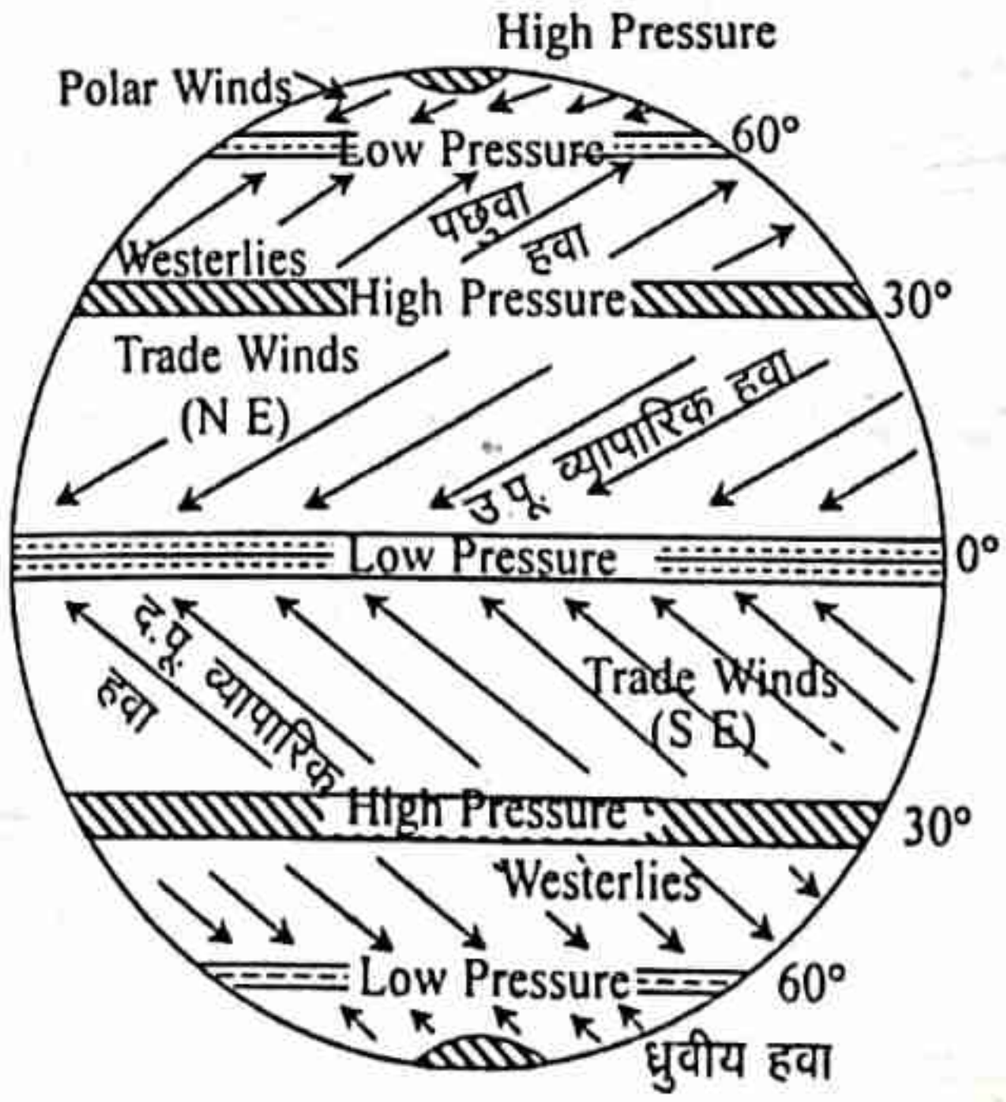

चित्र 35.2 : वायुदाब की पेटियां

में तो ग्लोब का उच्चतम तापमान अंकित किया जाता है, तिस पर भी उच्च वायुदाब होता है जबकि नियमत: निम्न दाब होना चाहिए। स्पष्ट है कि इस पेटी का उच्च दाब तापमान से सम्बन्धित न होकर पृथ्वी की दैनिक गति तथा वायु के अवतलन से सम्बन्धित है। भूमध्य रेखा से उठी वायु तथा उपध्रुवीय निम्न वायुदाब की वायु इन अक्षांशों में नीचे उतर कर बैठती हैं, जिस कारण इनका आयतन कम होने के कारण वायुदाब अधिक हो जाता है। इस प्रकार यह उच्च वायुदाब गतिजन्य (dynamically induced) होता है। इस पेटी को **'अश्व अक्षांश'** (horse latitude) भी कहा जाता है क्योंकि प्राचीन काल में घोड़े से भरा पालवाला जलयान जब इस पेटी में पहुँचा तो वायु की शान्ति के कारण जलयान का आगे बढ़ना कठिन हो गया था। अत: जलयान को हल्का करने के लिए कुछ घोड़ों को समुद्र में फेंकना पड़ा।

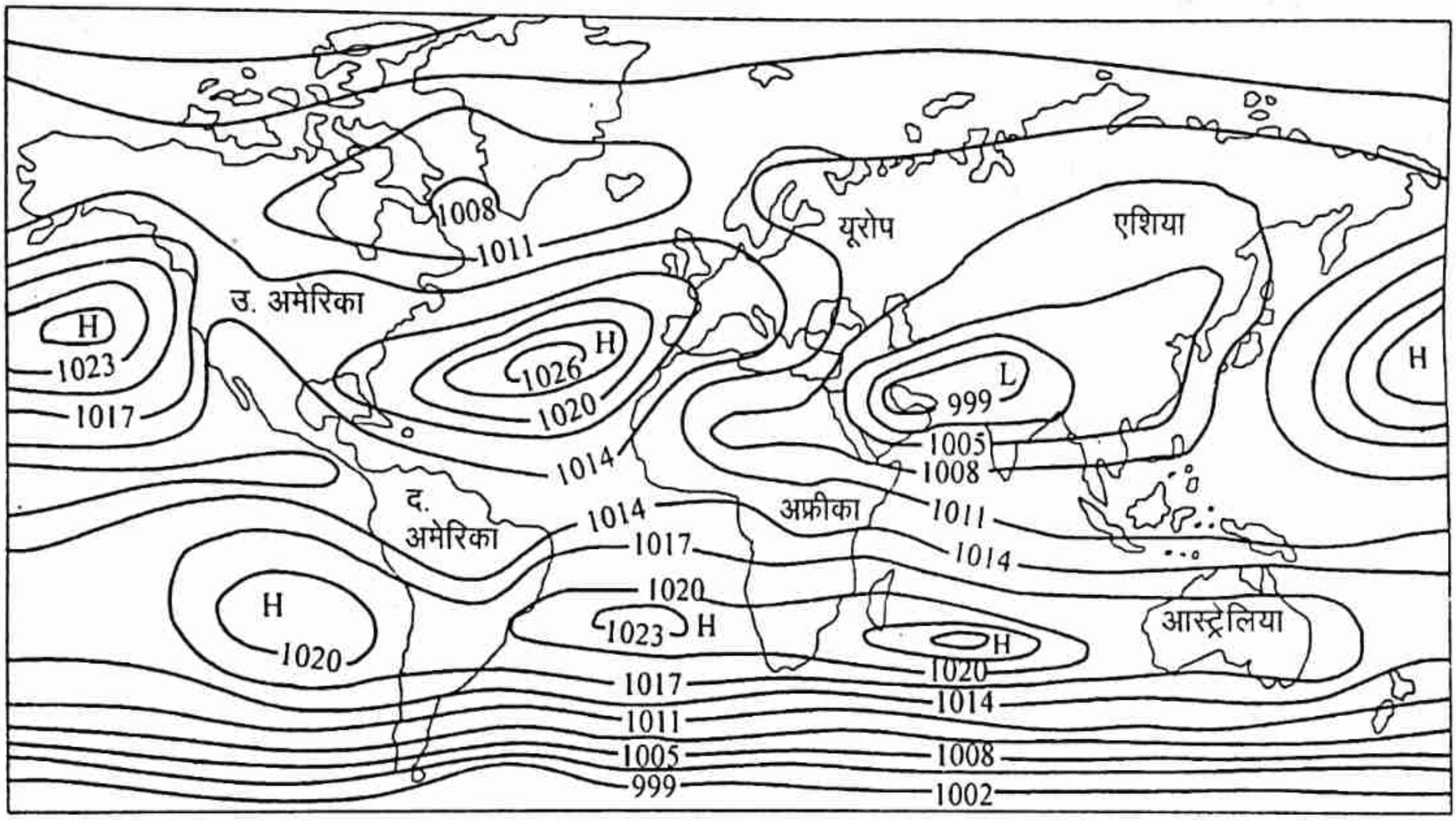

चित्र 35.3 : जुलाई की समदाब रेखाएं।

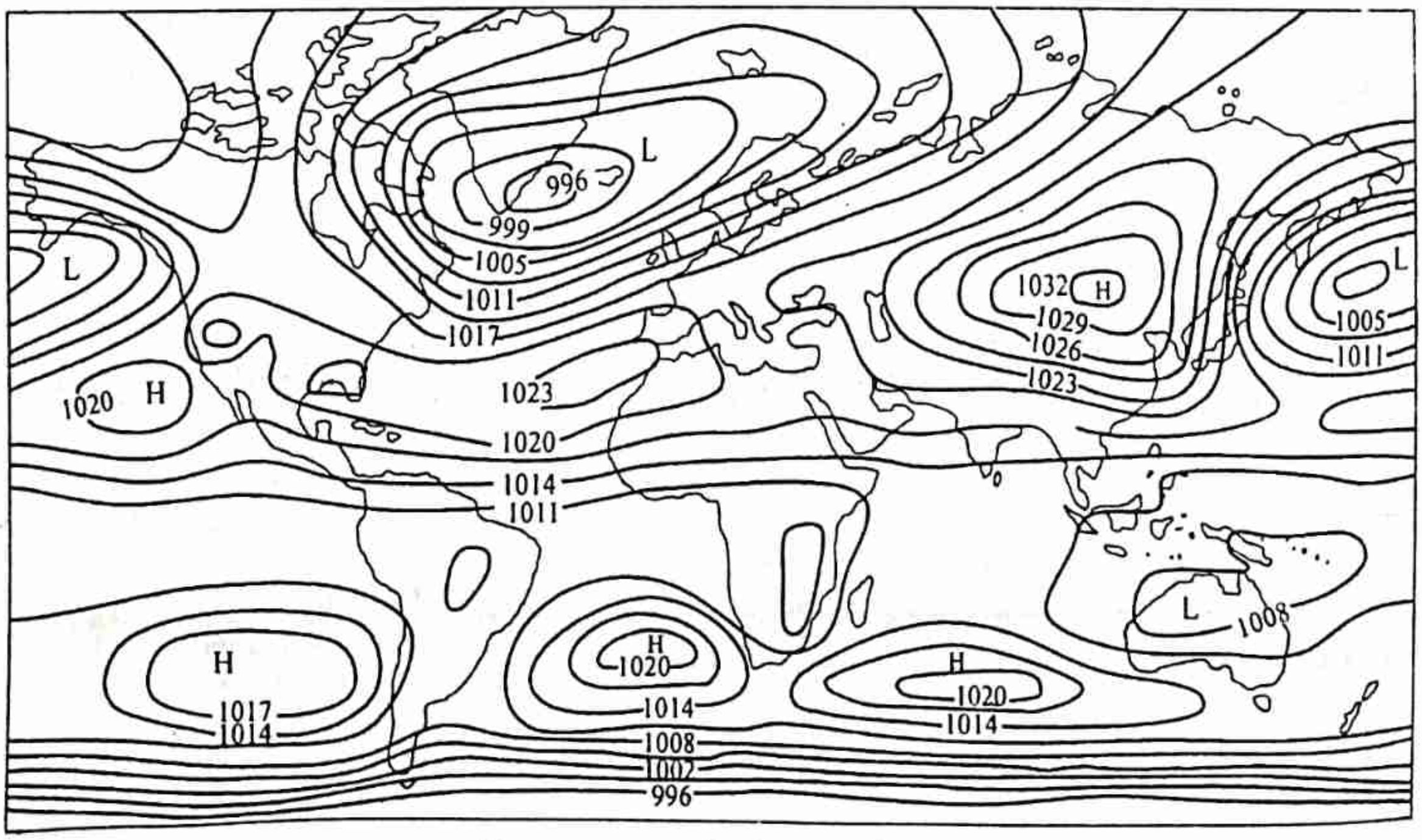

चित्र 35.4 : जनवरी की समदाब रेखाएं।

3. उपध्रुवीय निम्न वायुदाब पेटी

इस पेटी का विस्तार दोनों गोलार्द्धों में 60^0–65^0 अक्षांशों के बीच पाया जाता है। वर्षभर तापमान कम होने के बावजूद यहां निम्न वायुदाब मिलता है। स्पष्ट है कि इस कम वायुदाब का तापमान से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में पृथ्वी की घूर्णन गति (rotation) के कारण इन अक्षांशों से वायु फैलकर स्थानान्तरित हो जाती है, जिस कारण गतिजन्य कम वायुदाब का आविर्भाव होता है। यद्यपि इस प्रक्रिया का प्रभाव सबसे अधिक विषुवत रेखा पर होना चाहिए, परन्तु वहाँ पर तापमान इतना अधिक हो जाता है कि पृथ्वी के घूर्णन के कारण वायु के फैलने का कारण कमजोर पड़ जाता है तथा वहाँ पर निम्न वायुदाब हो जाता है।

4. ध्रुवीय उच्च वायुदाब पेटी

ध्रुवों पर तथा समीपी क्षेत्रों में अत्यन्त शीत के कारण वायुदाब स्वभावत: ऊँचा हो जाता है। अत: यह उच्च वायुदाब तापजन्य होता है।

35.3 वायुदाब की पेटियों की स्थितियों में परिवर्तन

ऊपर ग्लोब पर वायुदाब की पेटियों का आदर्श वितरण प्रस्तुत किया गया है। परन्तु यह स्थिति वर्ष भर समवत् नहीं रहती है। सूर्य की उत्तरायण तथा दक्षिणायन की स्थितियाँ, स्थल तथा जल के स्वभाव में अन्तर आदि कारकों के कारण वायुदाब में दैनिक तथा वार्षिक परिवर्तन होते रहते हैं। दिन में 2 से 4 बजे तक अधिकतम तापमान के कारण न्यूनतम दाब तथा सुबह 4 से 6 बजे तक न्यूनतम तापमान के कारण उच्चतम दाब होता है। इसी तरह स्थलीय भागों पर दिन में न्यूनतम वायुदाब तथा समीपी सागरों पर उच्च वायुदाब होता है। रात्रि में इसके विपरीत स्थिति होती है। यदि पृथ्वी अपनी जगह पर स्थिर होती तो वायुदाब की पेटियों की स्थिति भिन्न होती परन्तु सूर्य के उत्तरायण के समय सूर्य की किरणें उत्तरी गोलार्द्ध में सीधी पड़ती हैं, जिस कारण ध्रुवीय उच्च वायुदाब की पेटी के अलावा सभी वायुदाब की पेटियाँ उत्तर की ओर खिसक जाती हैं। इसके विपरीत शीतकाल में सूर्य के दक्षिणायन के समय सूर्य की किरणें मकर रेखा पर लम्बवत् होती हैं, अत: सभी वायुदाब की पेटियाँ दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं। इनकी आदर्श स्थिति केवल 21 मार्च तथा 23 सितम्बर को होती है जबकि सूर्य भूमध्य रेखा पर लम्बवत् होता है। वायुदाब की पेटियों पर स्थल तथा जल के प्रभाव का प्रदर्शन हेटनर महोदय ने अच्छी तरह किया है। शीतकाल में उपोष्ण कटिबन्धी उच्च वायुदाब अधिक स्थल के कारण पूर्णरूप से विकसित हो जाता है, परन्तु जुलाई में अधिक तापमान के कारण स्थल पर उच्च वायुदाब क्षीण हो जाता है, परन्तु सागरीय भागों पर बना रहता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की अधिकता के कारण कोई खास परिवर्तन नहीं हो पाता है। समदाब रेखाएं प्राय: अक्षांश रेखाओं के समानान्तर होती हैं। देखिये चित्र 35.11।

35.4 दाब प्रवणता तथा पवन संचार

(Pressure Gradient and Air Circulation)

किन्हीं भी दो स्थानों के बीच वायुदाब के अन्तर को 'दाब प्रवणता' कहते हैं। यह प्रवणता क्षैतिज दिशा में होती है। अधिक दाबप्रवणता पास-पास स्थित समदाब रेखाओं तथा कमदाब प्रवणता दूर-दूर स्थित समदाब रेखाओं द्वारा प्रदर्शित की जाती है। दाब प्रवणता की दिशा अधिक से कम होते हुए वायुदाब की ओर होती है तथा यह दिशा समदाब रेखाओं पर लम्ब होती है। इस दाब प्रवणता के कारण ही पवन संचार होता है। दाब प्रवणता को बैरोमैट्रिक ढाल भी कहते हैं। दाब तथा पवन संचार में गहरा सम्बन्ध होता है। मुख्य रूप से हवा उच्च वायुदाब से निम्न वायुदाब की ओर या निम्न बैरोमेट्रिक ढाल की ओर प्रवाहित होती है। चूँकि ढाल प्रवणता की दिशा समदाब रेखाओं के समकोण की दिशा होती है, अत: हवाओं की दिशा भी वही होनी चाहिए, परन्तु पृथ्वी के घूर्णन (rotation) के कारण जनित कोरिआलिस बल (Coriolis force)के कारण हवाओं की दिशा में कुछ अन्तर आ जाता है। अर्थात् हवाएं समदाब रेखाओं को समकोण पर न काटकर न्यून कोण पर काटती हैं।

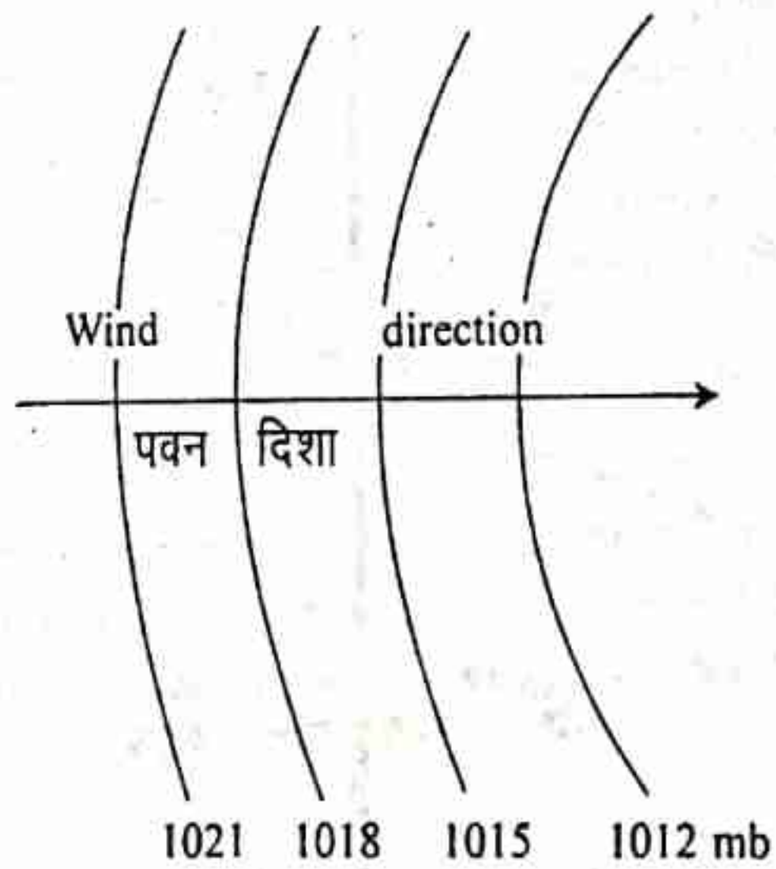

चित्र 35.5 : दाब प्रवणता तथा उसकी दिशा।

वायु की प्रवाह गति पर दाब प्रवणता का अधिक प्रभाव होता है। अत्यधिक प्रवणता पर पवन वेग तीव्र तथा कम प्रवणता पर पवन वेग मन्द पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में वायु की गति बैरोमेट्रिक ढाल से प्रभावित होती है। पृथ्वी के निकट घर्षण परत को छोड़कर वायु प्राय: समदाब रेखाओं के समानान्तर प्रवाहित होती है।

35.5 पवन दिशा तथा तत्सम्बन्धी नियम

धरातल पर प्रवाहित हवाओं की दिशा वायुदाब तथा पृथ्वी की घूर्णन गति द्वारा निर्धारित होती है। यदि पृथ्वी में अक्षीय गति नहीं होती, तो हवाएं समदाब रेखाओं के समकोण की

दिशा में प्रवाहित होतीं, परन्तु पृथ्वी की अक्षीय गति के कारण हवाओं की दिशा में विक्षेप (deflection) हो जाता है। इस परिवर्तनकारी बल को **विक्षेप बल** (deflection force) का नाम दिया गया है। आगे चलकर विद्वान कोरिआलिस (G.G. Coriolis) के नाम पर इसे **कोरिआलिस बल** कहा जाने लगा। इस विक्षेप बल के कारण उत्तरी गोलार्द्ध में सभी हवाएं प्रवणता की दिशा की दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बांयीं ओर मुड़ जाती हैं। स्मरणीय है कि प्रवणता की दिशा उच्चदाब से कम दाब की ओर होती है। पृथ्वी पश्चिम से पूर्व दिशा में घूमती है। प्रत्येक अक्षांश एक वृत्त के रूप में होता है। स्पष्ट है कि भूमध्यरेखीय वृत्त सबसे बड़ा होता है तथा ध्रुवों की ओर अक्षांशीय वृत्त छोटा होता है। समस्त पृथ्वी एक साथ लगभग 24 घण्टे में एक चक्कर पूरा करती है, अत: भूमध्यरेखा पर घूर्णन की गति सर्वाधिक होती है तथा ध्रुवों की ओर कम होती जाती है। जब पवन या तो उत्तर या दक्षिण दिशा में सीधी रेखा में प्रवाहित होती है तो अपने निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच पाती है, क्योंकि तब तक वह स्थान अक्षीय गति के कारण आगे बढ़ जाता है तथा पवन पीछे छूट जाती है। यह भूमध्य रेखा के पास होता है, क्योंकि यहाँ पर घूर्णन गति सर्वाधिक होती है। उच्च

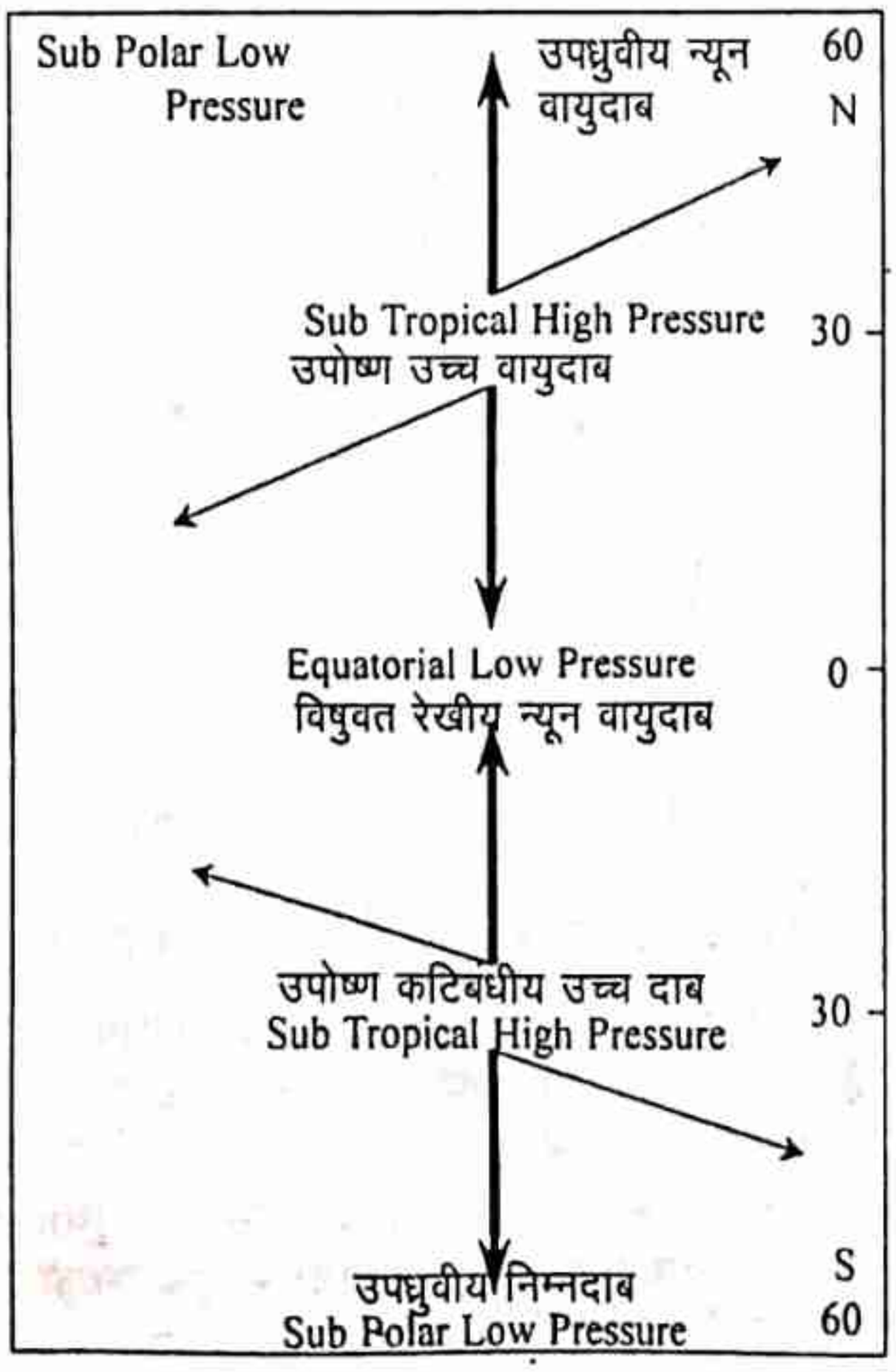

चित्र 35.6 : पवन की दिशा पर विक्षेप बल का प्रभाव।

अक्षांशों में पवन अपने निर्दिष्ट स्थान से आगे निकल जाती है। वायु के अपने मार्ग से विचलित होने की प्रक्रिया को **विक्षेपण** (deflection) कहते हैं। इसी आधार पर फेरेल (Ferrel) नामक विद्वान ने पवन दिशा संबंधी अपने मत का प्रतिपादन किया, जिसे **फेरेल का नियम** (Ferrel's Law) कहते हैं–"*जिस दिशा में पवन प्रवाहित हो रही हो यदि उस दिशा में मुख करके (अथवा जिस दिशा से पवन आ रही हो उस दिशा की ओर पीठ करके)खड़े हो जायं तो हवाएं उतरी गोलार्द्ध में दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर मुड़ जाती हैं।*' भूमध्य रेखा पर हवाओं की दिशा पर पृथ्वी की अक्षीय गति का प्रभाव नगण्य होता है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर विद्वान बायज बैलट ने अपने मत का प्रतिपादन किया जिसे **बायज बैलट का नियम** (Buys Ballot's Law) कहते हैं– "*जिस दिशा में हवा चल रही है, यदि उस दिशा में मुख करके खड़ा हुआ जाय तो उत्तरी गोलार्द्ध में न्यून वायुदाब बांयी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दाहिनी ओर होगा।*' वायु की दिशा पर घर्षण (friction) का भी प्रभाव होता है। घर्षण का बल हवा की दिशा के विपरीत कार्य करता है। असमान धरातल पर घर्षण का प्रभाव अधिक होता है। ऊँचाई के साथ घर्षण का प्रभाव कम होता जाता है। घर्षण के कारण हवा सम वायुदाब रेखा के समानान्तर न होकर कोण बनाकर प्रवाहित होती है। हवा की सामान्य दिशा वह होती है जिधर से हवा आती है, अर्थात् यदि हवा उत्तर से दक्षिण दिशा की ओर चल रही है तो उस हवा की दिशा उत्तरी होगी। धरातल का वह ढाल जिस ओर को पवन चलती है, पवनमुखी ढाल (windward slope) होता है। उसका विपरीत ढाल पवन विमुखी ढाल (leeward slope) कहलाता है।

35.6 हवाओं का वर्गीकरण

जिस दिशा में हवाएं प्राय: वर्षभर चला करती है, उन्हें **प्रचलित पवन** (prevailing wind) या **स्थायी पवन** (permanent wind), **निश्चित पवन** (invariable wind) या **ग्रहीय पवन** (planetary wind) कहते हैं। इसके विपरीत जिन हवाओं की दिशा में मौसमी परिवर्तन होता है, उन्हें मौसमी या मानसूनी हवा कहते हैं। किसी स्थान विशेष में चलने वाली विशिष्ट हवाओं को **स्थानीय पवन** (local wind) कहते हैं। जैसे चिनूक, सिरोको, बोरा आदि। पर्वत से घाटी तथा घाटी से पर्वत की ओर चलने वाली पवन को पर्वत तथा घाटी समीर कहते हैं। स्थल से जल तथा जल से स्थल की ओर चलने वाली पवन को क्रमश: स्थलीय तथा जलीय समीर कहते हैं। इस तरह हवाओं को दो वर्गों में रख सकते हैं–1. सनातनी या स्थायी हवा तथा 2. अनिश्चित या अस्थायी हवा।

1. स्थायी, सनातनी या ग्रहीय हवाएं (Permanent or Planetary winds)

साधारणीकरण के लिए ग्लोब पर उच्च तथा निम्न वायुदाब की पेटियों की स्थिति को लगभग स्थायी मान लिया जाता है।

परिणामस्वरूप नियमानुसार उच्च वायुदाब से निम्न वायुदाब की ओर हवाएं चलने लगती हैं। वर्ष भर इनकी दिशा प्राय: समान रहती है, यद्यपि उनके क्षेत्रों में मौसमी स्थानान्तरण होता रहता है। इस कारण इनको 'स्थायी या सनातनी हवायें' कहते हैं। चूँकि इनका वितरण पूरे ग्लोब पर होता है तथा इनकी उत्पत्ति समस्त ग्लोब के तापमान तथा पृथ्वी के घूर्णन से उत्पन्न उच्च तथा निम्न दाब से सम्बन्धित है, अत: इनको 'ग्रहीय हवायें भी कहा जाता है। इनमें प्रमुख हैं–व्यापारिक हवायें, पछुआ हवायें तथा ध्रुवीय हवायें।

(1) अयनवर्ती प्रदेश की हवायें (Winds in the Tropics)

अयनवर्तीय प्रदेश में सामान्य रूप से 30° उ० से 30° द० अक्षांशों वाले भाग को सम्मिलित किया जाता है। प्रारम्भ में यह माना जाता था कि इस भाग में उपोष्ण उच्च वायुदाब से भूमध्य रेखीय निम्न वायुदाब की ओर व्यापारिक हवाएं चला करती हैं, जिनकी दिशा उ० गोलार्द्ध में उ० पू० तथा गोलार्द्ध में द० पू० होती है। भूमध्यरेखा के पास ये हवाएं अभिसरित (converge) होती हैं। वायुमण्डल के ऊपरी भाग में प्रतिव्यापारिक हवाएँ (anti-trades) धरातलीय व्यापारिक हवाओं के विपरीत दिशा में प्रवाहित होती हैं। समस्त अयनवर्तीय भाग में मौसम सम्बन्धी दशाएँ समान होती हैं तथा भूमध्यरेखा के पास डोलड्रम या शान्त पेटी होती है, जहाँ पर हवाएं शान्त होती हैं। अयनवर्तीय प्रदेशों की हवाओं के विषय में इस विचार को प्राचीन संकल्पना कहते हैं। वर्तमान समय में कई ऐसी खोजें की गयी हैं, जिनमें व्यापारिक हवाओं के कटिबंधीय स्वभाव (zonal character), अयनवर्तीय प्रदेशों में मौसम सम्बन्धी समता तथा प्रतिव्यापारिक हवाओं की व्यापकता के आगे प्रश्नवाचक चिन्ह लग गया है। पता चला है कि व्यापारिक हवाएं स्थायी रूप से समस्त अयनवर्तीय महासागरों के कुछ भाग (पूर्वी भाग) पर ही पायी जाती हैं तथा ऊँचाई पर प्रतिव्यापारिक हवाएं कुछ सीमित क्षेत्रों में ही मिलती हैं। अयनवर्तीय प्रदेशों की मौसम सम्बन्धी दशाओं में चक्रवातों, हरीकेन, सागरीय तरंगों तथा तूफानों आदि का हस्तक्षेप होने से समरूपता नहीं हो पाती है। साधारण तौर पर अयनवृत्तीय प्रदेशों में निम्न हवाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

(i) डोलड्रम की पेटी तथा विषुवत रेखीय पछुवा हवा (doldrum and equatorial westerly)

भूमध्य रेखा के दोनों ओर 5° अक्षांशों तक निम्न वायुदाब की मेखला होती है। यहाँ हवाएँ प्राय: शान्त होती हैं, अत: इसे शान्त पेटी या डोलड्रम कहते हैं। स्मरणीय है कि डोलड्रम का विस्तार प्रत्येक स्थान पर क्रमबद्ध मेखला के रूप में नहीं होता है (चित्र 35.9)। साथ ही साथ मौसम के अनुसार इसकी स्थिति तथा विस्तार में परिवर्तन होता रहता है। सूर्य के उत्तरायण के समय ये उत्तर खिसक जाती हैं तथा दक्षिणायन के समय ये अपनी पूर्व स्थिति में आ जाती हैं। फ्लॉन महोदय के अनुसार डोलड्रम का विस्तार 200° देशान्तरों तक पाया जाता है। भूमध्यरेखा के सहारे डोलड्रम के तीन स्पष्ट क्षेत्र पाये जाते हैं: (1) हिन्द-प्रशान्त डोलड्रम का विस्तार अफ्रीका के पूर्वी भाग से प्रशान्त महासागर में 180° देशान्तर तक लगभग 16,000 किमी० की लम्बाई तथा 10,000,000 वर्ग मील (25,900,000 वर्ग किमी०) क्षेत्र में फैला हुआ है। इस तरह डोलड्रम की यह मेखला समस्त भूमध्यरेखा के 1/3 भाग को आवृत्त किये है, (2) भूमध्यरेखीय अफ्रीका के प० किनारे पर, तथा (3) भूमध्यरेखीय मध्य अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर (चित्र 35.9)। इस डोलड्रम की पेटी में दिन के समय संवहन धाराएँ उठती हैं तथा दोपहर के बाद गरज एवं बिजली की चमक के साथ गहरी वृष्टि होती है। सामान्य रूप से धरातल पर डोलड्रम में प० से पू० दिशा में हवाएँ चलती हैं, जिन्हें फ्लॉन महोदय ने **विषुवतरेखीय पछुवा हवाएँ** नाम प्रदान किया है तथा बताया है कि द० प० मानसून हवाएं वास्तव में विषुवत्रेखीय पछुवा हवाएँ ही होती हैं। जिस स्थान पर व्यापारिक हवाएँ इन हवाओं से मिलती हैं, उसे **उत्तरी अन्तरा अयनवर्तीय अभिसरण** (उष्ण कटिबन्धीय) (NITC, उ० गोलार्द्ध में) तथा **द० अन्तरा अयनवर्तीय अभिसरण** (SITC, द० गोलार्द्ध में) कहते हैं।

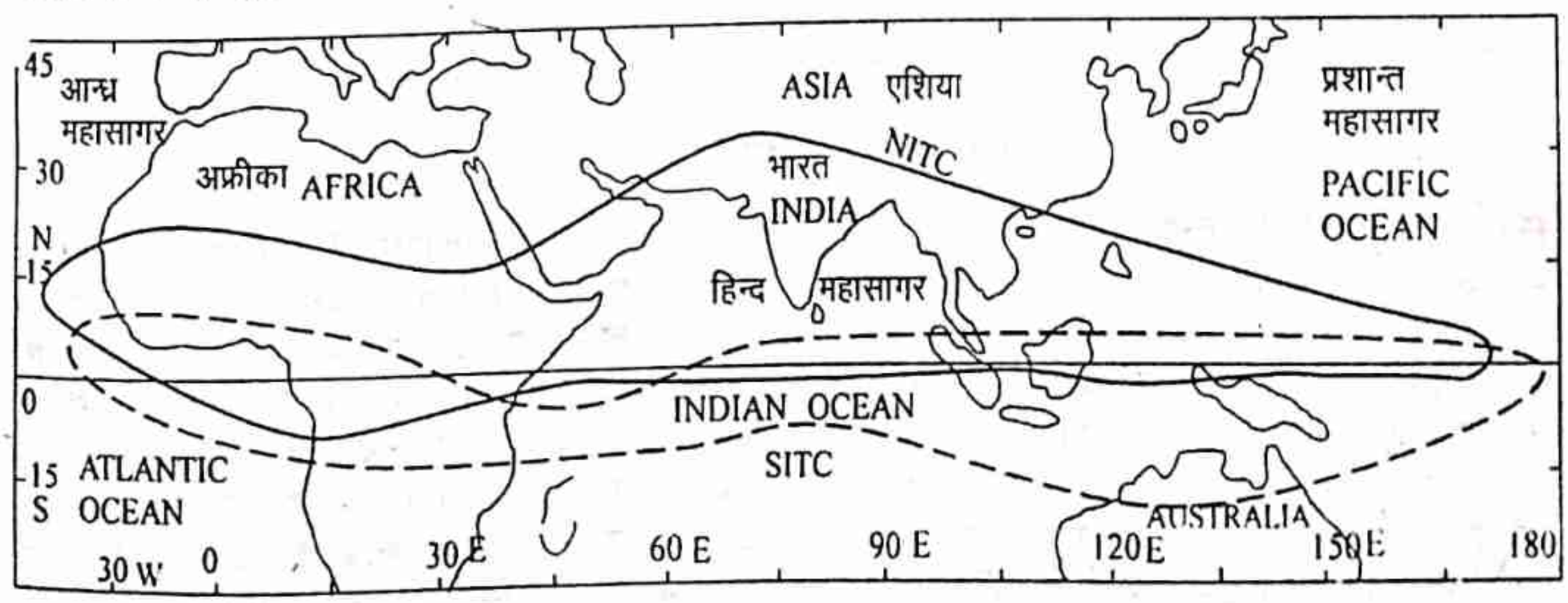

चित्र 35.7 : विषुवतरेखीय पछुवा हवाएं तथा अन्तरा अयनवर्तीय अभिसरण।

(ii) व्यापारिक हवाएँ (trade winds)

अयनवर्तीय उच्च वायुदाब से भूमध्यरेखीय निम्न वायुदाब की ओर हवाएं प्राय: निश्चित रूप से चलती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में इनकी दिशा उ० पू० से द० प० तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में द० पू० से उ० प० होती है। नियमित दिशा के कारण प्राचीन काल में व्यापारियों को पालयुक्त जलयानों के संचालन में पर्याप्त सुविधा मिलने के कारण इनका नामकरण च्व्यापारिक पवनन्किया गया था। कोरियालिस बल (प्रभाव) के कारण तथा फेरल के नियमानुसार ये हवाएं उ० गोलार्द्ध में दाहिनी ओर तथा द० गोलार्द्ध में बांयी ओर मुड़ जाती हैं। व्यापारिक हवाओं के विभिन्न भागों में पर्याप्त अंतर होता है। उपोष्ण उच्चदाब के पास वाला भाग हवाओं के नीचे

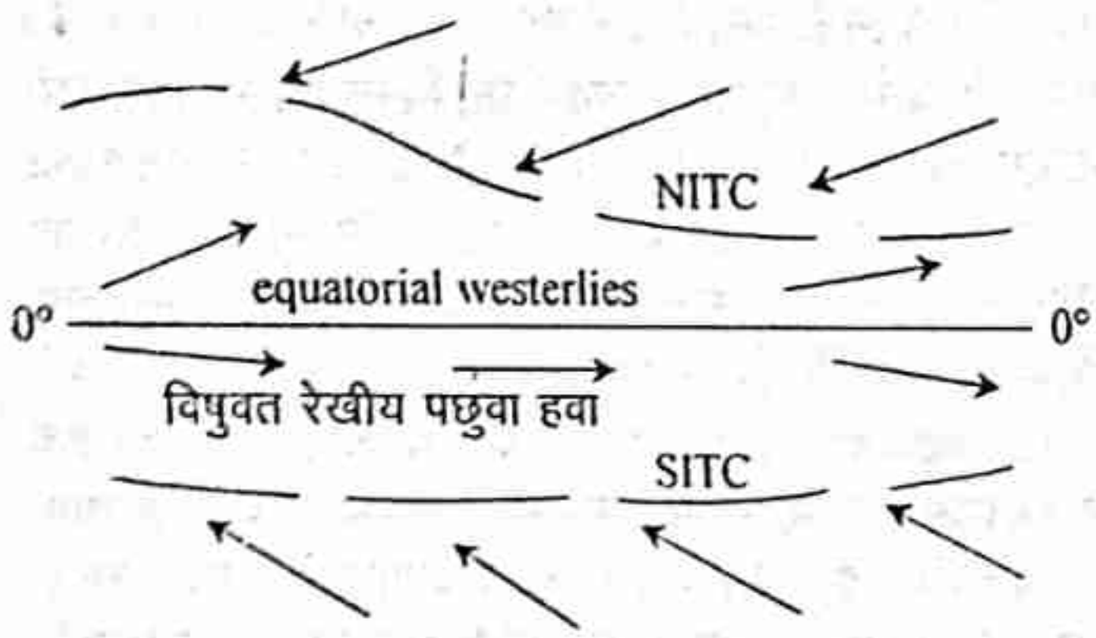

चित्र 35.8 : विषुवतरेखीय पछुवा पवन।

उतरने के कारण शुष्क होता है। प्रतिचक्रवातीय दशाएँ होती हैं, वायुमण्डल में स्थिरता होती है, तापमान का प्रतिलोमन अधिक होता है तथा साफ मौसम होता है। इसके विपरीत भूमध्यरेखा की ओर वाला भाग आर्द्र होता है, वायुमण्डल में अस्थिरता होती है तथा वर्षा होती है। स्थल की अपेक्षा सागरों पर व्यापारिक पवन की स्थिति अधिक सुदृढ़ होती है। गर्मियों में स्थलीय भागों पर (विशेषतया द० पू० एशिया तथा द० संयुक्त राज्य अमेरिका) अधिक ताप के कारण निम्न वायुदाब बन जाने से उच्चदाब क्षीण हो जाता है तथा कहीं-कहीं पर लुप्त भी हो जाता है, जिस कारण व्यापारिक पवन अदृश्य हो जाती हैं, परन्तु शीतकाल में महाद्वीपों पर व्यापारिक हवाएँ अधिक व्यवस्थित तथा सुदृढ़ हो जाती हैं।

(2) अश्व अक्षांश तथा पछुवा हवाएं

(i) अश्व अक्षांश (horse latitudes) : 30°-35° अक्षांशों के बीच दोनों गोलार्द्धों में उपोष्ण उच्च वायुदाब की स्थिति पायी जाती है। इस प्रकार यह पेटी दो विपरीत धरातलीय हवाओं (व्यापारिक तथा पछुवा) के बीच विभाजन का कार्य करती है। भूमध्यरेखा पर ऊपर उठी हवा व्यापारिक हवाओं की विपरीत दिशा में प्रवाहित होकर 30°-35° अक्षांशों के पास नीचे उतरती है, जिस कारण उसका दाब बढ़ जाता है। इस कारण यहाँ पर प्रतिचक्रवातीय दशाएँ स्थापित हो जाती हैं, जिससे वायुमण्डल में स्थिरता आ जाती है। इस प्रकार यहाँ पर पवन संचार बहुत कम हो पाता है और जो कुछ हवा चलती है, वह भी प्राय: हर दिशा में चलती है। इस शान्त तथा अनिश्चित

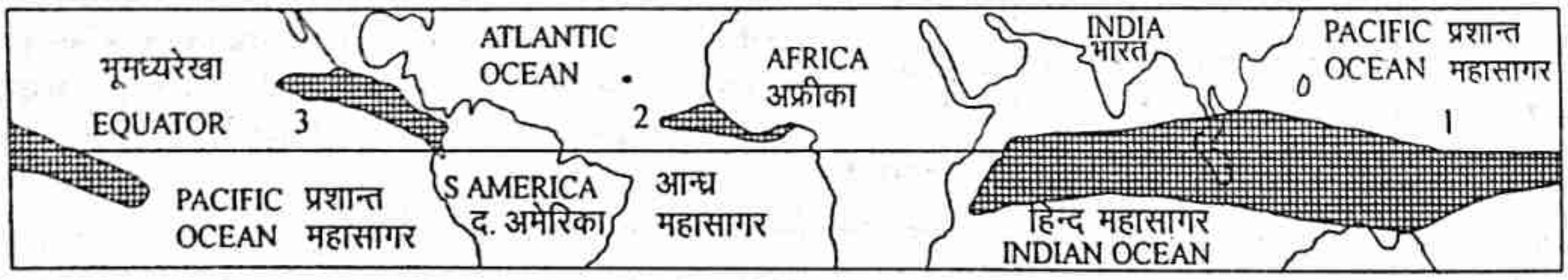

चित्र 35.9 : डोलड्रम की स्थिति।

पवन वाले भाग में आने पर प्राचीन काल में घोड़े से लदे जलयानों के संचालन में पर्याप्त कठिनाई होती थी। परिणामस्वरूप व्यापारी जलयान को हल्का करने के लिए कुछ अश्वों को सागर में फेंक देते थे। इस कारण से इन्हें **अश्व अक्षांश** (horse latitude) कहा जाने लगा। इस भाग में पवन के नीचे उतरने के कारण उपोष्ण कटिबन्धी प्रतिचक्रवातों का आविर्भाव होता है, जिनके पूर्वी तथा पश्चिमी भागों में पर्याप्त अन्तर होता है। पूर्वी भाग में हवा के उतरने तथा तापमान के प्रतिलोमन के कारण वायुमण्डल में स्थिरता तथा शुष्कता आ जाती है। इन प्रतिचक्रवातों का पूर्वी भाग महाद्वीपों के पश्चिमी तथा महासागरों के पूर्वी भाग के ऊपर होता है। यही कारण है कि 20°-30° अक्षांशों के बीच महाद्वीपों के पश्चिमी किनारों पर शुष्क मरुस्थल (सहारा, कालाहारी, चिली-पेरू, अटाकामा, अरब के रेगिस्तान आदि) पाये जाते हैं। इन प्रतिचक्रवातों का प० भाग अपेक्षाकृत आर्द्र होता है। वायुमण्डल में अस्थिरता आ जाती है। वायु का अवतलन क्षीण हो जाता है। इनका क्षेत्र महाद्वीपों के पूर्वी तथा सागरों के पश्चिमी भाग (कैरेबियन सागर तथा मैक्सिको की खाड़ी का समीपी स्थलीय भाग, पूर्वी चीन, द० जापान, द०

पू० ब्राजील तथा पूर्वी आस्ट्रेलिया) पर होता है जहाँ पर पर्याप्त वर्षा होती है।

(ii) पछुवा हवायें (westerlies) : उपोष्ण उच्च वायुदाब (30°-35°) से उपध्रुवीय निम्न वायुदाब (60°-65°) के बीच दोनों गोलार्द्धों में चलने वाली स्थायी पवन को 'पछुवा हवा' कहते हैं। इनकी दिशा उ० गोलार्द्ध में द० प० से उ० पू० तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में उ० प० से द० पू० की ओर होती है। इन हवाओं की ध्रुवीय सीमा में परिवर्तन होता रहता है। जहाँ पर ये गर्म तथा आर्द्र पछुवा हवाएं ध्रुवों से आने वाली ठंडी हवाओं से मिलती हैं, वहाँ पर वाताग्र (front) बन जाते हैं, जिन्हें शीतोष्ण वाताग्र कहते हैं। व्यापारिक हवाओं की अपेक्षा पछुवा हवाएं अधिक प्रचण्ड होती हैं। इन हवाओं के साथ चक्रवात तथा प्रतिचक्रवात भी पश्चिम से पूर्व दिशा में चलते हैं। इन चक्रवातों तथा प्रतिचक्रवातों के कारण पछुवा हवाओं के स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की अधिकता के कारण ये अधिक जटिल हो जाती हैं तथा गर्मियों में कम सक्रिय (सामान्य गति वाली पवन) तथा जाड़े में अधिक सक्रिय हो जाती हैं। सागर के ऊपर चलने के कारण ये हवाएँ नमी से परिपूर्ण हो जाती हैं तथा अपने अक्षांशों में महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में पर्याप्त वर्षा करती हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थल की कमी के कारण इनकी गति इतनी तेज होती है कि हवाएं तूफानी हो जाती हैं। पछुवा हवाओं के साथ प्रचण्ड झंझा (boisterous gales) चला करते हैं। इनकी प्रचण्डता के कारण ही द० गोलार्द्ध में इन्हें 40°-50° अक्षांशों में गरजती चालीसा (roaring forties), 50° द० अक्षांश के पास भयंकर पचासा (furious fifties) तथा 60° के पास चीखती साठा (shrieking sixties) आदि नामों से पुकारते हैं।

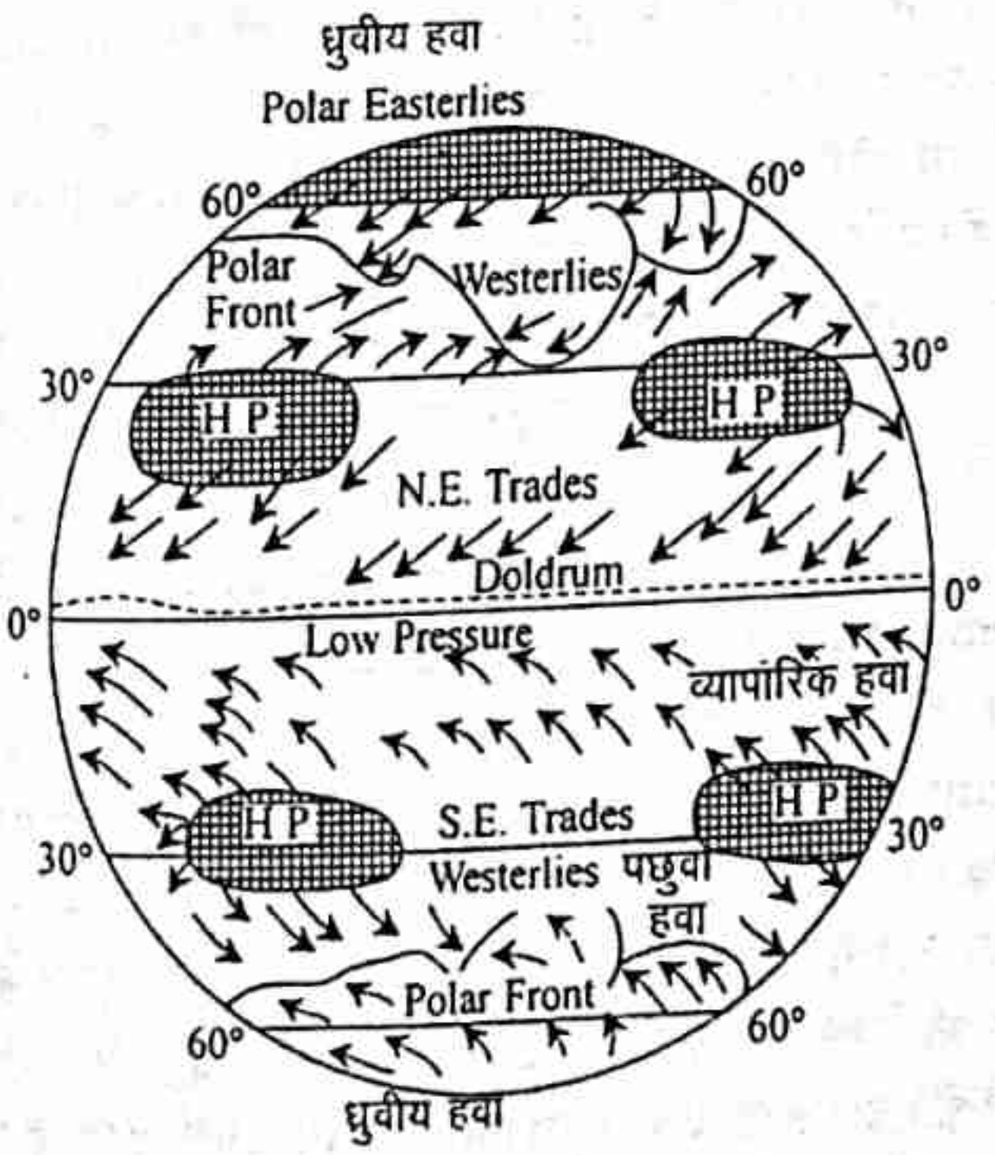

चित्र 35.10 : (सनातनी) स्थायी हवाएं

(3) ध्रुवीय हवाएं (polar winds)

60°-65° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में गतिक न्यून वायुदाब मिलता है, जो कि गर्मियों में अधिक विस्तृत रहता है तथा जाड़ों में लुप्तप्राय हो जाता है। परन्तु अल्यूशियन निम्नदाब तथा आइसलैंण्डिक न्यूनदाब वर्ष भर बने रहते हैं। ध्रुवों पर अत्यधिक शीत के कारण उच्च वायुदाब साल भर बना रहता है, जहाँ से शीतोष्ण कटिबन्धीय निम्न दाब की ओर हवाएं चलने लगती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में इनकी दिशा उ० पू० तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में द० पू० होती है। गर्मियों में वायुदाब की पेटियों के खिसकाव के कारण इनका क्षेत्र संकुचित हो जाता है, परन्तु शीतकाल में इनका क्षेत्र विस्तृत होकर 60° तक आ जाता है।

35.7 हवाओं की पेटियों का खिसकाव

यदि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा न करती तो वायुदाब तथा हवाओं की पेटियों में स्थायित्व हो सकता था, परन्तु पृथ्वी की वार्षिक गति के कारण उसकी सूर्य से संबंधित स्थिति में परिवर्तन होता रहता है। 21 जून को सूर्य कर्क रेखा पर लम्बवत् होता है, जिस कारण सभी वायुदाब की पेटियाँ (ध्रुवीय उच्च दाब को छोड़कर) उत्तर दिशा में सिखक जाती हैं। भूमध्यरेखीय निम्न दाब 0° तथा 10° अक्षांश के बीच, उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च दाब 30°-40° के बीच हो जाता है। इस कारण उनसे सम्बन्धित वायुदाब की पेटियाँ भी अपने निर्दिष्ट स्थान से उत्तर खिसक जाती हैं। 21 जून के बाद 23 सितम्बर को सूर्य भूमध्यरेखा पर लम्बवत् चमकता है, जिस कारण वायु पेटियाँ अपनी यथावत् स्थिति में आ जाती हैं। इसके बाद सूर्य दक्षिणायन हो जाता है तथा 22 दिसम्बर को मकर रेखा पर लम्बवत् होता है, जिस कारण वायुदाब तथा वायु पेटियाँ दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं। पुनः सूर्य के 21 मार्च को भूमध्य रेखा पर लम्बवत् होने के कारण ये पेटियाँ यथावत् स्थिति में आ जाती हैं। इस तरह ऋतु परिवर्तन के साथ ही वायु पेटियों में स्थानान्तरण होता रहता है जिससे कई प्रकार की विशिष्ट जलवायु सम्बन्धी दशाओं का सूत्रपात होता है।

(i) रूम सागरीय जलवायु वाले प्रदेश, दोनों गोलार्द्धों में 30°-40° अक्षांशों के मध्य महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में पाये जाते हैं। 30°-35° अक्षांशों के मध्य उपोष्ण उच्च वायुदाब की पेटी होती है। गर्मियों में इन अक्षांशों में व्यापारिक हवाएँ चलती हैं, जो कि स्थल से आने के कारण वर्षा नहीं कर पाती हैं। जाड़े के समय इस उच्च वायुदाब की पेटी के भूमध्यरेखा की ओर सरकने के कारण इस भाग (30°-40°) पर पछुवा हवाओं का विस्तार हो जाता है। सागरों के ऊपर से आने वाली नमी से भरी ये पछुवा हवाएं रूम सागरीय भागों में वृष्टि प्रदान करती हैं, जिस कारण शीत काल आर्द्र तथा ग्रीष्म काल शुष्क विशेषता वाली रूम सागरीय जलवायु का आविर्भाव होता है।

(ii) 60°-70° अक्षांशों के बीच वाले प्रदेश भी वायुदाब तथा वायुपेटियों के खिसकने के कारण वर्ष में दो प्रकार की हवाओं से प्रभावित होते हैं। जब सूर्य उत्तरायण होता है तो उ० गोलार्द्ध में इन प्रदेशों में उ० पू० ध्रुवीय हवाओं का जोर कम हो जाता है तथा पछुवा हवाएं महाद्वीपों के सुदूर उत्तरी भागों तक पहुँच जाती हैं, जबकि द० गोलार्द्ध में इसके विपरीत स्थिति होती है। सूर्य के दक्षिणायन होने पर उ० गोलार्द्ध में पछुवा हवाएं दक्षिण की ओर सरक जाती हैं, जिस कारण इन अक्षांशों पर उ० पू० ध्रुवीय हवाओं का प्रभाव हो जाता है। वर्षा खासकर गर्मियों में होती है। इस तरह पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु का आविर्भाव होता है। वर्ष भर सक्रिय चक्रवातीय दशाओं के कारण हवाओं की पेटियों के खिसकने का प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण नहीं हो पाता है।

(iii) हवाओं की पेटियों के खिसकने के कारण ही मानसून हवाओं का आविर्भाव होता है। गर्मियों में सूर्य की उत्तरायण स्थिति (उ० गो०) के कारण डोलड्रम की पेटी भी उत्तर की ओर खिसक जाती है, जिस कारण 30° उत्तरी अक्षांश तक

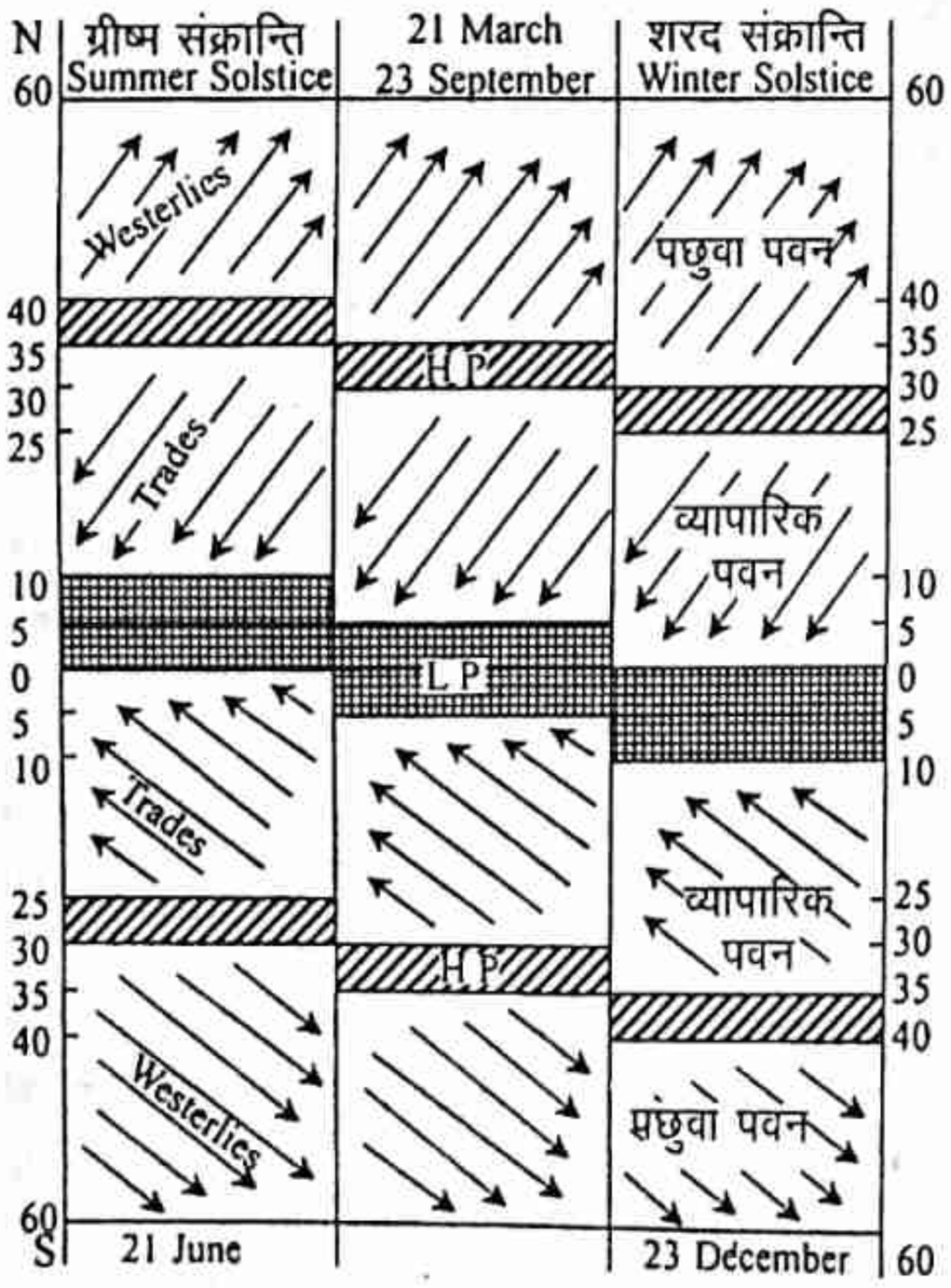

चित्र 35.11 : हवा की पेटियों का मौसमी खिसकाव।

'उत्तरी अन्तरा उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण' (north inter-tropical convergence) के विस्तृत हो जाने से दक्षिण-पूर्वी एशिया वाले भाग पर विषुवत् रेखीय पछुवा हवाओं का विस्तार हो जाता है, जो कि ग्रीष्मकाल की द० प० मानसून हवाएं होती हैं। शीतकाल में पेटियों के दक्षिण की ओर खिसकाव के कारण इन भागों पर व्यापारिक हवाएँ छा जाती हैं जो कि जाड़े की उ० पू० मानसून हवाएं होती हैं।

35.8 वायुमण्डल का त्रिकोशिकीय देशान्तरीय संचार

(Tri-cellular Meridional Circulation of the Atmosphere)

वायुमण्डल में पवन संचार के प्रत्यक्ष कारणों के विषय में वर्तमान समय में पुरानी संकल्पना के विपरीत नये विचारों का प्रतिपादन किया जा रहा है। पुरानी संकल्पना के अनुसार वायुमण्डलीय संचार मुख्य रूप से जिम्मेदार है। इस संकल्पना के समर्थकों के अनुसार उष्ण कटिबंधीय भागों में सर्वाधिक सौर्यिक ऊर्जा प्राप्त होती है तथा ध्रुवों की ओर निरन्तर घटती जाती है। इस तरह हवाएं सौर्यिक ऊर्जा के अक्षांशीय असन्तुलन को दूर करने के लिए प्रवाहित होती हैं, ताकि निम्न अक्षांशों में न तो सौर्यिक ऊर्जा की अधिकता हो और न तो उच्च अक्षांशों में कमी। प्रत्येक देशान्तर पर हवाओं का संचार एक कोशिका (cell) के रूप में होता है। उच्चदाब से निम्नदाब की ओर धरातलीय हवाएं चलती हैं। उच्चदाब वाले भाग में निम्न दाब वाले भाग से वायुमण्डल के ऊपरी भाग में हवाएं प्रवाहित होती हैं। इस तरह ऊपरी हवाएं धरातलीय हवाओं के विपरीत दिशा में प्रवाहित होती हैं। इस तरह प्रत्येक देशान्तर पर हवाओं की तीन कोशिकाएं पायी जाती हैं-उष्ण कटिबंधीय, मध्य अक्षांशीय तथा ध्रुवीय। उष्ण कटिबंधीय कोशिका के अन्तर्गत भूमध्यरेखा पर हवाएं गर्म होकर ऊपर उठती हैं तथा ऊँचाई पर जाने पर उ० तथा द० दिशाओं की ओर मुड़ जाती हैं। भूमध्यरेखा पर स्थानापूर्ति के लिए उपोष्ण कटिबंधीय उच्च दबाव से हवाएं भूमध्यरेखा की ओर चलने लगती हैं। भूमध्यरेखा पर ऊपर उठी हवाएं उपोष्ण उच्चदाब के पास नीचे उतरती हैं तथा पुन: भूमध्यरेखा की ओर धरातलीय पवन के रूप में चल पड़ती हैं। इस तरह उष्ण कटिबंधीय कोशिका का निर्माण होता है, इसे **हैडली कोशिका** कहते हैं। मध्य अक्षांशीय कोशिका के अन्तर्गत अश्व अक्षांशों (उपोष्ण उच्चदाब) से शीतोष्ण निम्नदाब की ओर धरातलीय हवाएं (पछुवा) चलती हैं। यहाँ पर (60°-65°) पृथ्वी के घूर्णन के कारण हवाएं धरातल से उठकर दो दिशाओं (उ० तथा द०) में मुड़ जाती हैं। यह हवा अश्व अक्षांशों के पास नीचे उतरती है तथा पुन: धरातलीय पछुवा हवा के रूप में शीतोष्ण निम्नदाब की ओर चलती है तथा एक पूर्ण कोशिका का निर्माण होता है, इसे **फेरेल कोशिका** कहते हैं। **ध्रुवीय कोशिका** के अन्तर्गत उच्चदाब से शीतोष्ण निम्न दाब की ओर धरातलीय हवाएं चलती हैं, जबकि पृथ्वी के घूर्णन के कारण शीतोष्ण निम्नदाब से ऊपर उठी हवा ध्रुवों के पास उतरती है। इस तरह एक कोशिका का आर्विभाव होता है।

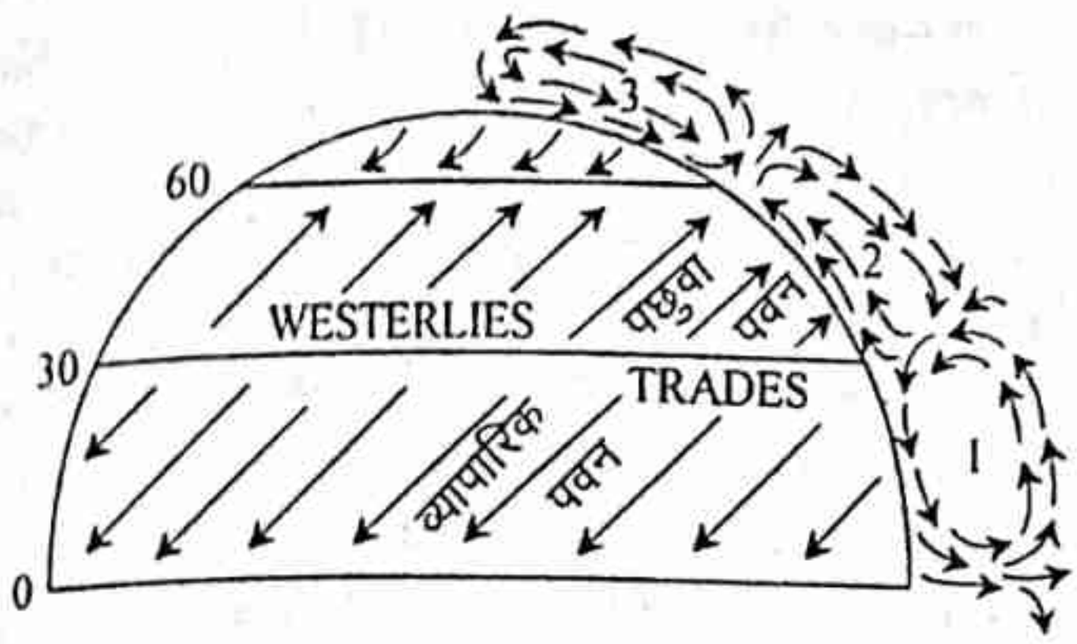

चित्र 35.12 : वायु का कोशिका में देशान्तरीय संचार 1. उष्ण कटिबंधीय (हैडली कोशिका), 2. मध्य अक्षांशीय (फेरेल कोशिका) तथा 3. ध्रुवीय कोशिका।

वायुमण्डल के इस देशान्तरीय कोशिकीय संचार के विषय में कई आपत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इनका संचार केवल ताप प्रवणता के आधार पर ही नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि ग्लोब पर सभी उच्च तथा निम्न वायुदाब का आर्विभाव ताप के कारण ही नहीं होता है। उपोष्ण उच्च दाब तथा शीतोष्ण निम्न दाब गतिक (वायु के नीचे उतरने तथा पृथ्वी के घूर्णन के कारण वायु का फैलाव) होता है। उष्ण कटिबंध में व्यापारिक पवन के विपरीत दिशा में वायुमण्डल के ऊपरी भाग में प्रतिव्यापारिक पवन (anti-trade) कई देशान्तरों पर अनुपस्थित पायी जाती है। यदि व्यापारिक हवाओं का संचार केवल तापीय होता है तो अयन रेखाओं के बीच ताप प्रवणता पूर्ण रूप से परिलक्षित होनी चाहिए, परन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं होता है। धरातल से 500 से 1,000 मीटर की ऊँचाई पर वायुमण्डल में हवाएं समदाब रेखाओं के समानान्तर हो जाती हैं। समदाब रेखाएं प्राय: अक्षांशों के समानान्तर होती हैं। ऐसी दशा में देशान्तरीय कोशिका का निर्माण कैसे सम्भव हो सकता है? वायुमण्डल के निचले अधिकांश भाग में वायुदाब तथा हवायें मेखला या कटिबंध के रूप में न होकर कोशिका के रूप में पायी जाती हैं। ये कोशिकायें अण्डाकार, गोलाकार या अन्य आकारों में मिलती हैं। इन आधारों पर वायुमण्डल के संचार की पुरानी संकल्पना का खण्डन हो जाता है, परन्तु अभी तक किसी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं किया जा सका है।

Unit-II

35.8 मानसून ~~हवाएं~~ प्रश्न - Unit-II

1. परिभाषा तथा वितरण

'मानसून' शब्द का प्रयोग किसी प्रदेश में प्रवाहित होने वाली उन हवाओं के लिए किया जाता है, जिनकी दिशा में वर्ष में दो बार पूर्ण परिवर्तन होता है। 'मानसून' शब्द मूलरूप से अरबी भाषा के 'मौसिम' शब्द से बना है, जिसका तात्पर्य 'मौसम' से होता है। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले अरब सागर पर बहने वाली हवा के लिए किया गया था, जिसकी दिशा वर्ष के छ: मास तक (जाड़े में) उ० पू० से द० प० तथा शेष छ: मास (ग्रीष्म काल) द० प० से उ० पू० रहती है। इसी आधार पर ग्लोब के उन सभी भागों की हवा को, जिनकी दिशा में ऋतु के अनुसार पूर्ण विलोम स्थिति आ जाती है, 'मानसून' कहा गया। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि ग्लोब पर कई ऐसे अन्य स्थान भी हैं, जहाँ हवाओं की दिशा में ऋतुवत् परिवर्तन हो जाता है, जैसे 60°–70° अक्षांश वाले भाग में जाड़े में उ० पू० ध्रुवीय हवा (उ० गो०) तथा गर्मी में द० प० पछुवा हवा चलती है, रूम सागरीय भागों में जाड़े में द० प० पछुवा हवा (उ० गो०) तथा ग्रीष्म काल में उ० पू० व्यापारिक हवा चलती है, परन्तु इन स्थानों की हवा को 'मानसून' नहीं कहा जाता है। स्पष्ट है कि मानसून हवा की एकमात्र विशेषता दिशा परिवर्तन ही नहीं है। सामान्य रूप में मानसून हवाएं धरातल की संवहनीय क्रम ही हैं, जिनका आर्विभाव स्थल तथा जल के विरोधी स्वभाव के कारण तथा तापीय विभिन्नता के कारण होता है। वे भाग जहाँ पर मानसून हवाओं का आधिक्य होता है, 'मानसूनी जलवायु प्रदेश' कहे जाते हैं। ग्लोब पर मानसूनी जलवायु का सर्वाधिक विकास द० पू० एशिया तथा चीन एवं जापान पर हुआ है। इसके अलावा गाइना की खाड़ीवाला प० अफ्रीका का भाग, अयनवर्ती पूर्वी अफ्रीका, अयनवर्ती उत्तरी आस्ट्रेलिया, द० पू० संयुक्त राज्य अमेरिका, खासकर खाड़ी के समीपी प्रांत आदि मानसूनी जलवायु के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु यहाँ पर मानसून हवा अपने मौलिक स्वभाव में न होकर कुछ संशोधित रूप में होती है।

2. उत्पत्ति सम्बन्धी संकल्पना

वर्तमान समय में मानसून हवाओं की उत्पत्ति की प्राचीन संकल्पना के विपरीत नवीन विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया है। मानसून हवा की उत्पत्ति तापमान में विभिन्नता के कारण होती है या किसी अन्य कारण से? इस पर पर्याप्त मतभेद है। इसी को लेकर दो संकल्पनाओं का प्रतिपादन किया गया है–(i) **तापीय संकल्पना** (thermal concept)–इस विचारधारा के अनुसार मानसून की उत्पत्ति एकमात्र पृथ्वी के असमान संगठन (स्थल तथा जल का विन्यास)तथा उनके गर्म एवं ठंडा होने के विरोधी स्वभाव के कारण ही होती है। यदि पृथ्वी समांग होती अर्थात् या तो केवल स्थल ही स्थल होता या जल ही जल, तो मानसून का आर्विभाव कदापि नहीं होता। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो मानसून हवाएं स्थल तथा जल समीर का ही विस्तृत रूप होती हैं। गर्मियों में अधिक सूर्यताप के कारण स्थलीय भाग सागरों की अपेक्षा अधिक गर्म हो जाने के कारण न्यून भार के क्षेत्र हो जाते हैं तथा सागरीय भागों से स्थल की ओर हवाएं चलने लगती हैं। इसे 'ग्रीष्म कालीन मानसून' कहते हैं। इसके विपरीत जाड़े में स्थल भाग उच्चदाब के केन्द्र बन जाते हैं तथा सागरीय भाग न्यूनदाब के क्षेत्र। परिणामस्वरूप स्थल से जल की ओर हवाएं चलने लगती हैं। (अ) **ग्रीष्मकालीन मानसून**–21 मार्च के बाद सूर्य उत्तरायण होने लगता है, जिस कारण उत्तरी गोलार्द्ध में सूर्य सीधा चमकने

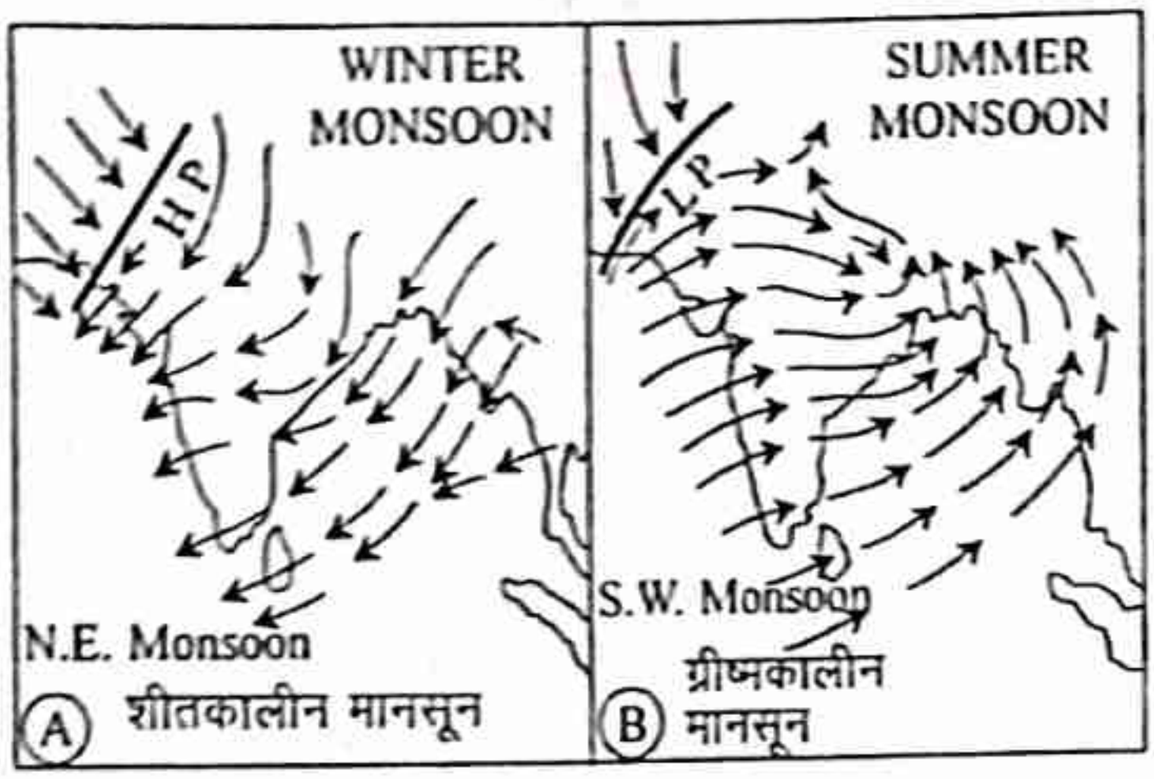

चित्र 35.13 : (अ) जाड़े की मानसून, (ब) गर्मी की मानसून

लगता है। परिणामस्वरूप सर्वाधिक सौर्यिक ऊर्जा मिलने लगती है। 21 जून को सूर्य कर्क रेखा पर सीधा होता है। अत्यधिक तापमान के कारण एशिया पर न्यून वायुदाब बन जाता है। हिमालय के कारण दो स्थानों पर निम्न दाब होता है–बैकाल झील के पास तथा मुल्तान के पास। इसके विपरीत द० गोलार्द्ध में शीतकाल के कारण दक्षिणी हिन्द महासागर तथा उ० प० आस्ट्रेलिया के पास उच्चदाब विकसित हो जाता है। इसी तरह जापान के दक्षिण में प्रशान्त महासागर में उच्चदाब बन जाता है। परिणामस्वरूप उच्च दाब वाले क्षेत्रों से अर्थात् महासागरीय भागों से निम्न दाब वाले स्थलीय भागों की ओर हवाएं चलने लगती हैं। सागरों के ऊपर से आने के कारण नमी से लदी ये हवाएं पर्याप्त वृष्टि प्रदान करती हैं। जब निम्न दाब क्षेत्र अधिक सक्रिय हो जाते हैं, तो द० पू० व्यापारिक हवा भी भूमध्यरेखा को पार करके (फेरल के नियमानुसार भूमध्यरेखा पार करने पर द० प०)मानसून हवाओं से मिल जाती है। इसे 'द० प० मानसून' (भारत) भी कहा जाता है। एशिया में मानसून की दो शाखाएं हो जाती हैं–(अ) चीन तथा जापान की मानसून एवं (ब) द० एशिया की मानसून। भारत पर द० प० मानसून की दो शाखाएं हो जाती हैं–(i) बंगाल की खाड़ी की शाखा, जो कि देश के पूर्वी तथा मध्य उत्तरी भाग को प्रभावित करती है, (ii) अरब सागर की शाखा जो कि देश के दक्षिणी, पश्चिमी तथा द० प० एवं मध्यवर्ती भाग को प्रभावित करती है।

(ब) शीतकालीन मानसून–शीतकाल में 22 दिसम्बर को सूर्य मकर रेखा पर लम्बवत् चमकता है, जिस कारण उ० गो० में शीतकाल तथा द० गो० में ग्रीष्मकाल होता है। एशिया महाद्वीप पर बैकाल झील तथा पेशावर के पास उच्च दाब स्थापित हो जाते हैं, जबकि द० गोलार्द्ध में ग्रीष्मकाल के कारण आस्ट्रेलिया (भूमध्यरेखा के दक्षिण)निम्न दाब बन जाते हैं, जिस कारण स्थलीय भाग से सागरों की ओर हवाएं चलने लगती हैं। इसे 'उ० पू० मानसून'(भारत) कहते हैं तथा स्थल की ओर से आने के कारण ये हवाएं शुष्क होने से वर्षा प्रदान करने में असमर्थ होती हैं। इस तरह से पुरानी संकल्पना के अनुसार दोनों मानसून की उत्पत्ति तापीय अन्तर के कारण बतायी गयी है।

(ii) नवीन संकल्पना : निश्चय ही मानसून की प्राचीन संकल्पना के अन्तर्गत मानसून हवाओं का अत्यधिक साधारणीकरण कर दिया गया है। वास्तव में मानसून की तापीय उत्पत्ति को अस्वीकृत किया जा रहा है। इस प्राचीन संकल्पना के विरोध में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं। (i) यदि ग्रीष्म काल में महाद्वीपों पर विकसित निम्न दाबों का सम्बन्ध उच्च तापमान से होता तो कम से कम कुछ समय तक इन्हें अपने स्थानों पर स्थायी रहना चाहिए, परन्तु दैनिक ऋतु मानचित्र को देखने से स्पष्ट होता है कि ये कभी भी स्थायी नहीं होते। इनमें अचानक तथा व्यापक स्थानान्तरण होता रहता है। इससे स्पष्ट है कि इन निम्न दाबों का सम्बन्ध उच्च तापमान से न होकर द० प० मानसून के साथ आने वाले अनेक चक्रवातों से है। अतः ग्रीष्म कालीन Lows, Heat Lows न होकर Cyclonic Lows होते हैं। (ii) मानसून हवाओं की वृष्टि प्रदान करने की सामर्थ्य भी सन्देहजनक बतायी गयी है। यद्यपि हिन्द तथा प्रशान्त महासागर के ऊपर से आने के कारण ये हवाएं आर्द्रता से पूर्ण होती हैं, परन्तु वर्षा मुख्य रू प से उन हवाओं से सम्बन्धित वायुमण्डलीय तूफानों/चक्रवात, संवहनीय धारा क्रम आदि, से होती है। (iii) यदि मानसून हवाएं तापजन्य (of thermal origin) होतीं तो वायुमण्डल के ऊपरी भाग पर उनके विपरीत हवाओं का क्रम होना चाहिए, जैसे कि व्यापारिक हवाओं वाले भाग में ऊपर प्रतिव्यापारिक (anti trade) हवाएं होती हैं।

उपर्युक्त आधारों पर फ्लॉन नामक विद्वान ने मानसून की तापीय उतपत्ति का खण्डन करके **गतिक उत्पत्ति** (dynamic origin) की नवीन संकल्पना का प्रतिपादन किया है। उन्होंने बताया कि मानसून हवाओं की उत्पत्ति मात्र वायुदाब तथा हवाओं की पेटियों के खिसकाव के कारण होती है। भूमध्यरेखा के पास व्यापारिक पवनों के मिलने से अभिसरण (convergence-C) का आर्विभाव होता है। इसे **इण्टर ट्रापिकल कन्वर्जेन्स** (Inter-Tropical Convergence, ITC) कहते हैं। उत्तरी सीमा को NITC तथा दक्षिणी सीमा को SITC कहते हैं। इस ITC के मध्य डोलड्रम की मेखला होती है जिसमें **विषुवतरेखीय पछवा हवायें** चलती हैं। सूर्य की उत्तरायण स्थिति के समय NITC खिसककर 30° उत्तरी अक्षांश तक विस्तृत हो जाती है जिसके अन्तर्गत द० पू० एशिया आ जाता है। इन भागों पर डोलड्रम की विषुवत रेखीय पछुवा हवाएं स्थापित हो जाती हैं, जो कि गर्मी की द० प० मानसून हवाएं होती हैं। इस NITC के साथ अनेक वायुमण्डलीय तूफानों (चक्रवात आदि) का आर्विभाव हो जाता है जो कि द० प० मानसून की विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं। इसी तरह जाड़े की मानसून द० गो० में स्थित निम्न दाब के कारण उत्पन्न नहीं होती है। वास्तव में

वायु की मेखलाओं के दक्षिण की ओर खिसकने से उ० पू० व्यापारिक हवाओं की पुनर्व्यवस्था हो जाती है। सूर्य के दक्षिणायन होने पर द० पू० एशिया से NITC हट जाती है तथा उस उ० पू० व्यापारिक हवाओं का स्वाभाविक विस्तार हो जाता है। ये ही जाड़े की मानसून हवाएं होती हैं।

3. भारतीय मानसून की उत्पत्ति के अभिनव मत

1950 के बाद भारतीय मानसून की उत्पत्ति से सम्बन्धित किए गये शोध कार्यों के फलस्वरूप यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि भारतीय मानसून की उत्पत्ति तथा क्रियाविधि (mechanism) का सम्बन्ध निम्न तथ्यों से है :

(i) हिमालय तथा तिब्बत पठार की स्थिति की एक यांत्रिक अवरोध (mechanical barrier) के रूप में या उच्च तलीय ऊष्मा के स्रोत (high-level-heat source) के रूप में भूमिका।

(ii) परिध्रुवीय भंवर (circum-polar whirls) उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों के ऊपर उच्चतलीय अर्थात् परिवर्तन (क्षोभ) मण्डल में वायु राशि के चक्राकार संचार का निर्माण।

(iii) उच्च तलीय (परिवर्तन (क्षोभ) मण्डल में) जेट स्ट्रीम का संचार तथा उसकी स्थिति।

1950 ई० के पूर्व भारतीय एवं एशियाई मानसून की उत्पत्ति तथा क्रियाविधि का सम्बन्ध मात्र धरातलीय पवन संचार तथा तापजन्य उच्च एवं निम्न दाब से जोड़ा जाता रहा है परन्तु परिवर्तन (क्षोभ) मण्डल (troposphere) के मध्य तथा ऊपरी भाग में पवन संचार के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि मानसून एक जटिल पवन संचार तंत्र है। ध्रुवों के ऊपर आर्कटिक वृत में धरातल पर वायु के ऊपर से नीचे उतरने तथा बैठने के कारण उच्च वायुदाब बनता है जबकि ऊपर यानी परिवर्तन मण्डल में इस धरातलीय उच्च वायुदाब के ऊपर उच्च तलीय निम्न वायुदाब बनता है। इस प्रकार ध्रुवों के ऊपर उच्चतलीय **परिध्रुवीय भंवर** (circum-polar whirt) का निर्माण होता है जिस कारण चक्रवातीय क्रम में हवाएं चक्राकार रूप में प्रवाहित होती हैं। ज्ञातव्य है कि उत्तरी गोलार्द्ध के शीतकालीन मौसम में दीर्घ जाड़े की रात के कारण ऊपर स्थित वायु अत्यधिक ठंडी होकर भारी हो जाती है तथा आर्कटिक क्षेत्र में नीचे बैठती है जिस कारण धरातल पर उच्च दाब बन जाता है जब कि ऊपर से नीचे वायु के सरकने के कारण वायुमण्डल के ऊपरी भाग में (परिवर्तन (क्षोभ) मण्डल में) धरातलीय उच्च दाब के ऊपर निम्न दाब (क्योंकि ऊपर की वायु नीचे बैठ जाती है) बन जाता है। इस उच्च तलीय निम्न दाब के चारों ओर हवा चक्रवातीय क्रम में भंवर के रूप में प्रवाहित होती है। एशिया के ऊपर इसकी दशा सामान्य रूप में प० से पू० होती है। इस उच्च तलीय पवन संचार के भूमध्यरेखा की ओर वाले भाग को जेट स्ट्रीम कहते हैं।

इस जेट स्ट्रीम का संचार मियाण्डर (मोड़) बनाते हुए होता है। शरद काल में आर्कटिक उच्च तलीय भंवर (उत्तरी गोलार्द्ध)

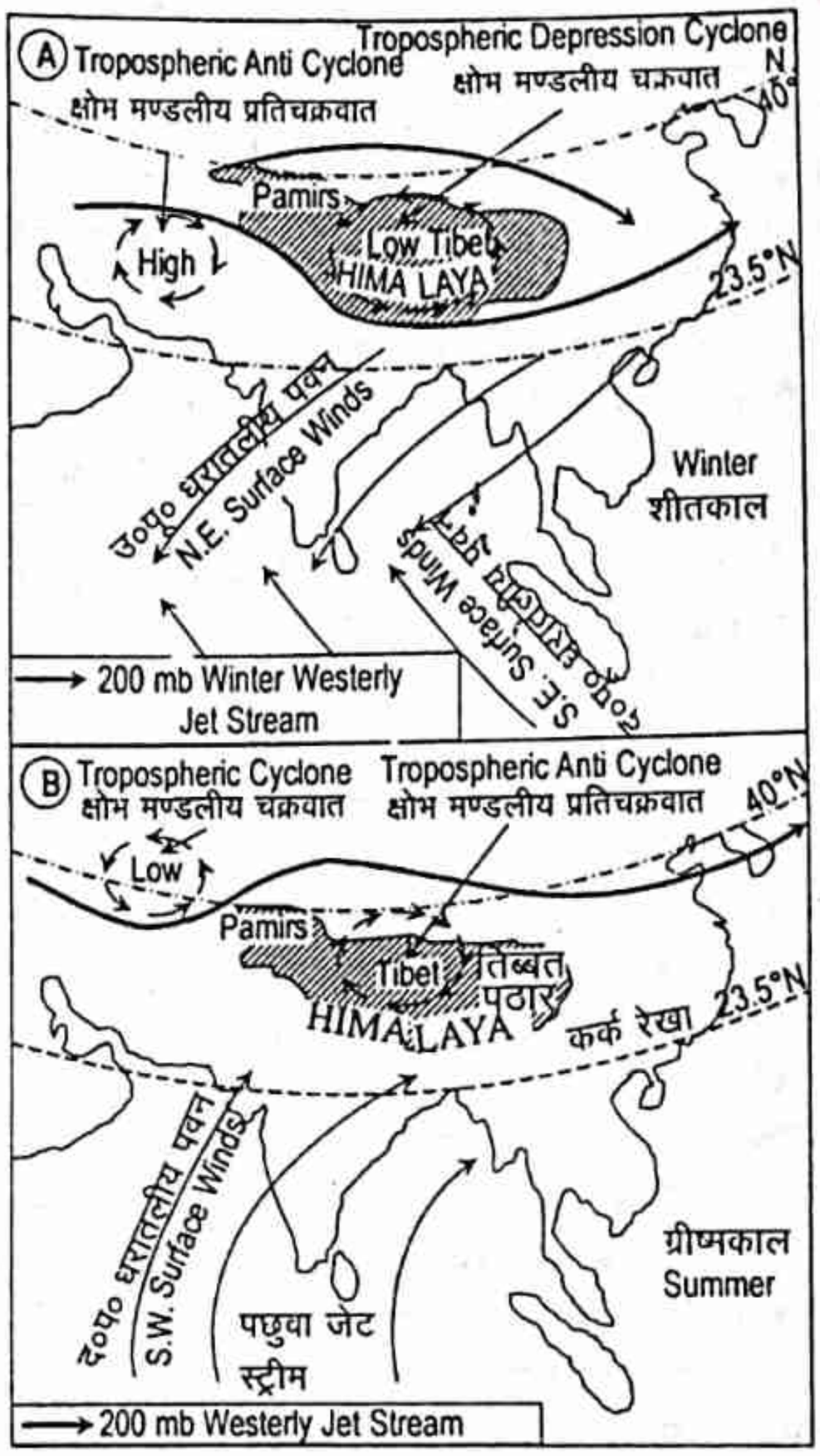

चित्र 35.14 : भारतीय मानसून की उत्पत्ति, A-शरद कालीन स्थिति, B-ग्रीष्म कालीन स्थिति।

अत्यधिक प्रबल तथा सक्रिय हो जाता है जिस कारण उच्च तलीय पछुवा जेट स्ट्रीम की स्थिति 20°–35° उत्तरी अक्षांश के मध्य हो जाती है। इस परिध्रुवीय भंवर के अधिक दक्षिण तक प्रसार के कारण **अन्तरा उष्ण कटिबंधीय अभिसरण** (Inter-Tropical Convergence, ITC) अपनी सामान्य स्थिति से और दक्षिण चला जाता है। भारत के ऊपर धरातल पर उ० पू० व्यापारिक पवन का संचार होता है। (चित्र 35.14 A)।

उच्च तलीय पछुवा जेट स्ट्रीम की स्थिति दक्षिणी एशिया में सामान्य रूप से परिवर्तन (क्षोभ) मण्डल में लगभग 12 किमी० की ऊँचाई पर होती है। इसे यहाँ पर **उपोष्ण कटिबंधीय पछुवा जेट स्ट्रीम** कहते हैं (200 mb दाब पर), 60° उ० अक्षांश पर यह 9 से 10 किमी० ऊँचाई पर तथा ध्रुव पर और कम ऊँचाई पर होती है। उत्तरी गोलार्द्ध के शरद कालीन मौसम में इस उच्च तलीय पछुवा जेट स्ट्रीम का हिमालय तथा तिब्बत के

पठार के यांत्रिक अवरोध के कारण द्विशाखन (bifurcation) हो जाता है। उत्तरी शाखा तिब्बत पठार के उत्तर में चापाकार रूप में प० से पू० तथा मुख्य शाखा तिब्बत पठार तथा हिमालय के दक्षिण में प० से पूर्व प्रवाहित होती है (चित्र 35.14 A)। ज्ञातव्य है कि मुख्य शाखा (जेट स्ट्रीम की) अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान के ऊपर से होकर चक्रवातीय मार्ग का अनुसरण करती है अर्थात् उसके मार्ग में घड़ी की सूई के विपरीत मोड़ होता है जिस कारण उसके (जेट स्ट्रीम) मार्ग की दिशा की दाहिनी ओर प्रतिचक्रवातीय (गतिजन्य) पवन संचार होने लगता है (चित्र 35.14 A में High की स्थिति)। परिणामस्वरूप जेट स्ट्रीम के दक्षिण में अफगानिस्तान एवं पाकिस्तान के पश्चिमी भाग के ऊपर उच्च तलीय (वायु मण्डल में 10-12 किमी० की ऊँचाई पर) उच्च दाब बन जाता है तथा पवन संचार प्रति चक्रवातीय रूप में होने लगता है (चित्र 35.14 A) एवं हवा ऊपर से नीचे बैठने लगती है। इसके विपरीत हिमालय के दक्षिण में पछुवा जेट स्ट्रीम की मुख्य शाखा का मार्ग (पर्वतीय अवरोध के कारण) घड़ी की सूई के विपरीत दिशा में या चक्रवातीय वक्र के रूप में हो जाता है (चित्र 35.14 A) जिस कारण जेट स्ट्रीम के इस चक्रवातीय चापाकार मार्ग के उत्तर में अर्थात् उसके मार्ग की बायीं ओर तिबत पठार पर ऊपरी वायुमण्डल में (परिवर्तन मण्डल में) पवन का संचार घड़ी की सूई की विपरीत दिशा में होने लगता है। अर्थात् तिब्बत पठार पर उच्च तलीय चक्रवातीय दिशा (गति जन्य) (उच्च तलीय निम्न दाब, चित्र 35.14 A में प्रदर्शित Low) बन जाती है।

अब शरद कालीन तथा ग्रीष्म कालीन दशाओं का विवरण प्रस्तुत है। शरद काल में अर्थात् अक्टूबर से फरवरी के मध्य उत्तरी ध्रुवीय उच्च तलीय भंवर के दक्षिण की ओर विस्तार के कारण जेट स्ट्रीम का विस्तार 20° से 35° उ० अक्षांश तक हो जाता है। हिमालय तथा तिब्बत पठार के यांत्रिक अवरोध के कारण इस उच्च तलीय पछुवा जेट स्ट्रीम की दो शाखायें (चित्र 35.14 A)-तिब्बत पठार के उत्तर में तथा हिमालय के द० में हो जाती हैं। अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान के ऊपर वायुमण्डल में उच्च तलीय (परिवर्तन (क्षोभ) मण्डल में) उच्च दाब तथा प्रतिचक्रवातीय दशायें व्याप्त हो जाती हैं। परिणामस्वरूप उत्तरी भारत, खासकर उ० प० भाग में, हवा ऊपर से नीचे बैठने लगती है जिस कारण वायुमण्डलीय दशा में स्थिरता आ जाती है तथा शुष्क एवं साफ मौसम हो जाता है। परन्तु उच्च तलीय जेट स्ट्रीम के कारण मौसम में सामयिक परिवर्तन भी होते रहते हैं क्योंकि शीतोष्ण कटिबंधीय निम्न दाब (अर्थात् चक्रवातीय लहर) की स्थिति इस पछुवा जेट स्ट्रीम के नीचे रहती है तथा ये जेट स्ट्रीम के साथ ही उसके प्रभाव में उसके नीचे-नीचे प० से पूर्व दिशा में रूम सागर के ऊपर होते हुए उ० पश्चिमी पाकिस्तान एवं उ० प० भारत तक आते रहते हैं। ये तूफान वाताग्री चक्रवात (frontal cyclone) के रूप में न होकर लहर के रूप में होते हैं। इनकी स्थिति 200 मीटर की ऊँचाई (सागर तल से) पर होते हैं जिनके नीचे धरातल पर उ० पू० व्यापारिक पवन संचार होता है। इनके आगमन पर अल्पकालिक वृष्टि होती है तथा तापमान में अचानक गिरावट होती है। इनके चले जाने पर मौसम पुन: साफ हो जाता है। समान्य रूप से अक्टूबर से अप्रैल के मध्य 4 से 8 चक्रवातीय लहरें प्रति मास के हिसाब से आती हैं। इन चक्रवातीय लहरों तथा उनसे होने वाली अल्पकालिक हल्की वर्षा की पूर्वी सीमा पटना शहर तक रहती है।

सवाल उठता है कि इन शरदकालीन चक्रवातीय लहरों में नियमितता एवं सततीकरण (regularity and continuity) क्यों नहीं रहती है? हल आसान है। इसी समय इन क्षेत्रों के ऊपर उच्च तलीय उच्च दाब एवं प्रति चक्रवातीय दशा होती है (इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है) जहाँ से हवा नीचे बैठती है, परिणामस्वरूप उसके (उच्च तलीय उच्च दाब) नीचे (परन्तु धरातलीय व्यापारिक पवन के ऊपर) 200 मीटर की ऊँचाई पर स्थित चक्रवातीय लहर की वायु ऊपर नहीं उठ पाती है (क्योंकि उच्च तलीय उच्च दाब से नीचे बैठने वाली हवा उसे ऊपर उठने से रोकती है, साथ ही साथ इस चक्रवातीय लहर से नीचे धरातलीय ठंडी व्यापारिक हवा भी उसे ठंडा ही करती है)। परिणामस्वरूप इन शरदकालीन चक्रवातीय लहरों से होने वाली अधिकांश वर्षा पर्वतीय होती है (हिमालय के सहारे अवरोध के कारण हवा ऊपर उठती है, तमिलनाडु के तटीय भाग को छोड़कर)। कुल मिलाकर भारत शरद काल में शुष्क एवं सर्द रहता है।

अप्रैल से सूर्य की उत्तरायण स्थिति प्रारम्भ (21 मार्च के बाद से)हो जाती है जिस कारण ध्रुवीय धरातलीय उच्च वायुदाब कमजोर होने लगता है जिस कारण शरद काल में इसका 20°-35° उ० अक्षांश तक बढ़ा हुआ भाग उत्तर की ओर खिसकने लगता है। उच्च तलीय ध्रुवीय भंवर के उत्तर की ओर खिसकाव के कारण उच्च तलीय पछुवा जेट स्ट्रीम भी उत्तर की ओर खिसकाव के कारण उच्च तलीय पछुवा जेट स्ट्रीम भी उत्तर की ओर खिसकने लगती है। इस तरह शीत (ध्रुवीय भंवर) की गतिक शक्ति में शिथिलता आने लगती है जिस कारण वह (ध्रुवीय भंवर या ध्रुवीय शीत वायु राशि) पछुवा जेट स्ट्रीम की दक्षिणी शाखा (हिमालय के दक्षिण में, चित्र 35.14 A)को कायम नहीं रख पाती है। अत: पछुवा जेट स्ट्रीम और उत्तर (हिमालय तथा तिब्बत पठार के उत्तर) खिसक जाती है। (चित्र 35.14 B)भारत से जेट स्ट्रीम का पूर्ण लोप मध्य जून या उसके बाद सम्भव हो पाता है। मार्च तथा मध्य जून तक का मौसम जेट स्ट्रीम के उत्तर की ओर खिसकाव तथा धरातलीय तापीय दशा द्वारा प्रभावित होता है।

अप्रैल-मई में उ० प० पाकिस्तान तथा उ० प० भारत पर सूर्यातप से धरातल के गर्म होने के कारण धरातल पर तापीय निम्न दाब बन जाता है परन्तु जब तक इस धरातलीय निम्न दाब के ऊपर जेट स्ट्रीम का स्थिति बनी रहती है (अर्थात् जब तक जेट स्ट्रीम हिमालय के दक्षिण में बनी रहती है) तब तक वह अफगानिस्तान, उ० प० पाकिस्तान तथा उ० प० भारत पर

गतिक चक्रवात को कायम रखती है। इस उच्च तलीय उच्च दाब से नीचे बैठने वाली हवा धरातलीय तापीय निम्न दाब से वायु के ऊपर उठने को रोकती है, जिस कारण मौसम गर्म तथा शुष्क बना रहता है। यही कारण है कि अप्रैल-मई में उच्च तापमान तथा वाष्पीकरण के बावजूद वर्षा नहीं हो पाती है। ज्ञातव्य है कि मई मास में जब कि उ० प० भारत शुष्क रहता है, बर्मा में मानसून का आगमन हो जाता है। यहाँ पर हिमालय की पूर्वी सीमा के पूर्व में उच्च तलीय पछुवा जेट स्ट्रीम के कारण उच्च तलीय निम्न दाब का निर्माण होता है जिस कारण बर्मा (मयमार) के दक्षिण से आने वाली हवा ऊपर उठा दी जाती है और तीव्र वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। इसका प्रभाव बंगलादेश एवं भारत के सीमावर्ती भाग पर भी पड़ता है जिस कारण मानसून पूर्व वर्षा होती है। इस तरह मई में उ० पू० एवं पूर्वी भारत आर्द्र हो जाता है तथा उ० प० भारत शुष्क एवं गर्म रहता है।

जून के प्रथम सप्ताह तक भारत के ऊपर से पछुवा जेट स्ट्रीम (शरदकालीन जेट स्ट्रीम की दक्षिणी शाखा) उत्तर खिसक जाने के कारण समाप्त हो जाती है (चित्र 35.14 B)(इस खिसकाव का कारण पहले ही व्यक्त किया गया है)। अब जेट स्ट्रीम की स्थिति तिब्बत पठार के और उत्तर में हो जाती है तथा इसके प्रवाह मार्ग का वक्र (curvatrue of flow) शरद कालीन मार्ग (चित्र 35.14 A)के विपरीत (35.14 B) हो जाता है। ईरान के उत्तरी भाग एवं अफगानिस्तान के ऊपर इस उच्च तलीय जेट स्ट्रीम का प्रवाह मार्ग चक्रवातीय वक्र (घड़ी की सूई के विपरीत दिशा में) के रूप में होता है जिस कारण वायु के ऊपरी भाग (परिवर्तन मण्डल) में गतिक निम्न दाब (चित्र 35.14 B में Low द्वारा प्रदर्शित) तथा चक्रवातीय दशा बन जाती है (ज्ञातव्य है कि इसी स्थान पर शरद काल में उच्च दाब एवं प्रतिचक्रवातीय दशा थी)। इस उच्च तलीय निम्न दाब की स्थिति भारत पाकिस्तान (उ० प० भाग) तक हो जाती है जिसके निचले धरातल पर पहले ही तापीय निम्न दाब बन चुका होता है। इस स्थिति के कारण नीचे से हवा ऊपर तो उठती ही है, धरातलीय निम्न दाब के ऊपर स्थित उच्च तलीय निम्न दाब नीचे से ऊपर उठने वाली हवा को और अधिक ऊपर खींचता है जिस कारण द० प० मानसून का अचानक प्रस्फोट (burst) हो जाता है। स्मरणीय है कि उत्तरी गोलार्द्ध के ग्रीष्मकालीन स्थिति की तुलना में द० गोलार्द्ध में विपरीत स्थिति होती है (जहाँ पर शरदकाल होता है)। द० ध्रुवीय भंवर (polar whirl) अधिक विस्तृत हो जाता है जिसका विस्तार भूमध्यरेखा के करीब तक हो जाता है, परिणामस्वरूप अन्तरा उष्ण कटिबंधीय अभिसरण (inter-tropical convergence) भूमध्यरेखा के उत्तर धकेल दिया जाता है। द० ध्रुवीय भंवर के इस प्रत्याकर्षण कारक (push factor धकेलने का प्रभाव) के कारण द० पू० व्यापारिक वायु भूमध्यरेखा को पार करने पर विक्षेप बल (defflective force) यानी कोरिआलिस बल के कारण द० प० दिशा वाली होकर तेजी से भारत के ऊपर झपटती है। स्मरणीय है कि अन्तरा उष्ण कटिबंधीय अभिसरण का तीव्र गति से उत्तर की ओर बढ़ना दक्षिण से परिध्रुवीय भंवर (circumpolar whirl) के द्वारा धकेलने के कारण ही सम्भव होता है न कि उ० प० भारत के धरातलीय तापजन्य निम्न दाब के द्वारा चूषण (suction) या खींचने (sucking) के कारण होता है। हाँ इतना अवश्य सम्भव है कि इस निम्न दाब के कारण अन्तरा उष्ण कटिबंधीय अभिसरण (ITC)के उत्तर की ओर बढ़ने की गति कुछ और तेज हो जाती है। अन्तरा उष्ण कटिबंधीय अभिसरण में वाताग्री चक्रवात न होकर गतिजन्य लहरें होती हैं तो भारत के ऊपर आने पर **चक्रवातीय भंवर** (cyclonic vortices) के रूप में विकसित हो जाती हैं। भारत की ग्रीष्मकालीन मानसूनी वर्षा इन्हीं चक्रवातीय भंवरों के विकास चक्र के कारण होती है। अर्थात् जब ये विकसित होते हैं तो तीव्र वर्षा होती है और जब इनका अवसान हो जाता है तो शुष्क मौसम हो जाता है और यह तब तक जारी रहता है जब तक नया चक्रवातीय भंवर विकसित न हो जाय।

भारत में मानसूनी वर्षा की मात्रा में अत्यधिक स्थानिक तथा कालिक परिवर्तन (spatial and temporal variation) होते हैं। इन परिवर्तनों के कारणों में उच्चावच्च का प्रभाव सर्वाधिक होता है। यथा-द० प० मानसून की अरब सागरीय शाखा पश्चिमी घाट के अवरोध के कारण अचानक ऊपर उठती है तथा पश्चिमी घाट के शिखर के सहारे वृष्टि करती है। पश्चिमी घाट के पूर्व में हवा नीचे उतरती है, जिस कारण हवा गर्म होती है तथा कम वर्षा होती है तथा यह भाग **वृष्टि छाया प्रदेश** (rain shadow region) में आता है। बंगाल की खाड़ी की शाखा को हिमालय दो रूपों में प्रभावित करता है-(i) पर्वतीय अवरोध के कारण वायु ऊपर उठती है तथा पर्याप्त वृष्टि प्रदान करती है। (ii) पर्वतीय अवरोध के कारण वायु उसके सहारे प० दिशा की ओर प्रवाहित होने लगती है (channeling effect) जिस कारण मानसून हवा गंगा घाटी में पश्चिम तक पहुँच जाती है तथा उ० प० भाग तक वृष्टि प्रदान करती है। भारत के उ० प० भाग (थार रेगिस्तान) तथा पाकिस्तान के समीपी भाग में धरातल पर सबल तापीय निम्न दाब के बावजूद न्यूनतम वर्षा होती है। सामान्य रूप में इसका कारण अरावली पहाड़ियों की अरब सागरी शाखा की मानसून हवाओं के समानान्तर (अंत: पर्वतीय अवरोध का अभाव) स्थिति को बताया जाता रहा है परन्तु इसका प्रमुख कारण यह है कि मानसून प्रवाह की मोटाई यहाँ पर धरातलीय तापीय निम्न दाब के ऊपर उच्च तलीय गतिजन्य प्रतिचक्रवातीय दशा पर आधारित होती है (सहारा के ऊपर उच्च दाब होता है जिसका प्रसार इरान अफगानिस्तान तक हो जाता है) जिस कारण हवा का तेजी से ऊपर उठना सम्भव नहीं हो पाता है। जब कभी यह उच्च तलीय उच्च दाब पश्चिम की ओर खिसक जाता है तो मानसून हवा तेजी से ऊपर उठती है और घनघोर वर्षा हो जाती है।

दक्षिणी तथा पूर्वी एशिया के मानसून में अन्तर

महाद्वीप की विशालता के कारण मानसून हवाओं में अन्तर आना स्वाभाविक ही है–(i) स्थिति के दृष्टिकोण से दक्षिणा एशिया की मानसून कर्क रेखीय उष्ण कटिबंधीय प्रदेश में स्थित है, जबकि पूर्वी एशिया की मानसून (चीन तथा जापान) मध्य अक्षांशों में पायी जाती है। इन दोनों मानसून क्षेत्रों का विभाजन हिमालय पर्वत से होता है। (ii) पूर्वी एशिया में जाड़े की मानसून अधिक प्रबल तथा स्थायी होती है, जबकि इसके विपरीत द० एशिया में गर्मी की मानसून अधिक शक्तिशाली तथा स्थायी होती है। (iii) पूर्वी एशिया में जाड़े की मानसून हवाएं अत्यधिक प्रचण्ड होती हैं तथा तीव्र गति से चलती हैं जबकि दक्षिण एशिया में जाड़े की हवाएं प्राय: शान्त होती हैं। गर्मी की मानसून प्रचण्ड होती है। (iv)पूर्वी एशिया में जाड़े की मानसून हवाएं ध्रुवीय भागों से आने के कारण प्रभावित भागों में हिमपात भी करती हैं, परन्तु द० एशिया में ऐसा नहीं होता है, क्योंकि हिमालय के कारण ध्रुवीय हवाएं नहीं आ पाती हैं।

35.9 स्थलीय तथा सागरीय समीर

(Land and Sea Breezes)

स्थलीय तथा सागरीय समीर मुख्य रूप से छोटे पैमाने पर मानसून हवाएं ही होती हैं, जिनकी दिशा में 24 घण्टे के अंदर दो बार परिवर्तन हो जाते हैं। जलीय समीर दिन में सागर से स्थल की ओर तथा स्थलीय समीर रात्रि में स्थल से जल की ओर चला करती हैं। इनका महत्व स्थानीय ही होता है परन्तु स्थान विशेष के मौसम तथा जलवायु पर इनका पर्याप्त प्रभाव होता है। स्थलीय तथा जलीय समीर के संचरण का एकमात्र कारण स्थल तथा जल का गर्म तथा ठंडा होने पर परस्पर विरोधी स्वभाव का होना है।

(i) सागरीय समीर : दिन के समय स्थलीय भाग जल की अपेक्षा शीघ्र गर्म हो जाता है, जिस कारण सागरवर्ती तटीय भाग पर निम्न दाब तथा सागरीय भाग पर उच्च दाब स्थापित हो जाते हैं, जिस कारण सागर से स्थल की ओर हवाएं चलने लगती हैं (चित्र 35.15)। इन हवाओं का संचार सुबह 10–11 बजे प्रारम्भ होता है तथा 1 बजे से 2 बजे के बीच सर्वाधिक सक्रिय हो जाता है तथा रात्रि में 8 बजे तक समाप्त हो जाता है और क्षीण स्थलीय हवाएं वायुमण्डल में बहुत कम ऊँचाई तक प्रवाहित होती हैं, परन्तु इनकी ऊँचाई भी विभिन्न प्रकार के जलवायु प्रदेशों तथा स्थानीय दशाओं के कारण बदलती रहती है। विस्तृत झीलों के पास सागरीय समीर की ऊँचाई 200 मीटर से 500 मीटर तथा उष्ण एवं उपोष्ण कटिबंधों में सागर तटीय भागों में 1000 से 2000 मीटर तक हो जाती है। उष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में सागरीय हवाओं का प्रभाव अधिक होता है तथा स्थल के भीतर वे 50 से 65 किमी० (अधिकतम 100 किमी०) तक प्रविष्ट हो जाती हैं, जबकि मध्य अक्षांशों में 15–50 किमी० तक ही प्रवेश कर पाती हैं। विभिन्न अक्षांशों पर इन हवाओं की प्रवाह गति में भी पर्याप्त अन्तर होता है। मध्य अक्षांशों में 12–20 किमी० प्रति घंटे की चाल से चलती हैं, परन्तु निम्न अक्षांशों में ये तूफान का भी रूप धारण कर लेती हैं। निम्न अक्षांशों में जिन गर्म तटीय स्थलीय भागों में समानान्तर ठंडी जलधारायें चलती हैं, वहाँ पर इन हवाओं की गति अधिक तीव्र हो जाती है। उष्ण कटिबंधीय भाग में इन हवाओं का तटीय भाग के तापमान में पर्याप्त प्रभाव होता है। इन हवाओं के आगमन के साथ ही 15–30 मिनट के अन्दर 15^0–20^0 फा० तापक्रम गिर जाता है जिस कारण मौसम सुहावना तथा स्वास्थ्यप्रद हो जाता है। सागर से आने के कारण नमी युक्त होने से सागरीय हवाएं वर्ष भर चला करती हैं, क्योंकि निम्न अक्षांशों में शान्त प्रचलित हवाओं से सागरीय समीर के प्रवाह में कम रुकावट होती है, जबकि मध्य तथा उच्च अक्षांशों में प्रचण्ड वायुमण्डलीय तूफानों के कारण इनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। सागरीय समीर का संचार केवल गर्मियों में दिन के ही समय हो पाता है।

(ii) स्थलीय समीर : सूर्यास्त के बाद ही जलीय समीर समाप्त होने लगती है, क्योंकि स्थलीय भाग से जल की अपेक्षा तीव्र विकिरण होने से ऊष्मा का ह्रास अधिक होने से स्थलीय भाग शीघ्र ठंडे हो जाते हैं, जिससे स्थलीय भाग पर उच्च दाब तथा सागरों पर निम्न दाब बन जाता है। परिणामस्वरूप स्थल से जल की ओर हवाएं चलने लगती हैं। जलीय समीर की अपेक्षा स्थलीय समीर क्षीण होती हैं। ये हवाएं शुष्क होती हैं। इन हवाओं के कारण तटीय भागों की जलवायु पर समकारी प्रभाव होता है। यही कारण है कि कोलकाता तथा मुम्बई आदि नगरों पर सागर समकारी प्रभाव के कारण न तो जाड़ा अधिक तीव्र हो पाता है, और न ही गर्मियाँ अत्यधिक उष्ण। वास्तव में स्थलीय तथा जलीय हवाएं एक पूर्ण संवहन क्रम होती हैं। निम्न अक्षांशों में नाविक मछली के शिकार के लिए प्रात: काल स्थलीय समीर के साथ नावों को लेकर सागर की ओर चले जाते हैं तथा सायंकाल जलीय समीर की सहायता से तट पर आ जाते हैं।

35.10 पर्वत तथा घाटी समीर

Mountain and Valley Breezes)

पर्वत तथा घाटी समीर भी सामयिक हवाएं हैं, साथ ही साथ स्थानीय भी। इन्हें 'दैनिक समीर' भी कहा जा सकता है, क्योंकि 24 घण्टे के अन्दर इनकी दिशा में दो बार पूर्ण परिवर्तन होता है। दिन के समय पर्वतीय घाटियों के निचले भाग में अधिक तापमान के कारण हवाएं गर्म होकर ऊपर उठती हैं तथा पर्वतीय ढालों के सहारे ऊपर उठती हैं। इन्हें **घाटी समीर** (valley breeze) या **अनाबेटिक पवन** कहते हैं (चित्र 35.16)। ये हवाएं पर्वत की चोटी तक पहुँच जाती हैं तथा वहाँ पर वर्षा प्रदान करती हैं। रात्रि के समय पर्वतीय ढालों तथा ऊपरी भागों पर विकिरण द्वारा ताप ह्रास अधिक होता है, जिस कारण हवाएं ठंडी हो जाती हैं। ये ठंडी तथा भारी हवाएं ढालों के सहारे घाटियों में नीचे उतरती हैं। इन्हें **पर्वतीय समीर** या

कटाबेटिक पवन कहते हैं। इन हवाओं के कारण तापमान का प्रतिलोमन भी होता है, जिस कारण रात्रि में घाटियों में पाला या तुषार (frost) पड़ता है, जबकि ऊपरी भाग पालामुक्त रहते हैं। इन हवाओं का व्यवस्थित अध्ययन आल्प्स की घाटियों में किया गया है। उपरिमुखी या घाटी समीर दिन में 9-10 बजे प्रारंभ होती है तथा सूर्यास्त के बाद पर्वतीय समीर प्रारम्भ हो जाती है।

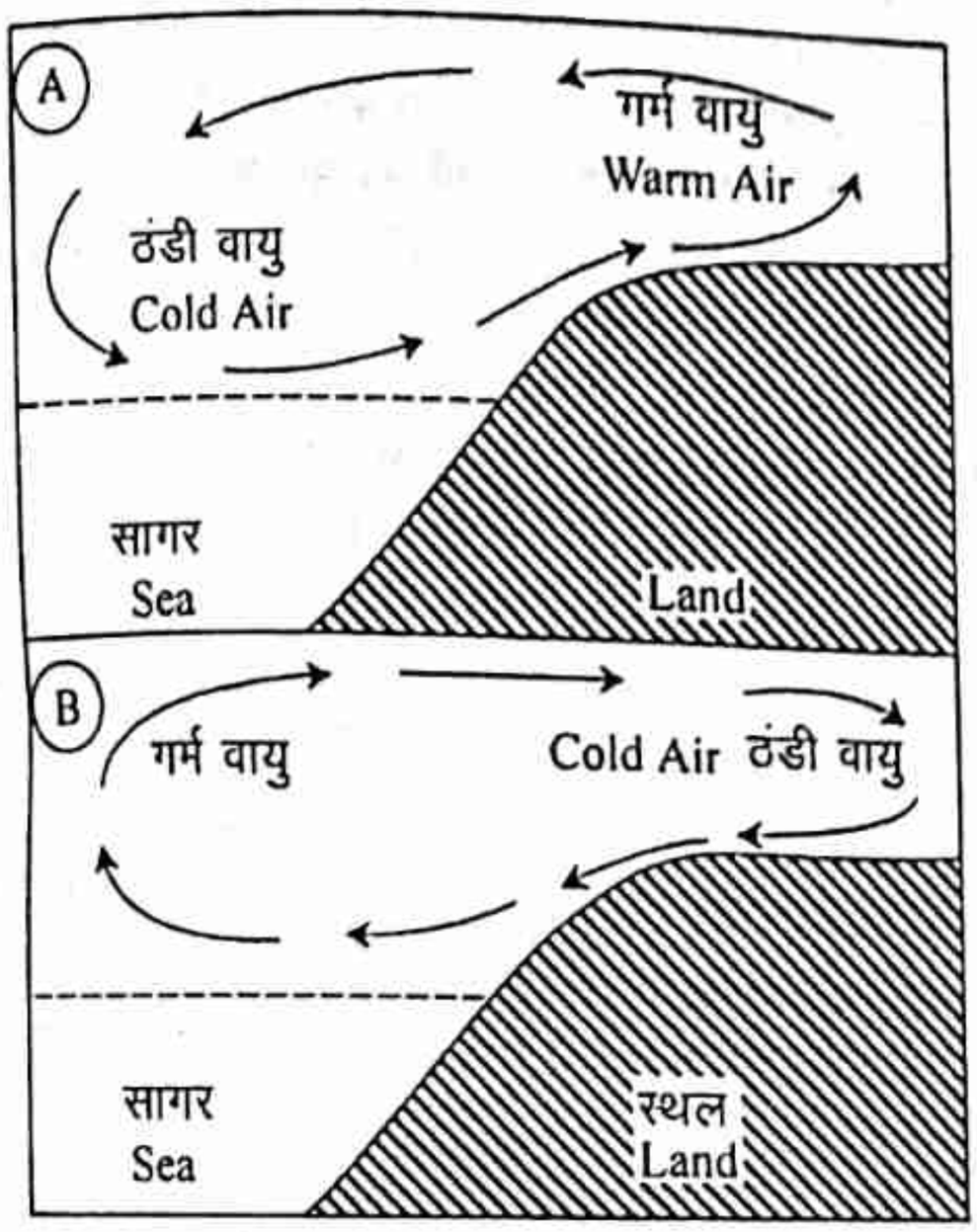

चित्र 35.15 : (A) जलीय समीर, (B) स्थलीय समीर।

35.11 स्थानीय हवाएं (Local Winds)

किसी स्थान विशेष में प्रचलित हवाओं के विपरीत (स्वभाव में) चलने वाली विशेष प्रकार की हवाओं को 'स्थानीय हवाएं' कहा जाता है। इनका सम्बन्ध स्थान विशेष की धरातलीय बनावट से अधिक होता है तथा इनमें ऐसे गुण होते हैं कि उनको प्रचलित पवन से शीघ्र अलग कर लिया जाता है। ये हवाएं गर्म, ठंडी, बर्फ से भरी धूल, रेत युक्त आदि कई प्रकार की हो सकती हैं। इनसे प्रभावित क्षेत्रों में लाभकारी तथा हानिकारी कोई भी प्रभाव पड़ सकता है। मुख्य स्थानीय हवाएं हैं-चिनूक, फॉन, सिरॉको, हरमट्टन, खमसिन, मिस्ट्रल, ब्लिजर्ड, बोरा, ब्रिक फिल्डर, विली विली आदि।

1. चिनूक तथा फॉन (Chinook and Foehn)

पर्वतीय ढालों के सहारे चलने वाली गर्म तथा शुष्क स्थानीय हवाओं को संयुक्त राज्य अमेरिका में 'चिनूक' तथा यूरोप में 'फॉन' कहते है। यह चक्रवात जन्य (of cyclonic origin) हवा, स्थानीय ऊर्ध्वाधर (vertical) हवा होती है, जिसका प्रभावित क्षेत्रों की जलवायु पर असीमित प्रभाव होता है। चक्रवातों के साथ हवा पर्वत को पार करके जब दूसरे ढाल पर उतरती है तो गर्म एवं शुष्क चिनूक का आविर्भाव होता है। राकी पर्वत के पूर्वी ढाल के समान्तर, 'बृहत् मैदान' (Great Plains) में चक्रवातीय निम्न दाब का आविर्भाव हो जाता है। परिणामस्वरूप रॉकी के पश्चिमी ढाल के सहारे हवा ऊपर उठने लगती है, जिस कारण वायु शुष्क एडियाबेटिक प्रक्रिया (dry adiabatic process) से ठंडी होने लगती है, जिससे प्रति 1000 मीटर पर 10°C तापमान गिर जाता है। अधिक ऊँचाई पर जाने के कारण वायु सम्पृक्त हो जाती है तथा संघनन (condensation) के बाद वृष्टि हो जाती है। इस अवस्था में हवा में संघनन की गुप्त ऊष्मा (latent heat of condensation) मिल जाती है तथा हवा पुनः हलकी होकर ऊपर

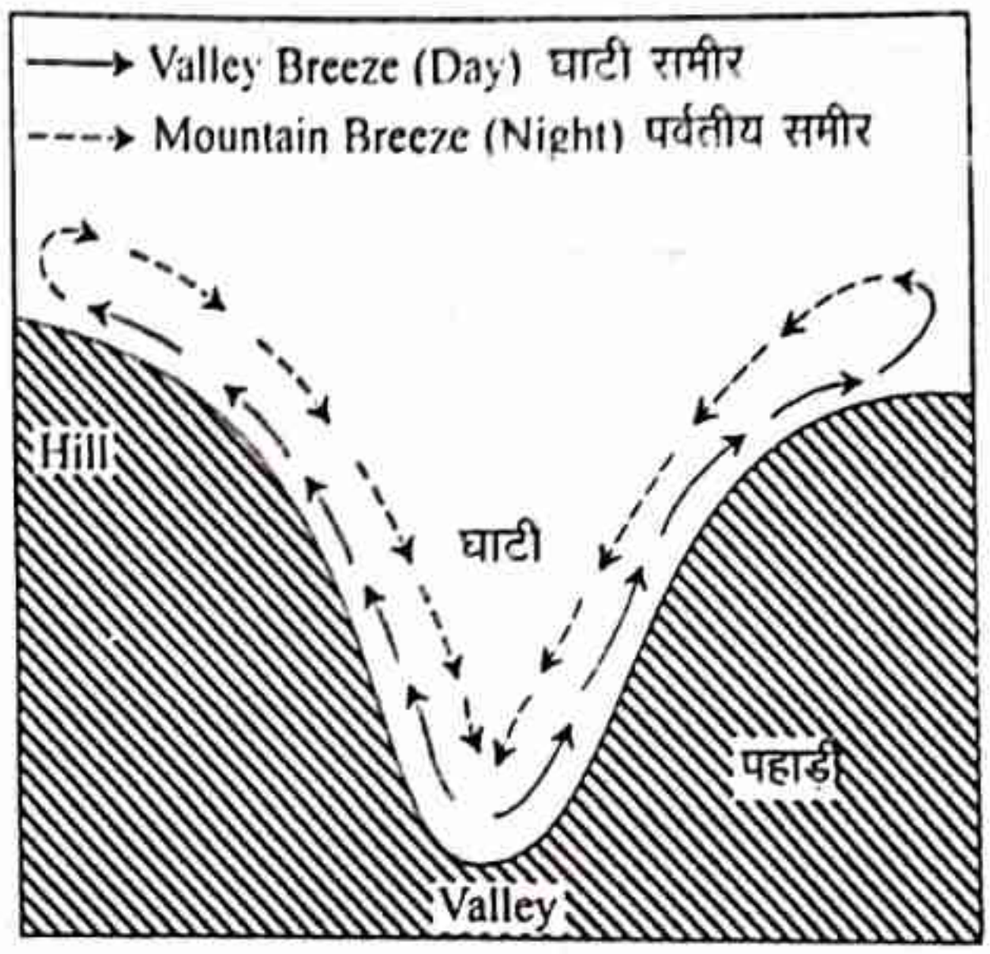

चित्र 35.16 : पर्वत तथा घाटी समीर।

उठती है, परन्तु वायु के ठंडी होने की दर प्रति 1000 मीटर पर 5°C होती है। इसे आर्द्र एडियाबेटिक प्रक्रिया (आर्द्र रुद्धोष्म विधि) कहते हैं। अब पवन राकी पर्वत को पार कर लेती है तथा पूर्वी ढाल के सहारे नीचे उतरने लगती है। नीचे उतरती हवा सम्पीडन के कारण गर्म होने लगती है। प्रति 1000 मीटर पर 10°C तापमान बढ़ जाता है तथा हवा बिल्कुल शुष्क तथा गर्म हो जाती है। जब यह गर्म तथा शुष्क हवा राकी पर्वत के पूर्वी ढाल के आधार पर पहुंचती है तो 'चिनूक' नाम से सम्बोधित होती है।

चिनूक मुख्य रूप से शीतकाल में प्रवाहित होती है। यह हवा राकी के पूर्व में उसके सहारे दक्षिण में कोलोरैडो के दक्षिणी भाग से उत्तर में कनाडा के ब्रिटिश कोलम्बिया प्रान्त तक प्रवाहित होती है। यद्यपि इस हवा का औसत तापमान 40° फा० (4.4°C) ही होता है, लेकिन शीतकाल में प्रभावित क्षेत्रों में प्रतिचक्रवातीय दशाओं के कारण तापमान के हिमांक के नीचे गिर जाने के कारण चिनूक हवाएं अत्यधिक गर्म लगती

हैं। इनके आगमन पर 24 घण्टे के अन्दर तापमान में 40^0 फा (4.4^0C) की वृद्धि कोई अद्‌भुत बात नहीं होती है। कभी-कभी तो चंद मिनटों में 34^0 फा० (1.1^0C) तक तापमान बढ़ जाता है। कभी-कभी तो चिनूक के आगमन पर 24 घण्टे के अन्दर तापमान में 20^0-22^0C तक तापमान में वृद्धि हो जाती है जिस कारण असामान्य मौसम का आविर्भाव हो जाता है। कनाडा के मोण्टाना प्रान्त के **किप** में 7 मिनट के अन्दर तापमान में 19^0C की वृद्धि हो गयी थी। इसी तरह संयुक्त राज्य अमेरिका के कोलोरैडो प्रान्त के डेनवर में 27 जनवरी, 1940 को दो घण्टे के अन्दर 14^0C तक वृद्धि हो गयी थी। इन हवाओं को **स्नो ईटर** (snow eater) कहा जाता है। इस तरह तापमान में अचानक वृद्धि के कारण धरातल पर बर्फ इस तरह अचानक पिघल जाती है कि लगता है कि जादू का असर हो। यही कारण है कि राकी पर्वत के पूर्व में उ० से द० एक संकरी पट्टी में हिमचादर के पिघल जाने के कारण शीतकाल में भी हरी-भरी घासें उग आती हैं तथा चरागाह वर्ष भर खुले रहते हैं। वसंत काल में इनके आगमन से गेहूं की बुआई शीघ्र प्रारम्भ हो जाती है।

चिनूक के समान ही आल्प्स पर्वत के दक्षिणी ढाल से ऊपर चढ़ने वाली हवा उत्तरी ढाल के सहारे नीचे उतरती है तो गर्म तथा शुष्क हो जाती है और **फॉन** (foehn) कही जाती है। इसका सर्वाधिक प्रभाव स्विट्जरलैण्ड में होता है, जहां पर ये हवाएं बसन्त तथा पतझड़ ऋतुओं में अधिक चलती हैं। इनके आगमन से तापमान में 40^0 F. (4.4^0C) की वृद्धि के कारण बर्फ पिघल जाती है और घाटियों का मौसम सुहावना हो जाता है। इसी कारण स्विट्जरलैण्ड की घाटियों को शीतकाल में **जलवायु मरुद्यान** (climatic oasis) कहा जाता है। बसन्त में इनके आगमन से हिम के पिघल जाने पर कृषि का कार्य शीघ्र प्रारम्भ हो जाता है तथा पतझड़ में तुषार रुक जाता है और अंगूर की फसल शीघ्र पक जाती है।

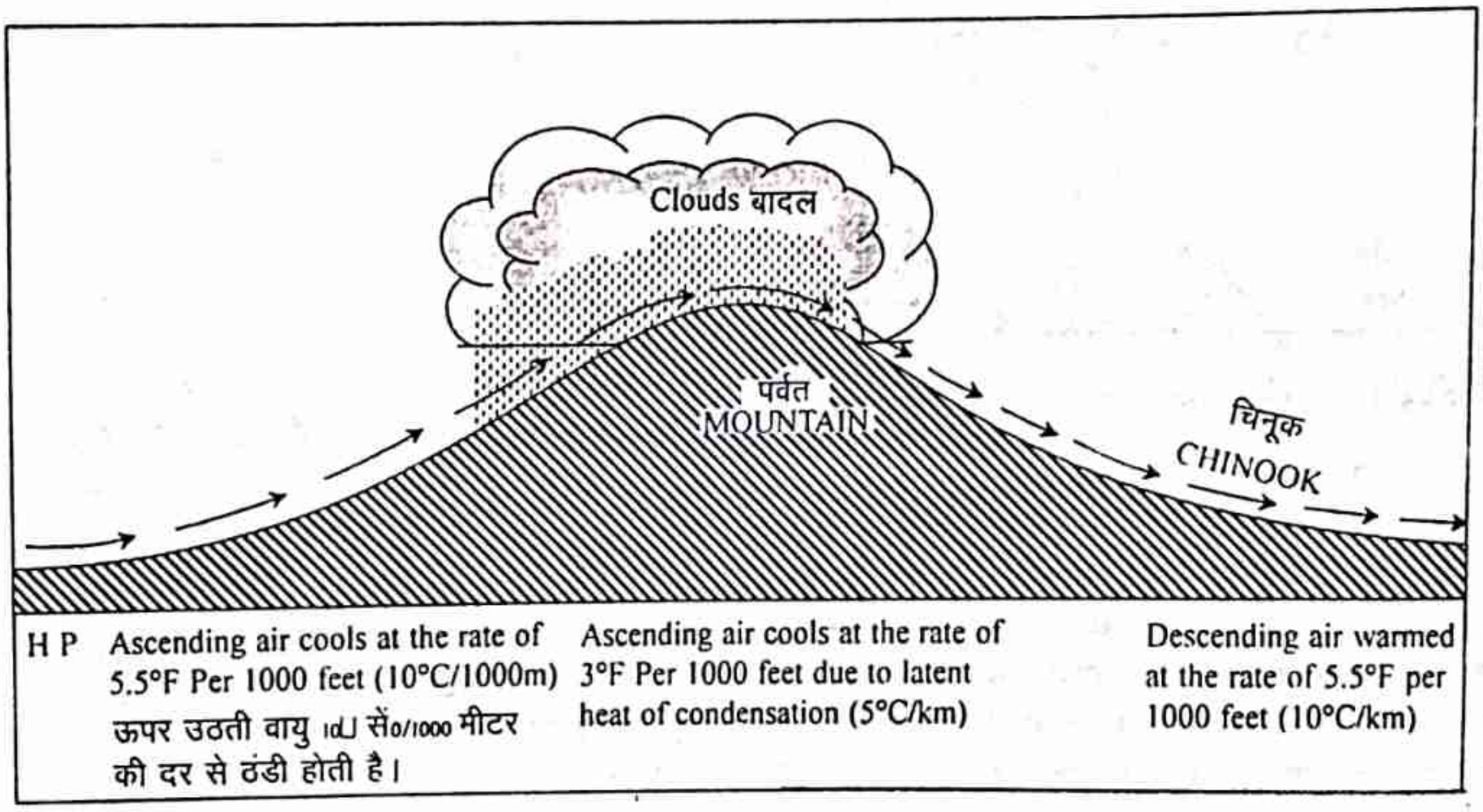

चित्र 35.17 : चिनूक हवाओं का आविर्भाव

2. सिरॉको (sirocco)

यह गर्म, शुष्क तथा रेत से भरी हवा होती है, जो कि सहारा के रेगिस्तान के उत्तर दिशा में भूमध्य सागर की ओर चलकर इटली, स्पेन आदि में प्रविष्ट होती है। जिस समय रूम सागर पर चक्रवातों का आविर्भाव होता है, उस समय सिरॉको अधिक सबल होती है। एटलस पर्वत के उत्तरी ढाल के सहारे नीचे उतरने पर इसकी शुष्कता तथा तापमान बढ़ जाते हैं। अफ्रीका में इसके कई स्थानीय नाम हैं। मिस्र में **खमसिन**, लीबिया में **गिबली**, ट्यूनिशया में **चिली** आदि नामों से पुकारते हैं। अरब के रेगिस्तान में चलने वाली गर्म शुष्क हवा को **सिमूम** कहते हैं। सिरॉको हवा के साथ लाल रेत की मात्रा भी अधिक होती है। जब ये हवाएं रूम सागर से होकर गुजरती हैं तो नमी धारण कर लेती हैं और द० इटली में कभी-कभी वर्षा भी प्रदान करती हैं। जब लाल रेत नीचे बैठने लगती है तो लगता है कि **रक्त वृष्टि** (blood rain) हो रही है। इटली में इनका नाम सिरॉको है। ये हवाएं प्राय: हर मौसम में चलती हैं

परन्तु बसन्त काल में जबकि रूम सागर पर चक्रवात अधिक सक्रिय होते हैं, अधिक व्यवस्थित हो जाती हैं। इन हवाओं का वनस्पति, कृषि तथा फलों के बाग पर विनाशकारी प्रभाव होता है। स्पेन, इटली आदि में इनके आगमन से अंगूर तथा जैतून की फसलों को अपार क्षति होती है, क्योंकि इनके फूल झड़ जाते हैं। सिमूम अत्यन्त गर्म, शुष्क तथा तूफानी होती है तथा रेत की आंधियां लाती हैं, जिससे दृश्यता समाप्त हो जाती है।

3. हरमट्टान

सहारा रेगिस्तान के पूर्वी भाग में उ० पू० तथा पू० दिशा से चलने वाली गर्म तथा शुष्क हवाओं को हरमट्टान कहते हैं। सहारा रेगिस्तान के ऊपर से आने के कारण इनकी रही-सही नमी की मात्रा भी जाती रहती है तथा उष्णता भी बढ़ जाती है। इसी समय यह अपने साथ रेत की अत्यधिक मात्रा भी ग्रहण कर लेती है, जिसमें लाल रेत की बहुतायत होती है। अफ्रीका का पश्चिमी तट उष्ण तथा आर्द्र होता है जिस कारण नीरसता एवं आलस्य बना रहता है। अधिक तापमान पर अधिक आर्द्रता का होना मानव जीवन के लिए कष्टप्रद होता है तथा कई रोग होते रहते हैं। परन्तु हरमट्टान के आगमन पर मौसम शुष्क हो जाने के कारण सुहावना एवं स्वास्थ्यप्रद हो जाता है, क्योंकि हरमट्टान की उष्णता तथा शुष्कता के कारण वायुमण्डल की आर्द्रता नष्ट हो जाती है। इसी प्रभाव के कारण गिनी तट पर इस हवा को **डॉक्टर** की संज्ञा प्रदान की जाती है। यह हवा अतिप्रचण्ड होती है, जिस कारण वृक्ष के तने तक कट जाते हैं व वनस्पतियाँ झुलस जाती हैं। यह हवा आये दिन रेतभरी आंधी का भी रूप धारण कर लेती है, जिस कारण दृश्यता समाप्त हो जाती है। गर्मियों में हरमट्टान का प्रभाव अधिक होता है। वास्तव में ये हवाएं उ० पू० व्यापारिक हवाओं का ही विशिष्ट रूप हैं, जो कि सहारा के गर्म रेगिस्तान के कारण अत्यधिक शुष्क हवा हो जाती हैं। स्थल से आने के कारण वर्षा प्रदान करने में असमर्थ होती हैं। इसी तरह की उष्ण एवं शुष्क हवा आस्ट्रेलिया के विक्टोरिया प्रान्त में **ब्रिक फिल्डर** (brick fielder) कही जाती है, जिसका तापमान 100^0 फा० (38^0C) तक हो जाता है। ऐसी गर्म, शुष्क तथा प्रचण्ड हवाओं को संयुक्त राज्य अमेरिका में **ब्लैकरोलर**, मेसोपोटामिया एवं फारस की खाड़ी वाले क्षेत्र में **शामल** (shamal) तथा न्यूजीलैण्ड में **नारवेस्टर** कहते हैं।

4. मिस्ट्रल (mistral)

यह ठण्डी ध्रुवीय हवा होती है, जो कि रूम सागर के उत्तरी-पश्चिमी भाग, खासकर स्पेन तथा फ्रांस को प्रभावित करती है। जाड़े के समय यूरोप पर उच्च दाब तथा रूम सागर पर निम्न दाब स्थापित हो जाते हैं, जिस कारण इन उ० प० तथा प० हवाओं का आविर्भाव होता है, जो कि पू० तथा द० पू० दिशा में चलती हैं। फ्रांस के मध्यवर्ती पठार से होकर चलने तथा दक्षिण में नीचे उतरने पर ये हवायें अत्यधिक ठण्डी हो जाती हैं। जब ये हवायें रोन नदी की संकरी घाटी से होकर चलती हैं, तो इनकी गति भी अत्यधिक तेज हो जाती है। मिस्ट्रल सामान्य रूप से 56 से 64 किमी० प्रति घण्टे की चाल से चलती है, परन्तु कभी-कभी इसकी गति 128 किमी० तक भी हो जाती है, जिस कारण वायुयान के चलने में अधिक कठिनाई हो जाती है। इन हवाओं से बचने के लिए इनकी प्रवाह दिशा के समकोण पर बाग तथा झाड़ियाँ लगायी जाती हैं। इनके आगमन पर तापमान हिमांक के नीचे गिर जाता है तथा मौसम सर्द हो जाता है।

5. बोरा (bora)

मिस्ट्रल के समान 'बोरा' भी एक शुष्क तथा अतीव ठण्डी प्रचण्ड हवा है, जो कि एड्रियाटिक सागर के पूर्वी किनारे पर चलती है। खासकर उत्तरी इटली का भाग बोरा द्वारा अधिक प्रभावित होता है, जहाँ पर आल्प्स के दक्षिणी ढाल से नीचे उतरकर ये उत्तरी तथा उत्तरी-पूर्वी हवाएं दक्षिण दिशा में प्रवाहित होती हैं। मिस्ट्रल की अपेक्षा बोरा कुछ आर्द्र भी होती हैं, क्योंकि एड्रियाटिक सागर से होकर आने के कारण नमी भी धारण कर लेती हैं। इस हवा का स्थायित्व रूम सागरीय चक्रवातों की सक्रियता पर आधारित होता है। इनकी गति मिस्ट्रल से अधिक (60 किमी० प्रति घण्टा) होती है।

6. ब्लिजर्ड (blizzard)

ब्लिजर्ड या हिम झंझावात ध्रुवीय हवाएं होती हैं जो कि बर्फ के कणों से युक्त होती हैं। इनका प्रवाह क्षेत्र उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवीय क्षेत्र, साइबेरिया, कनाडा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका है। हिम कणों से युक्त होने के कारण दृश्यता नष्ट हो जाती है। इनकी गति अधिक तीव्र (80-96 किमी० प्रति घंटे) होती है। इनके आगमन से तापमान अचानक हिमांक के नीचे गिर जाता है, सतह बर्फ से आच्छादित हो जाती है तथा शीत लहर चलने लगती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में पश्चिम-पूर्व धरातलीय अवरोध के अभाव में हवाएं समस्त मध्यवर्ती मैदान को प्रभावित करती हुई दक्षिणी प्रान्तों तक पहुँच जाती हैं। यहाँ पर इनको, '**नार्दर्न**' (northern)कहते हैं। साइबेरिया में इसे '**बुरान**' (buran)कहते हैं।

7. 'लू' (loo)

उत्तरी भारत में गर्मियों में उ० प० तथा प० से पू० दिशा में चलने वाली प्रचण्ड उष्ण तथा शुष्क हवाओं को 'लू' कहते हैं। वास्तव में इन्हें **ताप लहर** (heat waves) कहना अधिक उचित होगा, क्योंकि इनके आगमन से तापमान 100^0 फा० (38^0C) से 120^0 फा० (49^0C) तक उठ जाता है तथा तीव्र हवा के कारण मौसम कष्टप्रद हो जाता है। कभी-कभी ये इतनी तीव्र होती हैं कि रात में भी इनका प्रभाव बना रहता है। दिन में मकानों के दरवाजे बन्द हो जाते हैं। इस तरह की हवा मई के अन्तिम सप्ताह तथा जून में कई बार चलती है। कभी-कभी इसका प्रभाव कई सप्ताह तक रहता है।

8. अन्य स्थानीय हवायें

पर्गा (purga) : रूसी टुण्ड्रा में चलने वाली बर्फीली ठंडी हवा।

बाइस (bise) : फ्रान्स की एक अति ठंडी हवा।

लेवेण्टर (leventer) : दक्षिणी स्पेन में पूर्व से पश्चिम चलने वाली ठंडी हवा।

पैम्पेरो (pampero) : दक्षिणी अमेरिका के पम्पाज में चलने वाली उत्तरी-पश्चिमी ठंडी हवा।

नारवेस्टर (norwester): न्यूजीलैण्ड में गर्म, शुष्क तथा तेज चलने वाली हवा।

सान्ता अना (santa ana) : संयुक्त राज्य अमेरिका की एक गर्म तथा शुष्क हवा।

यामो (yamo) : जापान की एक गर्म तथा शुष्क हवा।

जोण्डा (zonda) : अर्जनटीना की गर्म हवा।

ट्रैमोण्टेन (tramontane) : मध्य यूरोप में चलने वाली गर्म हवा।

35.12 जेट स्ट्रीम

1. परिभाषा

क्षोभमण्डल (troposphere) की ऊपरी सीमा में सैकड़ों किलोमीटर की चौड़ी पट्टी में पश्चिम से पूर्व दिशा में प्रवाहित होने वाली परिध्रुवीय (circumpolar) प्रबल पवन धारा को जेट स्ट्रीम कहा जाता है। इस पवन धारा का परिसंचरण दोनों गोलार्द्धों में 20° अक्षांश से ध्रुवों के बीच 7.5 से 14 किमी० की ऊँचाई के मध्य होता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के अनुसार ऊपरी क्षोभमण्डल या समताप मण्डल में अर्द्ध क्षैतिज अक्ष के सहारे प्रवाहित होने वाली प्रबल संकरी पवन धारा को जेट स्ट्रीम कहते हैं। इसमें लम्बवत् एवं क्षैतिज पवन अपरूपण (wind shear) होता है तथा इसमें एक से अधिक अधिकतम वायु वेग होता है। वास्तव में जेट स्ट्रीम की खोज द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान उस समय हुई जबकि अमेरिकी बमवर्षक जेट विमानों को जापान की ओर उड़ान भरते समय (पूर्व से पश्चिम की ओर) पवन के विपरीत रुख का सामना करना पड़ रहा था जिस कारण जेट विमानों की गति में अत्यधिक कमी हो जा रही थी। इसके विपरीत लौटते समय (पश्चिम से पूर्व की ओर) जेट विमानों की गति में आशातीत वृद्धि हो जा रही थी। इस परिस्थिति का बाद में जब अध्ययन किया गया तो पता चला कि क्षोभमण्डल की ऊपरी सीमा में प्रबल वेग वाली हवायें पश्चिम से पूर्व दिशा में प्रवाहित होती हैं। इन हवाओं की दिशा के विपरीत दिशा में उड़ान भरने वाले जेट विमानों को पवन अवरोध का सामना करना पड़ रहा था। इसी आधार पर इन पश्चिम से पूर्व दिशा में विसर्पण (meandering) करती हुई प्रबल वेग से चलने वाली पवन धाराओं का नामकरण जेट स्ट्रीम कर दिया गया।

2. विशेषताएँ

ऊपरी वायुमण्डल में पश्चिम से पूर्व दिशा में प्रचण्ड वेग से प्रवाहित होने वाली लहरदार जेट स्ट्रीम की निम्न विशेषताएँ होती हैं :

(1) जेट स्ट्रीम का संचरण ऊपरी क्षोभ मण्डल (troposphere) में 7.5 से 14 किमी० की ऊँचाई पर संकरी पट्टी में पश्चिम से पूर्व दिशा में होता है।

(2) सामान्यतया इनकी लम्बाई हजारों किमी०, चौड़ाई सैकड़ों किमी० तथा गहराई कुछ किमी० तक होती है।

(3) सामान्यतया इनका संचरण दोनों गोलार्द्धों में 20° अक्षांश से ध्रुवों के मध्य होता है। इन्हें **परिध्रुवीय भंवर** (circumpolar whirl) भी कहते हैं क्योंकि इनका संचार दोनों गोलार्द्धों में ध्रुवों के चारों ओर होता है।

(4) जेट स्ट्रीम का लम्बवत् पवन अपरूपण (wind shear) 5 से 10 मीटर प्रति सेकेण्ड (18 से 36 किमी० प्रति घण्टा) होता है अर्थात् जेट स्ट्रीम की सीमा के ऊपर या नीचे हवा की गति 18 से 36 किमी० प्रति घण्टा की दर से कम हो जाती है। क्षैतिज पवन अपरूपण (lateral wind shear) 5 मीटर प्रति सेकेण्ड (18 किमी० प्रति घण्टा) होता है। जेट स्ट्रीम का न्यूनतम वायु वेग 30 मीटर प्रति सेकण्ड (108 किमी० प्रति घण्टा) होता है।

(5) इनका प्रवाह मार्ग विसर्पित (meandering), लहरदार, (चित्र 7.8) होता है।

(6) जेट स्ट्रीम में पवन वेग में मौसमी परिवर्तन होता रहता है। शीतकाल में ये अधिक प्रबल हो जाती हैं तथा इनका वेग ग्रीष्मकाल की तुलना में दो गुना अधिक हो जाता है। अधिकतम वायु वेग 480 किमी० प्रति घण्टा होता है।

(7) ग्रीष्मकाल (उत्तरी गोलार्द्ध) में जेट स्ट्रीम का विस्तार कम हो जाता है तथा उसका उत्तर की ओर सिखकाव हो जाता है जबकि शीतकाल में इसका अधिकतम विस्तार होता है तथा यह 20° उत्तरी अक्षांश तक पहुँच जाती है।

3. जेट स्ट्रीम के प्रकार

अवस्थिति के आधार पर जेट स्ट्रीम को पाँच प्रकारों में विभाजित किया गया है:

(1) **ध्रुवीय वाताग्र जेट स्ट्रीम** का निर्माण धरातलीय ध्रुवीय शीत वायुराशियों एवं उष्ण कटिबन्धी गर्म वायुराशियों के सम्मिलन क्षेत्र (40°-60° अक्षांश) के ऊपर होता है। दो विपरीत वायु राशियों के कारण ताप प्रवणता (temperature gradient) अधिक होती है। ये पश्चिम से पूर्व दिशा में प्रवाहित होती हैं परन्तु ये अधिक अनियमित होती हैं।

(2) **उपोष्ण कटिबन्धी पछुवा जेट स्ट्रीम** की स्थिति धरातलीय उपोष्ण कटिबन्धी उच्च वायु दाब की पेटी के उत्तर (हैडिली कोशिका की ध्रुवीय सीमा के पास) ऊपरी क्षोभमण्डल में होती है अर्थात् 30°-35° अक्षांशों के ऊपर। इसका प्रवाह पश्चिम से पूर्व दिशा में होता है तथा ध्रुवीय वाताग्र जेट स्ट्रीम की तुलना में यह अधिक नियमित होती है।

(3) **उष्ण कटिबंधी पूर्वी जेट स्ट्रीम** का आविर्भाव धरातलीय पूर्वी व्यापारिक हवाओं के ऊपर ऊपरी क्षोभमण्डल में भारत एवं अफ्रीका के ऊपर ग्रीष्मकाल में होता है। इसका

सम्बन्ध तिब्बत के पठार के ऊष्मन (heating) से होता है तथा भारतीय मानसून में इसका पर्याप्त महत्व है।

(4) **ध्रुवीय राशि जेट स्ट्रीम** को समताप मण्डलीय उपध्रुवीय जेट स्ट्रीम भी कहते हैं। इसका निर्माण सागर तल से 30 किमी० की ऊँचाई पर क्षोभमण्डल के ऊपर अर्थात् समतापमण्डल (stratosphere) में शीत ध्रुव के ऊपर तीव्र ताप प्रवणता (steep thermal gradient) के कारण शीत काल में होता है जिस समय प्रबल पछुवा जेट स्ट्रीम का संचरण होता है परन्तु ग्रीष्म काल में इसका वेग कम हो जाता है तथा दिशा पूर्व की ओर हो जाती है।

(5) **स्थानीय जेट स्ट्रीम** का आविर्भाव स्थानीय तापीय एवं गतिकीय दशाओं के कारण कुछ खास स्थानों में होता है। इनका महत्त्व मात्र स्थानीय होता है।

4. जेट स्ट्रीम का विकास चक्र

जेट स्ट्रीम के उद्भव का सम्बन्ध भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर तापमान प्रवणता तथा ध्रुवों पर धरातलीय भाग पर उच्च दाब एवं उसके ऊपर क्षोभमण्डल (troposphere) में निम्न दाब के कारण जनित **परिध्रुवीय भंवर** (circumpolar whirl) से है। ज्ञातव्य है कि उत्तरी गोलार्द्ध के शीतकालीन मौसम में दीर्घ जाड़े की रात के कारण धरातल के ऊपर स्थित वायु अत्यधिक ठण्डी होकर भारी हो जाती है तथा आर्कटिक क्षेत्र में नीचे बैठने लगती है, जिस कारण धरातल पर उच्च दाब बन जाता है जबकि ऊपर से वायु के नीचे सरकने के कारण वायुमण्डल के ऊपरी भाग (क्षोभ मण्डल) में धरातलीय ध्रुवीय उच्च वायुदाब के ऊपर निम्न वायु दाब बन जाता है। इस उच्च तलीय क्षोभमण्डलीय निम्न दाब के चारों ओर हवा चक्रवातीय क्रम (पश्चिम से पूर्व) में भंवर के रूप में प्रवाहित होने लगती है। एशिया के ऊपर इसकी दिशा सामान्य रूप में पश्चिम से पूर्व होती है। इस उच्च तलीय पवन संचार के भूमध्य रेखा की ओर वाले भाग को जेट स्ट्रीम कहते हैं। इस जेट स्ट्रीम का संचार मियाण्डर (मोड़) बनाते हुए होता है। शरदकाल में आर्कटिक उच्च तलीय भंवर (उत्तरी गोलार्द्ध) अत्यधिक प्रबल तथा सक्रिय हो जाता है जिस कारण उच्च तलीय पछुवा जेट स्ट्रीम की स्थिति 20° उत्तरी अक्षांश तक हो जाती है। जेट स्ट्रीम की स्थिति तथा विस्तार (ध्रुवों से भूमध्य रेखा की ओर) में प्राय: परिवर्तन होता रहता है जिसके अन्तर्गत जेट स्ट्रीम का प्रारूप लगभग सीधे पश्चिम से पूर्व दिशा में प्रवाह से लेकर विसर्पित (मियाण्डरिंग) तक हो जाता है। लहरनुमा जेट स्ट्रीम को **रासबी तरंग** (Rossby waves) कहते हैं। सीधे प्रवाह मार्ग से लहरनुमा प्रवाह मार्ग के बनने की अवधि को **सूचकांक चक्र** (Index cycle) कहते हैं जो चार अवस्थाओं में पूर्ण होता है। इसे जेट स्ट्रीम का विकास चक्र भी कहते हैं (चित्र 35.18)।

जेट स्ट्रीम का विकास चक्र निम्न चार अवस्थाओं में पूर्ण होता है :

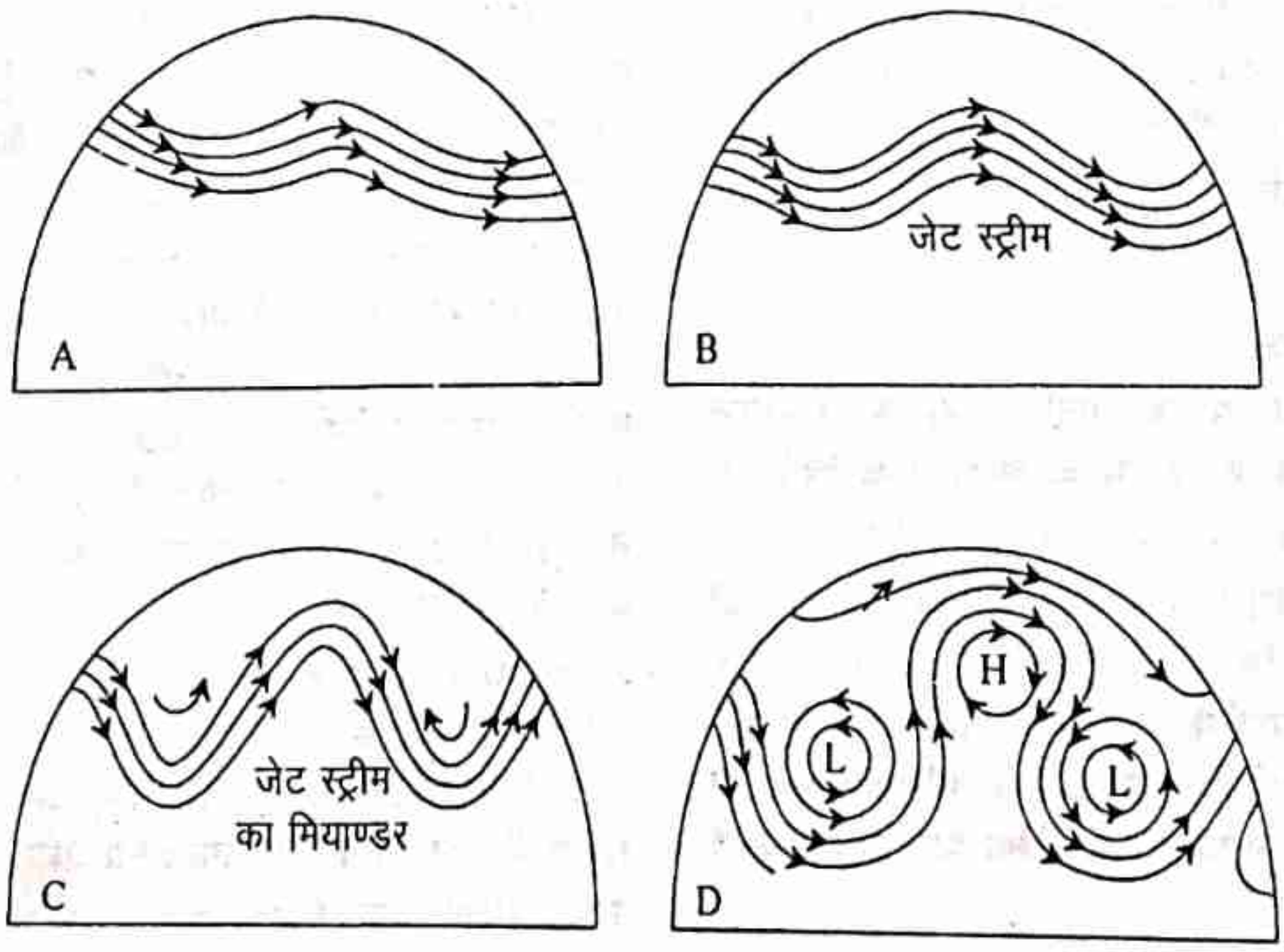

चित्र 35.18 : जेट स्ट्रीम का सूचकांक चक्र या विकास चक्र (नामियास के अनुसार)।

प्रथम अवस्था : जेट स्ट्रीम की स्थिति ध्रुवों के पास होती है (चित्र 35.18 A)। इसके उत्तर में ध्रुवीय ठंडी हवा तथा दक्षिण में गर्म पछुवा हवा होती है। जेट स्ट्रीम का संचार पश्चिम से पूर्व लगभग सीधे मार्ग में होता है क्योंकि अभी तक रासबी लहर का निर्माण नहीं हो पाता है। धरातल पर ठंडी ध्रुवीय वायुराशि एवं गर्म पछुवा वायु राशि के अभिसरण

(convergence) के कारण चक्रवातीय दशा का आविर्भाव होता है। इस प्रबल उच्च तलीय पछुवा पवन धारा के आर-पार तीव्र दाब प्रवणता होती है जिस कारण उच्च मण्डलीय सूचकांक (high zonal index) होता है।

द्वितीय अवस्था : समय के साथ जेट स्ट्रीम में लहर (wave) का निर्माण होने लगता है (चित्र 35.18 B)। इस तरह रासबी लहर का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। परिणामस्वरूप रासबी लहरों के आयाम (amplitude) में वृद्धि होने से जेट स्ट्रीम का भूमध्य रेखा की ओर विस्तार होने लगता है।

तृतीय अवस्था : में जेट स्ट्रीम का प्रवाह पूर्णतया मियाण्डरिंग या लहरनुमा हो जाता है (चित्र 35.18 C) जिस कारण वह भूमध्य रेखा के करीब हो जाती है। ज्ञातव्य है कि प्रथम दो अवस्थाओं में दाब प्रवणता उत्तर-दक्षिण होती है जबकि इस अवस्था में पूर्व-पश्चिम दिशा में हो जाती है। ध्रुवीय शीत वायु राशियों का भूमध्य रेखा की ओर तथा उष्ण कटिबंधी गर्म वायु राशियों का ध्रुवों की ओर विस्थापन (displacement) हो जाता है।

चतुर्थ अवस्था : जेट स्ट्रीम के अत्यधिक देशान्तरीय प्रवाह (उत्तर-दक्षिण) के कारण तरंगों का विच्छेदन हो जाता है जिस कारण वे मूल धारा से अलग होकर चक्राकार मार्ग से प्रवाहित होती हैं (चित्र 35.18 D)। इस तरह चक्राकार वायु प्रणाली की कई कोशिकायें विकिसत हो जाती हैं। जेट स्ट्रीम के भूमध्य रेखा की ओर वाले भाग अर्थात् दक्षिणी भाग में चक्रवातीय कोशिकायें (L,चित्र 35.18 D) तथा ध्रुवों की ओर वाले भाग अर्थात् उत्तर में प्रतिचक्रवातीय कोशिकायें (H, चित्र 35.18 D) बन जाती हैं। इस तरह की विलग चक्रवातीय (cut of flow) या विलग प्रतिचक्रवातीय (cut off high) वायु प्रणाली जेट स्ट्रीम के पश्चिम से पूर्व दिशा में प्रवाह को बाधित करती हैं।

5. जेट स्ट्रीम का महत्व

जेट स्ट्रीम का स्थानीय तथा प्रादेशिक मौसम पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, यद्यपि जेट स्ट्रीम के व्यवहार के विषय में अभी तक स्पष्ट विधिवत् जानकारी का अभाव है।

(1) मध्य अक्षांशीय या शीतोष्ण कटिबंधी चक्रवातों की सक्रियता तथा जेट स्ट्रीम में गहरा सम्बन्ध होता है। जब धरातलीय शीतोष्ण चक्रवातों के ऊपर उच्च तलीय क्षोभमण्डलीय जेट स्ट्रीम की स्थिति होती है तो ये चक्रवात अधिक प्रबल एवं तूफानी हो जाते हैं तथा सामान्य से अधिक वृष्टि प्रदान करते हैं।

(2) जेट स्ट्रीम के कारण धरातलीय (निम्न तलीय) चक्रवातों एवं प्रति चक्रवातों के स्वरूप में परिवर्तन होने से स्थानीय मौसम में उतार-चढ़ाव (बाढ़-सूखा) होता रहता है।

(3) जेट स्ट्रीम के कारण क्षोभमण्डल के ऊपरी भाग में क्षैतिज अभिसरण (convergence) तथा अपसरण (divergence) होने लगता है। ऊपरी वायुमण्डल में अभिसरण एवं अपसरण होने से उच्च तलीय चक्रवातों एवं प्रतिचक्रवातों का निर्माण होता है।

(4) जेट स्ट्रीम में वायु का लम्बवत् संचार दो रूपों में होना है। चक्रवातों में हवा ऊपर उठती है तथा प्रतिचक्रवातीय वायु प्रणाली में हवा नीचे बैठती है। इस तरह उच्चतलीय हवा में उपरिमुखी एवं अधोमुखी संचरण होने से क्षोभमण्डल एवं समतापमण्डल में हवाओं में तेजी से मिश्रण होता है, जिस कारण मानव जनित प्रदूषकों का क्षोभमण्डल से समतापमण्डल में परिवहन कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, ओजोन परत को नष्ट करने वाले क्लोरोफ्लोरो कार्बन का परिवहन जब समतापमण्डल के निचले भाग (15 से 35 किमी० तक) में परिवहन हो जाता है (जहाँ पर ओजोन का अधिकतम सान्द्रण होता है) तो ओजोन का विनाश प्रारम्भ हो जाता है जिस कारण भूमण्डलीय ताप में वृद्धि होने की सम्भावना है।

(5) दक्षिणी एशिया की मानसून पर जेट स्ट्रीम का महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। वास्तव में उष्ण कटिबंधी मानसूनी वर्षा जेट स्ट्रीम से प्रभावित होती है। विशेष अध्ययन के लिए देखिए इस पुस्तक के अध्याय 8।

35.13 वाकर संचरण तथा एल निनो-दक्षिणी दोलन (इन्सो)

वायुमण्डल के सामान्य संचरण व्यवस्था, यथा-धरातलीय व्यापारिक, पछुवा तथा ध्रुवीय पवन संचरण (circulation) एवं देशान्तरीय त्रिकोशिकीय पवन संचरण, में कतिपय विचलन पाया जाता है। उदाहरण के लिये स्थानीय तथा मौसमी हवाओं (मानसून) का संचरण बताया जा सकता है। इन विचलनों में पूर्व-पश्चिम दिशा में उष्ण कटिबंधी पवन का कटिबंधी (zonal) प्रवाह अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस विशिष्ट पूर्व-पश्चिम पवन संचरण को **वाकर संचरण** (Walkar circulation) कहते हैं। इसका नामकरण वैज्ञानिक जी० टी० वाकर के नाम के आधार पर किया गया है। वास्तव में वाकर संचरण पवन संचार की एक संवहनीय कोशिका (convective cell) है जिसका निर्माण उष्ण कटिबंधी प्रशान्त महासागर में भूमध्य रेखा के सहारे पूर्व से पश्चिम दिशा में दाब प्रवणता के कारण होता है। दो-तीन वर्षों के अन्तराल पर इस पूर्व-पश्चिम दाब प्रवणता (चित्र 35.19 A), जिसे सामान्य दशा कहते हैं, में विपरीत स्थिति उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् दाब प्रवणता पश्चिम से पूर्व हो जाती है (चित्र 35.19 B)। इस तरह दाब प्रवणता एवं पवन संचार में उतर-चढ़ाव (दोलन) होता रहता है। वाकर महोदय ने इसे **दक्षिणी दोलन** (southern oscillation) नाम दिया है।

इस वाकर संचरण तथा दक्षिणी दोलन का आविर्भाव उष्ण कटिबंधी प्रशान्त महासागर में भूमध्य रेखा के सहारे दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तटीय भाग अर्थात् पूर्वी प्रशान्त महासागरीय तथा द० पू० एशिया के पास पश्चिमी प्रशान्त महासागरीय जल की सतह पर वायु दाब प्रवणता के कारण होता है। सामान्य

दशा में (चित्र 35.19 A) पूर्वी प्रशान्त महासागर तथा दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तटीय स्थलीय भाग पर वायु के अवतलन (नीचे उतरने) एवं नीचे से ठंडे सागरीय जल के ऊपर आने के कारण उच्च वायुदाब का निर्माण होता है तथा पश्चिमी प्रशान्त महासागर में गर्म सागरीय सतह के कारण हवा के ऊपर उठने के कारण निम्न वायु दाब का निर्माण होता है। इस तरह महासागरीय सतह पर पूर्व-पश्चिम दाब प्रवणता के कारण पूर्व से पश्चिम दिशा में पूर्वी हवा (व्यापारिक) का संचरण होने लगता है। इसके विपरीत इस सतहीय संचरण के ऊपर वायुमण्डल में पश्चिम से पूर्व दिशा में पवन संचरण होता है। परिणामस्वरूप एक पूर्ण कोशिका (cell) का निर्माण हो जाता है। इस पवन संचार के कारण दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट से पवन पश्चिम की ओर चलती है तथा अपने साथ सागरीय जल को भी पश्चिम की ओर बहा ले जाती है। परिणामस्वरूप पेरू तथा इक्वेडोर तट के पास नीचे से ठंडे जल का ऊपर की ओर उद्वेलन (upwelling) होने लगता है। इस प्रक्रिया के कारण हवा और ठंडी हो जाती है जिस कारण वायु दाब अधिक हो जाता है, हवा ऊपर नहीं उठ पाती है, वायु में स्थिरता उत्पन्न हो जाती तथा शुष्क मौसम होता है क्योंकि वायु की स्थिरता के कारण संघनन की क्रिया मन्द पड़ जाती है। इसके विपरीत यह पवन उ० पू० व्यापारिक पवन के रूप में पश्चिमी गर्म प्रशान्त महासागर की ओर चलती है जहाँ पर वह गर्म होकर ऊपर उठती है, संवहन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है तथा वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। ऊपर उठकर यह पूर्व की ओर चलती है तथा पूर्वी प्रशान्त महासागर पर नीचे उतरती है तथा एक पूर्ण पवन संचार कोशिका का निर्माण होता है (चित्र 35.19 A)। इस तरह स्पष्ट है कि उष्ण कटिबंधी पूर्वी प्रशान्त महासागर तथा उसके तटवर्ती भाग में शुष्क मौसम तथा पश्चिमी प्रशान्त महासागर (पूर्वी आस्ट्रेलिया, द० पू० एशिया आदि) में आर्द्र मौसम होता है।

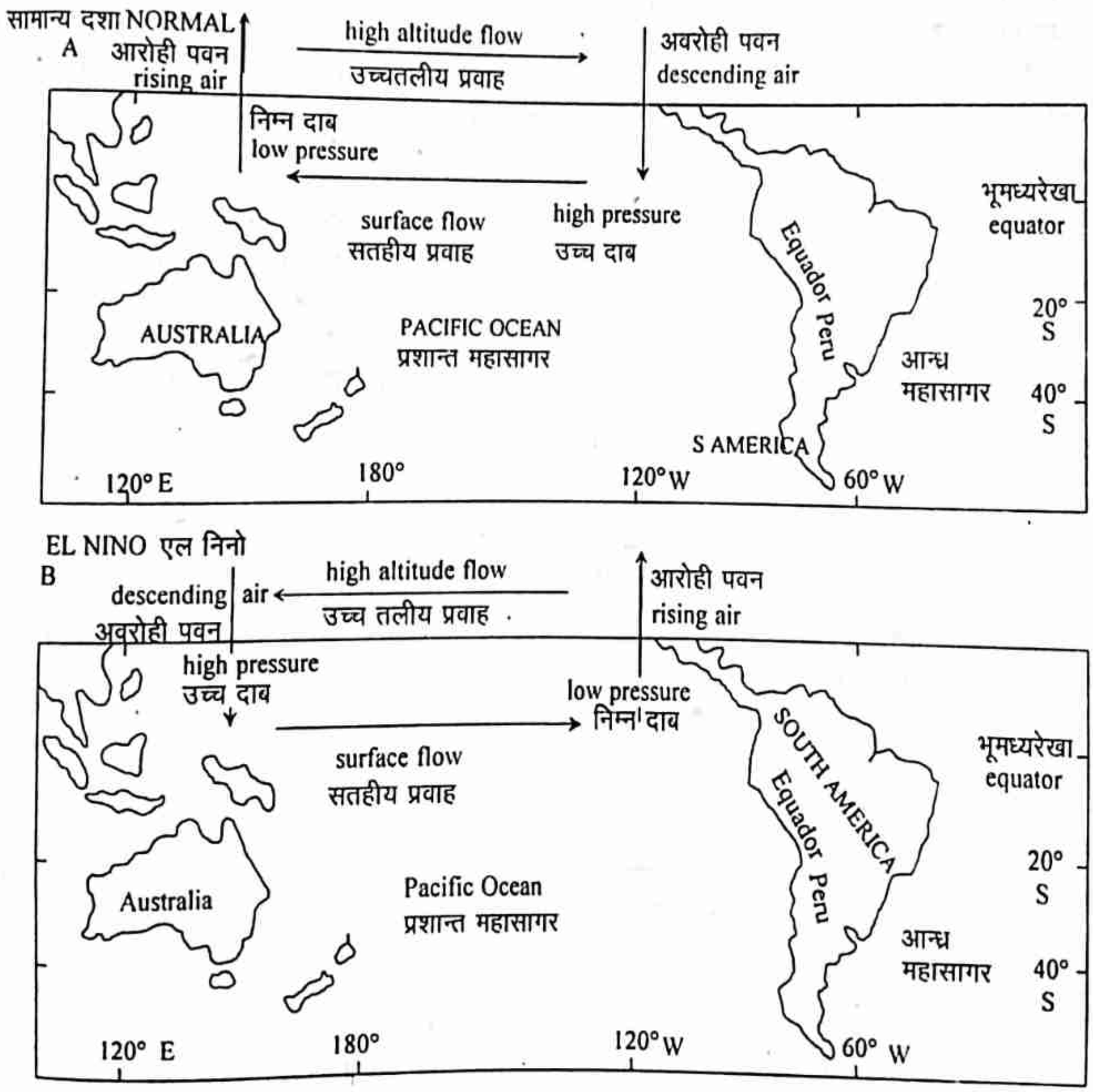

चित्र 35.19 : दक्षिणी दोलन (convective cell), *वाकर संचरण तथा एलनिनो।*

अक्टूबर-नवम्बर में पश्चिमी प्रशान्त महासागरीय निम्न वायु दाब का पूर्वी प्रशान्त महासागरीय भाग की ओर स्थानान्तरण हो जाता है। इस समय व्यापारिक हवायें मन्द पड़ जाती हैं, परिणामस्वरूप व्यापारिक हवाओं के कारण पूर्वी प्रशान्त महासागरीय जल का जो पश्चिमी प्रशान्त महासागरीय भाग की ओर बहाव हो गया था वह अब द० पूर्वी प्रशान्त महासागर की ओर लौट आता है। इस तरह द० पूर्वी प्रशान्त महासागर खासकर दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तटीय भाग (पेरू एवं इक्वेडोर तट) के पास गर्म जलराशि के आने के कारण निम्न वायुदाब बन जाता है (चित्र 35.19 B), नीचे से ठंडी जलराशि का ऊपर आना रुक जाता है, हवा ऊपर उठने लगती है तथा उसके अस्थिर हो जाने से संघनन होने से वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रभाव को **एल निनो घटना** कहते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि सामान्य दशा (चित्र 35.19 A)के अब विपरीत स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् पूर्वी प्रशान्त महासागर के ऊपर गर्म जल राशि के आने से उसके ऊपर स्थित गर्म हवा के ऊपर उठने से निम्न वायुदाब बनता है। ऊपर ठंडी हवा क्षोभमण्डल के ऊपरी भाग में पश्चिम दिशा में प्रवाहित होती है तथा पश्चिमी प्रशान्त महासागर के पश्चिमी भाग में नीचे उतरती है जिस कारण उच्च दाब बनता है। इस पश्चिमी प्रशान्त महासागरीय उच्च वायुदाब से हवायें पूर्व दिशा में द० पूर्वी प्रशान्त महासागर की ओर चलती हैं। इस तरह एक पूर्ण कोशिका का निर्माण होता है। इस प्रकार की दशा को **एल निनो-दक्षिणी दोलन घटना** (ENSO Event) कहते हैं। वास्तव में पश्चिमी एवं पूर्वी प्रशान्त महासागर में वायु दाब की स्थितियों में बदलाव को ही **दक्षिणी दोलन** कहा जाता है। एल निनो घटना के समय (चित्र 35.19 ब)महासागरीय सतह पर चलने वाली पछुवा हवा के कारण (जिसे विषुवत रेखीय पछुवा हवा कहते हैं)वाकर संचरण कमजोर हो जाता है परन्तु हैडली संचरण प्रबल हो जाता है। इस दशा के कारण वयापारिक पवनें पुनः सक्रिय हो जाती हैं तथा पूर्वी प्रशान्त महासागर से जलराशि का पुनः पश्चिम की ओर प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है तथा एल निनो प्रभाव समाप्त हो जाता है तथा सामान्य दशा (चित्र 35.19 A) पुनः स्थापित हो जाती है।

एल निनो तथा ला निनो के मौसमी प्रभावों का विशद विवेचन इस पुस्तक के अध्याय 29 के अनुभाग 29:6 (8) में किया गया है।

प्रश्न :- बादलों और वर्षा का वर्गीकरण

36

आर्द्रता तथा वर्षा

(Humidity and Precipitation)

36.1 जलवाष्प तथा वाष्पीकरण

(Water Vapour and Evaporation)

वायुमण्डल में उपस्थित जलवाष्प को **आर्द्रता** कहते हैं। वायुमण्डल के संगठन में जलवाष्प का योग 2 प्रतिशत होता है, परन्तु यह मात्रा स्थान-स्थान पर बदलती रहती है। यह शून्य से लेकर 5 प्रतिशत तक हो सकती है। समस्त जलवाष्प का 50 प्रतिशत भाग वायुमण्डल के निचले 2000 मीटर तक वाले भाग में वर्तमान रहता है। वायुमण्डल में स्थित जलवाष्प की मात्रा में मौसम तथा स्थानीय परिवर्तन के कई महत्व होते हैं। जलवाष्प की वास्तविक मात्रा पर वर्षा की मात्रा तथा स्वरूप, पृथ्वी से विकिरण द्वारा ऊष्मा के नष्ट होने की मात्रा, धरातलीय तापमान, वायुमण्डल की गुप्त ऊष्मा (latent heat), वायु राशि की स्थिरता तथा अस्थिरता आदि निर्भर होती है। वायुमण्डल को जलवाष्प सागरीय भागों, स्थल स्थित झील, जलाशय, तालाब, सिंचित कृषि क्षेत्र तथा नदियों तथा वनस्पतियों से प्राप्त होती है। जिस प्रक्रिया द्वारा जल, जलवाष्प में बदल जाता है, उसे **वाष्पीकरण** कहते हैं। वाष्पीकरण की मात्रा तथा तीव्रता वायु की गति, तापमान तथा शुष्कता पर निर्भर होती है। जितने ही उच्च तापमान पर वायु शुष्क होती है तथा गति तीव्र होती है, वाष्पीकरण उतना ही अधिक तथा तीव्र होता है। अधिक तापमान वाली शुष्क हवा में नमी धारण करने की क्षमता अधिक होने के कारण वाष्पीकरण तीव्र होता है, क्योंकि हवा के संतृप्त (saturation) होने में समय लगता है। इसी तरह स्थिर हवा में नमी का स्थानान्तरण न हो सकने के कारण वायु शीघ्र संतृप्त हो जाती है, जबकि अस्थिर हवा के कारण वाष्प का स्थानान्तरण होता रहता है। स्थल की अपेक्षा सागरों पर वाष्पीकरण अधिक होता है। 10^0 उ० से 10^0 द० अक्षांशों में सर्वाधिक वाष्पीकरण महाद्वीपों पर होता है, जहाँ पर वर्षा द्वारा प्राप्त जल तथा वनस्पतियों द्वारा निकाले गये जल वाष्पीकरण के लिए सुलभ हो जाते हैं। महासागरों पर सर्वाधिक वाष्पीकरण दोनों गोलार्द्धों में 10^0–20^0 अक्षांशों के मध्य होता है, क्योंकि निम्न अक्षांशों में हवा मन्द परन्तु यहाँ तीव्र होती है। **संघनन** (condensation) तथा वाष्पीकरण एक दूसरे के विपरीत प्रक्रियाएं होती हैं। वाष्पीकरण द्वारा जल, वाष्प में परिवर्तित हो जाता है तथा संघनन द्वारा वाष्प, जल (तरल या ठोस) में परिवर्तित हो जाती है।

36.2 गुप्त ऊष्मा

(Latent Heat)

जल को वाष्प या गैस में परिवर्तित करने के लिए ऊष्मा के रूप में ऊर्जा की आवश्यकता होती है। ऊष्मा की इकाई कैलोरी होती है। एक ग्राम बर्फ (ice) को जल में परिवर्तित करने के लिए 79 कैलोरी तथा एक ग्राम जल को वाष्पीकरण द्वारा वाष्प में परिवर्तित करने के लिए 607 कैलोरी ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इससे स्पष्ट है कि हिम से जल तथा जल से वाष्प में स्थित ऊर्जा (potential energy) अधिक होती है। वाष्प में ऊष्मा की यह छिपी मात्रा, गुप्त ऊर्जा या गुप्त ऊष्मा (latent heat) कही जाती है। प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से यह ऊर्जा, सौर्यिक ऊर्जा ही होती है। वाष्पीकरण के समय ऊष्मा के खर्च होने के कई प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। जल से स्नान करने पर ठण्डक महसूस होती है, क्योंकि शरीर का कुछ ताप जल को वाष्प बनाने में खर्च हो जाता है। गर्मियों

में शरीर से पसीना निकलने पर पंखा झलने या खुली हवा में बैठने पर ठंडक (अपेक्षाकृत) महसूस होती है। हाथ पर स्प्रिट की बूंदों को रखने पर शीतलता का आभास होता है क्योंकि ताप के कारण स्प्रिट का वाष्पीकरण हो जाता है। इस तरह वाष्पीकरण द्वारा वाष्प बनने के समय ऊष्मा खर्च होती है, परन्तु संघनन द्वारा वाष्प जल में परिवर्तित होने से ऊष्मा मुक्त होती है। इस मुक्त ऊष्मा को **संघनन की गुप्त ऊष्मा** (latent heat of condensation) कहते हैं।

39.3 आर्द्रता (Humidity)

वायु में स्थित जल का गैसीय रूप (वाष्प) ही वायुमण्डल की आर्द्रता या नमी होता है। यह आर्द्रता पृथ्वी से वाष्पीकरण के विभिन्न रूपों से वायुमण्डल में पहुँचती है। आर्द्रता का जलवायु विज्ञान में सर्वाधिक महत्व होता है, क्योंकि इसी पर जलवर्षा (rainfall) तथा वर्षण (precipitation) के विभिन्न रूप, वायुमण्डलीय तूफान तथा विक्षोभ (चक्रवात) आदि आधारित होते हैं। वायुमण्डल की आर्द्रता को विशिष्ट आर्द्रता (specific humidity), निरपेक्ष आर्द्रता (absolute humidity) तथा सापेक्षिक आर्द्रता (relative humidity) के रूप में प्रकट करते हैं।

1. वायुमण्डल की आर्द्रता सामर्थ्य

वायु की आर्द्रता का मापन वायु के प्रति घनफुट आयतन पर ग्रेन इकाई या प्रतिघन सेण्टीमीटर पर ग्राम में किया जाता है। आर्द्रता की प्रमुख प्रक्रिया वाष्पीकरण होती है। तापमान और वाष्पीकरण में सीधा सम्बन्ध होने के कारण आर्द्रता तथा तापमान में सीधा सम्बन्ध होता है। किसी निश्चित तापमान पर वायु में निश्चित आयतन पर अधिकतम नमी धारण करने की क्षमता को वायु की 'आर्द्रता सामर्थ्य' कहते हैं। वायु का तापमान जितना ही अधिक होगा, नमी धारण करने की क्षमता उतनी ही अधिक होगी। 30^0 फा० तापमान पर 1 घनफुट हवा 1.9 ग्रेन आर्द्रता रख सकती है जबकि 10^0 फा० तापमान बढ़ जाने पर यह क्षमता 2.9 ग्रेन हो जाती है। बढ़ते तापमान पर आर्द्रता सामर्थ्य की वृद्धि के अनुपात में भी वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए, 30^0 फा० वाली वायु का तापमान 10^0 बढ़ने पर (40^0 फा०) आर्द्रता में केवल एक ग्रेन की वृद्धि होती है, जबकि 90^0 फा० ताप वाली हवा का तापमान 10^0 फा० बढ़ने पर (100^0 फा०) आर्दता में 5 ग्रेन की वृद्धि हो जाती है (तालिका 36.1)। स्पष्ट है कि शीतकाल की अपेक्षा ग्रीष्मकाल में तथा रात्रि की अपेक्षा दिन में वायु की आर्द्रता सामर्थ्य अधिक होती है। वायु की आर्द्रता सामर्थ्य पर स्थल तथा जल के विस्तार तथा पवन गति का भी प्रभाव होता है। सागरीय भागों तथा सागर तटीय भागों पर महाद्वीपीय आन्तरिक भागों की अपेक्षा आर्द्रता

तालिका 36.1 : तापमान तथा आर्द्रता सामर्थ्य में सम्बन्ध

तापमान (फा०)	आर्द्रता सामर्थ्य (वाष्प, ग्रेन)	10^0 फा० के अन्तर पर सामर्थ्य में अन्तर	अनुमानित निरपेक्ष (आर्द्रता)
30	1.9	...	...
40	2.9	1.0	...
50	4.1	1.2	4.1
60	5.7	1.6	4.1
70	8.0	2.3	4.1
80	10.9	2.9	4.1
90	14.7	3.8	4.1
100	19.7	5.0	4.1

अधिक होती है। भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर वह घटती जाती है। तालिका 36.1 में प्रति घनफुट पर विभिन्न तापमान पर वायु की आर्द्रता सामर्थ्य दी गयी है। यदि वायु में निश्चित तापमान पर आर्द्रता सामर्थ्य के बराबर नमी मौजूद होती है तो वह संतृप्त वायु (saturated air) कही जाती है।

2. निरपेक्ष आर्द्रता (absolute humidity)

वायु के निश्चित आयतन पर उसमें उपस्थित कुल नमी की मात्रा को 'निरपेक्ष आर्द्रता' कहते हैं। यह आर्द्रता वायु के निश्चित आयतन पर जलवाष्प के भार को प्रदर्शित करती है। इसे प्रति घनफुट पर ग्रेन में तथा प्रति घन सेंटीमीटर पर ग्राम में प्रदर्शित करते हैं। तापमान के कम या अधिक होने पर वास्तविक आर्द्रता पर कोई प्रभाव नहीं होता है (साधारणीकरण के लिए, अन्यथा यदि तापमान बढ़ेगा तो वाष्पीकरण अधिक होने से (यदि सतह पर जल है) निरपेक्ष आर्द्रता में भी वृद्धि हो सकती है)। वाष्पीकरण द्वारा अतिरिक्त नमी मिलने या संघनन के बाद वर्षा के कारण नमी के खर्च हो जाने पर ही वास्तविक आर्द्रता में अन्तर आता है। परन्तु वायु के ऊपर जाकर फैलने तथा नीचे आकर सिकुड़ने पर निरपेक्ष आर्द्रता में अन्तर आ जाता है। भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर तथा सागर तट से महाद्वीपों के आन्तरिक भागों की ओर निरपेक्ष आर्द्रता की मात्रा घटती जाती है। शीतकाल की अपेक्षा ग्रीष्मकाल में तथा रात की अपेक्षा दिन में निरपेक्ष आर्द्रता अधिक होती है। निरपेक्ष आर्द्रता की मात्रा पर वर्षा की संभावना निर्भर होती है। उदाहरण के लिए, 50^0 फा० तापमान पर एक घनफुट वायु की अधिकतम नमी धारण करने की क्षमता 4.1 ग्रेन है तथा वास्तविक आर्द्रता भी 4.1 ग्रेन है तो वर्षा निश्चित है। इससे कम निरपेक्ष आर्द्रता होने पर तब तक वर्षा नहीं हो सकती, जब तक कि या तो तापमान कम न कर दिया जाय या नमी बढ़ाकर 4.1 ग्रेन न कर दी जाय।

3. सापेक्षिक आर्द्रता (relative humidity)

किसी निश्चित तापमान पर निश्चित आयतन वाली हवा की आर्द्रता सामर्थ्य (अत्यधिक नमी धारण करने की क्षमता) तथा उसमें मौजूद आर्द्रता की वास्तविक मात्रा (निरपेक्ष आर्द्रता) के अनुपात को सापेक्षिक आर्द्रता कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि 70^0 फा० पर आर्द्रता सामर्थ्य 8 ग्रेन है तथा वास्तविक आर्द्रता 4.1 ग्रेन हो तो :

सापेक्षिक आर्द्रता = निरपेक्ष आर्द्रता/आर्द्रता सामर्थ्य × 100

= 4.1/8 × 100

(लगभग 51 प्रतिशत)। इसी तरह यदि 70^0 फा० पर सामर्थ्य तथा निरपेक्ष आर्द्रता क्रमशः 8 तथा 6 ग्रेन है तो सापेक्षिक आर्द्रता = 6/8 = 75% या 3/4 या 3 : 4 हुई। सापेक्षिक आर्द्रता को भिन्न या अनुपात में भी प्रदर्शित कर सकते हैं, परन्तु प्रतिशत में प्रदर्शन ही अधिक प्रचलित है।

यदि तापमान तथा वायु की आर्द्रता सामर्थ्य में सीधा सम्बन्ध होता है (तापमान के बढ़ने पर सामर्थ्य बढ़ती है तथा घटने पर कम होती है) तो तापमान एवं सापेक्षिक आर्द्रता में विपरीत सम्बन्ध होता है, '*अर्थात् तापमान बढ़ने पर सापेक्षिक आर्द्रता कम हो जाती है तथा घटने पर बढ़ने लगती है*' क्योंकि निरपेक्ष आर्द्रता तो स्थिर रहती है, जबकि सामर्थ्य में अन्तर आता रहता है। तालिका 36.2 से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

तालिका 36.2 : सापेक्षिक आर्द्रता

तापमान (फा०)	आर्द्रता सामर्थ्य (ग्रेन प्रति घनफुट)	निरपेक्ष आर्द्रता (ग्रेन प्रति घनफुट)	सापेक्षिक आर्द्रता % (लगभग)
30	1.9	1.9	100.0
40	2.9	1.9	65.5
50	4.1	1.9	46.3
60	5.7	1.9	33.3
70	8.0	1.9	23.7
80	10.9	1.9	17.4
90	14.7	1.9	12.9
100	19.7	1.9	9.6

जब सापेक्षिक आर्द्रता 100% हो जाती है (अर्थात् निश्चित तापमान पर (प्रति घन फुट) आर्द्रता सामर्थ्य तथा निरपेक्ष आर्द्रता के समान होने पर) तो वायु संतृप्त (saturated) हो जाती है। तालिका 10.2 में 30^0 फा० तापमान पर एक घनफुट हवा की आर्द्रता सामर्थ्य तथा निरपेक्ष आर्द्रता दोनों 1.9 ग्रेन हैं, अतः वायु संतृप्त (100% सापेक्षिक आर्द्रता) हो गयी है। सापेक्षिक आर्द्रता में परिवर्तन दो तरह से आता है: (i) या तो निरपेक्ष आर्द्रता की मात्रा बढ़ा दी जाय, या (ii) तापमान घटाकर आर्द्रता सामर्थ्य कम कर दी जाय। उदाहरण के लिए, 50^0 फा० तापमान पर एक घनफुट वायु की आर्द्रता सामर्थ्य 4.1 ग्रेन तथा निरपेक्ष आर्द्रता 1.9 ग्रेन होने पर, सापेक्षिक आर्द्रता 46% है। यदि इस वायु का तापमान घटाकर 40^0 फा० कर दिया जाय तो सामर्थ्य 2.9 ग्रेन ही रह जायेगी तथा सापेक्षिक आर्द्रता बढ़ कर 65% हो जायेगी।

(1) सापेक्षिक आर्द्रता का महत्व

सापेक्षिक आर्द्रता का जलवायु में अधिक महत्व होता है। इसी की मात्रा पर वर्षा की संभावना होती है। ऊँचे प्रतिशत पर वर्षा की संभावना तथा कम प्रतिशत पर शुष्क मौसम की भविष्यवाणी की जाती है। सापेक्षिक आर्द्रता पर ही वाष्पीकरण की मात्रा निर्भर करती है। अधिक सापेक्षिक आर्द्रता होने पर वाष्पीकरण कम तथा कम होने पर अधिक होता है। सापेक्षिक आर्द्रता से स्वास्थ्य का सीधा सम्बन्ध है। अधिक होने पर (60% से अधिक) तथा कम होने पर, दोनों स्थितियों में स्वास्थ्य की हानि होती है। यही कारण है कि अधिक सापेक्षिक आर्द्रता वाले भूमध्य रेखीय प्रदेश तथा न्यून सापेक्षिक आर्द्रता वाले उष्ण कटिबंधीय मरुस्थलीय प्रदेश स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं। सापेक्षिक आर्द्रता का वस्तुओं के स्थायित्व, इमारतों की रचना, विद्युत यंत्रों, रेडियो आदि पर प्रभाव होता है।

(2) सापेक्षिक आर्द्रता का वितरण

धरातल पर सापेक्षिक आर्द्रता का क्षैतिज वितरण मेखला में पाया जाता है। भूमध्य रेखीय प्रदेशों में अधिकतम सापेक्षिक आर्द्रता होती है। 30^0 उ० तथा द० अक्षांशों के पास यह न्यून हो जाती है तथा उच्च अक्षांशों की ओर पुनः बढ़ने लगती है। ध्रुवों की ओर पुनः घटने लगती है। सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायन होने के साथ-साथ उच्च और निम्न सापेक्षिक आर्द्रता मण्डल में भी क्रमशः उत्तर-दक्षिण की ओर खिसकाव होता रहता है। सापेक्षिक आर्द्रता के मौसमी वितरण पर अक्षांशों का अधिक प्रभाव होता है। दोनों गोलार्द्धों में 30^0 (उ० तथ द०) अक्षांशों तक अधिकतम सापेक्षिक आर्द्रता गर्मियों में तथा उच्च अक्षांशों में औसत से अधिक सापेक्षिक आर्द्रता सर्दियों में मिलती है। सापेक्षिक आर्द्रता सुबह अधिकतम तथा सायंकाल न्यूनतम होती है।

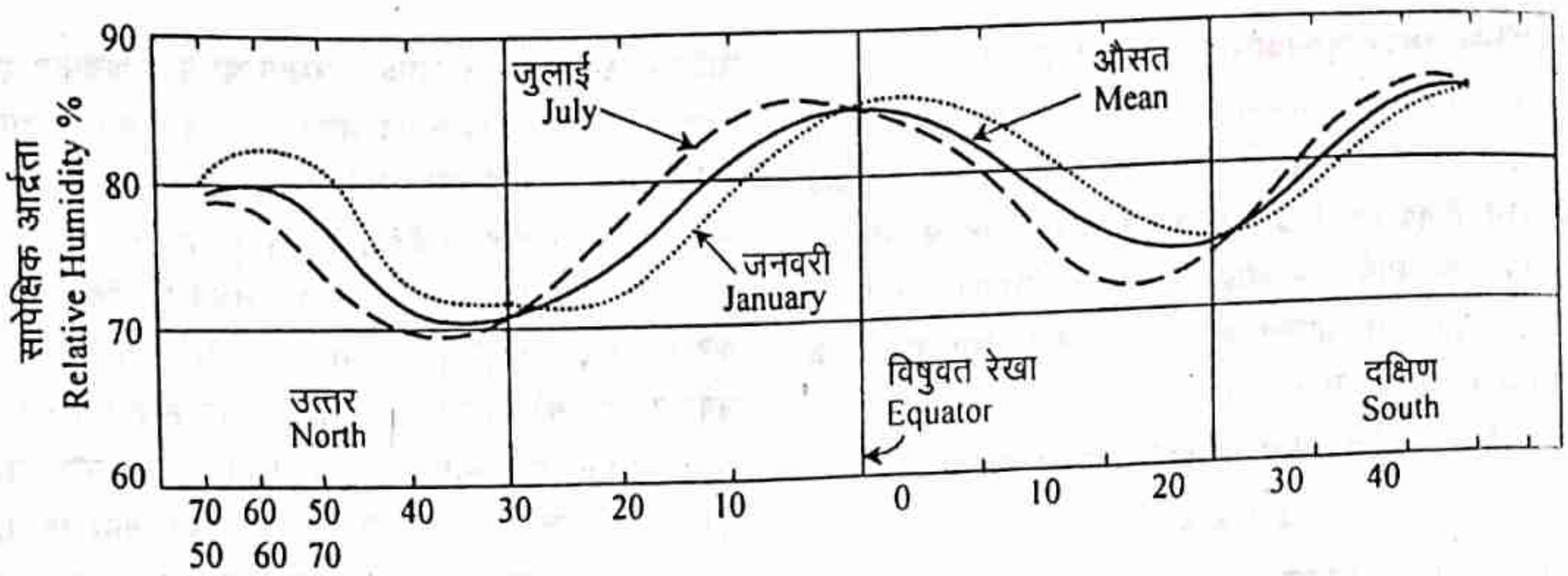

चित्र 36.1 : सापेक्षिक आर्द्रता का कटिबन्धीय वितरण।

(4) विशिष्ट आर्द्रता (specific humidity)

एक किलोग्राम आर्द्र वायु में मौजूद ग्राम इकाई में जलवाष्प के सकल द्रव्यमान (mass) को विशिष्ट आर्द्रता कहते हैं। इस प्रकार विशिष्ट आर्द्रता निश्चित आयतन वाली आर्द्र हवा में वर्तमान वास्तविक नमी की मात्रा को दर्शाती है। वास्तव में विशिष्ट आर्द्रता निश्चित आयतन वाली हवा के सकल भार तथा उसमें मौजूद जलवाष्प के भार के बीच अनुपात होती है। तापमान या वायुदाब में परिवर्तन का विशिष्ट आर्द्रता पर कोई प्रभाव नहीं होता है क्योंकि इसे भार (weight) की इकाई में नापा जाता है। विशिष्ट आर्द्रता एवं वाष्प दाब (vapour pressure) में सीधा सम्बन्ध होता है, अर्थात् यदि वाष्प दाब में वृद्धि होती है तो विशिष्ट आर्द्रता में भी वृद्धि होती है, तथा वाष्प दाब में कमी होने पर विशिष्ट आर्द्रता में भी कमी होती है। विशिष्ट आर्द्रता एवं वायुदाब में विलोम सम्बन्ध होता है, अर्थात् वायुदाब में वृद्धि होने पर विशिष्ट आर्द्रता में कमी, तथा वायुदाब में कमी होने पर विशिष्ट आर्द्रता में वृद्धि होती है। विशिष्ट आर्द्रता में भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर कमी होती जाती है। उदाहरण के लिए, आर्कटिक क्षेत्रों में अति शीत एवं शुष्क वायु की विशिष्ट आर्द्रता एक किलोग्राम वायु में 0.2 ग्राम होती है, जबकि भूमध्यरेखीय प्रदेशों में अति गर्म एवं आर्द्र हवा की विशिष्ट आर्द्रता प्रति किलोग्राम वायु में 18 ग्राम होती है। विशिष्ट आर्द्रता के आधार पर वायुमण्डल से सम्भावित वर्षा की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी आधार पर ए० यन० तथा ए० यच० स्टालर (1978) ने विशिष्ट आर्द्रता को भूगोलवेत्ता की छड़ी (मापदण्ड) बताया है जिसके आधार पर प्राकृतिक जलसंसाधन का आकलन किया जा सकता है।

36.4 संघनन तथा उसके रूप

(Condensation and Associated Forms)

जल के गैसीय रूप (जलवाष्प-water vapour) का जल (ठोस-हिम या तरल) में रूपान्तर ही संघनन कहा जाता है। इस तरह संघनन वाष्पीकरण का विलोम रूप होता है। संघनन की क्रिया वायुमण्डल में स्थित सापेक्षिक आर्द्रता की मात्रा पर आधारित होती है। जब हवा में सापेक्षिक आर्द्रता शत-प्रतिशत हो जाती है तो उस हवा को संतृप्त हवा (saturated air) कहते हैं। हवा को संतृप्त करने के लिए दो उपाय किये जा सकते हैं। या तो हवा में निश्चित तापमान पर आर्द्रता को बढ़ाकर निरपेक्ष आर्द्रता को आर्द्रता सामर्थ्य के बराबर कर दिया जाय, या तापमान को तब तक घटाया जाय, जब तक कि निरपेक्ष आर्द्रता तथा आर्द्रता सामर्थ्य समान न हो जाय। उदाहरण के लिए, यदि 60^0 फा० तापमान पर एक घनफुट हवा की निरपेक्ष आर्द्रता 4.1 ग्रेन है जब कि आर्द्रता सामर्थ्य 5.7 ग्रेन है (सापेक्षिक आर्द्रता 72%) और यदि इस हवा का तापमान घटाकर 50^0 फा० कर दिया जाय तो आर्द्रता सामर्थ्य एवं वास्तविक आर्द्रता, दोनों 4.1 ग्रेन (सापेक्षिक आर्द्रता 100%) हो जायेगी। परिणामस्वरूप शत-प्रतिशत सापेक्षिक आर्दता के होने पर वायु संतृप्त हो जाती है तथा संघनन प्रारम्भ हो जाता है। जिस तापमान पर हवा संतृप्त होती है, उसे **ओसांक या ओस बिन्दु** (dew point) कहते हैं। संतृप्तावस्था के बाद वायु को ठंडा करने पर संघनन प्रारम्भ हो जाता है, अर्थात् 100% सापेक्षिक आर्द्रता के बाद अतिरिक्त आर्द्रता का संघनन हो जाता है। यदि तापमान 32^0 फा० के ऊपर है तो तरल रूप में (ओस, कुहरा, बादल आदि) और यदि हिमांक (32^0 फा० के नीचे) के बाद संघनन होता है तो वाष्प हिमकणों के रूप में (तुषार, हिम आदि) प्रकट होती है।

36.5 वायु का ठंडा होना तथा एडियाबेटिक ताप परिवर्तन

(cooling of the air and adiabatic change of temperature)

सागर तल से ऊँचाई पर जाने पर प्रति 1000 फीट ऊँचाई पर 3.6^0 फा० (6.5^0 C प्रति 1000 मीटर) तापमान कम हो जाता है। इसे **सामान्य ताप पतन दर** (normal temperature

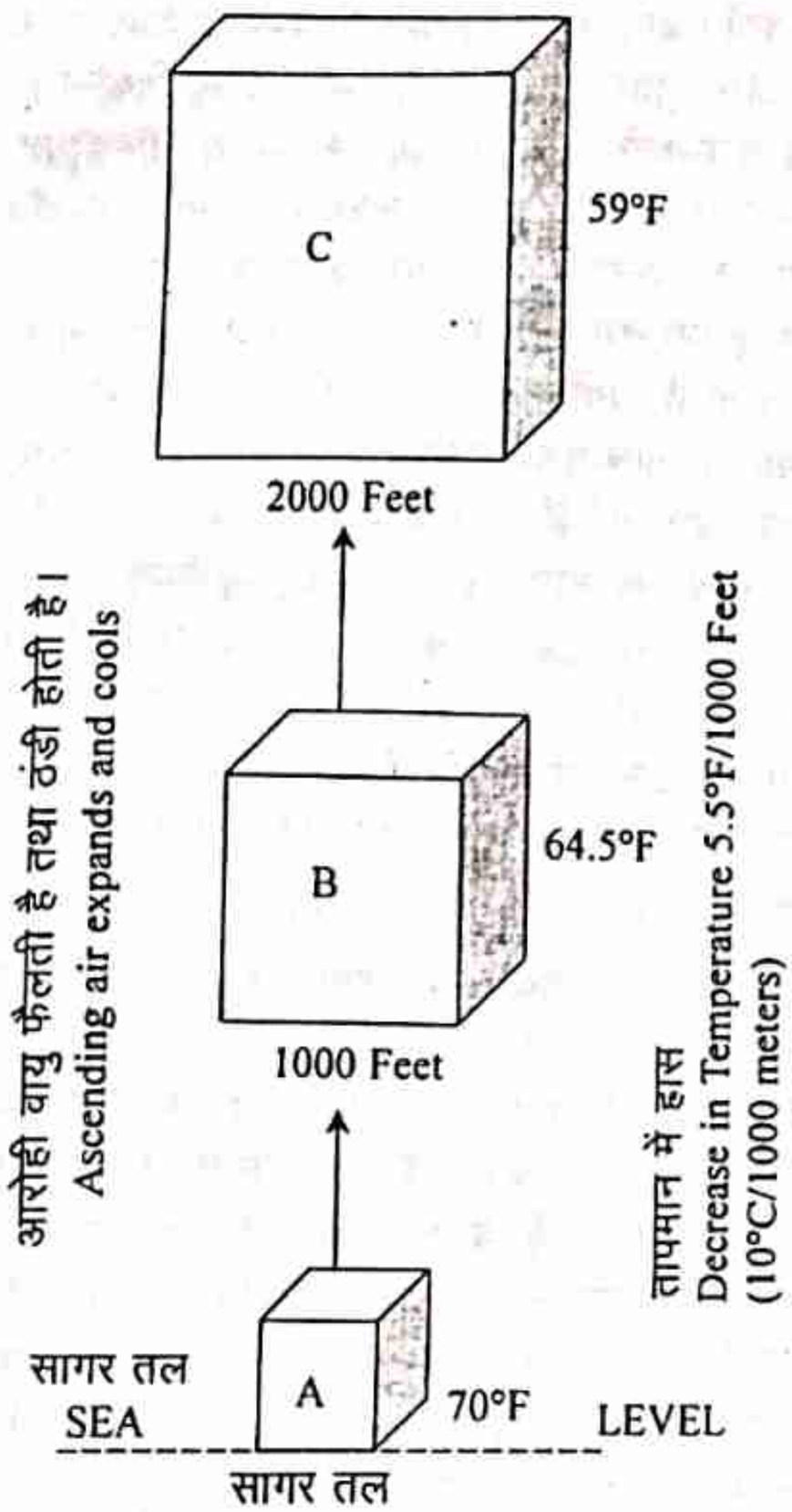

चित्र 36.2 : हवा का ऊपर उठकर फैलना तथा ठंडा होना।

lapse rate) कहते हैं। कोई निश्चित आयतन वाली वायु यदि सागर तल से ऊपर उठती है, तो वहाँ पर कम वायुमण्डलीय भार के कारण उसका आयतन बढ़ जाता है क्योंकि फैलाव होने लगता है। उदाहरण के लिए, यदि सागर तल (1016 mb वायुदाब) से एक घनफुट वायु 17,500 फीट की ऊँचाई पर पहुँचती है, तो उसका आयतन बढ़कर दोगुना (2 घनफीट) हो जाता है। इसके विपरीत ऊँचाई से जब निश्चित आयतन वाली हवा नीचे उतरती है, तो अधिक वायुमण्डलीय भार के कारण वह सिकुड़ती है तथा उसका आयतन घट जाता है। इस तरह वायु के ऊर्ध्वाधर रूप (vertical) में ऊपर या नीचे जाने के कारण बिना अतिरिक्त ऊष्मा (heat) के मिलाये तापमान में परिवर्तन आ जाता है। वायु में अन्तर्क्रिया (फैलने या सिकुड़ने) के कारण तापमान में परिवर्तन को **रुद्धोष्म परिवर्तन** (adiabatic change) या **'एडियाबेटिक परिवर्तन'** कहते हैं।

एडियाबेटिक ताप परिवर्तन के प्रकार

जब कोई असंतृप्त वायु (unsaturated air) ऊपर उठती है तो उसका तापमान प्रति 1000 फीट पर 5.5^0 फा० की दर (1000 मीटर पर 10^0 सेंग्रे०) से कम होता जाता है। इसे **शुष्क रुद्धोष्म दर या शुष्क एडियाबेटिक दर** (dry adiabatic rate) कहते हैं। स्पष्ट है कि यह सामान्य ताप पतन दर से अधिक है। दोनों में अन्तर सुस्पष्ट है। शुष्क एडियाबेटिक ताप पतन के अन्तर्गत ऊपर उठती वायु ठंडी होती है अर्थात् किसी निश्चित वायु का तापमान उठते समय भिन्न-भिन्न होता है। चित्र10.2 में सागर-तल पर 'A' वायु का तापमान 70^0 फा० है। 1000 फीट की ऊँचाई पर जाने पर 'A' का तापमान घटकर 64.5 तथा 2000 फीट की ऊँचाई पर 59^0 फा० हो गया है। इसके विपरीत 'सामान्य ताप पतन' वायुमण्डल की विभिन्न ऊँचाई पर थर्मामीटर द्वारा अंकित तापमान होता है। उदाहरण के लिए, यदि सागर तल पर स्थित वायुमण्डल का तापमान 70^0 फा० है तो 1000 फीट की ऊँचाई पर स्थित वायुमण्डल का तापमान $70-3.6^0$ फा० = 66.4^0 फा० तथा 2000 फीट की ऊँचाई पर $66.4^0 - 3.6^0 = 62.8^0$ फा० होगा। 'एडियाबेटिक ताप परिवर्तन दर' सदैव समान होती है, तापमान चाहे जो भी हो।

अधिक ऊँचाई पर जाने पर वायु संतृप्त हो जाती है तथा संघनन प्रारम्भ हो जाता है तो 'संघनन की गुप्त ऊष्मा' (latent heat of condensation) वायु में मिल जाती है जिस कारण उठती वायु के ठंडा होने की दर कम हो जाती है। यह प्रति 1000 फीट पर 3^0 फा० (6^0 C प्रति 1000 मीटर) की दर से सम्पन्न होती है। इसे **आर्द्र रुद्धोष्म दर या आर्द्र एडियाबेटिक दर** (moist adiabatic rate) कहते हैं। इसे **मंदित एडियाबेटिक रेट** (retarded adiabatic rate) भी कहते हैं।

36.6 कुहरा (Fog)

1. सामान्य परिचय

लघु जलसीकरों से परिपूर्ण कुहरा एक प्रकार का बादल होता है, जो कि सामान्य बादलों के विपरीत धरातल के समीप पाया जाता है तथा धरातल की अदृश्यता के लिए जिम्मेदार होता है। यदि बादलों का निर्माण गर्म हवा के ऊपर उठकर फैलने तथा ठंडी होने के कारण होता है तो कुहरा का सृजन धरातल के पास विकिरण, परिचालन (conduction) तथा गर्म एवं ठंडी वायु राशियों के मिश्रण के कारण होता है। धरातल के पास जब नम वायु का तापमान ओसांक (dew point) को पहुँच जाता है तथा जब हवा और ठंडी होती है, तो संघनन के कारण जलवाष्प वायुमण्डल में व्याप्त धूलिकण, धूम्र आदि के चारों तरफ एकत्र होकर छोटे-छोटे जलसीकरों में बदल जाता है जो कि हलका होने के कारण वायु में लटके रहते हैं तथा उनका एकत्रित समूह धुएं के बादल के समान दिखाई पड़ता है। हवा के साथ बादलों के समान कुहरा भी उड़ता रहता है। अधिक घना होने पर अदृश्यता बढ़ जाती है तथा अंधेरा छा जाता है। वृष्टि न होने पर भी कुहरा में चलने पर कपड़े आदि भीग जाया करते हैं। जब तक 2 किमी० तक स्थित वस्तुएँ दृष्टिगत होती

हैं, तो कुहरा हल्का होता है और उसे कुहासा (mist) कहते हैं। कुहरा के लिए दो कारकों का होना आवश्यक है–या तो निश्चित तापमान पर वायु में नमी की मात्रा बढ़ा दी जाय, जैसा कि गर्म तथा ठंडी हवाओं के मिलने पर होता है, या निश्चित नमी वाली हवा का तापमान कम कर दिया जाय (हवा को बिना ऊपर उठाये), जैसा कि तापमान के प्रतिलोमन के समय होता है। कुहरा प्राय: सुबह रहता है, परन्तु दोपहर तक रहना भी सामान्य बात होती है।

कुहरा के प्रकार

कुहरा को दृश्यता के आधार पर 4 प्रकारों में विभक्त करते है :

(1) हलका कुहरा (दृश्यता–1100 मीटर तक), (2) साधारण कुहरा (दृश्यता–1100–550 मीटर), (3) सघन कुहरा (550–300 मीटर), तथा (4) अति सघन कुहरा (300 मीटर से कम)।

विलेट (Willet) महोदय ने कुहरे का वर्गीकरण निर्माण विधि (ओसांक प्राप्त होने की विधि) के आधार पर दो प्रकारों में किया है–(1) अन्तर-वायु राशि कुहरा, जिसका निर्माण वायु के तापमान को कम करके ओसांक तक आने पर होता है। (2) वाताग्र या सीमान्त कुहरा, जिसका निर्माण आर्द्रता बढ़ाने पर होता है। सामान्य रूप में कुहरे को निम्न प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है–

1. अन्तर वायु राशि कुहरा (intra-airmass fog)

(अ) विकिरण कुहरा (radiation fog)

(ब) सम्पर्कीय विकिरण कुहरा (advection-radiation fog)

(i) वाष्पीय कुहरा (steam fog)

(ii) पहाड़ी कुहरा (hill fog)

2. वाताग्र या सीमान्त कुहरा (frontal fog)

(1) (अ) **विकिरण कुहरा :** विकिरण कुहरा का निर्माण उस समय होता है, जब ठंडे धरातल के ऊपर गर्म और आर्द्र वायु होती है। इस कारण ऊपर स्थित उष्णार्द्र वायु ठंडी होकर संघनित हो जाती है और जल कण आर्द्रताग्राही कणों के चतुर्दिक एकत्रित होकर जल सीकरों में बदल कर कुहरे का निर्माण करते हैं। इसके निर्माण के लिए कुछ दशाओं का होना आवश्यक है। कुहरे के एक दिन पहले आकाश बादल से आच्छादित होना चाहिए और कुछ वर्षा भी होनी चाहिए, ताकि बादलों के नीचे स्थित धरातलीय हवा गर्म तथा शुष्क न हो सके, क्योंकि बादलों के कारण सूर्यातप कम मिल सकेगा। पूर्व दिन वर्षा से हवा को आर्द्रता प्राप्त हो जाती है। रात्रि के तापमान का धरातलीय प्रतिलोमन (surface inversion of temperature) का होना आवश्यक है। इसके कारण कुहरा ऊपर नहीं उठ पाता है। वायु में मन्द संचार (9 किमी० प्रति घण्टा से अधिक नहीं) होना चाहिए। रात्रि में आकाश बादलों से रहित होना चाहिए। कुहरे का रात्रि में धरातल पर निर्माण होता है तथा वह धीरे-धीरे ऊँचाई में बढ़ने लगता है और सुबह 'ताप प्रतिलोमन' के समाप्त होते ही अदृश्य हो जाता है, क्योंकि सूर्य की किरणों के कारण जल सीकरों का वाष्पीकरण हो जाता है। विकिरण कुहरा बड़े बड़े नगरों के ऊपर तथा समीपी भागों में अधिक होता है, क्योंकि वहाँ पर 'आर्द्रताग्राही कण' अधिक सुलभ होते हैं। जब गंधक तथा कोयले के कणों के चारों तरफ जल सीकर बन जाते हैं, तो कुहरा अधिक घना होता है। गंधक के कणों के कारण जनित कुहरा (smog) अधिक विषैला होता है तथा अनेक बीमारियों का कारण होता है। कभी-कभी ऊपर वायुमण्डल में ताप प्रतिलोमन के कारण भी कुहरा ऊँचाई पर बन जाता है। इसे **'उच्च प्रतिलोमन कुहरा'** (high inversion fog) कहते हैं। अधिक घने कुहरे की स्थिति में यातायात में पर्याप्त कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

(1) (ब) **सम्पर्कीय विकिरण कुहरा :** जब ठंडे धरातल पर गर्म तथा आर्द्र हवा का आगमन होता है तो उष्णार्द्र एवं ठंडी हवाओं के मिश्रण से उत्पन्न कुहरा को 'सम्पर्कीय या अभिवहनीय कुहरा' कहते हैं। इस तरह का कुहरा प्राय: स्थलीय भागों पर जाड़े में तथा सागरीय भागों पर गर्मियों में होता है, क्योंकि शीतकाल में स्थलीय भाग, सागरों की अपेक्षा ठंडे होते हैं। गर्मियों में उच्च अक्षांशों में हिम के पिघलने के कारण सागरीय जल ठंडा हो जाता है। जहाँ पर गर्म तथा ठंडी जलधाराएं मिलती हैं, वहाँ पर भी घना कुहरा पड़ता है। उदाहरण के लिए, न्यूफाउण्डलैण्ड के पास गर्म खाड़ी की धारा तथा ठंडी लेब्राडोर की धारा के मिलने के कारण तथा जापान तट पर गर्म क्यूरोसिवो तथा ठंडी क्यूराइल जलधारा के मिलने के कारण कुहरा पड़ता है। सागरीय भागों पर इस तरह के कुहरे को **सागरीय कुहरा** (sea fog) कहते हैं। यह कुहरा प्राय: उन तटीय भागों के पास होता है, जहाँ ठंडी जलधारा प्रवाहित होती है, जैसे कि कैलिफोर्निया तट के पास कैलिफोर्निया ठंडी जलधारा के कारण कुहरा पड़ता है। इसी तरह प० आस्ट्रेलिया की धारा, पीरू की धारा तथा बेंगुला की धारा के कारण कुहरा होता रहता है। सागर से स्थल की ओर बहने वाली हवा इस सागरीय कुहरा को स्थल में अन्दर की ओर 400 किमी० तक प्रविष्ट करा देती है। कभी-कभी उष्ण कटिबंधीय उष्णार्द्र वायु उच्च अक्षांशों के ठंडे भागों में पहुँच कर कुहरा उत्पन्न करती है। इस तरह का कुहरा स्थल तथा जल दोनों पर होता है। सम्पर्कीय कुहरा महाद्वीपों के अन्दर स्थित झीलों तथा जलाशयों के ऊपर तथा उनके समीपी भागों में भी होता है। यह दो प्रकार का होता है।

(i) **वाष्पीय कुहरा :** यह एक प्रकार से सम्पर्कीय कुहरा का ही रूप है, अन्तर केवल इतना है कि इसका निर्माण उस समय

होता है, जबकि ठंडी हवा गर्म सागरीय भाग के ऊपर आ जाती है। इस कारण सागरों के ऊपर की गर्म हवा ठंडी हवा के संयोग से संघनित होने लगती है, जिस कारण कुहरा का आर्विभाव हो जाता है। जल के ऊपर वाष्प के कण दूर से ऐसे दिखते हैं, लगता है कि जल से भाप निकल रही हो। इसी कारण से अल्पकालिक कुहरा को 'वाष्पीय कुहरा' कहते हैं। उच्च अक्षांशों में प्राय: ऐसा होता रहता है तथा इन्हें **ध्रुवीय धुआं** कहते हैं।

(ii) **पहाड़ी कुहरा :** महाद्वीपों के भीतर चलने वाली उष्णार्द्र हवा जब पहाड़ी ढालों के सहारे ऊपर उठती है, तो संघनन के कारण कुहरे का निर्माण करती है, जिससे पहाड़ी का निचला भाग ढक जाता है तथा अदृश्यता बढ़ जाती है। इस तरह का कुहरा प्राय: शीतोष्ण कटिबंध में पहाड़ी ढलानों पर किसी भी मौसम में होता रहता है।

2. **सीमान्त कुहरा :** जब दो विपरीत स्वभाव वाली (एक शीत तथा दूसरी उष्ण) हवाएं विपरीत दिशाओं से आकर एक रेखा के सहारे आमने-सामने (converge) मिलती हैं तो वाताग्र (front) का निर्माण होता है। इस वाताग्र के सहारे गर्म हवा, ठंडी हवा के ऊपर उठती है, जिस कारण वह ठंडी होती है तथा संघनन के बाद कुहरा उत्पन्न हो जाता है। वास्तव में ऊपर उठी हवा के संघनन के कारण वर्षा होती है, जिससे निचली ठंडी हवा आर्द्र हो जाती है और कुहरा प्रारम्भ हो जाता है।

कुहरा का वितरण

समस्त ग्लोब पर यदि कुहरे का वितरण देखा जाय तो सर्वाधिक कुहरा सागरीय भागों पर होता है। खासकर यह सागरीय कुहरा सम्पर्कीय होता है, क्योंकि गर्म स्थलीय भागों की हवा अपेक्षकृत ठंडे सागरीय भागों पर पहुँच कर कुहरा उत्पन्न करती है। कुहरा क्षेत्रों तथा ठंडी सागरीय धाराओं में पर्याप्त सम्बन्ध है। चूँकि अधिकांश ठंडी जल धाराएं (कैलिफोर्निया, बेंगुला, पीरू आदि) महासागरों के पूर्वी भाग तथा महाद्वीपों के पश्चिमी तटीय भागों में प्रवाहित होती हैं, अत: ये क्षेत्र विश्व के सर्वाधिक कुहरा वाले भाग हैं। मध्य अक्षांशों में चक्रवातों के कारण कुहरा उत्तरी अटलाण्टिक महासागर के पूर्व में, उत्तरी प्रशान्त महासागर के अल्यूशियन द्वीप तथा अलास्का की खाड़ी के पास बन जाता है। निम्न अक्षांशों में स्थलीय भागों पर प्राय: विकिरण कुहरा हो जाता है। स्थलीय भागों पर कुहरा शीतकाल में अधिकतम तथा गर्मियों में न्यूनतम होता है। सागरीय भागों पर कुहरा गर्मियों में अधिकतम तथा सर्दियों में न्यूनतम होता है।

कुहरे का प्रभाव

महासागरों तथा महाद्वीपों पर कुहरे के कारण जलयान, वायुयान तथा अन्य यातायात में कठिनाई होती रहती है तथा दुर्घटनाएं भी बढ़ जाती हैं। कभी-कभी कुहरा इतना घना हो जाता है कि मानव का पैदल चलना रुक जाता है। पहाड़ियों पर कुहरे के कारण चाय तथा कहवा के पौधों को सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से रक्षा हो जाती है। अरब में यमन की पहाड़ियों पर **'मोचा कहवा'** को कुहरे से पर्याप्त लाभ होता है। जब कुहरे का सम्बन्ध कारखानों से निस्सृत गंधक से हो जाता है तो वह विषैला होकर प्राणघातक हो जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के पेन्शनवेलिया प्रान्त की 'डोनोरा घाटी' में 26 अक्टूबर 1948, मंगलवार को 1000 फीट मोटी ठंडी वायु की परत का विस्तार हो गया तथा बुद्धवार तक घने कुहरे का विकास हो जाने तथा कारखानों की चिमनियों से निकलने वाले धुएं के साथ सल्फाइड फ्यूम्स (sulfide fumes) के वायु से मिल जाने के कारण जहरीले कुहरे का निर्माण हो गया, परिणामस्वरूप डोनोरा घाटी के 43 प्रतिशत निवासी बीमार (खांसी तथा श्वसन क्रिया में रुकावट) हो गये तथा 20 व्यक्ति मौत के शिकार हो गये। इसी तरह का जहरीला कुहरा म्यूस घाटी (Meuse Valley, बेल्जियम में) में 1930 में दिसम्बर मास में विकसित हुआ था। इस घाटी में स्थित जिन्क स्मेल्टर्स तथा सल्फ्यूरिक एसिड के कारखानों से निस्सृत सल्फर डाइ आक्साइड गैस का कुहरे की जलसीकरों (droplets) से सम्मिलन हो जाने से जहरीले सल्फ्यूरिक एसिड के बन जाने से जहरीले कुहरे के कारण मानव श्वसन प्रक्रिया (human respiration system) में अवरोध हो जाने के कारण 63 व्यक्ति मृत्यु के शिकार हो गये। इसी तरह 1952 में लन्दन नगर में दिसम्बर मास में जहरीले कुहरे के कारण 4000 व्यक्ति मर गये। इस प्रकार कुहरे का प्रभाव हितकर और अहितकर दोनों हो सकता है।

36.7 बादल (Clouds) प्रश्न :- बादल परिभाषा, निर्माण व प्रकार

सामान्य परिचय

बादल, जल सीकरों अथवा हिम सीकरों का ही बड़े पैमाने पर समूह होता है जो कि कुहरे की अपेक्षा ऊँचाई पर पाया जाता है। जब ऊपर उठती गर्म एवं आर्द्र हवा की **'एडियाबेटिक ताप पतन दर'** आस-पास की वायु के ताप पतन दर से कम हो तो वायु अस्थिर होकर निरन्तर ऊपर उठकर ठंडी हो जाती है तथा ओसांक के बाद संघनन प्रारम्भ हो जाता है। जब संघनन हिमांक के ऊपर सम्पन्न होता है, तो जलसीकरों का अथवा हिमांक के नीचे हिम सीकरों का निर्माण होता है। इनका आकार धीरे-धीरे बढ़ता जाता है तथा अधिक मात्रा में हो जाने पर इनका समूह बादल की रचना करता है। वास्तव में ये जल सीकर या हिम सीकर वायुमण्डल में लटकते रहते हैं। बादल विभिन्न ऊँचाइयों पर पाये जाते हैं, परन्तु समताप मण्डल में इनका सर्वथा अभाव होता है। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर बादलों की ऊँचाई में अन्तर आ जाता है। निम्न अक्षांशों से इनकी ऊँचाई उच्च अक्षांशों की ओर घटती जाती है। बादलों का किसी भी स्थान के मौसम तथा जलवायु पर पर्याप्त प्रभाव होता है।

बादलों का वर्गीकरण

बादलों में पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है। यह अन्तर धरातल से ऊँचाई, उनके रूप तथा आकार एवं आकाश में उनके विस्तार पर आधारित होता है। इन्हीं आधारों पर बादलों को कई प्रकारों में विभक्त किया जाता है। परन्तु 1932 में किये गये अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन में उपर्युक्त सभी कारकों को ध्यान में रखा गया है तथा बादलों को चार प्रमुख प्रकारों तथा 10 उप प्रकारों में विभक्त किया गया है। ऊँचाई को वरीयता दी गयी है।

1. उच्च बादल (6,000-20,000 मीटर)

(i) **पक्षाभ बादल** (cirrus clouds) सबसे अधिक ऊँचाई पर प्राय: छितराये रूप में रेशम के सदृश दीखते हैं, क्योंकि इनका निर्माण छोटे-छोटे हिमकणों द्वारा होता है, जिनसे होकर सूर्य की किरणें गुजरती हैं तथा श्वेत रंग हो जाता है, परन्तु सायंकाल कई रंग हो जाते हैं। जब ये मेघ असंगठित तथा छितराये रूप में होते हैं, तो साफ मौसम की सूचना होती है, परन्तु जब संगठित होकर विस्तृत क्षेत्र में फैल जाते हैं तो खराब मौसम अवश्यम्भावी हो जाता है। चक्रवातों के आगमन के पहले आकाश में पक्षाभ मेघ दीखने लगते हैं।

(ii) **पक्षाभ स्तरी बादल** (cirro-stratus clouds) प्राय: श्वेत वर्ण के होते हैं जो कि आकाश में एक पतली दुधिया रंग की चादर के समान फैले रहते हैं। इनके आगमन पर सूर्य तथा चन्द्रमा के चारों ओर **प्रभा मण्डल** (halo) बन जाते हैं, जो कि निकट भविष्य में चक्रवात के आगमन की सूचना देते हैं।

(iii) **पक्षाभ कपासी बादल** (cirro-cumulus clouds) श्वेत रंग के ये बादल या तो छोटे-छोटे गोलाकार रूपों में या लहरनुमा रूप में पाये जाते हैं।

2. मध्यम ऊँचाई के बादल (2500 से 6000 मीटर)

(iv) **उच्चस्तरी बादल** (alto-stratus clouds)—आकाश में लगातार रूप में फैले नीले अथवा भूरे रंग की पतली चादर वाले बादलों को 'उच्चस्तरी मेघ' कहते हैं। जब इनकी चादर आकाश में सघन होती है तो सूर्य एवं चन्द्रमा स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ते हैं। वास्तव में ये घने पक्षाभस्तरी मेघों के समान ही होते हैं तथा धीरे-धीरे उनमें समाविष्ट भी हो जाते हैं, परन्तु इनके कारण सूर्य तथा चन्द्रमा के चारों ओर प्रभामण्डल नहीं बन पाता है। इनसे विस्तृत तथा लगातार वर्षा होती है।

(v) **उच्च कपासी बादल** (alto-cumulus clouds)—ये पक्षाभ कपासी मेघों के समान ही गोलाकार रूप में पंक्तियों या लहरों में पाये जाते हैं, अन्तर केवल ऊँचाई का तथा इनके विस्तृत क्षेत्र का ही है।

3. निम्न बादल (2500 मीटर ऊँचे)

(vi) **स्तरी कपासी बादल** (strato-cumulus clouds)—इनका रंग हलका भूरा होता है तथा ये बड़े-बड़े गोलाकार चकत्तों के रूप में पाये जाते हैं। इनकी ऊँचाई 2500 से 3000 मीटर तक होती है।

(vii) **स्तरी बादल** (stratus clouds)—ये बादल प्राय: कुहरे के समान होते हैं परन्तु धरातल से सटे नहीं होते हैं। इनकी रचना कई समान परतों से होती है। इनका निर्माण दो विपरीत स्वभाव वाली हवाओं के मिलने से प्राय: शीतोष्ण कटिबंध में सर्दियों में होता है।

(viii) **वर्षा स्तरी बादल** (nimbo-stratus clouds)—धरातल के नजदीक पाये जाने वाले काले रंग के ये घने बादल किसी भी आकार में हो सकते हैं। इनकी सघनता के कारण अन्धकार तक छा जाता है तथा वर्षा खूब होती है।

(ix) **कपासी बादल** (cumulus clouds)—अधिक घने तथा विस्तृत होते हैं। प्राय: ये लम्बे रूप में होते हैं, जिनका ऊपरी भाग गुम्बदाकार या गोभी के फूल के समान होता है, परन्तु आधार समतल होता है। इनसे प्राय: साफ मौसम का आभास होता है, परन्तु कभी-कभी ये गरजने वाले बादल भी बन जाते हैं।

(x) **कपासी वर्षा बादल** (cumulo-nimbus clouds)—ये अत्यधिक विस्तृत तथा गहरे बादल होते हैं, जिनका विस्तार ऊँचाई में अधिक होता है, जिससे ये पर्वत सदृश या लम्बवत् स्तम्भ के रूप में दृष्टिगत होते हैं। इनके साथ वर्षा, ओला तथा तड़ित् झन्झा की अधिक सम्भावना रहती है।

36.8 जल वर्षा

जल वर्षा की उत्पत्ति

जल वर्षा के लिए अस्थायी उष्णार्द्र वायु तथा वायुमण्डल में असंख्य मात्रा में **'आर्द्रताग्राही नाभिक'** (hygroscopic nuclei) का होना आवश्यक है। उठती हुई वायु ठंडी होने के बाद संतृप्त हो जाती है तथा संघनन के बाद बादलों के निर्माण के बावजूद भी वर्षा नहीं हो पाती है। इससे स्पष्ट है कि वर्षा के लिए वायु का अति संतृप्त (supersaturation) होना आवश्यक है। जब सापेक्षिक आर्द्रता 100% हो जाती है तो उसके बाद वायु के ठंडी हो जाने से संघनन प्रारम्भ होता है, परन्तु सबसे पहले बड़े-बड़े 'आर्द्रताग्राही नाभिक' के चारों ओर ही संघनन प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह से बनी बूंदों को **मेघ सीकर** (cloud droplets) कहते हैं। इनके अधिक मात्रा में समूह में एकत्रित हो जाने से बादल का निर्माण होता है। ये मेघ सीकर इतने छोटे होते हैं कि आसानी से वायु में लटके रहते हैं। जब तक ये मेघ सीकर आपस में इतने बड़े नहीं हो जाते कि वायु उन्हें रोकने में असमर्थ हो जाय, तब तक वर्षा नहीं हो पाती है। यही कारण है कि कभी-कभी आकाश घने बादलों से आच्छादित रहता है, तथापि वर्षा नहीं हो पाती है। यदि किसी कारण से ये मेघ सीकर जब नीचे गिरते हैं, तो धरातल पर आने से पहले ही उनका वाष्पीकरण हो जाता है। अब समस्या उठती है, इन मेघ

सीकरों के आपस में मिलकर जल सीकर (rain drops) में बदलने की। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित दो प्रक्रियाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

1. यदि उष्णार्द्र वायु इतनी ऊँचाई पर पहुँच जाती है कि संघनन हिमांक के नीचे (32° फा० के नीचे) होता है, तो कुछ जल सीकर (water droplets) तथा कुछ हिम सीकर का निर्माण हो जाता है। जलकण तथा हिमकणों के वाष्प दाब (vapour pressure) में अन्तर के कारण जलकण का वाष्पीकरण हो जाता है तथा उसका संघनन हिमकण के चारों तरफ होने लगता है। इस क्रिया के अपेक्षित समय तक सम्पन्न होने पर हिम सीकर इतनी बड़ी हो जाती है कि हवा में निलम्बित नहीं रह सकती है। परिणामस्वरूप नीचे गिरने लगती है। यदि तापमान अधिक होता है तो वह जलसीकर के रूप में गिरती है।

2. बादलों में निलम्बित मेघ सीकर भिन्न-भिन्न आकार की होती हैं। ये मेघ सीकर अपने आकार में विभिन्नता के कारण विभिन्न गति से गिरकर आपस में टकराती रहती हैं, जिस कारण बड़े मेघ सीकरों का आकार बढ़ता जाता है और जलसीकर (बूंद) का निर्माण होता है। जब ये इतनी बड़ी हो जाती हैं कि उठती वायु इन्हें रोकने में असमर्थ हो जाती है तो ये बरस पड़ती हैं, जिसे 'जलवर्षा' कहते हैं।

जल की एक आर्द्रता बूंद की व्यास 5 मिमी० होती है तथा उसमें 8,000,000 मेघ् सीकर होते हैं। वह मेघ सीकर की अपेक्षा 200 गुनी अधिक रफ्तार से गिरती है। जब बूंदे आकार में अधिक बड़ी हो जाती हैं तथा अधिक रफ्तार (प्रति घण्टे 30 किमी० से अधिक) से गिरती हैं तो बूंदें मार्ग में टूट जाती हैं। इस तरह की वर्षा मूसलाधार होती है। जब वायु के ऊपर उठने की गति मन्द होती है तो सामान्य संघनन के कारण छोटे-छोटे जलसीकर भी नीचे गिर जाते हैं। इस तरह की वर्षा को **बौछार** (drizzle) या **'फुहार'** कहते हैं। जब संघनन हिमांक के नीचे होता है तो वर्षा ठोस रूप में (हिम) होती है। उसे हिम वर्षा कहते हैं।

36.9 वर्षण (Precipitation) के सिद्धान्त

1. ऐतिहासिक परिवेश

वर्षण के सिद्धान्त के प्रतिपादन का सिलसिला प्राचीनकाल (ईसा पूर्व) से ही प्रारम्भ हो गया था। अरस्तू, थेल्स, प्लिनी, सेनेका आदि यूनानी विद्वान वर्षण की क्रिया से अवगत थे। अरस्तू ने सबसे पहले बताया था कि बादल जलबूँदों के समूह होते हैं तथा उनका निर्माण वायु के ठंडे होने से होता है। अरस्तू के विचारों का प्रभाव 13वीं शताब्दी तक रहा। 1637 में रेने डिलकार्टिस ने बताया कि जलवाष्प वायु नहीं होती है, बल्कि कण होते हैं, जिन्हें एक दूसरे से अलग किया जा सकता है। टोरिसेली द्वारा बैरोमीटर के आविष्कार के साथ वर्षा के विषय में जानकारी वैज्ञानिक स्तर पर मिलने लगी। बैरोमीटर में उतार चढ़ाव तथा जलवाष्प के बीच सम्बन्ध स्थापित किये गये। **प्रसरण तथा सम्पीडन सिद्धान्त** (expansion and compression theory) का प्रतिपादन किया गया। हेले ने **लवणीय उच्छवसन** (saline exhalation) सिद्धान्त प्रस्तुत किया। 1765 में हेमिल्टन ने **संलयन सिद्धान्त** को मान्यता दी। आगे चलकर **पर्वतीय वर्षा सिद्धान्त** (Halley 1693, डिल्यूस 1772, डूकार्ला 1781), **संवाहन वर्षा सिद्धान्त, विरलीकरण तथा शीतलन सिद्धान्त** आदि सामने आये। हटन ने 1788 में वायु की असमान घोलन शक्ति के आधार पर वर्षा सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो घोर आलोचना का शिकार हुआ। **स्थैतिक विद्युत सिद्धान्त** (static electrical theories) के अन्तर्गत फ्रैंकलिन, इल्स, बेसारिया, वाटसन, नोलेट आदि विद्वानों ने यह प्रमाणित करने का भरपूर प्रयास किया कि जलबूँदें विद्युतयुक्त होती हैं तथा विद्युत आवेश (charge) के फलस्वरूप ही ये बूंदें वर्षा की बूंदों में बदल सकती हैं। 1828 में डोव ने प्रदर्शित किया कि वर्षा तभी हो सकती है, जबकि तापमान संघनन बिन्दु से नीचे चला जाय। 1841 में एलियास लूमिस ने वर्षा के कारणों की विशद व्याख्या की। जलबूंदों के आकार, निर्माण तथा विस्तार के सम्बन्ध में विजनर (Wiesner 1895), लेनार्ड (1904) तथा देफान्त (Defant, 1905) ने अपने विचार प्रस्तुत किये। 1933 में बर्जरान का **मेघ अस्थिरता सिद्धान्त** सामने आया, जो अब भी मान्य है। जलवर्षा की बूंदों के निर्माण, विस्तार आदि के सम्बन्ध में प्रतिपादित विचारों को संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

(i) **जलबूंदों में विद्युत आवेश** (charge) विभिन्न दर से होता है, जिस कारण विद्युत-आकर्षण के फलस्वरूप ये बूंदें आपस में मिल जाती हैं तथा उनका आकार बढ़ जाता है। परन्तु इस सिद्धान्त के विषय में यह तथ्य बाधक होता है कि जलबूंदों की आपसी दूरी अधिक होती है जब कि विद्युत आवेश कम होता है। अतः इस प्रक्रिया द्वारा जलबूँदों का संगठन तथा विस्तार नहीं हो सकता है।

(ii) बड़ी जल बूँदें लघु बूँदों को आत्मसात करके और बड़ी हो जाती हैं, परन्तु प्रयोगों के आधार पर यह पता चला है कि बादलों में जलबूँदों के आकार तथा वितरण में समरूपता होती है।

(iii) विभिन्न तापमान पर संतृप्त वाष्प दाब (saturation vapour pressure) में विभिन्नता पायी जाती है। जब वायु विक्षोभ (turbulence) के साथ गर्म तथा शीतल बूँदें साथ-साथ रहती हैं तो इन बूँदों की सतह के सम्बन्ध में वायु के अतिसंतृप्त (शीतल बूँदों के साथ) तथा न्यून संतृप्त (undersaturation) गर्म बूँदों के साथ होने से गर्म बूँद का वाष्पीकरण हो जाता है, जिससे शीतल बूँद के चारों ओर संघनन के कारण उसका आकार बढ़ जाता है।

(iv) बड़े संघनन केन्द्रों (condensation nuclei) के चारों ओर वर्षा की बूँदें बनती हैं तथा विस्तृत होती हैं।

वर्षण से सम्बन्धित निम्नलिखित दो सिद्धान्त उल्लेखनीय है :

1. **बर्जरान-फिण्डीसेन (Bergeron-Findeisen) का मेघ अस्थिरता सिद्धान्त**

अस्थिर मेघ में हिमांक के नीचे तापमान होने पर जल की बूँदें तथा हिमकण (ice crystals) साथ-साथ होते हैं। वायु की सापेक्षिक आर्द्रता (relative humidity) जल सतह की अपेक्षा हिम सतह पर अधिक होती है। जब तापमान 0° सेंग्रे० से नीचे चला जाता है तो वायुमण्डलीय वाष्प दाब जल सतह की अपेक्षा हिम सतह पर तेजी से घटता है, जिस कारण संतृप्त वाष्प दाब (saturation vapour pressure) हिमतल की अपेक्षा जल तल पर अधिक हो जाता है। इस स्थिति में (तापमान–5° से –25° सेंग्रे०) जल बूँद (अतिशीतल) का वाष्पीकरण हो जाता है और वह हिमकण के चारों ओर संग्रहीत हो जाता है।

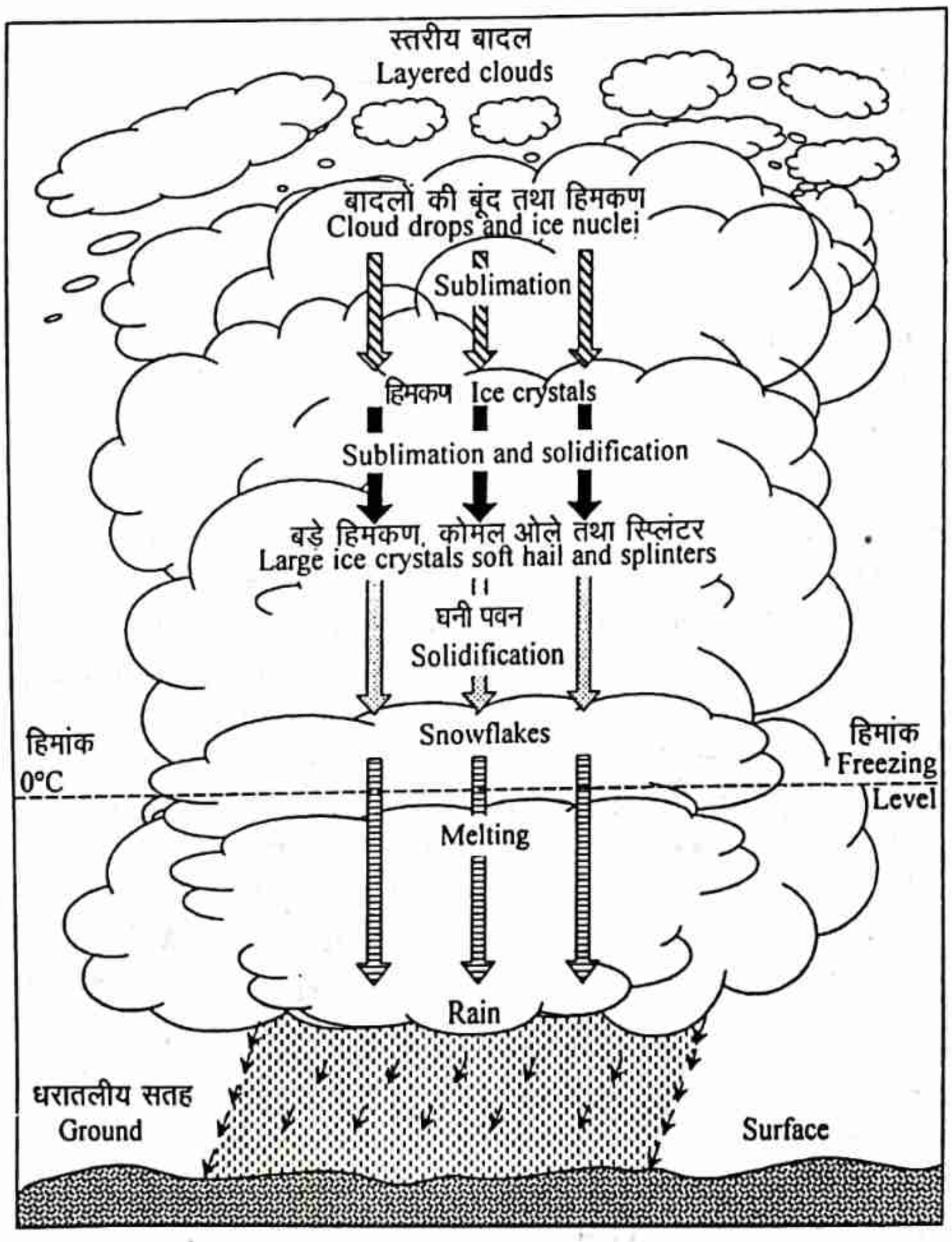

चित्र 36.3 : बर्जरान-फिण्डीसेन के वर्षण सिद्धान्त का आरेखीय प्रदर्शन।

जिस तरह जलबूँदों के निर्माण के लिए आर्द्रताग्राही नाभिक (hygroscopic nuclei) की आवश्यकता होती है, उसी तरह हिमकण के निर्माण के लिए हिमायन नाभिक (freezing nuclei) आवश्यक होते हैं। ये हिमायन नाभिक सूक्ष्म मृदाकण (fine soil particles), उल्का धूल (meteoric dust), ज्वालामुखी धूल आदि से प्राप्त होते हैं।

शनैः शनैः हिमकण बढ़ते जाते हैं। 0° सेंग्रे० से –5° सेंग्रे० तापमान इन कणों के संवर्द्धन (aggregation) के लिए आदर्श

होता है। जब हिमकण बड़े आकार के हो जाते हैं तथा उनके नीचे गिरने की रफ्तार वायु की उपरिमुखी प्रवाह गति से अधिक हो जाती है, तो ये हिमकण नीचे गिरने लगते हैं। हिम कण जब 0^0 सेंग्रे० से अधिक गर्म मोटी वायु परत से होकर नीचे गिरते हैं, तो वे जल वर्षा की बूँदों में बदल जाते हैं तथा वर्षा प्रारम्भ हो जाती है।

यद्यपि यह सिद्धान्त अधिक वैज्ञानिक तथा तर्कसंगत है, तथापि कुछ समस्याओं का हल नहीं कर पाता है। उदाहरण के लिए, उष्ण कटिबंधीय महासागरों के ऊपर कपासी मेघ (cumulus clouds) 2000 मीटर (6500 फीट) की ऊँचाई पर ही घनघोर वृष्टि प्रदान कर देते हैं, जबकि उनके शीर्ष पर तापमान 5^0 सेंग्रे० से अधिक रहता है।

2. टकराव सिद्धान्त (collision theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार वर्षा की बूँदों का निर्माण तथा विस्तार टकराव, सम्मिलन (coalescence) तथा समेटन (sweeping) द्वारा होता है। प्रारम्भिक विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया है कि वायुमण्डलीय विक्षोभ (turbulence) के कारण बूँदे आपस में टकराती हैं, जिस कारण संचयित होकर आकार में बढ़ जाती हैं। इस परिकल्पना में दो कठिनाइयाँ सामने आती हैं–(i) टकराने के कारण बूँदों में सम्मिलन न होकर उनमें टूटन (breaking) तथा बिखराव का अधिक होना, तथा (ii) तूफानी एवं गरजनेवाले बादलों से वर्षा कम होती है। आगे चलकर लेंग म्योर (Lang Muir) ने इस 'सामान्य टकराव सिद्धान्त' में संशोधन प्रस्तुत किया तथा बताया कि बूंदों में व्यास के आधार पर गिरने की गति में अन्तर होता है। बड़ी बूंदें छोटी बूँदों की अपेक्षा तेज गति से गिरती हैं। परिणामस्वरूप बड़ी बूँदें छोटी बूँदों को आत्मसात् कर लेती हैं तथा तेज गति के साथ अपनी ओर समेट (sweep) कर अपना आकार और बढ़ा लेती हैं। बूंदों के आपस में मिलने (coalescence) के लिए आवश्यक है कि उनकी अर्द्धव्यास 19 माइक्रान से अधिक हो। सम्मिलन द्वारा वृद्धि की रफ्तार प्रारम्भ में मन्द होती है, परन्तु आगे चलकर यह तेज हो जाती है (20 μ m त्रिज्या वाली बूँद 50 मिनट में 200 μ m त्रिज्या वाली हो जाती है)। जब बूँदों का आकार इस तरह बड़ा हो जाता है, तो वे आकाश में निलम्बित नहीं रह पाती हैं, अपितु वर्षा के रूप में गिरने लगती हैं।

36.10 जल वर्षा के प्रकार

जलवर्षा के लिए वायु का संतृप्त होकर संघनित होना आवश्यक होता है। इसके लिए वायु को ऊपर उठना पडता है, ताकि वायु ठंडी होकर संतृप्त हो जाय। ओसांक के बाद वायु के ठंडी होने पर संघनन प्रारम्भ हो जाता है। स्पष्ट है कि वर्षा होने के लिए वायु का ऊपर उठना अधिक महत्वपूर्ण होता है। वायु तीन रूपों में उठती है–(i) धरातल के अधिक गर्म हो जाने के कारण वायु हल्की होकर संवाहन धारा के रूप में ऊपर उठती है, (ii) हवा पर्वत के सहारे उठती है, तथा (iii) चक्रवातों में वाताग्र या सीमान्त के सहारे गर्म वायु ऊपर उठती है। यहाँ पर स्मरणीय है कि इन कारकों को अलग-अलग गिनाया जा सकता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि हवा के ऊपर उठने में किसी एक ही कारक का हाथ रहता है। प्रायः एक से अधिक कारक भी एक साथ सक्रिय हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में सबसे अधिक प्रभावशाली कारक के आधार पर ही वर्षा के रूप का निर्धारण किया जाता है। इस आधार पर वर्षा को तीन प्रकारों में विभक्त किया जाता है।

1. संवाहनीय जलवर्षा (convectional rainfall)
2. पार्वत्य या पर्वतीय जल वर्षा (orographic rainfall)
3. चक्रवातीय जल वर्षा (cyclonic rainfall)

1. संवाहनीय वर्षा

दिन में अत्यधिक ऊष्मा के कारण धरातल गर्म हो जाता है, जिस कारण वायु गर्म होकर फैलती है तथा हलकी होने के कारण ऊपर उठती है। **'शुष्क एडियाबेटिक दर'** से प्रति 1000 मीटर पर इस वायु का 10^0C तापमान कम होने लगता है, जिस कारण वायु ठंडी हो जाती है और उसकी सापेक्षिक आर्द्रता बढ़ने लगती है। शीघ्र ही वायु संतृप्त हो जाती है तथा पुनः ऊपर उठने पर संघनन प्रारंभ हो जाता है, जिस कारण **'संघनन की गुप्त ऊष्मा'** वायु में मिल जाती है, जिससे वायु पुनः ऊपर उठने लगती है और अन्ततः उस सीमा को पहुँच जाती है जहाँ पर स्थित वायु का तापमान इसके बराबर हो जाता है। इस अवस्था में संघनन के बाद कपासी वर्षा मेघ (cumulonimbus) का निर्माण हो जाता है तथा तीव्र वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। ऊपर उठती वायु शीघ्र ठंडी होती है अतः संवाहनीय वर्षा मूसलाधार रूप में होती है। चूँकि कपासी वर्षा मेघ आकाश में सीमित क्षेत्र में होते हैं, अतः उनके शीघ्र छँट जाने पर वर्षा जल्दी रुक जाती है परन्तु न्यूनतम समय में अधिकतम वर्षा होती है। वर्षा बिजली की चमक तथा बादलों की गरज के साथ होती है। इस तरह की वर्षा मुख्य रूप से भूमध्यरेखीय भागों में होती है, जहाँ पर प्रतिदिन दोपहर तक धरातल के गर्म होने के कारण संवाहन धाराएं उठने लगती हैं तथा 2-3 बजे (सायं) तक काले बादल छा जाते हैं। पूर्ण अंधेरा छा जाता है तथा क्षणों में ही घनघोर वृष्टि होने लगती है। 4 बजे (सायं) के बाद वर्षा रुक जाती है। बादल छँट जाते हैं। आकाश साफ हो जाता है तथा उष्णता कम हो जाती है। भूमध्य रेखीय भागों में इस तरह की वर्षा वर्ष के गर्म मौसम तथा दिन के समय में होती है। वर्षा रोज नियमित रूप से होती है। संवाहनीय वर्षा के अल्पकालिक तथा तीव्र होने के कारण अधिकांश जल नदियों द्वारा सागर में चला जाता है और भूमि क्षरण तथा अपरदन अधिक होने लगता है। समशीतोष्ण भागों में भी संवाहनीय

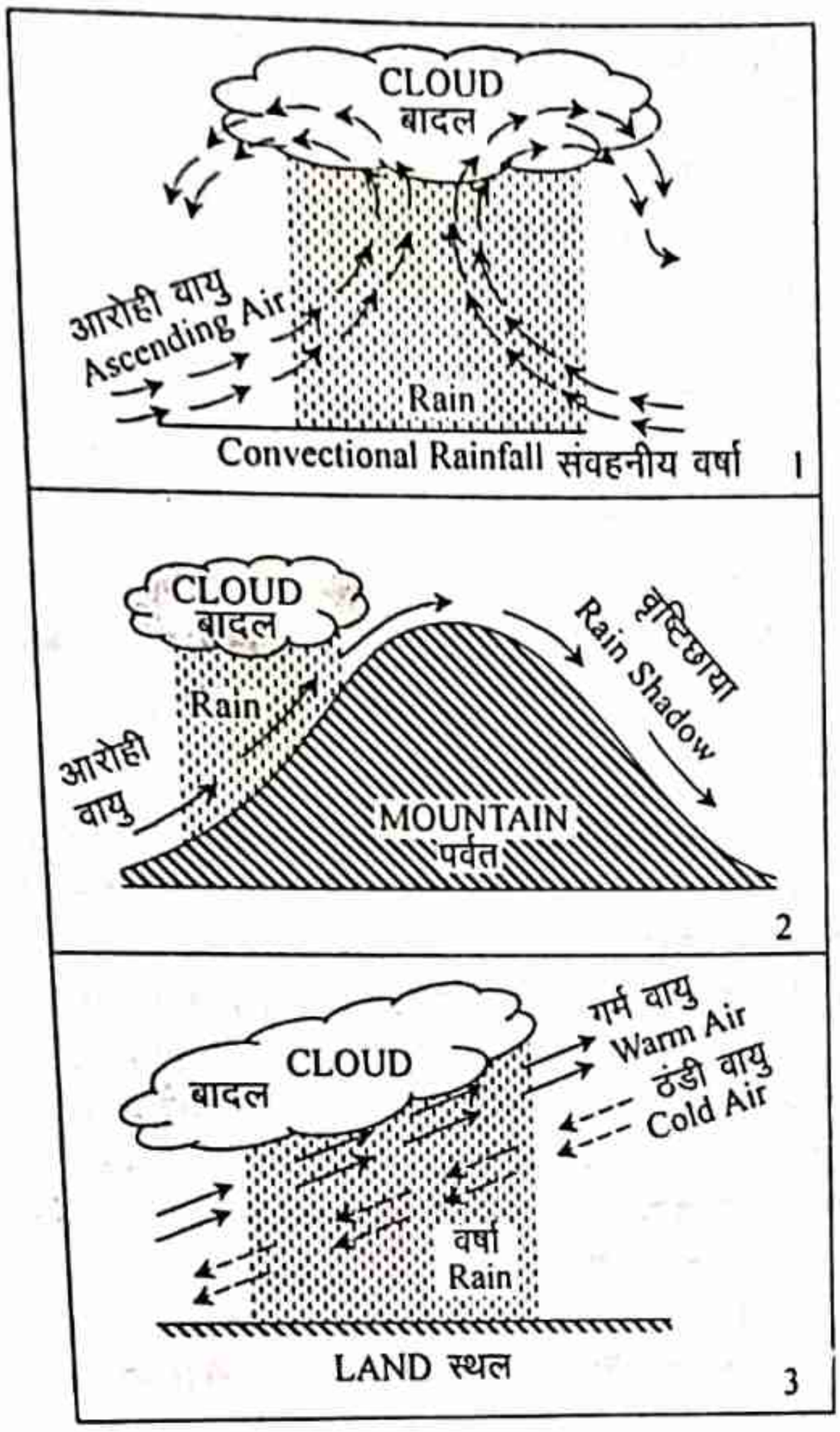

चित्र 36.4: (i) संवाहनीय वर्षा, (ii) पर्वतीय वर्षा, तथा (iii) चक्रवातीय वर्षा।

वर्षा होती है परन्तु यहाँ पर मूसलाधार रूप में न होकर सामान्य रूप में होती है, जिस कारण अधिकांश जल मिट्टियों में समाविष्ट हो जाता है। यहाँ पर वर्षा गर्मियों में ही होती है। उष्ण रेगिस्तानों में भी संवाहनीय वर्षा होती है, परन्तु वायु में आर्द्रता की कमी के कारण उसे अधिक ऊँचाई तक जाना होता है। इन भागों में वर्षा नियमित न होकर आकस्मिक रूप में होती है।

2. पर्वतीय जलवर्षा

उष्ण एवं आर्द्र हवाएं जब पर्वतीय भागों से अवरुद्ध होती हैं, तो उनके ढाल के सहारे ऊपर उठने लगती हैं, जिस कारण शुष्क एडियाबेटिक ताप पतन दर (प्रति 1000 मीटर पर 10°C) द्वारा ठंडी होने लगती हैं, जिस कारण वायु की सापेक्षिक आर्द्रता बढ़ने लगती है तथा एक निश्चित ऊँचाई पर पहुँचने पर हवा संतृप्त हो जाती है तथा संघनन प्रारम्भ हो जाता है। घनघोर विस्तृत बादल छा जाते हैं तथा वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। संघनन की गुप्त ऊष्मा हवा में मिल जाती है, जिस कारण वायु का ऊपर उठना जारी रहता है, और हवा आर्द्र एडियाबेटिक ताप पतन दर (प्रति 1000 मीटर पर 5°C) से ठंडी होकर बढ़ती ऊँचाई पर भी वर्षा करती जाती है। यही कारण है कि बढ़ती ऊँचाई के साथ वर्षा की मात्रा बढ़ती जाती है (एक निश्चित सीमा तक ही)। पर्वत के जिस ढाल पर हवा टकराती है, उसे 'पवनमुखी ढाल' (windward slope) कहते हैं तथा वर्षा इसी ढाल पर होती है। इसे **वृष्टि ढाल** (rain slope) भी कहा जा सकता है। पर्वत के जिस ढाल के सहारे हवा नीचे उतरती है, उसे पवन विमुखी ढाल (leeward slope) कहते हैं। नीचे उतरने के कारण हवा का तापमान प्रति 1000 मीटर पर 10°C की दर से बढ़ने लगता है, जिस कारण वायु की शुष्कता बढ़ती जाती है, क्योंकि वायु की आर्द्रता सामर्थ्य में वृद्धि के कारण सापेक्षिक आर्द्रता घटती जाती है। परिणामस्वरूप पवनविमुखी ढाल पर वर्षा नहीं हो पाती है। अतः इस ढाल को **वृष्टि छाया प्रदेश** (rain shadow region) कहते हैं। संसार की अधिकांश वर्षा पर्वतीय वर्षा के रूप में ही होती है।

पर्वतीय वर्षा की आवश्यक दशाएं : पर्वतीय वर्षा के लिए निम्न दशाओं का होना आवश्यक होता है।

(i) **पर्वत की स्थिति :** उष्णार्द्र वायु के मार्ग में उच्च पर्वत की स्थिति समकोण पर होनी चाहिए, ताकि हवा उससे सीधे अवरुद्ध हो कर ऊपर उठ सके। यदि पर्वत प्रचलित हवा की दिशा में समान्तर होते हैं तो हवा बिना रुकावट के आगे निकल जाती है।

(ii) **सागर से दूरी :** यदि पर्वतीय भाग सागर तट के समान्तर तथा करीब होते हैं तो आदर्श स्थिति मानी जाती है। पर्वतों की स्थिति आन्तरिक भाग में अधिक दूरी पर होने के कारण वायु की नमी नष्ट हो जाती है। भारत में पश्चिमी घाट पहाड़ तथा उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट पर प्रशान्त महासागर के समान्तर तटीय पहाड़ियाँ इस तरह की स्थिति के उदाहरण हैं।

(iii) **पर्वत की ऊँचाई :** पर्वत की ऊँचाई भी पर्वतीय वर्षा के रूप तथा उसकी मात्रा को प्रभावित करती है। यदि पर्वत सागर तट के पास है तो कम ऊँचाई भी वर्षा करा देती है, क्योंकि थोड़ी ऊँचाई पर ही वायु संघनित हो जाती है। आन्तरिक भागों में पर्वत की ऊँचाई अधिक होनी चाहिए।

(iv) **वायु का आर्द्र होना :** जब तक वायु में पर्याप्त आर्द्रता नहीं होती तब तक अधिक वर्षा की सम्भावना नहीं होती है। यही कारण है कि स्थलीय समीर वर्षा नहीं कर पाती है, परन्तु सागरीय समीर से घनघोर वर्षा होती है।

पर्वतीय वर्षा की विशेषताएँ : वृष्टि क्षेत्र, वर्षा की मात्रा, वितरण तथा स्वभाव के दृष्टिकोण से पर्वतीय वर्षा की निम्न विशेषताएँ होती हैं।

➢ सर्वाधिक वर्षा पवनमुखी ढाल पर होती है तथा पवन विमुखी ढाल पर न्यूनतम वर्षा होती है। उदाहरण के लिए,

पश्चिमी घाट के प० ढाल पर मंगलोर में 208 सेंमी० तथा पूर्व में वृष्टि छाया प्रदेश में स्थित बंगलोर में केवल 50 सेंमी० वर्षा होती है। चेरापूँजी में संसार की सर्वाधिक वर्षा प्राप्त होती है परन्तु उत्तर में स्थित गोहाटी में वर्षा की मात्रा घट जाती है। हिमालय के दक्षिणी ढालों पर 200 सेंमी० से अधिक वर्षा होती है, जबकि उत्तरी ढाल पर 5 सेंमी० तक ही वर्षा हो पाती है। उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तटीय भाग में तटीय पहाड़ियों के कारण पश्चिमी ढाल पर 200 सेंमी० से अधिक वर्षा होती है, जबकि पू० ढाल वृष्टि छाया प्रदेश में आते हैं।

➢ पर्वतीय ढालों के पास सर्वाधिक वर्षा होती है तथा उससे दूर हटने पर वर्षा की मात्रा में तीव्रता से कमी होने लगती है। उदाहरण के लिए, हिमालय के द० ढाल पर स्थित शिमला में 152 सेंमी०, नैनीताल में 200 सेंमी० तथा दार्जिलिंग में 315 सेंमी० वार्षिक वर्षा होती है। इसके विपरीत दक्षिणी ढाल से दूर मैदानी केन्द्रों में पटना में 100 सेंमी०, इलाहाबाद में 105 सेंमी० तथा दिल्ली में 65 सेंमी० वर्षा होती है।

➢ यदि पर्वतीय भाग सामान्य ऊँचाई वाला है तो अधिकतम वर्षा उसकी चोटी पर नहीं हो पाती है, बल्कि दूसरे ढाल की ओर चोटी से थोड़ा आगे बढ़कर होती है।

➢ पर्वतीय वर्षा के समय पवनमुखी ढाल पर कपासी बादल (cumulus) तथा विमुखी ढाल पर परतीले या स्तरीय (stratus) बादल होते हैं।

➢ पर्वतीय भागों के वृष्टि ढाल के सहारे ऊँचाई के साथ वर्षा की मात्रा बढ़ती जाती है। परन्तु हवा में नमी की एक निश्चित मात्रा होती है। अत: ऊँचाई के साथ वर्षा बढ़ने की एक सीमा होती है, क्योंकि अधिक वर्षा के कारण वायु की अधिकांश नमी नष्ट हो जाती है। परिणामस्वरूप अधिकतम वृष्टि के बाद ऊँचाई के साथ वर्षा की मात्रा घटती जाती है। इसे **वर्षा का प्रतिलोमन** (inversion of rainfall) कहते हैं। स्मरणीय है कि प्रत्येक स्थान पर वर्षा की वृद्धि की सीमा समान नहीं होती है। पर्वतों की स्थिति, सागर से दूरी, वायु में आर्द्रता की मात्रा, पर्वत का ढाल तथा मौसम आदि का वर्षा की वृद्धि सीमा पर पर्याप्त प्रभाव होता है। जिस सीमा के बाद वर्षा में ऊँचाई के साथ कमी होने लगती है, उसे सर्वोच्च वर्षा रेखा कहते हैं। भूमध्यरेखीय भागों में यह रेखा 7,200 मी० (लगभग), हिमालय में 4,000 मी०, आल्प्स में 7,000 मी०, पेरेनीज पर गर्मियों में 6,000 मी० तथा सर्दियों में 4,000 मीटर तक पायी जाती है। स्मरणीय है कि यह सीमा प्रत्येक स्थान पर परिवर्तनशील होती है। आल्प्स में ही कई स्थानों पर पर्वतीय चोटी तक वर्षा बढ़ती जाती है।

➢ पर्वतीय अवरोध के रहने पर यह पर्वतीय वर्षा किसी भी मौसम में हो सकती है। अन्य वर्षा प्रकारों की अपेक्षा यह वर्षा दीर्घकालिक तथा अधिक विस्तृत होती है। निम्न अक्षांशों में पर्वतीय वर्षा की मात्रा (अधिक नमी के कारण) अधिक होती है तथा ठंडे प्रदेशों की ओर घटती जाती है, क्योंकि वायु के मूलत: ठंडा होने के कारण निरपेक्ष आर्द्रता कम होती है।

उल्लेखनीय है कि पर्वतीय वर्षा मात्र प्रचलित हवा के पहाड़ों से अवरुद्ध होकर ऊपर उठने से ही नहीं होती है, अपितु उसमें संवाहन तथा चक्रवाती दशाओं का भी कुछ योग अवश्य रहता है। उदाहरण के लिए, गर्म भागों में दिन में घाटियाँ तप जाती हैं, जिस कारण हवाएं गर्म होकर संवाहन के रूप में पहाड़ी ढालों के सहारे ऊपर उठती हैं तथा ठंडी होकर वर्षा करती हैं। जब कभी चक्रवात पर्वतों से अवरुद्ध हो जाता है तो पर्वत के सहारे ऊपर उठता है तथा वर्षा प्रदान करता है। कभी-कभी तो सागरीय हवायें निम्न तटीय किनारों के सहारे उठकर वर्षा प्रदान करती हैं।

3. चक्रवातीय वर्षा

दो विपरीत स्वभाव वाली हवाएं जब विपरीत दिशाओं से आकर मिलती हैं तो वाताग्र (front) का निर्माण होता है। इस वाताग्र के सहारे गर्म हवाएं ऊपर उठ जाती हैं तथा ठंडी हवाएं नीचे हो जाती हैं। इस तरह का चक्रवातीय वाताग्र प्राय: शीतोष्ण कटिबन्धों में बनता है, जहाँ पर ध्रुवीय ठंडी तथा भारी हवाएं (उ० पू०) तथा गर्म, हल्की पछुवा हवाएं (द० प०) मिलती हैं। इसके विपरीत भूमध्यरेखा के पास समान स्वभाववाली व्यापारिक हवाओं (परन्तु विपरीत दिशाओं वाली) के मिलने से भी वाताग्र का निर्माण हो जाता है। वास्तव में चक्रवात हवाओं का एक क्रम होता है, जिसके मध्य में निम्न दाब तथा परिधि की ओर उच्च दाब होता है और बाहर से अन्दर की ओर हवाएं चला करती हैं। जब गर्म तथा ठण्डी हवायें आमने-सामने मिलती हैं तो गर्म तथा कम घनत्व वाली हल्की हवा को ठंडी तथा भारी हवा के ऊपर उठना पड़ता है, परन्तु यहाँ पर हवा का ऊपर उठना संवाहनीय हवाओं की तरह ऊर्ध्वाधर न होकर तिरछे रूप में होता है। ऊपर की गर्म हवा अस्थिर हो जाती है तथा नीचे स्थित ठंडी हवा के कारण ठंडी होने लगती है और धीरे-धीरे उसका संघनन प्रारम्भ हो जाता है। अन्तत: वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। चूँकि हवा के मन्द गति से ऊपर उठने (चक्रवात के अगले भाग) के कारण संघनन मन्द गति से होता है, अत: यह वर्षा विस्तृत क्षेत्र में दीर्घकाल तक होती है। कभी-कभी तो सारा आकाश मेघाच्छादित होता है, परन्तु केवल हलकी बूँदा-बाँदी ही होती है। चक्रवात के पिछले भाग में (शीत वाताग्र) ठंडी हवा शीघ्रता से झपटती है तथा गर्म वायु को अचानक ऊपर ढकेल देती है। अत: संघनन शीघ्र हो जाता है, जिस कारण वर्षा तेज होती है,बिजली चमकती है तथा बादलों की गरज भी होती है। ओले भी पड़ते हैं। परन्तु यह वर्षा अल्पकालिक होती है। शीतोष्ण कटिबन्धों में अधिकांश वर्षा चक्रवातों द्वारा ही सम्पन्न होती है। अयनवर्ती भागों में भी

गर्मियों में चक्रवातीय वर्षा होती है। भारत की मानसूनी वर्षा (गर्मी) को नई संकल्पना के अनुसार पूर्णरूप से चक्रवातीय बताया जाता है। उत्तरी भारत में जाड़े के मौसम में पश्चिम से आने वाले चक्रवातों से हल्की वर्षा होती है।

36.11 धरातल पर जल वर्षा का वितरण

जल वर्षा का तापमान तथा आर्द्रता से तथा अन्तिम दो का एक दूसरे से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। धरातल के वे भाग, जहाँ पर तापमान अधिक होता है और वाष्पीकरण के लिए जल पर्याप्त मात्रा में सुलभ होता है, अधिक वर्षा प्राप्त करते हैं। भूमध्यरेखीय प्रदेश इसके सुन्दर उदाहरण हैं। उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च दाबवाले भाग भी उपर्युक्त दशाओं को प्राप्त करते हैं, परन्तु वर्षा न्यूनतम होती है (महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में) क्योंकि वहाँ पर हवा के नीचे उतरने से प्रतिचक्रवातीय दशाओं का आधिक्य रहता है। पुन: मध्य अक्षांशों के अनुकूल दशाओं के कारण पर्याप्त वर्षा हो जाती है, परन्तु ध्रुवीय भागों में जल वर्षा के स्थान पर हिमपात ही अधिक होता है। धरातल पर वर्षा के सुनिश्चित वितरण के पहले वर्षा सम्बन्धी कुछ तथ्यों का विश्लेषण आवश्यक है। ये कारक हैं–वार्षिक वर्षा की सम्पूर्ण मात्रा, मौसमी वितरण तथा वर्षा की अनिश्चितता। यदि समस्त ग्लोब को देखा जाय तो औसत वार्षिक मात्रा 97 सेंमी० (39 इंच) है, परन्तु यह मात्रा सर्वत्र समान नहीं है। कहीं पर यह मात्रा 10 सेंमी० से भी कम (थार, भारत), कहीं पर 1200 सेंमी० से अधिक (चेरापूँजी, भारत) है। इतना ही नहीं यह मात्रा भी वर्ष भर में समान रूप से प्राप्त नहीं होती है। वार्षिक औसत का अधिकांश भाग वर्ष के कुछ महीनों में ही प्राप्त हो जाता है, जबकि शेष महीने या तो सूखे होते हैं या निहायत कम वर्षा प्राप्त करते हैं। उदाहरण के लिए, चेरापूँजी में 1200 सेंमी० की वर्षा लगभग 159 दिन में ही प्राप्त हो जाती है। भूमध्यरेखीय भागों में वर्षा साल भर होती है, परन्तु मध्य अक्षांशों में शीत तथा ग्रीष्म ऋतुओं के स्पष्ट हो जाने के कारण वर्षा का वितरण मौसमी हो जाता है। ग्रीष्म ऋतु में वर्षा होती है, जबकि जाड़े सूखे होते हैं। भूमध्य सागरीय प्रदेश इसके अपवाद हैं, क्योंकि यहां पर अधिक वर्षा शरदकाल में ही होती है। किसी भी स्थान की औसत वार्षिक वर्षा (कम से कम 35 वर्षों का औसत) से कम या अधिक मात्रा को वर्षा की **परिवर्तनशीलता** (variability) कहते हैं। यदि किसी स्थान पर परिवर्तनशीलता 50 प्रतिशत है तो 50 इंच वार्षिक वर्षा होने पर शुष्क मास में 25 इंच (50%) से कम नहीं हो सकती है। आर्द्र मास में 75 इंच (150%) तक वर्षा हो सकती है तथा आर्द्र जलवायु प्रदेशों में परिवर्तनशीलता 50% तथा शुष्क भागों में 30 से (शुष्क मास) 250% (आर्द्र) तक होती है। सामान्य नियम के अनुसार वर्षा की औसत वार्षिक मात्रा के घटने पर परिवर्तनशीलता का प्रतिशत बढ़ता जाता है। यदि परिवर्तनशीलता औसत से कम होती है तो उसे 'ऋणात्मक' और अधिक होने पर 'धनात्मक' परिवर्तनशीलता कहते हैं। कृषि के लिए ऋणात्मक परिवर्तनशीलता का पर्याप्त महत्व होता है, क्योंकि वर्षा पर आश्रित होने पर जरा सी गड़बड़ी के कारण खेती नष्ट हो जाती है, अत: सिंचाई के प्रचुर साधनों का रहना परमावश्यक है।

जल वर्षा का कटिबन्धीय वितरण

यह तथ्य है कि वर्षा का आविर्भाव गर्म हवा के ऊपर उठकर ठंडे होने से होता है। वायु का यह उठाव पवन के अभिसरित (convergence) होने से, संवाहन के रूप में या पर्वत के सहारे अवरुद्ध होकर ऊपर उठने के कारण होता है। यदि धरातल पर इन तीनों कारकों के महत्व को देखा जाय तो अधिकांश क्षेत्रों में वायु अभिसरण के कारण ही ऊपर उठती है। वायु के अभिसरण का तापमान तथा वायुदाब से सीधा सम्बन्ध होता है। निम्न दाब क्षेत्रों में दो दिशाओं से आकर हवाएं अभिसरित होती हैं, जैसा कि भूमध्य रेखीय निम्न दाब तथा उच्च अक्षांशीय निम्न दाब क्षेत्र में होता है। उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च दाब (30^0 –35^0) में हवाएं ऊपर से नीचे बैठती हैं तथा धरातल पर विपरीत दिशाओं में अपसरित (diverge) होती हैं तथा प्रतिचक्रवातीय दशाएं उत्पन्न हो जाती हैं। चूँकि अभिसरण मेखला (zone) के रूप में होता है, अत: वर्षा का वितरण भी मेखला के रूप में होता है। इसके अलावा वर्षा के वितरण पर पर्वतीय अवरोध तथा जल एवं थल का भी प्रभाव होता है। चूँकि इन कारकों का वितरण मेखला के रूप में नहीं होता है, अत: इनका प्रभाव वर्षा के कटिबन्धीय वितरण में विषमता उत्पन्न करता है। तापमान के ऊपर वायु की आर्द्रता निर्भर करती है। तापमान का वितरण भी कटिबन्धीय रूप में पाया जाता है, जो कि भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर कम होता जाता है। इस कारण से भी वर्षा का कटिबन्धीय वितरण अधिक स्पष्ट हो जाता है। जिस तरह वायुदाब तथा हवाओं की पेटियों में मौसमी स्थानान्तरण होता है, उसी तरह वर्षा की मेखलाओं में भी मौसमी खिसकाव होता रहता है। उपर्युक्त आधार पर पृथ्वी पर वर्षा की 6 मेखलाओं का निर्धारण किया जा सकता है।

1. **भूमध्यरेखीय अधिकतम वर्षा की पेटी :** इस पेटी का विस्तार भूमध्यरेखा के दोनों ओर 10^0 अक्षांशों तक पाया जाता है। यह प्रदेश अन्तरा उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण (inter-tropical convergence) के अन्तर्गत आता है जहाँ पर गर्म, आर्द्र वायु राशियाँ होती हैं। यहाँ वार्षिक वर्षा का औसत 175 से 200 सेंमी० तक होता है। वर्षा मुख्य रूप से संवाहनीय होती है, जो कि बादलों की गरज तथा बिजली की चमक के साथ प्रतिदिन दोपहर के बाद मूसलाधार रूप में होती है, थोड़े समय में बादल छट जाते हैं तथा मौसम साफ हो जाता है। सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायन के साथ ही साथ इस अधिकतम वर्षा की पेटी में क्रम से उत्तर तथा दक्षिण की ओर खिसकाव होता रहता है, परन्तु स्मरणीय है कि 0^0 से 10^0 द० की अपेक्षा

0^0 से 10 उत्तरी अक्षांश वाले भाग में वर्षा अधिक होती है, क्योंकि "अन्तरा उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण" साल भर प्राय: भूमध्यरेखा के उत्तर ही रहता है।

2. व्यापारिक वायु द्वारा वर्षा वाली पेटी : इसका विस्तार भूमध्य रेखा के दोनों ओर 10^0–20^0 अक्षांशों के बीच पाया जाता है। यह प्रदेश व्यापारिक हवाओं की पेटी में आता है जो सागरों के ऊपर से आने के कारण महाद्वीपों के पूर्वी भागों में वर्षा करती है, परन्तु महाद्वीपों के ऊपर चलने के कारण पश्चिमी भागों में शुष्क हो जाती है, जिस कारण मौसम सूखा होता है तथा रेगिस्तान पाये जाते हैं। इन्हीं अक्षांशों में मानसूनी प्रदेशों में पर्याप्त वर्षा होती है। गर्मियों में सर्वाधिक वर्षा होती है।

3. उपोष्ण कटिबन्धीय न्यूनतम वर्षा की पेटी : इसका विस्तार भूमध्य रेखा के दोनों ओर 20^0–30^0 अक्षांशों के मध्य पाया जाता है, जहाँ पर हवाएँ ऊपर से नीचे उतरती हैं तथा उच्च दाब बनाने के कारण धरातल पर दो विपरीत दिशाओं में चलने लगती हैं। फलस्वरूप प्रतिचक्रवातों का आविर्भाव होता है, जिससे वर्षा नहीं हो पाती है। यहाँ वर्ष का औसत 90 सेंमी० है। उल्लेखनीय है कि इन्हीं अक्षांशों में विश्व के सभी उष्ण रेगिस्तान आते हैं, जहाँ पर वर्षा का वार्षिक औसत 25 सेंमी० से भी कम होता है। इस पेटी का औसत इसलिए अधिक हो जाता है कि महाद्वीपों के पूर्वी भागों में सागरों के ऊपर से आने वाली आर्द्र व्यापारिक हवाएं तीव्र वर्षा प्रदान करती हैं। अधिकांश वर्षा ग्रीष्म काल में होती है, जबकि सर्दियाँ सूखी होती हैं।

4. भूमध्यसागरीय वर्षा वाली पेटी : इसका विस्तार 30^0–40^0 अक्षांशों के बीच दोनों गोलार्द्धों में पाया जाता है, जहाँ पर वर्षा शीतकाल में पछुवा हवाओं द्वारा चक्रवातों से होती है। वर्षा का वार्षिक औसत 100 सेंमी० होता है। गर्मियाँ सूखी व्यतीत होती हैं क्योंकि इस समय ये भाग व्यापारिक पवनों के प्रदेश में आ जाने से प्रतिचक्रवातीय दशाओं से प्रभावित होते हैं।

5. मध्य अक्षांशीय अधिक वर्षा की पेटी : दोनों गोलार्द्धों में 40^0–60^0 अक्षांशों के बीच पछुवा हवाओं के कारण 100 से 125 सेंमी० तक वर्षा होती है। इन्हें 'द्वितीय अधिकतम वर्षा की पेटी' कहते हैं। महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में वर्षा अधिक होती है तथा आन्तरिक भाग में घटती जाती है। उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में (सागर के अधिक विस्तार के कारण) वर्षा अधिक होती है। यहाँ पर ध्रुवीय तथा पछुवा हवाओं के मिलने के कारण चक्रवातों का निर्माण अधिक होता है, जिनसे जाड़ों में सर्वाधिक वर्षा होती है। इन भागों में वर्षा दीर्घकालिक होती है, परन्तु हलके रूप में होती है।

6. ध्रुवीय निम्न वर्षा की पेटी : 60^0 अक्षांश से ध्रुवों की ओर वर्षा की मात्रा घटती जाती है तथा 75^0 अक्षांश के आगे वार्षिक वर्षा का औसत 25 सेंमी० ही रह जाता है। अधिकांश वर्षा हिमपात के रूप में होती है।

पेटरसन महोदय ने पृथ्वी को वर्षा के वितरण के दृष्टिकोण से कुल 15 पेटियों में विभक्त किया है, जिनमें सात पेटियाँ उत्तरी गोलार्द्ध में तथा सात दक्षिणी गोलार्द्ध में एवं एक भूमध्य रेखा पर होती है। इन पेटियों के निर्धारण में वर्षा के मौसमी स्वभाव को अधिक महत्व दिया गया है।

(1) वर्ष भर वर्षा की पेटी, अधिकतम वर्षा 7^0 उ० से 7^0 द०
(2) ग्रीष्मकाल में वर्षा, शीतकाल शुष्क 7^0 से 16^0
(3) हल्की ग्रीष्मकालीन वर्षा की पेटी 16^0 से 20^0
(4) सभी मौसम शुष्क, न्यूनतम वर्षा की पेटी 20^0 से 30^0
(5) हल्की शीतकालीन वर्षा की पेटी 30^0 से 35^0
(6) ग्रीष्मकाल शुष्क, शीतकाल में पर्याप्त वर्षा 35^0 से 45^0
(7) सभी मौसम में वर्षा परन्तु ग्रीष्मकाल में अधिकतम 45^0 से 70^0
(8) सभी मौसम में विरल वर्षा, अधिकांश हिमपात के रूप में 70^0 से 90^0

36.12 वर्षा की प्रवृत्ति (Regimes of Rainfall)

जब वर्षा के वार्षिक वितरण में उसके मौसमी स्वभाव का अवलोकन किया जाता है, अर्थात् कौन से मौसम में सर्वाधिक वर्षा होती है तथा कौन सा मौसम शुष्क होता है तो उसे 'वर्षा की प्रवृत्ति' कहते हैं। पेटरसन का वर्षा का उपर्युक्त वितरण भी इसी का द्योतक है। वितरण में वर्षभर वर्षा की मात्रा पर ध्यान न देकर उसके समय पर ध्यान दिया जाता है। इस आधार पर वर्षा के निम्न प्रकारों का निर्धारण किया जा सकता है :

1. विषुवत रेखीय वर्षा (equatorial rainfall regime) : वर्षा साल भर प्रत्येक मौसम में होती है, परन्तु दो बार (मार्च तथा सितम्बर) अधिकतम वर्षा होती है। मुख्य रूप से वर्षा संवाहनीय होती है जिसमें बादलों की गरज तथा बिजली की चमक होती है। वर्षा प्रतिदिन मूसलाधार रूप में होती है, परन्तु अल्पकालिक होती है।

2. उपोष्ण कटिबन्धीय वर्षा (subtropical rainfall regime) : वर्ष में एक बार अधिकतम तथा एक बार न्यूनतम वर्षा होती है। न्यूनतम वर्षा वाला समय शुष्क होता है। महाद्वीपों के पूर्वी भाग में अधिकतम वर्षा जुलाई में तथा न्यूनतम वर्षा दिसम्बर (उ० गो०) में होती है। महाद्वीपों के प० भागों में अधिकतम वर्षा दिसम्बर में तथा न्यूनतम जुलाई–अगस्त (उ० गो०) में होती है।

3. उष्ण कटिबन्धीय वर्षा (tropical rainfall regime) : गर्मियों में अधिकतम वर्षा तथा सर्दियों में न्यूनतम होती है। भूमध्य रेखा से दूर जाने पर वर्षा का समय घटता जाता है तथा शुष्कता बढ़ती जाती है।

4. मानसूनी वर्षा (monsoonal rainfall regime) : अधिकतम वर्षा जुलाई–अगस्त में होती है। सर्दियाँ शुष्क होती

हैं। ग्रीष्मकालीन वर्षा द० प० तथा द० मानसून (उ० गो०) हवाओं से होती है जो कि चक्रवातीय तथा पर्वतीय होती है।

5. मध्य अक्षांशीय वर्षा (middle latitude rainfall regime) : पछुवा हवाओं से चक्रवातीय वर्षा होती है, जिसका वितरण वर्ष भर होता है, परन्तु अधिकतम वर्षा महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में दिसम्बर में, पूर्वी भागों में जुलाई-अगस्त में तथा आन्तरिक भागों में जून-जुलाई में होती है।

6. रूम सागरीय वर्षा (mediterranean rainfall regime): अधिकतम वर्षा शीतकाल में पछुवा हवाओं से होती है जबकि ग्रीष्मकाल शुष्क होता है।

36.13 तड़ितझंझा (Thunderstorm)

तात्पर्य तथा विशेषताएँ

तड़ित झंझा स्थानीय तूफान या झंझावात होते हैं, जिनमें ऊपर की ओर तीव्र हवाएं चलती हैं तथा बिजली की चमक तथा बादलों की गरज के साथ घनघोर जल वर्षा होती है। *स्ट्रालर के अनुसार*[1] *"तड़ितझंझा एक तीव्र स्थानीय झंझावात होता है, जिसमें विस्तृत तथा घने कपासी वर्षा मेघ होते हैं तथा नीचे से ऊपर की ओर प्रबल हवा चलती है।"*

बिजली का तेजी से चमकना तथा बादलों की गरज इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। परन्तु कभी-कभी ओले भी पड़ते हैं। वर्षा इतनी तेजी से होती है कि लगता है कि मेघ ही फूट पड़े हैं। इसी से इस वर्षा को **वर्षा प्रस्फोट** (cloud burst) कहते हैं। परन्तु वर्षा थोड़े समय तक टिकती है। चक्रवातों से तड़ितझंझा को अलग ही समझना चाहिए, क्योंकि चक्रवात प्राय: गोलाकार होते हैं जिनमें बाहर से हवाएं केन्द्र की ओर चला करती हैं, जबकि तड़ितझंझा में नीचे से ऊपर की ओर हवाएं चलती हैं। इन्हें संवाहन का रूप कह सकते हैं।

तड़ित झंझा की रचना

तड़ितझंझा की रचना कई संवाहनीय कोशिकाओं (convective cells) से होती है, जिनमें नीचे से ऊपर हवाएँ चलती हैं। प्रारम्भ में प्रत्येक कोशिका का एक जीवनचक्र (युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था) होता है। किसी भी तड़ितझंझा में विभिन्न कोशिकाएं अपने विकास की विभिन्न अवस्थाओं में हो सकती हैं। प्रथम अवस्था को **कपासी अवस्था** (cumulus stage) कहते हैं, इसमें गर्म वायु का ऊपर की ओर तीव्र प्रवाह होता है। हवाएं किनारे से खींचकर ऊपर की ओर उठती हैं तथा बादलों का धीरे-धीरे विकास होता रहता है। दूसरी अवस्था **प्रौढ़ावस्था** की होती है, जिसमें हवा का ऊपर तथा नीचे दोनों ओर प्रवाह होता है। ऊपर उठने के कारण वायु ठंडी होकर वर्षा करती है। इस वर्षा में नीचे से ऊपर की उठती हवा से घर्षण होता है, जिस कारण वायु का कुछ भाग नीचे प्रवाहित होने लगता है। यह उतरती वायु ठंडी होती है। तीसरी अवस्था **विलीन अवस्था** (dissipating stage) होती है, जबकि ऊपर से उतरती ठंडी वायु धरातल पर फैल जाती है तथा वायु का ऊपर उठना समाप्त हो जाता है। ऊपरी भाग में बादल छतरी के आकार में फैल जाते हैं तथा उच्च स्तरीय बादल (alto-stratus) एवं पक्षाभ स्तरीय बादल (cirro-stratus) के रूप में बदल जाता है।

तड़ितझंझा की उत्पत्ति की दशाएँ

1. झंझा के प्रारंभ होने में वायु का ऊपर की ओर तीव्र प्रवाह का होना आवश्यक है। इसके लिए तापमान का अधिक होना आवश्यक हो जाता है, ताकि धरातल इतना गर्म हो जाय कि हवा में संवाहन प्रारम्भ हो जाय। यही कारण है कि तड़ितझंझा मुख्य रूप से ग्रीष्मकाल में, मौसम के गर्म दिन तथा दिन के गर्म समय में अधिक उत्पन्न होते हैं। तड़ितझंझा के लिए इस तरह गर्म-आर्द्र अस्थिर हवा का होना आवश्यक होता है। यह तभी हो सकता है जबकि वायुमण्डल की सामान्य तापपतन दर एडियाबेटिक तापपतन दर (शुष्क तथा आर्द्र) से बहुत अधिक हो। गर्म आर्द्र वायु या तो संवाहन के रूप में या पर्वत से टकराकर ऊपर उठकर अस्थिर हो सकती है। नम वायु जितनी ही अस्थिर होगी, झंझावात उतना ही तीव्र तथा दीर्घस्थायी होगा।

2. जिस सीमा पर संघनन प्रारम्भ हो जाता है तथा बादल बनने लगते हैं, उसे **मेघ आधार या मेघ तल** (cloud base) कहते हैं तथा जिस तल पर जल कण हिमकण में बदल जाते हैं उसे **हिमतल** (icing level) कहते हैं। मेघतल तथा हिमतल के बीच बादल की गहराई अधिक होनी चाहिए। इस मेघतल के जितने ही ऊपर हिमतल होगा, बादलों की गहराई उतनी ही अधिक होगी, परिणामस्वरूप संवाहन उतना ही तीव्र होगा। मध्य अक्षांशों में थोड़ी ही ऊंचाई पर हिमांक आ जाता है, जिस कारण तड़ितझंझा का विकास नहीं हो पाता है, जबकि निम्न अक्षांशों में बादलों की गहराई अधिक हो जाने से झंझावात प्राय: आते रहते हैं।

तड़ितझंझा में वर्षा, ओला, बिजली का चमकना तथा मेघ गर्जन

1. वर्षा : तड़ितझंझा में जलवर्षा चक्रवातों के विपरीत घनघोर होती है, परन्तु अल्पकालिक होती है। इसके दो कारण बताये जा सकते हैं। (अ) तड़ितझंझा में वायु प्रचण्ड वेग से ऊपर उठती है, जिस कारण संघनन तीव्रता से सम्पन्न होता है। (ब) गर्मियों में उच्च तापमान के कारण वायु में निरपेक्ष आर्द्रता (absolute humidity) अधिक होती है। तड़ितझंझा में वर्षा तथा कोशिकाओं में महत्वपूर्ण सम्बन्ध होते हैं। प्रत्येक कोशिका के केन्द्र में अधिकतम वर्षा होती है तथा किनारे की ओर कम होती है। क्षीण कोशिका में वर्षा का समय कुछ ही मिनट तक होता है, जबकि पूर्ण विकसित तथा विस्तृत कोशिका में एक घंटे तक वर्षा होती है।

2. ओला (hailstorm) : जब संघनन हिमांक के नीचे सम्पन्न होता है तो हिमकणों का निर्माण होता है, जिनका आकार मटर के दाने से लेकर बड़े-बड़े गेंद के समान होता है। ओला का सम्बन्ध प्रत्येक तड़ितझंझा से नहीं हो पाता है। इतना ही नहीं, जिस झंझावात में ओले पड़ते हैं, उसमें सर्वत्र न होकर किसी-किसी कोशिका में ही बनते हैं। अत: जितने क्षेत्र पर झंझावात का विस्तार होता है, उसके किसी भाग में ही ओला गिरता है। जब ऊपर उठती संवाहन हवाएं क्षीण हो जाती हैं तो ओले धरातल पर गिरने लगते हैं। इनके आकस्मिक प्रहार से मनुष्यों, पशु-पक्षियों तथा खड़ी फसलों को अपार हानि होती है। निम्न अक्षांशों में ओला प्राय: नहीं पड़ते हैं।

3. बिजली का चमकना (lightning) : बड़ी-बड़ी जल की बूँदों के टूटने के कारण तड़ित उत्पन्न होती है। प्रत्येक बूंद में धनात्मक तथा ऋणात्मक बिजली होती है तथा बराबर मात्रा में होने पर ये तटस्थ अवस्था (neutral stage) में होती हैं। बूंदों के टूटने पर कहीं पर धन आवेश (positive charge) तो कहीं ऋणात्मक आवेश (negative charge) अधिक हो जाते हैं। जब तड़ितझंझा प्रौढ़ावस्था में होता है तो बादलों के आधार में ऋण बिजली तथा ऊपरी भाग में धन बिजली के आवेश होते हैं। इस अन्तर के कारण तनाव बढ जाता है तथा विसर्जन (discharge) होने से प्रकाश रेखायें चमक उठती हैं जिन्हें बिजली का चमकना कहते हैं। इसी तड़ित के आधार पर इसे 'तड़ितझंझा' कहा जाता है क्योंकि झंझावात के साथ बिजली का चमकना सामान्य प्रक्रिया होती है।

4. मेघगर्जन (thundering) : बिजली के चमकते ही ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है, जिस कारण तापमान अचानक बढ़ जाता है और वायु तीव्रता से अचानक फैलती है, जिस कारण भयंकर आवाज उठती है। इसे ही मेघ गर्जन कहते हैं।

5. तीव्र वात (squall) : तड़ितझंझा के प्रथम चरण में किनारे से हवाएं झपटकर अभिसरित (converge) होकर ऊपर उठती हैं, परन्तु जब झंझावात पूर्ण विकसित हो जाता है तथा वर्षा प्रारम्भ हो जाती है तो ऊपर से ठंडी हवा तेजी से नीचे उतरने लगती है तथा धरातल पर आकर अपसरित (diverge—दो विपरीत दशाओं में जाना) होने लगती है। इस तीव्र भयानक ठंडी वायु को 'squall wind' कहते हैं। इसकी गति हरीकेन के बराबर तथा कभी-कभी उससे भी अधिक हो जाती है, जिस कारण मार्ग में पड़ने वाले स्थानों को अत्यधिक क्षति उठानी पड़ती है।

तड़ितझंझा का वर्गीकरण

तड़ितझंझा का वर्गीकरण मुख्य रूप से उसके उत्पन्न होने की प्रक्रिया तथा ऊपर उठाने वाले कारकों के आधार पर निम्न रूप में किया जा सकता है :

1. वायुराशिजनित तड़ितझंझा (airmass type)

(i) तापजन्य तड़ितझंझा (heat thunderstorm)

(ii) पर्वतीय तड़ितझंझा (orographic thunder storm)

(iii) सम्पर्कीय तड़ितझंझा (advectional thunder storm)

4. वाताग्री तड़ित झंझा

(i) शीत वाताग्र तड़ितझंझा

(ii) उष्ण वाताग्र तड़ितझंझा

1. तापीय या स्थानीय तड़ितझंझा : दिन के समय सूर्यताप के कारण जब धरातल अधिक तपकर गर्म हो जाता है तो गर्म संवाहन धारायें उठने लगती हैं और तड़ित झंझा उत्पन्न हो जाते हैं। इस तरह झंझा को 'स्थानीय' इसलिए कहते हैं कि ये सीमित क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। ये ही वास्तविक तड़ितझंझा होते हैं, जो कि ग्रीष्मकाल में दिन के समय दोपहर के बाद उत्पन्न होते हैं तथा सायंकाल तक विलीन हो जाते हैं। डोलड्रम में तापीय तड़ितझंझा सर्वाधिक उत्पन्न होते हैं, क्योंकि यहाँ की अत्यधिक आर्द्रता, अधिक तापमान और वायु का अभिसरण झंझावात के लिए आदर्श दशाएँ हैं। जिस धरातल के ऊपर से होकर यह चलता है यदि वह अधिक उष्ण होता है तो झंझावात अधिक सक्रिय होता है, अन्यथा कम गर्म होने पर क्षीण होता जाता है। यही कारण है कि जब वह जलभागों (झील, बड़े जलाशय या नदियों) के ऊपर चलता है तो नीचे से ऊष्मा न मिलने के कारण यह शीघ्र समाप्त हो जाता है। मध्य अक्षांशों में इस तरह के झंझावातों से गर्मियों में महाद्वीपों के आन्तरिक भागों में वर्षा हो जाती है, जिसका पर्याप्त आर्थिक महत्व होता है। इनका समय इतना अनिश्चित होता है कि इनके आने के समय, विस्तार तथा वर्षा की मात्रा की भविष्यवाणी करना कठिन होता है।

2. पर्वतीय तड़ितझंझा : जब गर्म, आर्द्र तथा अस्थिर हवा पर्वतीय ढाल या खड़े पठारी ढाल से टकराती है तो शीघ्रता से ऊपर उठती है। ऊपर उठने पर संघनन की गुप्त ऊष्मा के कारण ऊपर उठाने का कार्य और तेज हो जाता है। परिणामस्वरूप अधिक सक्रिय तथा तीव्र झंझावात का निर्माण हो जाता है जिससे घनघोर वर्षा होती है। इसी को **वर्षा प्रस्फोट** (cloud burst rain) कहते हैं। भारत में चेरापूँजी में द० प० मानसून की उष्णार्द्र हवाएं पर्वतीय ढाल से टकराकर झंझावातीय वर्षा द्वारा 1200 सेंमी० से अधिक वर्षा प्रदान करती हैं। पर्वती झंझा, तापीय झंझा से कई बातों में समान होते हुए भी कई पहलुओं में भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, ये अधिक सक्रिय होते हैं तथा तापीय झंझा की अपेक्षा अधिक क्षेत्र पर विस्तृत होते हैं। अपने स्थान पर ये प्राय: स्थिर होते हैं। इनकी भविष्यवाणी आसान होती है। हिमाचल प्रदेश तथा उत्तराखण्ड की संकरी पर्वतीय घाटियों में मेघ प्रस्फोट की घटनायें होती रहती हैं।

3. सम्पर्कीय तड़ितझंझा : जब या तो ऊपर स्थित ठंडी हवा के नीचे गर्म हवा आ जाती है या नीचे स्थित गर्म हवा के ऊपर ठंडी हवा आ जाती है तो ताप पतन दर तीव्र हो जाती है, हवा अस्थिर होकर ऊपर उठती है तथा झंझावात का निर्माण हो जाता है। जब रात्रि के समय आकाश बादल से आच्छादित होता है तो बादल की ऊपरी परतें विकिरण द्वारा ऊष्मा के ह्रास के कारण ठंण्डी हो जाती हैं, जिस कारण ठंडी तथा भारी वायु नीचे बैठती है और नीचे की अपेक्षाकृत गर्म वायु को ऊपर धकेल देती है, जिससे संवाहन प्रारंभ हो जाता है और झंझावात का निर्माण हो जाता है। ऐसे झंझा का निर्माण अंधेरी रात में (बादल से आच्छादन के कारण) होता है।

4. उष्ण वाताग्री तड़ितझंझा : ये झंझावात अधिक महत्वपूर्ण नहीं होते हैं, क्योंकि ये प्राय: क्षीण होते हैं। गर्म हवा के ऊपर उठने की क्रिया मन्द गति से सम्पादित होने से कपासी मेघ नहीं बन पाते हैं। जब सागरीय वायु अधिक आर्द्र तथा अस्थिर होती है तभी इस झंझा का निर्माण होता है। इस तरह के झंझा अधिक हानिप्रद नहीं होते हैं।

5. शीत वाताग्री झंझा : जब चक्रवात में वाताग्र के सहारे गर्म आर्द्र दक्षिणी पछुवा तथा ठंडी, भारी, शुष्क ध्रुवीय हवा मिलती है,तो ठंडी ध्रुवीय हवा उ० प० तथा प० दिशा से गर्म हल्की हवा की ओर झपटती है। परिणामस्वरूप ठंडी भारी हवा तीव्रता से गर्म हवा को ऊपर धकेल देती है, जिससे संवाहन प्रारम्भ हो जाता है और तड़ित झंझा का निर्माण हो जाता है। चूँकि इनका सम्बन्ध चक्रवात के शीत वाताग्र से होता है, अत: इनके भ्रमणपथ तथा समय की भविष्यवाणी आसानी से की जा सकती है। तापीय तथा शीत वाताग्री झंझावातों में कई अन्तर होते हैं, (1) शीत वाताग्री झंझा प्राय: अधिक सक्रिय तथा विनाशकारी होता है, (2) चूँकि इनकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष रूप से धरातल के गर्म होने पर आधारित नहीं होती है, अत: दिन के किसी भी समय उत्पन्न हो सकते हैं, (3) शीत वाताग्री झंझा वर्ष के किसी भी मौसम में उत्पन्न हो सकते हैं। इनके चले जाने के वाद तापमान अचानक गिर जाता है तथा वायु की दिशा द० प०, द० या द० पूर्व से उ० प० हो जाती है। इस झंझावात के साथ जल वर्षा के साथ ओले भी पड़ते हैं, परन्तु ऐसा सदा आवश्यक नहीं है।

तड़ितझंझा का वितरण

तड़ित झंझा का सम्वन्ध उच्च तापमान, उच्च आर्द्रता तथा अभिसरण से अधिक होने से भूमध्य रेखीय प्रदेश इनके लिए सर्वाधिक आदर्श स्थान होते हैं, जहाँ पर स्थानीय या तापीय झंझावात प्राय: आते रहते हैं। इन प्रदेशों में प्रत्येक वर्ष 75 से 150 दिन झंझावात के दिन हो जाते हैं। कहीं-कहीं पर तो 200 दिन भी हो जाते हैं। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर इनके दिन कम होते जाते हैं। उपोष्ण कटिवन्धीय उच्चदाव के पास इनकी सम्भावना निहायत कम हो जाती है। यहाँ पर इनके आने का समय 5 दिन से कम ही होता है, परन्तु महाद्वीपों के पूर्वी भागों में गर्मियों में कुछ झंझा अवश्य होते हैं। उच्च अक्षांशों में (45^0-60^0) शीतोष्ण कटिवन्धीय चक्रवातों के साथ इनका निर्माण होता रहता है परन्तु 60^0-70^0 अक्षांशों के आगे तड़ित झंझा नहीं होते हैं।

37

प्रश्न :- वायुराशि

(Air Masses)

37.1 वायु राशि : तात्पर्य एवं संकल्पना

वायुराशि की संकल्पना का प्रतिपादन प्रथम विश्वयुद्ध के समय किया गया जब कि नार्वे के दो प्रमुख विज्ञानियों वी० बर्कनीज तथा उनके पुत्र जे० बर्कनीज ने वृहद्स्तरीय वायुमण्डलीय परिसंचरण (क्षैतिज एवं लम्बवत्, दोनों) का अध्ययन किया तथा क्षैतिज एवं लम्बवत् रूपों में तापमान एवं आर्द्रता की दृष्टि से समांग विस्तृत वायुपुंज का निर्धारण किया। इस तरह की समान तापमान एवं आर्द्रता वाली विस्तृत वायुपुंज को इन विज्ञानियों ने वायुराशि (air mass) का नाम दिया। आगे चलकर टी० बर्जरान, जे० बर्कनीज तथा सोलबर्ग ने बताया कि मौसम पूर्वानुमान (weather forecasting) में वायुराशियों का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। 1940-50 के दशक में ऋतुविज्ञान (meteorology, मौसम विज्ञान) से सम्बन्धित और अधिक आंकड़ों एवं सूचनाओं की प्राप्ति होने पर वायुराशि की संकल्पना का और अधिक विकास हुआ। आगे चलकर वायुराशि का '**सिनाप्टिक जलवायु विज्ञान**' से सम्बन्ध जोड़ दिया गया। ओलिवर एवं हिडोरे के अनुसार, 'वायुमण्डलीय परिसंचरण (atmospheric circulation) के सन्दर्भ में जलवायु के अध्ययन को सिनाप्टिक जलवायु विज्ञान कहते हैं, यह विज्ञान वायु परिसंचरण, मौसम प्रकारों तथा जलवायु सम्बन्धी प्रादेशिक विभिन्नताओं के मध्य सम्बन्धों के अध्ययन पर जोर देता है'।

कई विद्वानों ने वायुराशि को परिभाषित करने का प्रयास किया है। (1) **बारी तथा चोर्ले** (1968) के अनुसार, 'वायु राशि एक विस्तृत वायुपुंज होती है जिसके भौतिक गुणों, खासकर तापमान, आर्द्रता की मात्रा, तथा तापपतन दर, में सैकड़ों किलोमीटर तक क्षैतिज रूप में लगभग समरूपता होती है'। बारी तथा चोर्ले की वायुराशि की इस परिभाषा से आभास मिलता है कि इस परिभाषा में वायुराशियों के लम्बवत् गुणों को नहीं सम्मिलित किया गया है। (2) **ए० एन० स्ट्रालर तथा ए० यच० स्ट्रालर** (1978) के अनुसार, 'उस विस्तृत वायुपुंज को वायुराशि कहते हैं, जिसमें विस्तृत क्षेत्र में ऊँचाई के साथ तापमान एवं आर्द्रता में लगभग समरूपता होती है'। इस परिभाषा में यह कमी बतायी गयी है कि वायुराशियों में क्षैतिज रूप में उनके भौतिक गुणों को सम्मिलित नहीं किया गया है। (3) **ओलिवर तथा हिडोरे** (2003) के अनुसार, 'वायुराशि वायु की विस्तृत, क्षैतिज एवं समांग पुंज होती है जिसका क्षैतिज स्तर पर हजारों वर्ग किलोमीटर तथा लम्बवत् स्तर पर हजारों मीटर तक विस्तार होता है। इसमें तापमान एवं आर्द्रता सम्बन्धी समरूपता होती है'।

37.2 वायुराशियों की विशेषतायें

'वायुराशि' वायुमण्डल के उस विस्तृत तथा घने भाग को कहते हैं, जिसमें विभिन्न ऊँचाई पर क्षैतिज रूप में तापमान तथा आर्द्रता सम्बन्धी लगभग समानताएँ होती हैं। वायुराशियों का आविर्भाव उस समय होता है, जबकि विस्तृत समतल भूतल पर वायुमण्डल सम्बन्धी दशाएँ अपेक्षित समय तक स्थिर होती हैं ताकि वायु में धरातल की आर्द्रता तथा तापमान सम्बन्धी विशेषताएँ समाहित हो जाती हैं। एक बार उत्पन्न हो जाने के बाद वायुराशियाँ उद्गम क्षेत्र पर स्थिर नहीं रह पाती हैं। ये आगे की ओर प्रवाहित हो जाती हैं। आगे बढ़ती हुई वायुराशियाँ सम्पर्क में आने वाले क्षेत्र को प्रभावित करती हैं तथा उसकी तापमान एवं आर्द्रता सम्बन्धी दशाओं में परिमार्जन करती हैं। इस प्रक्रिया के दौरान इनमें भी परिवर्तन हो जाता है। परन्तु अधिक विस्तृत आकार के कारण इनमें परिवर्तन मन्द

गति से सम्पादित होता है, और यही कारण है कि इन वायुराशियों की भविष्यवाणी करना सरल होता है।

वायुराशियों की मूलभूत विशेषताओं, जो प्रभावित क्षेत्रों के मौसम सम्बन्धी दशाओं को नियंत्रित करती हैं, में निम्न को सम्मिलित करते हैं : (1) वायुराशि में तापमान का लम्बवत् वितरण, तथा (2) वायु में आर्द्रता की मात्रा। वायुराशि में तापमान के लम्बवत् वितरण की प्रवृत्ति के आधार पर वायुमण्डल की स्थिरता तथा अस्थिरता का ज्ञान होता है जबकि वायु में आर्द्रता की मात्रा के आधार पर संघनन का स्वरूप एवं गहनता निर्भर करती है तथा इसी आधार पर यह निश्चित होता है कि मौसम आर्द्र होगा, या अर्द्ध आर्द्र होगा या शुष्क होगा। वायुराशि का जलवायु सम्बन्धी सबसे महत्वपूर्ण यह योगदान होता है कि यह अपने उत्पत्ति स्थान से अन्य क्षेत्रों में संचलन (movement) द्वारा वायुमण्डल में ऊर्जा का स्थानान्तरण करती है।

किसी भी वायुराशि की तापीय दशा का निर्धारण उसके तापमान के आधार पर किया जाता है। ज्ञातव्य है कि वायुराशि के तापमान एवं जिस सतह के ऊपर से वह गतिशील होती है, उसके तापमान के सापेक्ष में ही वायुराशि की तापीय दशा का निर्धारण होता है। किसी वायुराशि को उस समय ठंडी वायुराशि कहते हैं जबकि उसका तापमान उसके नीचे वाली धरातलीय सतह के तापमान से कम होता है। इसी तरह किसी वायुराशि को उस समय गर्म वायुराशि कहते हैं जबकि उसका तापमान उसके नीचे स्थित सतह के तापमान से अधिक होता है। जब दो वायुराशियों का अभिसरण (convergence) होता है तो उनके बीच की विभाजक सीमा को वाताग्र (front) कहते हैं। किसी भी वायुराशि के भौतिक गुण उस धरातलीय सतह की विशेषताओं पर आधारित होते हैं, जिस पर से वह वायुराशि गतिशील होती है। कोई भी वायुराशि उस क्षेत्र की तापीय एवं आर्द्रता सम्बन्धी दशाओं को प्रभावित एवं परिवर्तित करती है, जिससे होकर चलती है, साथ ही साथ उस क्षेत्र की तापीय एवं आर्द्रता की दशाओं से प्रभावित होती है तथा परिवर्तित भी होती है। वायुराशियों के रूपान्तर (modification) की मात्रा वायुराशियों द्वारा तय की गयी दूरी पर निर्भर करती है। वायुराशियों की विशेषताओं से मौसम के पूर्वानुमान में भी सहायता मिलती है।

37.3 उत्पत्ति क्षेत्र
(Source Regions)

जिन धरातलीय भागों पर वायुराशियों का उद्भव होता है, उसे 'वायुराशियों का उत्पत्ति क्षेत्र या उद्गम क्षेत्र' कहते हैं। आदर्श उत्पत्ति क्षेत्र के लिए कुछ निश्चित दशाएँ आवश्यक होती हैं : (1) विस्तृत किन्तु समान गुणों वाला क्षेत्र होना चाहिए, ताकि उस क्षेत्र में तापमान और आर्द्रता सम्बन्धी दशाएँ समान हों। उत्पत्ति क्षेत्र या तो स्थालीय भाग हों या पूर्णतया सागरीय भाग, क्योंकि स्थल-जल से युक्त भागों में तापमान और आर्द्रता में समरूपता नहीं हो सकती है। (2) वायु का अभिसरण (convergence) नहीं होना चाहिए। यदि वायु में क्षैतिज गति हो तो वह अपसरण (divergence) प्रकार की होनी चाहिए। (3) वायुमण्डल सम्बन्धी दशाएँ लम्बे समय तक स्थिर होनी चाहिए, ताकि वायु धरातलीय विशेषताओं को आत्मसात् कर सके। भूपटल पर वायुराशियों के 6 आदर्श उत्पत्ति क्षेत्र पाये जाते हैं : (i) ध्रुवीय सागरीय भाग (अटलांटिक एवं प्रशान्त महासागर के उत्तरी क्षेत्र-शीतकाल में), (ii) ध्रुवीय तथा आर्कटिक महाद्वीपीय क्षेत्र (यूरेशिया तथा उत्तरी अमेरिका के हिमाच्छादित भाग और आर्कटिक प्रदेश, शीतकाल में), (iii) उष्ण कटिबन्धीय सागरीय क्षेत्र (प्रतिचक्रवातीय क्षेत्र-शीत एवं ग्रीष्मकाल), (iv) उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय क्षेत्र (उत्तरी अफ्रीका, एशिया तथा संयुक्त राज्य अमरीका का मिसीसिपी घाटी क्षेत्र:ग्रीष्मकाल में अधिक व्यवस्थित), (v) भूमध्यरेखीय क्षेत्र (व्यापारिक हवाओं के बीच स्थित भूमध्यरेखीय पेटी-वर्षभर) तथा (vi) मानसूनी क्षेत्र (द० पू० एशिया)।

वायुराशियों के उत्पत्ति क्षेत्रों (स्रोत स्थलों) को दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं (1) **प्राथमिक अथवा प्रमुख स्रोत प्रदेश**, तथा (2) **द्वितीयक या गौण स्रोत प्रदेश**। प्राथमिक उत्पत्ति क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत होते हैं जहां पर वायुराशि लम्बी अवधि तक टिकी रहती है। ऐसे उत्पत्ति क्षेत्रों के अन्तर्गत (1) उष्ण कटिबन्धी गर्म सागरीय सतह, (2) उष्ण रेगिस्तानी सतह, तथा (3) आर्कटिक शीत प्रदेश को सम्मिलित किया जाता है। द्वितीयक या गौण उत्पत्ति क्षेत्र वे होते हैं जहां पर विस्तृत समांग सतह होती है तथा वायुराशि अधिक समय तक नहीं रहती है। वास्तव में उत्पत्ति के ठीक बाद ही वायुराशि गतिशील हो जाती है। उन उत्पत्ति क्षेत्रों को भी गौण या द्वितीयक वायुराशि उत्पत्ति क्षेत्र कहा जाता है जहां पर वायुराशियां रूपान्तरित (modified) होती हैं तथा विचित्र गुणों को धारण करती हैं। **सतह के आधार पर** वायुराशियों के उत्पत्ति क्षेत्रों को दो वर्गों में विभाजित करते हैं : (1) महाद्वीपीय स्रोत प्रदेश, (2) महासागरीय स्रोत प्रदेश, तथा **अक्षांश के आधार पर** 4 प्रकारों में रखते हैं : (1) भूमध्यरेखीय स्रोत प्रदेश, (2) उष्ण कटिबन्धी स्रोत प्रदेश, (3) ध्रुवीय स्रोत प्रदेश, तथा (4) आर्कटिक स्रोत प्रदेश।

37.4 वायुराशियों का रूपान्तर
(Modifications of Airmasses)

उत्पत्ति क्षेत्रों में उद्भूत होने के बाद वायुराशियां उस क्षेत्र के भौतिक गुणों को आत्मसात् कर लेती हैं। इन भौतिक गुणों में प्रमुख हैं : (1) तापमान का लम्बवत् वितरण, (2) औसत तापमान, (3) वायु में नमी की मात्रा, (4) वायु का वेग आदि। जहां तक वायु के क्षैतिज घटक का प्रश्न है, उसमें

तापमान एवं आर्द्रता सम्बन्धी लगभग समरूपता होती है परन्तु वायुराशि के लम्बवत घटक में तापमान एवं आर्द्रता सम्बन्धी विषमता होती है। अपने उत्पत्ति क्षेत्र से उद्भूत होकर वायुराशि आगे बढ़ती है तथा जिन क्षेत्रों में पहुचंती है उनके मौसम सम्बन्धी दशाओं को प्रभावित करती है परन्तु उस वायुराशि में भी प्रभावित क्षेत्रों के भौतिक गुणों के अनुसार परिवर्तन/रूपान्तर होता है। वायुराशि के भौतिक गुणों में परिवर्तन निम्न द्वारा होता है :

- प्रभावित क्षेत्र/पहुंच क्षेत्र (visited area) की धरातलीय सतह का तापमान : यह वायुराशि के ऊष्मन (warming) तथा शीतलन (cooling) को निर्धारित करता है। यदि आगन्तुक वायुराशि का तापमान धरातलीय सतह के तापमान से अधिक है तो वायुराशि का शीतलन होगा, और यदि उसका तापमान धरातलीय सतह के तापमान से कम है तो उस आगन्तुक (visitor) वायुराशि का ऊष्मन होगा।
- सौर्यिक विकिरण द्वारा धरातलीय सतह के ऊष्मन की मात्रा, तथा पार्थिव विकिरण द्वारा ऊष्मा के क्षय होने से धरातलीय सतह के शीतलन की मात्रा।
- अधिक वाष्पीकरण द्वारा वायुराशि में नमी की वृद्धि या संघनन तथा वर्षण द्वारा नमी में ह्रास।
- लम्बवत वायु परिसंचरण का प्रतिरूप : वायु का ऊपर उठना (या तो विकिरण वायु परिसंचरण द्वारा वायु का गर्म होकर ऊपर उठना, या यांत्रिक रूप में वायु का अवरोध के कारण बलात् ऊपर उठना), तथा वायु का अवतलन (नीचे बैठना)।

उपर्युक्त आधारों पर वायुराशियों में होने वाले परिवर्तन/रूपान्तर को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है : (1) **ऊष्मागतिक परिवर्तन:** वायुराशि के नीचे से गर्म होने या ठंडा होने से, वायु की नमी में वाष्पीकरण की दरों (अधिक वाष्पीकरण या कम वाष्पीकरण) के अनुसार परिवर्तन होने से, तथा ऊपर स्थित आर्द्र वायु के वर्षण द्वारा नमी में वृद्धि होने से वायुराशियों में ऊष्मागतिक परिवर्तन होते हैं। (2) **यांत्रिक परिवर्तन :** वायु के ऊपर उठने (उत्थापन) या नीचे बैठने (अवतलन) द्वारा, विक्षोभों द्वारा मिश्रण होने से, वायु परिसंचरण के अभिसरण (convergence) या अपसरण (divergence) द्वारा वायुराशियों के भौतिक गुणों में होने वाले परिवर्तनों को यांत्रिक परिवर्तन कहते हैं।

1. ऊष्मागतिक परिवर्तन (Thermodynamic Changes)

किसी भी वायुराशि के अपने उत्पत्ति क्षेत्र से आगे बढ़ने पर ऊष्मागतिक परिवर्तन के अन्तर्गत वायुराशि के प्रभावित क्षेत्र के धरातलीय तापमान के सन्दर्भ में नीचे से ऊष्मन (heating) या शीतलन (cooling) को सम्मिलित किया जाता है। नीचे से गर्म होने पर वायुमण्डल की लम्बवत् स्थिरता कम होती है परन्तु अस्थिरता बढ़ती है, जबकि नीचे से ठंडी होने पर अस्थिरता घटती है परन्तु स्थिरता में वृद्धि होती है।

वायुराशियाँ जब उत्पन्न होने के बाद उस क्षेत्र की तापीय विशेषताओं को आमसात् कर लेती हैं तो आगे की ओर चल पड़ती हैं। अपनी यात्रा के समय मार्ग में आने वाले क्षेत्र की मौसमी दशाओं को प्रभावित करती ही हैं, साथ ही साथ उनके तापमान तथा आर्द्रता में भी परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन तीन बातों पर आधारित होता है : (i) धरातलीय अथवा जलीय सतह का स्वभाव, (ii) उत्पत्ति क्षेत्र से प्रभावित क्षेत्र तक का वायुराशि का भ्रमणपथ, (iii) उत्पत्ति क्षेत्र से प्रभावित क्षेत्र में पहुँचने की अवधि (दिनों की संख्या)। जब वायुराशि की निचली परत का तापमान उस सतह से अधिक होता है, जिस पर कि वह पहुँचती है तो वायुराशि नीचे से ठंडी होती है, जिस कारण उसमें स्थिरता आ जाती है और लम्बवत् गति रुक जाती है। इसके विपरीत जब वायुराशि के निचले भाग का तापमान उस सतह की अपेक्षा कम होता है, जिस पर कि वह पहुँचती है तो वायुराशि का निचला भाग सतह के तापमान के कारण गर्म होने लगता है। परिणामस्वरूप वायुराशि में लम्बवत् गति होने लगती है तथा वह अस्थिर हो जाती है जिस कारण बादलों का निर्माण और वर्षा का आविर्भाव हो जाता है। स्मरणीय है कि जब वायुराशि धरातलीय तापमान की अपेक्षा गर्म होती है तब वह **गर्म वायुराशि** (w) होती है अन्यथा धरातल की अपेक्षा शीतल होने पर **ठण्डी वायुराशि** (k) होती है। यहां पर वायुराशि का गर्म होना या ठण्डा होना वायुराशि के नीचे स्थित धरातलीय तापमान पर आधारित होता है। गर्म वायुराशि का उच्च तथा ठण्डी वायुराशि का निम्न तापमान से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। वायुराशियों में उस समय भी ऊष्मागतिक परिवर्तन हो जाता है जबकि उनमें बाहर से नमी का समावेश हो जाता है।

जब कोई गतिशील वायुराशि ऐसी धरातलीय सतह पर पहुँचती है जिसका तापमान ऊपर स्थित वायुराशि के निचले स्तर से अधिक होता है तो वायुराशि नीचे से गर्म होने लगती है तथा अस्थिर हो जाती है क्योंकि ताप प्रवणता तेज हो जाती है। परिणामस्वरूप वायु में उपरिमुखी संचलन हो जाता है। वांछित ऊँचाई पर पहुंचने के बाद वायु संतृप्त हो जाती है, संघनन प्रारम्भ हो जाता है, बादलों का बनना प्रारम्भ हो जाता है और अन्ततः वर्षा होने लगती है। इसके विपरीत जब आगन्तुक वायुराशि का तापमान निचले धरातलीय तापमान से अधिक होता है तो वह वायुराशि नीचे से ठंडी होने लगती है, तापीय प्रवणता कम हो जाती है, परिणामस्वरूप वायुराशि स्थिर हो जाती है और मौसम शुष्क हो जाता है।

2. यांत्रिक परिवर्तन
(Mechanical Modifications)

वायुराशियों के गुणों में यांत्रिक या गतिक परिवर्तन की प्रक्रिया के अन्तर्गत वायु के उपरिमुखी लम्बवत् परिसंचरण (वायु का उत्थापन-uplifting of air) या वायु के अधोमुखी परिसंचरण (अवतलन), तथा अभिवहनीय परिसंचरण (advectional circulation) तथा उनसे उत्पन्न परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाता है। उस वायु को स्थिर वायु कहते हैं जो नीचे उतरती है (वायु में अधोमुखी संचलन होता है) तथा ऊपर उठती वायु अस्थिर वायु होती है। वायुराशियों में हवाओं के इस तरह उपरिमुखी या अधोमुखी संचलन के कारण उत्पन्न परिवर्तनों (खासकर तापमान एवं आर्द्रता की मात्रा में परिवर्तन) को **यांत्रिक या गतिक परिवर्तन** कहते हैं। वायुराशियों में इस तरह के यांत्रिक या गतिक परिवर्तन चक्रवातीय एवं प्रतिचक्रवातीय दशाओं के कारण होते हैं। इसके अलावा यांत्रिक परिवर्तन निम्न रूप में भी होता है :

- भंवर (eddies) तथा संवहन (convection) के कारण प्रक्षुब्ध मिश्रण (turbulent mixing) द्वारा।
- वायुराशियों के अभिसरण (convergence) एवं अपसरण (divergence) तथा उनके तापमान के पतन दर पर प्रभाव द्वारा।
- वायु के अवतलन तथा धरातलीय सतह पर अवतलित वायु के क्षैतिज प्रसरण (प्रतिचक्रवातीय दशा) द्वारा।
- वायु के उत्थापन (lifting of air) तथा धरातलीय सतह पर वायु के अभिसरण (चक्रवातीय दशा) द्वारा।
- वायु के क्षैतिज परिसंचरण या अभिवहनीय परिसंचरण (advectional circulation) द्वारा।

वायुराशियों को, उनके ऊष्मागतिक एवं यांत्रिक (गतिक) परिवर्तनों के आधार पर निम्न वर्गों में विभाजित करते हैं।

(1) ठंडी वायुराशि — स्थिर ठंडी वायुराशि / अस्थिर ठंडी वायुराशि

(2) गर्म वायुराशि — स्थिर गर्म वायुराशि / अस्थिर गर्म वायु राशि

37.5 वायुराशियों का वर्गीकरण

वायुराशियों के वर्गीकरण के समय यह ध्यान देना परमावश्यक है कि उस वर्गीकरण द्वारा उनकी सभी विशेषताओं (मौसम सम्बन्धी खासकर तापमान, आर्द्रता तथा तापमान का पतन दर) का समेकन हो जाय। इस दृष्टिकोण से वायुराशियों के उत्पत्ति क्षेत्र पर उनकी मौसमी दशाओं तथा मार्ग में उनमें होने वाले **ऊष्मागतिक तथा यांत्रिक परिवर्तनों** को ध्यान में रखा जाता है।

इस प्रकार वायुराशियों के गुणों में परिवर्तन करने वाली दो प्रमुख प्रक्रियाओं, ऊष्मागतिक परिवर्तन की प्रक्रिया, तथा यांत्रिक/गतिक परिवर्तन की प्रक्रिया, के आधार पर बर्गरान ने वायुराशियों के वर्गीकरण को दो प्रमुख वर्गों में रखा है : (1) वायुराशियों का **भौगोलिक वर्गीकरण**, तथा (2) वायुराशियों का **ऊष्मागतिक वर्गीकरण**।

1. भौगोलिक वर्गीकरण

मौलिक रूप से वायुराशियों को उनके उत्पत्ति क्षेत्रों के तापमान के आधार पर दो प्रमुख प्रकारों में विभाजित किया जाता है : (1) **गर्म वायुराशियां**, तथा (2) **ठंडी वायुराशियां**। भौगोलिक वर्गीकरण के अन्तर्गत वायुराशियों के उत्पत्ति क्षेत्रों की भौतिक विशेषताओं को प्रमुख आधार बनाया जाता है। जी० टी० ट्रीवार्था ने वायुराशियों की भौगोलिक अवस्थितियों के आधार पर उन्हें दो प्रमुख प्रकारों में विभाजित किया है :

(1) **उष्ण कटिबन्धीय वायुराशि** (जिसका आविर्भाव उष्ण कटिबन्धी भागों में होता है। भूमध्यरेखीय वायुराशियों को भी इसी श्रेणी में रख लिया जाता है), तथा (2) **ध्रुवीय वायुराशि** (जिसका आविर्भाव ध्रुवीय विस्तृत क्षेत्रों में होता है। आर्कटिक वायुराशियों को भी इसी श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है)। पुनः स्थल तथा जल के आधार पर प्रत्येक को महाद्वीपीय तथा सागरीय प्रकारों में विभाजित किया जाता है। स्मरणीय है कि महाद्वीपीय वायुराशि जब सागरों से होकर गुरजती है तो उसमें नमी आ जाने से उसका सागरीय प्रकारों में रूपान्तर हो जाता है, परन्तु सागरीय प्रकार का महाद्वीपीय प्रकार में परिवर्तन आसानी से नहीं हो पाता है। इस तरह वायुराशियों के निम्न चार प्रकार हो सकते हैं :

- (1) **उष्ण कटिबन्धीय (T) वायुराशि**
  - (i) महाद्वीपीय ऊष्ण कटिबन्धीय (cT)
  - (ii) महासागरीय ऊष्ण कटिबन्धीय (mT)
- (2) **ध्रुवीय (P) वायुराशि**
  - (iii) महाद्वीपीय ध्रुवीय (cP)
  - (iv) सागरीय ध्रुवीय (mP)

2. ऊष्मागतिक वर्गीकरण
(Thermodynamic Classification)

वायुराशियों में ऊष्मागतिक एवं यांत्रिक परिवर्तनों के आधार पर उनको दो प्रमुख प्रकारों में विभाजित किया जाता है : (1) ठंडी वायुराशि, (2) गर्म वायुराशि। इनमें से प्रत्येक को पुनः दो उपप्रकारों में विभाजित किया जाता है : स्थिर वायुराशि एवं अस्थिर वायुराशि। इस तरह कुल चार वायुराशियों का अभिनिर्धारण किया जाता है :

(1) गर्म स्थिर वायुराशि

(2) ठंडी स्थिर वायुराशि

(3) गर्म अस्थिर वायुराशि

(4) ठंडी अस्थिर वायुराशि

(1) ठण्डी वायुराशि का आविर्भाव उपध्रुवीय अथवा आर्कटिक क्षेत्रों में होता है। उत्पत्ति क्षेत्रों में इसकी अग्रलिखित विशेषताएँ होती हैं। : (i) विकिरण द्वारा ऊष्मा में अधिक ह्रास होने से तापमान कम होता है, (ii) विशिष्ट आर्द्रता निहायत कम होती है, (iii) स्थिरता बढ़ती जाती है तथा सामान्य ताप पतन दर कम होती है। उत्पत्ति क्षेत्र से अग्रसर होने पर उसकी निम्न विशेषताएँ होती हैं: (i) जहां पर वह पहुँचती है वहाँ का तापमान कम होने लगता है। (ii) हवा नीचे से गर्म होती है, जिस कारण 'सामान्य तापपतन दर' बढ़ जाती है और हवा अस्थिर हो जाती और संवहन तरंगें उठने लगती हैं। (iii) यदि वायुराशि अब गर्म सागर के ऊपर है तो उसकी विशिष्ट आर्द्रता बढ़ जाती है, जिस कारण कपासी वर्षा मेघ (cumulo-nimbus clouds) बन जाते हैं। (iv) वायुराशि में दृश्यता यथावत् बनी रहती है। (v) वर्षा केवल उस समय होती है, जबकि वायुराशि गर्म सागर के ऊपर होती है, परन्तु जब वह गर्म महाद्वीपीय भाग के ऊपर होती है तो मौसम साफ रहता है। (vi) जब वायुराशि ऐसी स्थिति में आ जाती है कि उसका कुछ भाग गर्म सागर के ऊपर होता है और कुछ भाग समीपी ठण्डे स्थल पर होता है तो ऊष्ण और शीत वृत्तांश बन जाने से चक्रवातीय दशाएं बन जाती हैं। ठण्डी वायुराशि के पुन: दो प्रकार, महाद्वीपीय तथा सागरीय, किए जाते हैं।

(2) गर्म वायुराशि उसे कहते हैं, जिसका तापमान उस सतह की अपेक्षा, जिस पर होकर चलती है, अधिक होता है। इस तरह की वायुराशि नीचे से ठण्डी हो जाती है, जिससे उसका निचला स्तर स्थिर होने लगता है, जिस कारण उसमें लम्बवत् गति का स्थगन होने लगता है। गर्म वायुराशियों के महत्वपूर्ण उत्पत्ति क्षेत्र उपोष्ण कटिबन्ध के प्रतिचक्रवातीय क्षेत्र होते हैं। गर्मियों में इन वायुराशियों का आविर्भाव दक्षिणी महाद्वीपों, खासकर उत्तरी अफ्रीका में सहारा में भी हो जाता है।

इन्हें पुन: दो उपप्रकारों में विभाजित किया जाता है : (1) गर्म महाद्वीपीय वायुराशि, तथा (2) गर्म महासागरीय वायुराशि।

3. संयुक्त वर्गीकरण
(Composite Classification)

ऊष्मागतिकी एवं यांत्रिक परिवर्तनों तथा अन्य कारकों के आधार पर वायुराशियों का सामान्य वर्गीकरण किया जाता है। इसे मिश्र या संयुक्त वर्गीकरण कहा जाता है। इस आधार पर वायुराशियों को चार प्रमुख प्रकारों में विभाजित किया जाता है।

(1) महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशियां (cP)

(2) सागरीय ध्रुवीय वायुराशियां (mP)

(3) महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धी वायुराशियां (cT)

(4) सागरीय उष्णकटिबन्धी वायुराशियां (mT)

इनमें से प्रत्येक को चार उपप्रकारों में विभाजित किया जाता है। इस प्रकार कुल 16 वायुराशियों का निर्धारण किया गया है।

महाद्वीपीय ध्रुवीय cP	1. महाद्वीपीय ध्रुवीय	ठंडी	स्थिर वायुराशि (cPKs)
	2. महाद्वीपीय ध्रुवीय	ठंडी	अस्थिर वायुराशि (cPKu)
	3. महाद्वीपीय ध्रुवीय	गर्म	स्थिर वायुराशि (cPWs)
	4. महाद्वीपीय ध्रुवीय	गर्म	अस्थिर वायुराशि (cPWu)
सागरीय ध्रुवीय mP	5. सागरीय ध्रुवीय	ठंडी	स्थिर वायुराशि (mPKs)
	6. सागरीय ध्रुवीय	ठंडी	अस्थिर वायुराशि (mPKu)
	7. सागरीय ध्रुवीय	गर्म	स्थिर वायुराशि (mPWs)
	8. सागरीय ध्रुवीय	गर्म	अस्थिर वायुराशि (mPWu)
महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय cT	9. महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय	ठंडी	स्थिर वायुराशि (cTKs)
	10. महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय	ठंडी	अस्थिर वायुराशि (cTKu)
	11. महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय	गर्म	स्थिर वायुराशि (cTWs)
	12. महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय	गर्म	अस्थिर वायुराशि (cTWu)
सागरीय उष्ण कटिबन्धीय mT	13. सागरीय उष्ण कटिबन्धीय	ठंडी	स्थिर वायुराशि (mTKs)
	14. सागरीय उष्ण कटिबन्धीय	ठंडी	अस्थिर वायुराशि (mTKu)
	15. सागरीय उष्ण कटिबन्धीय	गर्म	स्थिर वायुराशि (mTWs)
	16. सागरीय उष्ण कटिबन्धीय	गर्म	अस्थिर वायुराशि (mTWu)

c महाद्वीपीय (continental), s स्थिर (stable), T उष्ण कटिबन्धीय, P ध्रुवीय (polar), u अस्थिर (unstable), m सागरीय (maritime), K ठंडी (cold or kalt), W गर्म (warm).

37.6 उत्तरी अमेरिका की वायुराशियां

(अ) शीतकालीन वायुराशियां

1. ध्रुवीय महाद्वीपीय वायुराशि (cP)

यह वायुराशि ठण्डी (k), शुष्क तथा स्थिर (s) होती है, जो कनाडा के आन्तरिक हिमाच्छादित भाग (50^0-55^0 अक्षांश के उत्तर), अलास्का तथा हिममण्डित आर्कटिक सागर के विस्तृत भाग पर उत्पन्न होकर द० तथा द० पू० संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर अग्रसर होती है। विस्तृत भूभाग की एकरूपता तथा मन्द प्रतिचक्रवातीय वायु संचार इस वायुराशि की उत्पत्ति के लिए आदर्श दशाएं प्रस्तुत करते हैं। उच्च अक्षांशों में स्थिति के कारण तिरछी सौर्यिक किरणों से कम सूर्यातप मिलने तथा हिमाच्छादित सतह से ऊर्जा के परावर्तन के कारण सतह अत्यन्त ठण्डी रहती है, जबकि उसके ऊपर स्थित वायु अपेक्षाकृत गर्म होती है, जिस कारण 1.6 किमी० की ऊँचाई तक प्रात: काल तापीय प्रतिलोमन (inversion of temperature) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पश्चिम में राकी पर्वत के प्रभावी अवरोध के कारण सागरीय प्रभाव यहाँ तक नहीं पहुँच पाता है। अत्यधिक शुष्कता तथा स्थिरता के कारण बादल प्राय: नहीं बनते हैं। राकी तथा ग्रेट लेक्स के मध्य से यह ठण्डी ध्रुवीय वायुराशि संयुक्त राज्य में प्रविष्ट होती है तथा खाड़ी तटीय प्रांतों तक पहुँच जाती है, जिस कारण यहाँ पर शीत लहरों का सृजन हो जाता है, परिणामस्वरूप अधिकांश क्षेत्रों का तापमान हिमांक से नीचे चला जाता है। उदाहरण के लिए, सेण्ट लुई का जनवरी का औसत तापमान 74^0 फा० (23^0C) रहता है, जबकि शीतलहरों के आगमन पर न्यूनतम तापमन 22^0 फा० तक हो जाता है। कभी-कभी खाड़ी तट के पास भी हिमपात हो जाता है। इस कारण गाल्वेस्टन, न्यू आर्लियन्स तथा ह्यूस्टन का न्यूनतम तापमान क्रमश: 8^0 फा०, 7^0 फा० तथा 22^0 फा० हो जाता है। इसी समय द० से आने वाली उष्ण कटिबन्धीय गर्म हवाओं का सामना इन ठण्डी हवाओं से मध्य संयुक्त राज्य में होता है, जिस कारण ध्रुवीय वाताग्र (polar front) की उत्पत्ति के कारण शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों का सृजन होता है। ग्रेट लेक्स के दक्षिणी तटों तक पहुंचने के बाद महाद्वीपीय ध्रुवीय ठंडी वायुराशि परिवर्तित होकर आर्द्र तथा अस्थिर हो जाती है तथा हिम के रूप में भारी वर्षा करती है। इसे स्थानीय स्तर पर **लेक-इफेक्ट स्नो** कहते हैं।

जब तक ध्रुवीय महाद्वीपीय वायुराशि हिमाच्छादित धरातल के ऊपर से चलती है, उसमें परिवर्तन कम ही हो पाता है, परन्तु जैसे ही यह मध्यवर्ती इलीनोइस को पार करके हिमविहीन धरातल से गुजरती है, नीचे से गर्म होने लगती है, जिस कारण वायुराशि में उष्णता आने लगती है तथा K गुण (kalt-ठण्डा) के स्थान पर W गुण (गर्म) आने लगता है तथा वायुराशि की स्थिरता घटने लगती है। ऊपर से वायु के अवतलन के कारण वायुराशि का s गुण (स्थिरता) बना रहता है। यांत्रिक विक्षोभ (mechanical turbulence) के कारण धरातलीय तापीय प्रतिलोमन समाप्त हो जाता है। जब यह वायुराशि मेक्सिको की खाड़ी में पहुँचती है तो cPKs वायु mPKs (सागरीय ध्रुवीय ठण्डी स्थिर) तथा mTKs (सागरीय उष्ण कटिबन्धीय ठण्डी, स्थिर वायु) में बदल जाती है। जब यह ध्रुवीय महाद्वीपीय ठण्डी स्थिर (cPKs) वायु राशि संयुक्त राज्य के पूर्व की ओर अग्रसर होती है तो ऊपरी भाग में वायु की स्थिरता घटने लगती है। ग्रेट लेक्स तथा अप्लेशियन के कारण वायुराशि में ऊष्मा के मिश्रण के कारण उसका तापमान बढ़ने लगता है। जब यह वायुराशि अप्लेशियन उच्च भाग के पश्चिमी ढाल के सहारे ऊपर उठती है तो सामान्य मेघाच्छादन हो जाता है तथा हिमपात भी होने लगता है, परन्तु जब यह पूर्वी ढाल के सहारे नीचे उतरती है तो अवतलन के कारण वायु गर्म हो जाती है, बादल अदृश्य हो जाते हैं तथा हिमपात समाप्त हो जाता है।

2. सागरीय ध्रुवीय प्रशान्त महासागरीय वायुराशि (mP)

इस वायुराशि का जन्म उत्तरी प्रशान्त महासागर के उत्तरी भाग में होता है, जहाँ पर जाड़े में एल्यूशियन निम्न दाब क्षेत्र का निर्माण हो जाता है। दक्षिण को छोड़ कर चारों तरफ से यह क्षेत्र महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशि क्षेत्र से घिरा है। इस भाग में सागरीय जल की सतह उस पर स्थित पवन की अपेक्षा गर्म होती है। परिणामस्वरूप जब ध्रुवीय महाद्वीपीय वायु इस क्षेत्र में आती है तो नीचे से गर्म होने के कारण अस्थिर (u) हो जाती है तथा उसमें नमी की मात्रा बढ़ जाती है। जब यह वायुराशि (mPKu) उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट के पास आती है तो उसका तापमान हिमांक से ऊँचा रहता है। निम्न ऊँचाई के बादल होते हैं तथा प्राय: वर्षा हो जाया करती है। जब यह वायुराशि तटीय पहाड़ियों के सहारे ऊपर उठती है तो निचले भागों में जलवर्षा होती है तथा ऊपरी भाग पर हिमपात होता है। ग्रीष्म काल में यह वायुराशि स्थिर हो जाती है। जब यह वायुराशि तटीय पहाड़ियों तथा राकी पर्वत को पार करके आन्तरिक भाग में प्रवष्टि होती है तो ऊष्मागतिक (thermodynamic) परिवर्तनों के कारण बदल जाती है तथा इसका स्वभाव शीतल, शुष्क तथा स्थिर महाद्वीपीय (cPKs) हो जाता है। इस वायुराशि के कारण मध्यवर्ती संयुक्त राज्य में प्रतिचक्रवातीय दशाएं व्याप्त हो जाती हैं, फलस्वरूप आकाश साफ, पवन संचार मन्द एवं तापमान सामान्य हो जाता है।

3. सागरीय ध्रुवीय अटलांटिक वायुराशि (mP)

इस वायुराशि का जन्मस्थल ग्रीनलैण्ड, न्यूफाउण्डलैण्ड तथा लेब्राडोर के बीच का भाग होता है, जहाँ पर शरदकालीन तापमान 5^0 से 40^0 फा० तथा ग्रीष्मकाल में तापमान 50^0 से 60^0 फा० (10^0 से 15^0C) रहता है। इस क्षेत्र में सामान्य वायुसंचार पश्चिम से पूर्व रहता है। अत: इस वायुराशि का उत्तरी अमेरिका के मौसम पर प्रभाव नगण्य होता है। केवल

चक्रवातीय एवं प्रतिचक्रवातीय दशाओं के समय ही इसका प्रभाव अनुभव किया जाता है और वह भी अप्लेशियन पर्वत के पूर्व ही। दक्षिण में हेटरस की खाड़ी के आगे इसका प्रभाव शून्य हो जाता है। ऊपरी भाग में यह वायुराशि शुष्क तथा स्थिर होती है, जबकि निचले भाग में अस्थिर तथा आर्द्र होती है। इस वायुराशि के आगमन पर मौसम खराब हो जाता है।

4. सागरीय उष्ण कटिबन्धी खाड़ी-अटलांटिक वायुराशि (mT)

इन वायुराशियों का जन्म मेक्सिको की खाड़ी, कैरेबियन सागर तथा पश्चिमी अटलांटिक के उपोष्ण भाग में होता है। यह वायुराशि राकी पर्वत के पूर्व उत्तरी अमेरिका के अधिकांश भाग को प्रभावित करती है। इसका स्रोतस्थल में तापमान 70^0 से 80^0 फा० (21^0C से 26^0C) के बीच होता है तथा लगभग समान रहता है। इस कारण यह वायुराशि गर्म तथा आर्द्र होती है। मध्यवर्ती तथा दक्षिणी संयुक्त राज्य के ऊपर शररदकाल में महाद्वीपीय ध्रुवीय (cP) वायुराशि का विस्तार रहता है, जिस कारण खाड़ी-अटलांटिक वायुराशि का संयुक्त राज्य में प्रवेश कठिनाई के साथ हो पाता है। लेकिन जब कभी यह वायुराशि संयुक्त राज्य में प्रवष्टि होती है तो यह सतह से गर्म होती है, जिस कारण नीचे से ठण्डी होती है और शुष्क तथा स्थिर हो जाती है (mTWs)। परिणामस्वरूप वर्षा नहीं हो पाती है, परन्तु जब यह वायुराशि ध्रुवीय वायुराशि के सम्पर्क में आती है तो उच्च वायुमण्डलीय अस्थिरता बढ़ जाती है और वायुराशि परिवर्तित होकर mTWu हो जाती है। जैसे ही यह वायुराशि पर्वतीय अवरोध के सहारे ऊपर उठती है, वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। चक्रवातीय संचरण में वाताग्र (front) के सहारे सागरीय खाड़ी वायुराशि के ऊपर उठने से शरदकाल में हिमपात तथा जलवर्षा होती है।

5. सागरीय उष्ण कटिबन्धीय प्रशान्त महासागरीय वायुराशि (mT)

प्रशान्त महासागरीय वायुराशि का जन्म पश्चिमी संयुक्त राज्य तथा मेक्सिको के पश्चिम उपोष्ण कटिबन्धीय पूर्वी प्रशान्त महासागरीय भाग में होता है। यहाँ पर प्रतिचक्रवातीय संचरण के कारण वायु में अवतलन से स्थिरता (s) आ जाती है। यह उष्ण कटिबन्धीय सागरीय स्थिर (mTs) वायुराशि जब उत्तरी अमेरिका के प्रशान्त तट के पास पहुँचती है तो यह शुष्क, ठण्डी तथा स्थिर होती है। जब कभी यह वायुराशि चक्रवातीय संचरण के सम्पर्क में आती है तो इसमें अस्थिरता (u) आ जाती है और वर्षा भी होने लगती है। राकी पर्वत के पूर्व में यह वायुराशि नहीं पहुँच पाती है।

(ब) ग्रीष्मकालीन वायुराशि

1. महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशि (cP)

इस वायुराशि के स्रोतस्थल कनाडा के आन्तरिक हिमाच्छादित भाग, अलास्का तथा हिममण्डित आर्कटिक सागरीय भाग हैं। शरदकाल के विपरीत ग्रीष्म काल में तापमान अधिक हो जाता है परन्तु समीपी सागरीय भाग का तापमान अपेक्षाकृत कम रहता है। जब यह हवा महासागरीय भाग में प्रवष्टि होती है तो नीचे से गर्म होने के कारण K गुण प्राप्त कर लेती है। प्रतिचक्रवातीय दशाओं के कारण ऊँचाई पर cP वायु स्थिर (s) हो जाती है। स्रोत स्थल से जब ये हवाएँ दक्षिण की ओर चलती हैं तो अधिक दूरी तक प्रविष्ट नहीं हो पाती हैं, परन्तु पूर्व की ओर इनका प्रसार अधिक दूरी तक होता है। जब cP वायु चक्रवातीय संचार में प्रविष्ट हो जाती है तो उसमें ऊष्मा मिल जाती है तथा वह स्थिर हो जाती है।

2. सागरीय ध्रुवीय वायुराशि (mP) : प्रशान्त महासगरीय

इस वायुराशि की उत्पत्ति उत्तरी प्रशान्त महासागर के अल्यूशियन द्वीप के पास होती है। परन्तु ग्रीष्म काल में यहाँ पर उच्च दाब बन जाने के कारण ऊपर से वायु नीचे उतरती है तथा स्थिर हो जाती है। परिणामस्वरूप यह वायु शीतल एवं स्थिर (mPKs) हो जाती है, बादल निर्माण एवं वर्षा नहीं होती है। यह वायुराशि द० पू० में कैलिफोर्निया तक पहुँच जाती है, जिस कारण प्रशान्त तटीय भागों में ग्रीष्म काल में तापमान कम हो जाता है।

3. सागरीय ध्रुवीय (mP) अटलाण्टिक वायुराशि

यह वायुराशि उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट पर केप काड तथा न्यूफाउण्डलैण्ड के बीच उत्पन्न होती है। यह वायु राशि ठण्डी तथा स्थायी होती है तथा दक्षिण में उत्तरी फ्लोरिडा तक पहुँचती है, जहाँ पर तापमान में 15^0 से 25^0 फा० की गिरावट आ जाती है। यह गिरावट कभी-कभी 35^0 से 45^0 फा० तक हो जाती है। इस वायुराशि के साथ निम्न तापमान, खुला आकाश तथा पूर्ण दृश्यता की विशेषताएँ जुटी होती हैं। शुष्कता के कारण कोहरा नहीं पड़ता।

4. सागरीय उष्ण कटिबन्धीय (mT) गल्फ व अटलाण्टिक वायुराशि

इस वायुराशि की उत्पत्ति ग्रीष्म काल में बरमुडा के पास उच्च दाब तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के ऊपर निम्न दाब के कारण होती है। इस वायुराशि से राकीज के पूर्व का समस्त भाग प्रभावित होता है। इस वायुराशि के कारण द० तथा द० पू० संयुक्त राज्य में आर्द्रता तथा तापमान, दोनों अधिक हो जाते हैं, जिस कारण मौसम असह्य हो उठता है। जैसे ही यह वायुराशि खाड़ी तट को पार करके संयुक्त राज्य में प्रविष्ट होती है, धरातलीय तापमान बढ़ जाता है, जिस कारण अस्थिरता (mTKu) बढ़ जाती है। दिन में उच्च सूर्यातप तथा अस्थिरता के कारण तड़ितझंझा तथा चक्रवातों के साथ भारी वर्षा होने लगती है। परन्तु जैसे-जैसे यह वायुराशि उत्तर की ओर बढ़ती जाती है, उसकी नमी नष्ट होती जाती है तथा ऊपरी मिसीसिपी घाटी प्रदेश में वायु शुष्कप्राय हो जाती है। पश्चिमी भाग में जब ये

हवाएं राकीज के सहारे ऊपर उठती हैं, तो **मेघ विस्फोट** (cloud burst) के साथ मूसलाधार वर्षा होती है। इसी तरह जब यह वायुराशि अप्लेशियान को पार करती है तो तड़िझंझा के साथ मूसलाधार वर्षा होती है।

5. सागीय उष्ण कटिबन्धीय (mT) प्रशांत महासागरीय वायुराशि

ग्रीष्मकाल में उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट के सहारे ध्रुवीय सागरीय (mP) वायुराशि के सक्रिय होने के कारण यह वायुराशि (mT) सक्रिय नहीं हो पाती है।

6. महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय (cT) वायुराशि

इस वायुराशि की उत्पत्ति मेक्सिको, पश्चिमी टेक्सास तथा पूर्वी न्यू मेक्सिको के स्रोत क्षेत्र में होती है। दिन में तापमान अत्यधिक उच्च, आर्द्रता अत्यधिक न्यून तथा न्यून वर्षा इसकी विशेषताएँ होती हैं। अपने स्रोत स्थल से बाहर यह वायुराशि ग्रेट प्लेन्स में अनुभव की जाती है, जहाँ पर इसके कारण शुष्कता बढ़ जाती है। मिसीसिपी के पूर्व या नेब्रास्का के उत्तर इसका विस्तार नहीं हो पाता है।

37.7 एशिया की वायुराशियां

(अ) एशिया की शीतकालीन वायुराशियां

1. महाद्वीपीय ध्रुवीय (cP) वायुराशि

इस वायुराशि की उत्पति साइबेरिया तथा वाह्य मंगोलिया के विस्तृत क्षेत्रों में होती हैं, जहाँ पर तापमान 5^0 से 40^0 फा० के बीच रहता है। परिणामस्वरूप वायु ठंडी तथा शुष्क होती है। निचले भाग पर एक किलोमीटर की ऊँचाई तक तापीय प्रतिलोमन (inversion of temperature) होता रहता है। स्रोत स्थल से जब वायुराशि प्रशान्त महासागर की ओर चलती है तो लम्बी दूरी तय करनी पड़ती है जिस कारण यांत्रिक विक्षोभ (mechanical turbulence) द्वारा तापीय प्रतिलोमन नष्ट हो जाता है तथा वायु के निचले स्तर में तापमान तथा आर्द्रता बढ़ जाती है।

चीन में यह वायुराशि दो मार्गों से प्रविष्ट होती है: (i) स्थलमार्ग, तथा (ii) सागरीय मार्ग से ।

(1) जब उच्च वायुदाब मंगोलिया तथा उत्तरी चीन के ऊपर होता है तो cP वायु चीन में स्थलमार्ग से आती है। अपने स्रोतस्थल की अपेक्षा चीन में यह अधिक गर्म होती है। पेकिंग (पेचिंग) तथा नानकिंग के पास तापमान तथा सापेक्षिक आर्द्रता क्रमश: 32^0, 45^0 फा० तथा 30% एवं 55% होती है। इस वायु के साथ आकाश साफ रहता है, वायु ठण्डी तथा शुष्क होती है। जब यह वायु तेज गति से आती है तो अपने साथ धूल लाकर लोयस के निर्माण में सहायता करती है। शरदकाल में cP वायु अपने संशोधित रूप (modified form) के साथ एशिया के अधिकांश भाग को प्रभावित करती है। भारत में हिमालय के कारण इसका प्रभाव नहीं हो पाता है।

(2) जब उच्च दाब मंचूरिया तथा जापान सागर के ऊपर होता है तो cP वायु सागरीय मार्ग अपनाती है। इस स्थिति में ये हवाएं जापान सागर, पोहाई की खाड़ी, पीत सागर या प्रशान्त महासागर के ऊपर से होकर चीन में प्रविष्ट होती हैं, जिस कारण इनमें पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। स्थल से होकर आनेवाली cP वायु से यह वायु अपेक्षाकृत गर्म तथा आर्द्र होती है। जब तक इसका सम्बन्ध वाताग्र (front) से नहीं होता, इसके साथ आकाश खुला रहता है तथा मौसम सुहावना हो जाता है। इस वायु के निचले स्तर में अस्थिरता होती है और जब यह पहाड़ी अवरोध के साथ ऊपर उठती है तो वर्षा अवश्य होती है। एशिया के पूर्वी तट तथा चीन के दक्षिणी भागों में जब स्थलीय तथा सागरीय cP हवाएं मिलती हैं तो वाताग्र उत्पत्ति (frontogenesis) के कारण चक्रवात बन जाते हैं।

2. सागरीय ध्रुवीय (mP) वायुराशि

शरदकाल में पूर्वी एशिया पर सागरीय ध्रुवीय (mP) वायुराशियों का प्रभाव दो कारणों से नगण्य हो जाता है: (i) शरदकाल में प्रमुख वायुसंचार पश्चिम से पूर्व होता है, जिस कारण mP वायु का प्रवेश अवरुद्ध हो जाता है, (ii) cP वायुराशि सागर का मार्ग अंगीकृत करके पूर्वी तट पर mP वायुराशि के समान विशेषता ग्रहण करके पहुँचती है।

3. सागरीय उष्ण कटिबन्धीय (mT) वायुराशि

महाद्वीपीय ध्रुवीय (cP) हवाओं के जोर के कारण उष्ण कटिबन्धीय सागरीय हवाएं (mT) भी पूर्वी एशिया में कामयाब नहीं हो पाती हैं, क्योंकि उन्हें प्रबल cP वायु से अवरोध के कारण समाप्त हो जाना पड़ता है। यांगटिसीक्यांग तक यह वायु कठिनाई से पहुँच पाती है, परन्तु दक्षिणी चीन तक इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। शरदकालीन वायु राशियों में यह सबसे अधिक गर्म तथा आर्द्र होती है।

(ब) एशिया की ग्रीष्मकालीन वायुराशियां

1. महाद्वीपीय ध्रुवीय (cP) वायुराशि

ग्रीष्मकाल में मध्य एशिया में तापमान ऊँचा हो जाने के कारण ध्रुवीय वायुराशि का स्रोत और उत्तर की ओर खिसक जाता है। वायु अपेक्षाकृत गर्म हो जाती है। परन्तु पूर्वी तथा द० एशिया पर इसका प्रभाव महत्वपूर्ण नहीं हो पाता है, क्योंकि इस समय उष्ण कटिबन्धीय सागरीय (mT) वायुराशि अधिक प्रभावशाली हो जाती है। चीन में cP वायु का प्रवेश जापान सागर तथा पीत सागर से होकर ही हो पाता है। सागरीय उष्ण कटिबन्धीय वायुराशि (mT) की तुलना में यह ठंडी तथा शुष्क होती है। इसके साथ मौसम साफ होता है, वर्षा तथा तड़ितझंझा नगण्य होते हैं। जहाँ पर इनका सम्पर्क mT वायुराशियों से होता है, वहाँ पर चक्रवातीय दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

2. सागरीय उष्ण कटिबन्धीय (mT) वायुराशि

ग्रीष्मकाल में द० तथा पूर्वी एशिया का मौसम mT वायुराशियों द्वारा नियंत्रित होता है। यह वायुराशि ग्रीष्मकालीन मानसून के नाम से जानी जाती है। ये हवाएँ गर्म, अत्यधिक आर्द्र तथा अस्थिर (unstable) होती हैं। जब कभी ये हवाएं (प्राय: चीन के तट के पास) 200 से 600 मीटर तक ऊपर उठ जाती हैं, भारी वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। जब यह हवा स्थलीय भाग के ऊपर होती है तो तापमान में वृद्धि के कारण दोपहर तक भारी संवहन (convection) उत्पन्न हो जाता है। यह हवा द० तथा मध्य चीन में बसन्तकाल तथा उत्तरी चीन एवं मंचूरिया में मध्य ग्रीष्मकाल में cP वायुराशि से मिलकर चक्रवातीय दशाएँ उत्पन्न करती है।

3. सागरीय ध्रुवीय (mP) वायुराशि

इस वायुराशि की उत्पत्ति ओखोटस्क सागर के ऊपर होती है, जहाँ से चलकर यह पूर्वी एशिया (40^0 उत्तरी अक्षांश) के उत्तर के भाग को प्रभावित करती है। शरदकाल की तुलना में यह ग्रीष्मकाल में अधिक सक्रिय होती है। मंचूरिया तथा पूर्वी साइबेरिया में इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। दक्षिण जापान तक इसका प्रसार ग्रीष्मकाल के प्रारम्भ में होता है, परन्तु वहाँ पर mT वायुराशि इसे उत्तर की ओर धकेल देती है।

37.8 यूरोप की वायुराशियां

यूरोप के पश्चिमी तटीय क्षेत्रों में किसी प्रभावी पर्वतीय अवरोध के अभाव में सागरीय वायुराशियां महाद्वीप के सुदूर आन्तरिक भागों तक प्रविष्ट हो जाती हैं। यदि उत्तरी अमेरिका तथा यूरोप की स्थितियों की तुलना करें तो विपरीत दशायें मिलती हैं। यूरोप के विपरीत उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तथा पूर्वी भागों में प्रभावी पर्वतीय अवरोध पाये जाते हैं (उदाहरण के लिए, पश्चिम में पश्चिमी पर्वत तंत्र: राकीज़ पर्वतमाला तथा पूर्व में अप्लेशियन्स पर्वत समूह), अत: ये पर्वतीय अवरोध सागरीय वायुराशियों के महाद्वीप में प्रवेश में अवरोध उपस्थित करते हैं, जिस कारण ये वायुराशियां परिवर्तित रूप में महाद्वीप के आन्तरिक भागों में पहुंचती हैं, जबकि पश्चिमी यूरोप में पर्वतीय अवरोध का अभाव है। यदि पूर्व-पश्चिम दिशा में पर्वतीय स्थितियों पर अवलोकन करें तो भी उत्तरी अमेरिका एवं यूरोप में विपरीत स्थितियां हैं। उत्तरी अमेरिका में पूर्व-पश्चिम दिशा में फैले किसी भी पर्वतीय अवरोध का पूर्णतया अभाव है, परिणामस्वरूप आर्कटिक ध्रुवीय महाद्वीपीय सर्द हवायें बिना रोक-टोक के सुदूर दक्षिणी भाग अर्थात् मेक्सिको की खाड़ी के तटीय भागों तक पहुँच जाती हैं, जबकि दक्षिणी यूरोप में पेरेनीज, आल्प्स तथा काकेशस पर्वतों का पश्चिम से पूर्व में विस्तार है। इस पर्वतीय अवरोध का पश्चिम से आने वाली अटलाण्टिक सागरीय वायुराशियों के यूरोप के आन्तरिक भागों में प्रवेश पर कोई प्रभाव नहीं हो पाता है। यूरोप महाद्वीप चार प्रमुख वायुराशियों द्वारा प्रभावित होता है : (1) महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशियां (cP), (2) सागरीय ध्रुवीय वायुराशियां (mP) (3) सागरीय उष्ण कटिबन्धी वायुराशियां (mT),तथा (4) उष्ण कटिबन्धी महाद्वीपीय वायुराशियां (cT)।

(अ) यूरोप की शीतकालीन वायुराशियां

1. महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशियां (cP)

यूरोप में महाद्वीपीय वायुराशियों के तीन उत्पत्ति क्षेत्र हैं : (1) फेनो-स्कैण्डियन प्रदेश, (2) पश्चिमी रूस, तथा (3) आर्कटिक रूस। ये सभी स्रोत प्रदेश 45^0 उ० अक्षांश तथा उत्तरी ध्रुव के बीच स्थित हैं। शीतकाल में वायुराशियों के इन उत्पत्ति क्षेत्रों की सतह हिमीकृत रहती है। शीतकालीन महाद्वीपीय वायुराशियां अपने उत्पत्ति क्षेत्रों में ठंडी, कम आर्द्रतावाली तथा स्थिर होती हैं। आर्कटिक महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशि शीतकालीन सभी ध्रुवीय महाद्वीपीय वायुराशियों में सर्वाधिक ठंडी होती है, परन्तु यह कम क्रियाशील होती है। जब कभी भी यह क्रियाशील होती है, प्रभावित क्षेत्रों में प्रचण्ड सर्दी पड़ने लगती है। फेनो-स्कैण्डियन तथा पश्चिमी रूस के उत्पत्ति क्षेत्रों से उत्पन्न वायुराशियां पश्चिमी एवं मध्य यूरोप को प्रभावित करती हैं परन्तु पछुवा हवाओं का सामान्य परिसंचरण इस वायुराशि के पश्चिम की ओर गमन को रोकता है। सामान्यतया आकाश खुला रहता है, प्रचण्ड ठंडी पड़ती है (हिमपात भी होता है) तथा मौसम साफ रहता है।

2. सागरीय ध्रुवीय वायुराशियां (mP)

यूरोप की सागरीय ध्रुवीय वायुराशियों का प्रमुख उत्पत्ति क्षेत्र 60^0 उ० अक्षांश के उत्तर में उत्तरी अटलांण्टिक महासागरीय सतह है। इस प्रमुख क्षेत्र में दो उप उत्पत्ति क्षेत्र अधिक महत्वपूर्ण हैं : (1) ग्रीनलैण्ड के पूर्व में आर्कटिक सागर, तथा (2) आइसलैण्ड के उत्तर में आर्कटिक क्षेत्र। इसके अलावा उत्तरी अमेरिका की वायुराशियां भी अटलाण्टिक महासागर को पार करके पश्चिमी यूरोप तक पहुंच जाती हैं, परन्तु ये वायुराशियां परिवर्तित रूप में होती हैं जो आर्द्र एवं अस्थिर होती हैं। उत्तरी अटलाण्टिक महासागरीय उत्पत्ति क्षेत्रवाली वायुराशियां और अधिक आर्द्र होती हैं तथा जब कभी भी इनका सम्बन्ध शीतोष्ण चक्रवातीय वाताग्रों से होता है तो ये ऊपर उठा दी जाती हैं तथा मैदानों में सामान्य परन्तु उच्च प्रदेशों में भारी वर्षा करती हैं। ज्ञातव्य है कि शीतकालीन सागरीय ध्रुवीय वायुराशियों के भौतिक गुण (खासकर तापमान एवं आर्द्रता सम्बन्धी) इन वायुराशियों द्वारा महासागरीय सतह पर तय की गयी दूरी पर निर्भर करते हैं तथा यह दूरी इन वायुराशियों द्वारा अपनाये गये मार्गों पर निर्भर करती है। सामान्य तौर पर सागरीय ध्रुवीय वायुराशियां 3 मार्गों से यात्रा

करती हैं : (1) लघु मार्ग, जब वायुराशियां उत्तरी अटलाण्टिक महासागर के ग्रीनलैण्ड-स्पिट्सबर्जेन क्षेत्र से उत्पन्न होकर छोटे मार्ग से पश्चिमी यूरोप पहुंचती हैं, तो वे उत्पत्ति क्षेत्रों के गुणों (properties) को कायम रखती हैं क्योंकि मार्ग में इनका परिवर्तन कम होता है, अत: ये अत्यन्त ठंडी होती हैं तथा इनमें स्थिरता बनी रहती है। (2) दीर्घ मार्ग, जब वायुराशियां आर्कटिक सागर की हिमीकृत (जमी) सतह पर उत्पन्न होकर अटलाण्टिक महासागर के ऊपर से लम्बे मार्ग का अनुसरण करती हुए पश्चिमी यूरोप पहुंचती हैं तो मार्ग में ये अधिकाधिक परिवर्तित हो जाती हैं, जिस कारण अपेक्षाकृत गर्म एवं आर्द्र हो जाती हैं। (3) दक्षिणी मार्ग, जब शीतकालीन सागरीय ध्रुवीय वायुराशियां अत्यधिक दक्षिणी मार्ग का अनुसरण करती हैं तो वे तीनों मार्गों से आने वाली वायुराशियों में सबसे अधिक गर्म हो जाती हैं। नार्वे को छोड़कर पश्चिमी यूरोप के तटवर्ती भागों में किसी पर्वतीय अवरोध के अभाव में ये वायुराशियां महाद्वीप के आन्तरिक भागों तक प्रविष्ट हो जाती हैं तथा पश्चिमी एवं मध्य यूरोप के मौसम को शीतकालीन महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशियों की अपेक्षा अधिक प्रभावित करती हैं।

3. सागरीय उष्ण कटिबन्धी वायुराशियां (mT)

द० प० यूरोप को शीतकाल में प्रभावित करने वाली सागरीय उष्ण कटिबन्धी वायुराशियां अटलाण्टिक महासागर के उपोष्ण कटिबन्धी उच्च वायुदाब क्षेत्र में उत्पन्न होती हैं। इन वायुराशियों के उत्पत्ति क्षेत्रों में वायु का ऊपर से नीचे अवतलन होता है तथा धरातलीय सतह पर हवाओं का अपसरण होता है, अर्थात् प्रतिचक्रवातीय दशायें होती हैं। ये वायुराशियां शीतकालीन महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धी वायुराशियों की तुलना में अधिक आर्द्र होती हैं क्योंकि अटलाण्टिक महासागर के ऊपर से आने के कारण इनके भौतिक गुणों (तापमान एवं आर्द्रता) में अधिक परिवर्तन हो जाता है, अर्थात् शीतकालीन सागरीय उष्णकटिबन्धी वायुराशियां अपने परिवर्तित रूप में पश्चिमी यूरोप में दाखिल होती हैं। सामान्य तौर पर ये वायुराशियां पश्चिमी यूरोप के मैदानी भागों में कमतर वर्षा ही कर पाती हैं, परन्तु जहां इनका सम्बन्ध चक्रवातीय तंत्रों से हो जाता है तो व्यापक वर्षा होना आम बात होती है।

4. उष्ण कटिबन्धी महाद्वीपीय वायुराशियां (cT)

यूरोप की शीतकालीन महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धी वायुराशियों के उत्पत्ति क्षेत्र उत्तरी अफ्रीका के सहारा रेगिस्तान का पश्चिमी भाग तथा द० प० एशिया के शुष्क क्षेत्र, खासकर अरब रेगिस्तान हैं। अपने उत्पत्ति क्षेत्रों में ये वायुराशियां गर्म एवं शुष्क होती हैं तथा ऊपरी भाग में स्थिर होती हैं। जब ये वायुराशियां उत्तर की ओर अग्रसर होती हैं तथा रूम सागर के ऊपर से होकर चलती हैं तो ये परिवर्तित हो जाती हैं। जहां कहीं भी इन शीतकालीन महाद्वीपीय उष्णकटिबन्धी वायुराशियों का सम्बन्ध शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों के उष्ण वाताग्र से होता है, ये पर्याप्त वर्षा करती हैं, क्योंकि रूम सागर के ऊपर से आते समय वाष्पीकरण द्वारा काफी नमी प्राप्त कर लेती हैं। वास्तव में ये वायुराशियां शीतोष्ण चक्रवातों को ऊष्मा ऊर्जा प्रदान करती हैं जिस कारण वे अत्यधिक प्रबल एवं क्रियाशील हो जाते हैं।

(ब) यूरोप की ग्रीष्मकालीन वायुराशियां

1. महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशियां (cP)

यूरोप महाद्वीप की ग्रीष्मकालीन महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशियां वास्तव में रूपान्तरित (modified) सागरीय ध्रुवीय वायुराशियां ही हैं। जहां तक तापीय गुणों का प्रश्न है, ग्रीष्मकालीन महाद्वीपीय ध्रुवीय वायुराशियां, उष्ण कटिबन्धी महाद्वीपीय वायुराशियों की तुलना में कहीं अधिक ठंडी होती हैं। तापपतन दर तीव्र नहीं होती है जिस कारण मध्य एवं पश्चिमी यूरोप के मौसम में सामान्यतया समरसता रहती है, परन्तु पूर्वी यूरोप में अत्यधिक आन्तरिक अवस्थिति के कारण तापीय विषमतायें अधिक होती हैं।

2. सागरीय ध्रुवीय वायुराशियां (mP)

ग्रीष्मकाल में सागरीय ध्रुवीय वायुराशियों की विभिन्न शाखाओं के भौतिक गुणों (तापमान एवं आर्द्रता, तथा स्थिरता एवं अस्थिरता सम्बन्धी) में अधिक विषमतायें होती हैं। यह विषमता दो बातों पर निर्भर करती है : (1) विस्तृत अटलाण्टिक महासागरीय उत्पत्ति क्षेत्र में सागरीय ध्रुवीय वायुराशियों के उत्पत्ति के स्थान पर, तथा (2) इन सागरीय ध्रुवीय वायुराशियों द्वारा अपनाये गये मार्गों की लम्बाई पर। वायुराशियों के प्रमुख उत्पत्ति क्षेत्र के उत्तरी भाग में उत्पन्न होने वाली सागरीय ध्रुवीय वायुराशि छोटे मार्ग से होते हुए यूरोप के पश्चिमी तटों तक पहुंचती है, जिस कारण उसका रूपान्तर न्यूनतम होता है, अत: वह अस्थिर हो जाती है तथा चक्रवातीय क्रियाओं द्वारा ऊपर उठाये जाने पर पर्याप्त वर्षा प्रदान करती है। दूसरी तरफ, प्रमुख उत्पत्ति क्षेत्र के सबसे दक्षिणी भाग में उत्पन्न होने वाली सागरीय ध्रुवीय वायुराशि अटलाण्टिक महासागर के ऊपर से सबसे लम्बे मार्ग से होती हुई यूरोप के पश्चिमी तटीय भागों तक पहुंचती है, अत: इसका सर्वाधिक परिवर्तन हो जाता है जिस कारण वह स्थिर वायुराशि हो जाती है। परन्तु जब यह वायुराशि शीतोष्ण चक्रवातों से सम्बन्धित हो जाती है तो व्यापक वर्षा करती है, अन्यथा पश्चिमी यूरोप का ग्रीष्मकालीन मौसम सर्द तथा सुहावना होता है।

3. महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धी वायुराशियां (cT)

यूरोप की ग्रीष्मकालीन उष्णकटिबन्धी महाद्वीपीय वायुराशियां दो क्षेत्रों में उत्पन्न होती हैं : (1) उत्तरी अफ्रीका के सहारा रेगिस्तान में, तथा (2) द० पू० यूरोप तथा एशिया

माइनर में। इनमें से सहारा उत्पत्ति क्षेत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धी वायुराशियां अपने उत्पत्ति क्षेत्र में अत्यधिक गर्म एवं शुष्क होती हैं परन्तु रूम सागर के ऊपर से उत्तर की ओर जाने पर आर्द्र हो जाती हैं। इस वायुराशि को **सिरोको** कहते हैं जो गर्म, शुष्क एवं धूल भरी हवा होती है। सिरोको जब रूम सागर के ऊपर से गुजरती है तो पर्याप्त नमी धारण कर लेती है तथा दक्षिणी इटली में वर्षा करती है। यहां पर सिरोको से सम्बन्धित वर्षा को **रक्त वृष्टि** (blood rain) कहते हैं क्योंकि वर्षा के साथ लाल रंग की रेत भी नीचे गिरती है। ज्ञातव्य है कि सहारा रेगिस्तान के ऊपर से प्रवाहित होते समय सिरोको हवा अपने साथ लाल रंग की रेत को भी उड़ाकर लाती है। रूम सागर के ऊपर चक्रवातीय तूफानों की उत्पत्ति के समय सिरोको अत्यधिक प्रबल हो जाती है। सहारा के ऊपर से आने वाली यह महाद्वीपीय उष्णकटिबन्धी वायुराशि दक्षिणी यूरोप एवं द० प० साइबेरिया के ग्रीष्मकालीन मौसम को प्रभावित करती है। कभी-कभी यह वायुराशि दक्षिणी और पूर्वी यूरोप तथा द० प० साइबेरिया में धुंध (haze) एवं कुहासा (mist) उत्पन्न कर देती है। प्रतिचक्रवातीय दशाओं के कारण यह वायुराशि लगभग स्थिर वायुराशि होती है।

4. सागरीय उष्णकटिबन्धीय वायुराशियां (mT)

यूरोप की ग्रीष्मकालीन उष्णकटिबन्धी सागरीय वायुराशियां अटलाण्टिक महासागर में अजोर्स के उच्च वायुदाब क्षेत्र में उत्पन्न होती हैं। सागरीय उष्णकटिबन्धी वायुराशि स्थिर वायुराशि होती है क्योंकि (1) इसके उत्पत्ति क्षेत्र में वायु का अवतलन होने से प्रतिचक्रवातीय दशायें उत्पन्न हो जाती हैं, तथा (2) यह वायुराशि ठंडी सागरीय सतह के ऊपर से प्रवाहित होती है। यही कारण है कि ग्रीष्मकाल में सागरीय उष्णकटिबन्धी वायुराशि वर्षादायी (rainbringer) नहीं होती है, परन्तु जहां कहीं भी पर्वतीय अवरोध द्वारा बलात् ऊपर उठा दी जाती है तो यह अस्थिर हो जाती है तथा संवहनीय क्रियाओं द्वारा वर्षा हो जाती है। उल्लेखनीय है कि ग्रीष्मकाल में mT वायुराशि का पश्चिमी यूरोप के मौसम पर सीमित प्रभाव होता है।

प्रश्न:- वाताग्र एवं चक्रवात के प्रकार

38

वाताग्र उत्पत्ति और चक्रवात

(Frontogenesis and Cyclones)

38.1 वाताग्र तथा वाताग्रजनन

(Fronts and Frontogenesis)

तापमान, गति, दिशा, आर्द्रता, घनत्व आदि के संदर्भ में दो विपरीत गुणों वाली वायुराशियों के बीच ढलुआ सतह को सामान्य तौर पर **वाताग्र** (front) कहते हैं। वास्तव में एक वाताग्र दो विपरीत गुणों वाली अभिसरणीय (converging) वायुराशियों के मौसम सम्बन्धी दशाओं के मध्य संक्रमण मण्डल (transitional zone) को प्रदर्शित करता है। इस तरह विपरीत मौसमी दशाओं वाली दो वायुराशियों के मध्य संक्रमण या आवान्तर मण्डल को दर्शाने वाली **असम्बद्धता रेखा** (line of discontinunity) को वाताग्र कहते हैं। **यफ० डब्लू० कोल** (1975) के अनुसार, वाताग्र विभिन्न घनत्व वाली दो वायुराशियों के मध्य अन्तरापृष्ठ (interface) या संक्रमण मण्डल (transitional zone) होते हैं। मध्य अक्षांशीय प्रदेशों में मौसम सम्बन्धी दशाओं के वर्णन के लिए नार्वे के तीन ऋतुविज्ञानियों ने मौसम विज्ञान में **वाताग्र एवं वाताग्री सतह** की संकल्पना का प्रतिपादन किया। सर्वप्रथम वाताग्र की संकल्पना का प्रतिपादन 1918 में किया गया। इस तरह वी० जे० बर्कनीज, यच० सोलबर्ग तथा टी० वर्गरान के योगदानों के आधार पर मध्य अक्षांशीय क्षेत्रों के मौसम की विशेषताओं और विभिन्नताओं को समझना सम्भव हो सका।

सामान्य रूप से **वाताग्र** वह ढलुआ सीमा होती है, जिसके सहारे दो विपरीत स्वभाववाली हवाएँ मिलती हैं। जब अभिसरण (converge) करने वाली हवाओं के बीच में विस्तृत संक्रमणीय प्रदेश (transitional zone) रह जाता है, तो उसे **वाताग्र प्रदेश** (frontal zone) कहते हैं। वाताग्र न तो धरातलीय सतह के समान्तर होता है और न उसके ऊपर लम्बवत् होता है, अपितु कुछ कोण पर झुका होता है। वाताग्र का ढाल पृथ्वी की अक्षीय गति पर आधारित होता है जो कि ध्रुवों की ओर बढ़ता जाता है। वाताग्र की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रक्रिया को **वाताग्र उत्पत्ति** (frontogenesis) कहते हैं। कुछ निर्दिष्ट दशाओं में वाताग्र नष्ट हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को **वाताग्र क्षय** (fomtolysis) कहते हैं।'' वाताग्र की उत्पत्ति की प्रक्रिया को '**वाताग्र जनन**' तथा उसके नष्ट होने की प्रक्रिया को '**वाताग्र क्षय**' कहते हैं।

उल्लेखनीय है कि वाताग्र के निर्माण की प्रक्रिया को **चक्रवात जनन** (cyclognesis) कहा जाता है। अर्थात् वाताग्र जनन द्वारा ही चक्रवातों की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत वाताग्रों के विनष्ट होने की प्रक्रिया को **वाताग्रविनाश या वाताग्रक्षय** (frontolysis) कहते हैं। वाताग्रविनाश उस समय प्रभावी होता है जब विरोधी गुणों वाली दो वायुराशियाँ एक दूसरे से दूर चली जांय या दोनों आपस में इस तरह मिल जाय कि उनमें तापमान एवं घनत्व सम्बन्धी विभिन्नतायें समाप्त हो जांय तथा तापमान एवं घनत्व सम्बन्धी दशाओं में समरूपता आ जाय।

38.2 चक्रवात

(Cyclones)

सामान्य रूप में चक्रवात निम्न दाब के केन्द्र होते हैं, जिनके चारों तरफ सकेन्द्रीय समवायुदाब रेखाएँ विस्तृत होती हैं तथा केन्द्र से बाहर की ओर वायुदाब बढ़ता जाता है, परिणामस्वरूप परिधि से केन्द्र की ओर हवाएँ चलने लगती

हैं, जिनकी दिशा उ० गोलार्द्ध में घड़ी की सुइयों के विपरीत तथा द० गोलार्द्ध में अनुकूल होती है। चक्रवातों का आकार प्राय: गोलाकार, अण्डाकार या V अक्षर के समान होता है। जलवायु तथा मौसम में चक्रवातों का पर्याप्त महत्व होता है क्योंकि इनके द्वारा किसी भी स्थान, जहाँ पर ये पहुंचते हैं, की वर्षा तथा तापमान प्रभावित होते हैं। चक्रवातों को **वायुमण्डलीय विक्षोभ** (atmospheric distrubances) भी कहते हैं। जब चक्रवातों की गति इतनी अधिक हो जाती है कि वे गेल शक्ति (gale force) वाले हो जाते हैं तो उनको **चक्रवातीय झंझावात या तूफान** (cyclonic storms) कहते हैं। अवस्थिति के आधार पर चक्रवातों को दो प्रमुख प्रकारों में विभक्त करते हैं : (1) **शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवात** (temperate cyclones या extratropical cyclones), तथा (2) **उष्णकटिबन्धी चक्रवात** (tropical cyclones)।

38.3 शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवात (Temperate Cyclones)

1. सामान्य परिचय

मध्य अक्षांशों में निर्मित वायुविक्षोभ के केन्द्र में कम दाब तथा बाहर की ओर अधिक दाब होता है और ये प्राय: गोलाकार, अण्डाकार या वेज के आकार के होते हैं, जिस कारण इन्हें **'लो'** (low), **'गर्त'** (depression) या **'ट्रफ'** (trough) कहते हैं। शीतोष्ण चक्रवातों को **लहर चक्रवात** (wave cyclones) या **विक्षोभ** (depression) भी कहते हैं। इनका निर्माण दो विपरीत स्वभाववाली ठंडी तथा उष्णार्द्र हवाओं के मिलने के कारण होता है तथा इनका क्षेत्र 35°-65° अक्षांशों के बीच दोनों गोलार्द्धों में पाया जाता है, जहाँ पर पछुवा हवाओं के प्रभाव में ये प० से पूर्व दिशा में चलते रहते हैं। मध्य अक्षांशों के मौसम को ये चक्रवात बड़े पैमाने पर प्रभावित करते हैं।

2. शीतोष्ण चक्रवात के प्रकार

शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति यद्यपि मुख्य रूप से दो विपरीत वायुराशियों के अभिसरण (convergence) के कारण ही होती है, तथापि कुछ स्थानीय चक्रवात अन्य कारणों के फलस्वरूप भी उत्पन्न हो जाते हैं। स्मरणीय है कि प्रत्येक कारण तापमान में विभिन्नता (परिणामस्वरूप वायुदाब में अन्तर) की ओर ही उन्मुख होता है। इस आधार पर चक्रवातों के तीन प्रकारों का निर्धारण किया जा सकता है: (1) गतिक चक्रवात, (2) तापीय चक्रवात, तथा (3) गौण या द्वितीयक चक्रवात।

(1) गतिक चक्रवात (dynamic cyclone): वास्तव में ये ही प्रमुख शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात होते हैं, जिनका निर्माण ठंडी ध्रुवीय तथा आर्द्र एवं उष्ण सागरीय वायुराशियों के वाताग्र के सहारे मिलने के कारण होता है। ये चक्रवात सर्वाधिक क्षेत्र को प्रभावित करते हैं तथा इनमें विभिन्न प्रकार

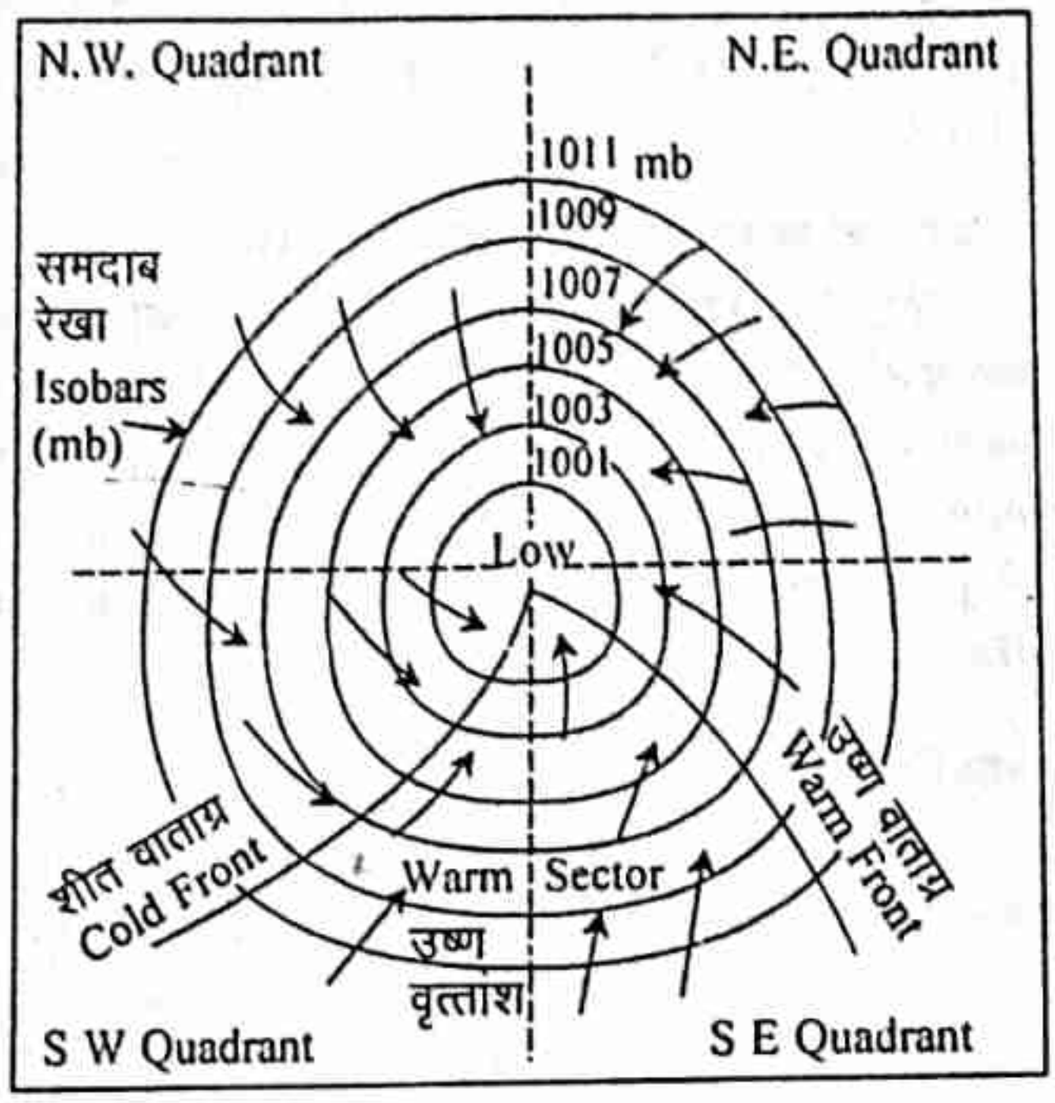

चित्र 38.1: उत्तरी गोलार्द्ध में एक सामान्य शीतोष्ण चक्रवात का आरेखीय प्रदर्शन। समदाब रेखायें मिलीबार (mb) में हैं।

के वाताग्रों का पूर्ण विकास होता है। इन चक्रवातों को गतिक चक्रवात इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनका निर्माण गतिक प्रक्रिया द्वारा होता है, अर्थात् दो विपरीत गुणों वाली वायुराशियों के एक दूसरे के क्षेत्र में बलात् प्रवेश करने के कारण होता है।

(2) तापीय चक्रवात (thermal cyclone): तापीय चक्रवात के लिए हम्फ्रीज तथा ब्रण्ट महोदय ने अलग-अलग नामावली का उपयोग किया। ब्रण्ट के अनुसार, शीतोष्ण कटिबन्धों में गर्मियों में अधिक ताप के कारण महाद्वीपों पर न्यून दाब केन्द्र (आन्तरिक भागों में) बन जाते हैं, जिनमें बाहर से केन्द्र की ओर हवाएँ चलने लगती हैं। ये चक्रवात प्राय: स्थायी होते हैं तथा विभिन्न वाताग्रों का विकास नहीं हो पाता है। इस तरह के चक्रवात का हम्फ्रीज महोदय ने **'सूर्यातप चक्रवात'** (insolation cyclone) नामकरण किया है तथा जाड़े के समय जब उष्ण सागर चारों तरफ से ठंडे स्थलीय भाग से घिरा होता है तो सागर पर न्यून दाब केन्द्र बनने से **'तापीय चक्रवात'** निर्मित होता है। वास्तव में दोनों प्रकार के चक्रवात तापीय ही हैं, क्योंकि इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध सूर्यातप से होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि स्थलों पर गर्मियों में (आइबेरिया प्रायद्वीप, अलास्का, द० प० संयुक्त राज्य अमेरिका तथा उ० प० आस्ट्रेलिया) तथा शीतकाल में सागरों पर (ओखोटस्क सागर, नार्वेविजयन सागर, आइसलैण्ड तथा ग्रीनलैण्ड के द० प० में) बहुलता में उत्पन्न होते हैं।

(3) गौण या उप चक्रवात (secondary cyclones) : इस तरह का चक्रवात प्राय: मुख्य चक्रवात के विलीन होने

पर उसके पीछे शीत वाताग्र की ठंडी हवा के गर्म सागर के ऊपर चलने के कारण बनता है। यह अल्पकालिक तथा क्षीण होता है।

3. शीतोष्ण चक्रवातों की सामान्य विशेषताएँ

जैसा कि पहले बताया गया है कि शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों की रचना विभिन्न कोशिकाओं द्वारा होती है तथा उनमें विपरीत गुणों वाली वायुराशियाँ होती हैं, अत: सामान्य शीतोष्ण चक्रवातों में आकृति, विस्तार,गति, तापमान तथा मौसम सम्बन्धी विभिन्नतायें पायी जाती हैं, जिनका अगली पंक्तियों में उल्लेख किया जा रहा है:

आकृति, विस्तार तथा गति

शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात आकार में गोलाकार, अर्द्ध गोलाकार या अंडाकार होता है, जिसके मध्य में न्यून दाब होता है। कभी-कभी इसका आकार V अक्षर के समान हो जाता है। इसके केन्द्र तथा बाहर की ओर स्थित दाब में 10 से 20 mb तथा कभी-कभी 35 mb का अन्तर होता है। विस्तार में पर्याप्त अन्तर होता है। एक आदर्श शीतोष्ण चक्रवात की दीर्घ व्यास 1920 किमी० (1200 मील) तथा लघु व्यास 1040 किमी० (650 मील) लम्बी होती है। कभी-कभी इनका विस्तार इतना अधिक हो जाता है कि ये 10,00,000 वर्ग किमी० क्षेत्र पर विस्तृत हो जाते हैं। ये चक्रवात प्राय: पश्चिम से पूर्व दिशा में चलते हैं, परन्तु कभी-कभी दिशा में बदलाव भी हो जाता है। गर्मियों में इनकी औसत गति 32 किमी० प्रति घण्टा होती है परन्तु सर्दियों में बढ़कर 48 किमी० प्रति घण्टा हो जाती है। कभी-कभी ये तूफानी रफ्तार से भी आगे बढ़ते हैं।

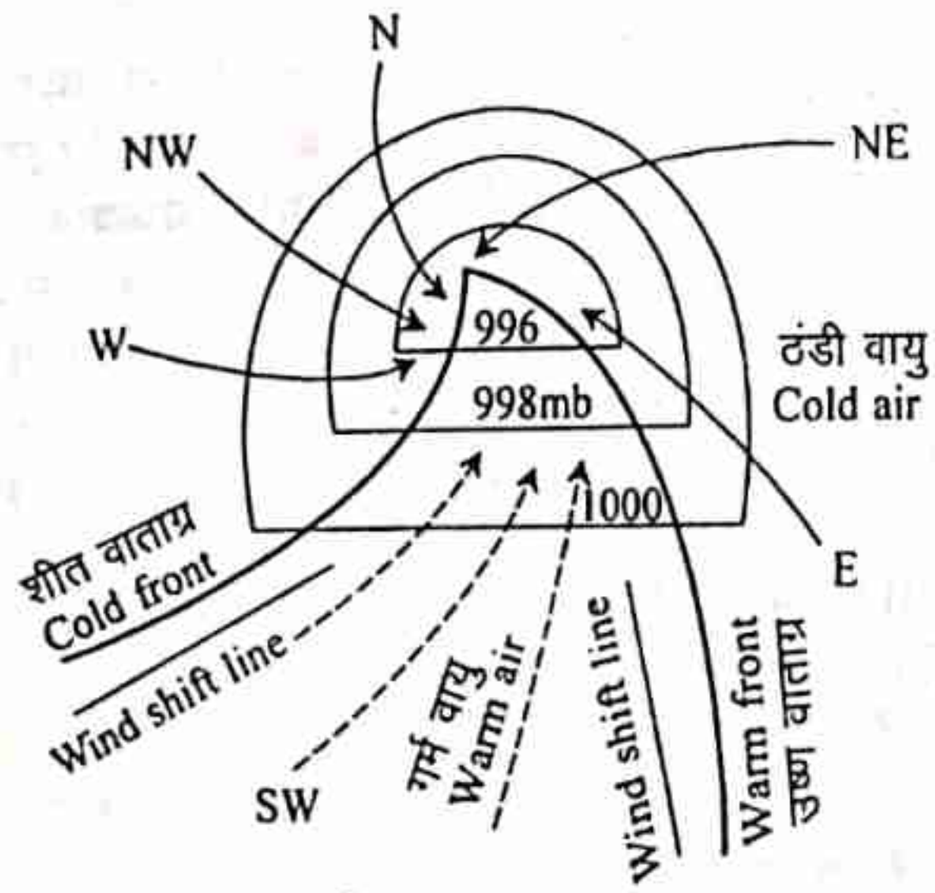

चित्र 38.2: उत्तरी गोलार्द्ध में शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों में वायु परिसंचरण।

वायु प्रतिरूप (wind pattern)

शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवात के केन्द्र में निम्न वायुदाब होता है तथा बाहर की ओर दाब बढ़ता जाता है। अत: परिधि से केन्द्र की ओर हवाएँ चलती हैं परन्तु ये हवाएँ सीधे केन्द्र में न पहुँचकर कोरिआलिस बल तथा घर्षण बल (frictional force) के कारण समदाब रेखाओं को 20° से 40° के कोण पर काटती हैं, जिस कारण उत्तरी गोलार्द्ध में इनका परिसंचरण प्रतिरूप घड़ियों की सुइयों की विपरीत दिशा में तथा द० गोलार्द्ध में अनुकूल दिशा में होता है। केन्द्र की ओर हवाओं के चलने के कारण वायु प्रतिरूप अभिसारी (convergent) होता है, परन्तु केन्द्र पर हवाओं का समूहन नहीं होता, वरन् हवाएँ ऊपर उठकर बाहर की ओर चलती हैं, जिस कारण न्यून दाब बना रहता है तथा चक्रवात कई दिन तक जीवित रहता है। शीतोषण कटिबन्धी चक्रवात की उत्पत्ति दो विपरीत गुणों वाली वायुराशियों (ठंडी, भारी तथा शुष्क वायुराशि एवं गर्म, हल्की तथा आर्द्र वायुराशि) के अभिसरण के कारण होती है। अत: चक्रवात के विभिन्न भागों में वायु की दिशा तथा स्वभाव में अन्तर का होना आवश्यक हो जाता है। उष्ण कटिबन्धी या उपोष्ण कटिबन्धी उत्पत्ति वाली उष्णार्द्र वायु प्राय: पश्चिमी होती है तथा ध्रुवीय उत्पत्ति वाली ठंडी हवा पूर्वी होती है। इनके मिलने पर उष्ण वाताग्र, उष्ण वृत्तांश तथा शीत वाताग्र का निर्माण होता है। इन विभिन्न भागों में वायु का रूप भिन्न होता है। उष्ण वाताग्र के पहले चक्रवात के अग्र भाग में पूर्वी हवा होती है, उष्ण वाताग्र के आने पर वायु की दिशा द० तथा द० प० हो जाती है, जो कि उष्ण होती है। शीत वाताग्र के आने पर हवा पुन: बदल जाती है तथा इसकी दिशा उ०प० तथा उ० हो जाती है, जो कि ध्रुवीय ठंडी हवा होती है। स्पष्ट है कि उष्ण तथा शीत वाताग्रों के सहारे हवा की दिशा में सहसा परिवर्तन हो जाता है। इसे वायु दिशा परिवर्तन रेखा (wind shift line) कहते हैं (चित्र 38.2)। द० गोलार्द्ध में इसके विपरीत स्थिति होती है।

तापमान

दो विपरीत तापमान वाली वायुराशियों से निर्मित शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवात के विभिन्न भागों में तापमान भिन्न-भिन्न होता है। चक्रवात के दक्षिणी भाग में गर्म हवाएँ होती हैं, अत: वहाँ पर अधिक तापमान होता है। इसके विपरीत उ० पू०, उ० तथा उ० प० भागों में ठंडी हवाओं के कारण तापमान नीचा होता है, परन्तु पश्चिमी भाग में तापमान न्यूनतम होता है। चक्रवात का तापमान मुख्य रूप से वायुराशियों के गुण, मौसम तथा हवा में नमी की मात्रा पर आधारित होता है। समताप रेखाएँ मुख्य रूप से उ०, उ० पूर्व से द० पश्चिम दिशा में (उ० गो०) होती हैं। सामान्य रूप से ग्रीष्मकाल में इनका तापमान औसत से कम तथा शीत काल में औसत से अधिक होता है।

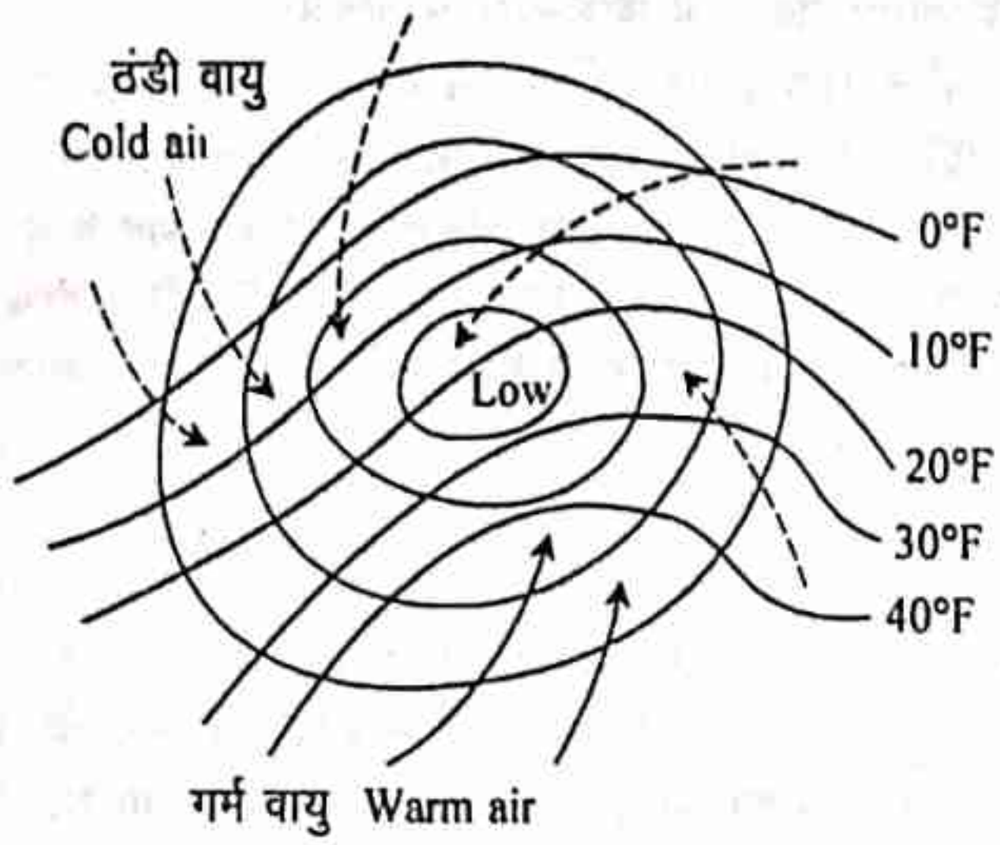

चित्र 38.3: उत्तरी गोलार्द्ध में शीतोष्ण चक्रवातों में समताप रेखाओं का प्रतिरूप।

4. शीतोष्ण चक्रवातों के उत्पत्ति क्षेत्र तथा भ्रमण मार्ग (Source Regions and Tracks of Movement)

शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों के प्रमुख क्षेत्र दोनों गोलार्द्धों में मध्य एवं उच्च अक्षांशों में 35°–65° अक्षांशों के मध्य पाये जाते हैं। सामान्य तौर पर ये चक्रवात पश्चिम से पूर्व दिशा में चलते हैं, परन्तु इनका कोई निर्दिष्ट मार्ग न होने के कारण इनके मार्ग को मेखलाओं में प्रदर्शित करते हैं तथा इनके गतिशील होने वाले मार्ग को **झंझापथ** (storm track) कहते हैं। शीतोषण चक्रवातों की उत्पत्ति के सर्वाधिक उपयुक्त क्षेत्र इस प्रकार हैं:

(1) उत्तरी प्रशान्त महासागर में एशिया के उ०पू० एवं पूर्वी तटों के पास शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों की उपत्ति होती है। यहाँ से चक्रवात उ०पू० दिशा में गमन करते हैं तथा अलास्का की खाड़ी तक पहुँचने के बाद अन्ततः अल्यूशियन निम्न दाब से मिलकर दक्षिणी मार्ग का अनुसरण करते हैं तथा दक्षिणी कैलिफोर्निया तक पहुँचते हैं। जो चक्रवात उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तटीय भाग पर पहुँचने के बाद पूर्वी दिशा में चलते हैं वे आन्तरिक भाग में पहुँचने पर राकी पर्वत के पश्चिमी ढालों पर समाप्त हो जाते हैं।

(2) उत्तरी अमेरिका में वाताग्रजनन के चार प्रमुख क्षेत्र हैं: (i) सियरा नेवादा पर्वत श्रेणियों के पूर्व वाला क्षेत्र, (ii) पूर्वी कोलोरैडो का क्षेत्र, यहाँ पर शीतोष्ण चक्रवातों को **कोलोरैडो लो** कहा जाता है, (iii) कनाडियन राकी पर्वतों के पूर्व वाला क्षेत्र, यहाँ पर शीतोष्ण चक्रवातों को **अलबर्टा लो** कहा जाता है, तथा (iv) बृहद् झील प्रदेश।

(3) मेक्सिको की खाड़ी में उत्पन्न चक्रवात उत्तरी मार्ग से आगे बढ़ते हैं तथा अप्लेशियन पर्वत के पूर्व में गल्फस्ट्रीम का मार्ग अपनाते हुए आइसलैण्डिक वाताग्र जनन क्षेत्र से मिल जाते हैं।

(4) उत्तरी अमेरिका के उ० पू० तटीय भाग के पास उत्तरी अटलाण्टिक महासागर के उ० प० भाग में उत्पन्न होकर शीतोष्ण चक्रवात पछुवा हवाओं के प्रभाव में पूर्व दिशा में अग्रसर होते हैं तथा उ० प० यूरोप के तटीय भाग तक पहुँच कर समाप्त हो जाते हैं।

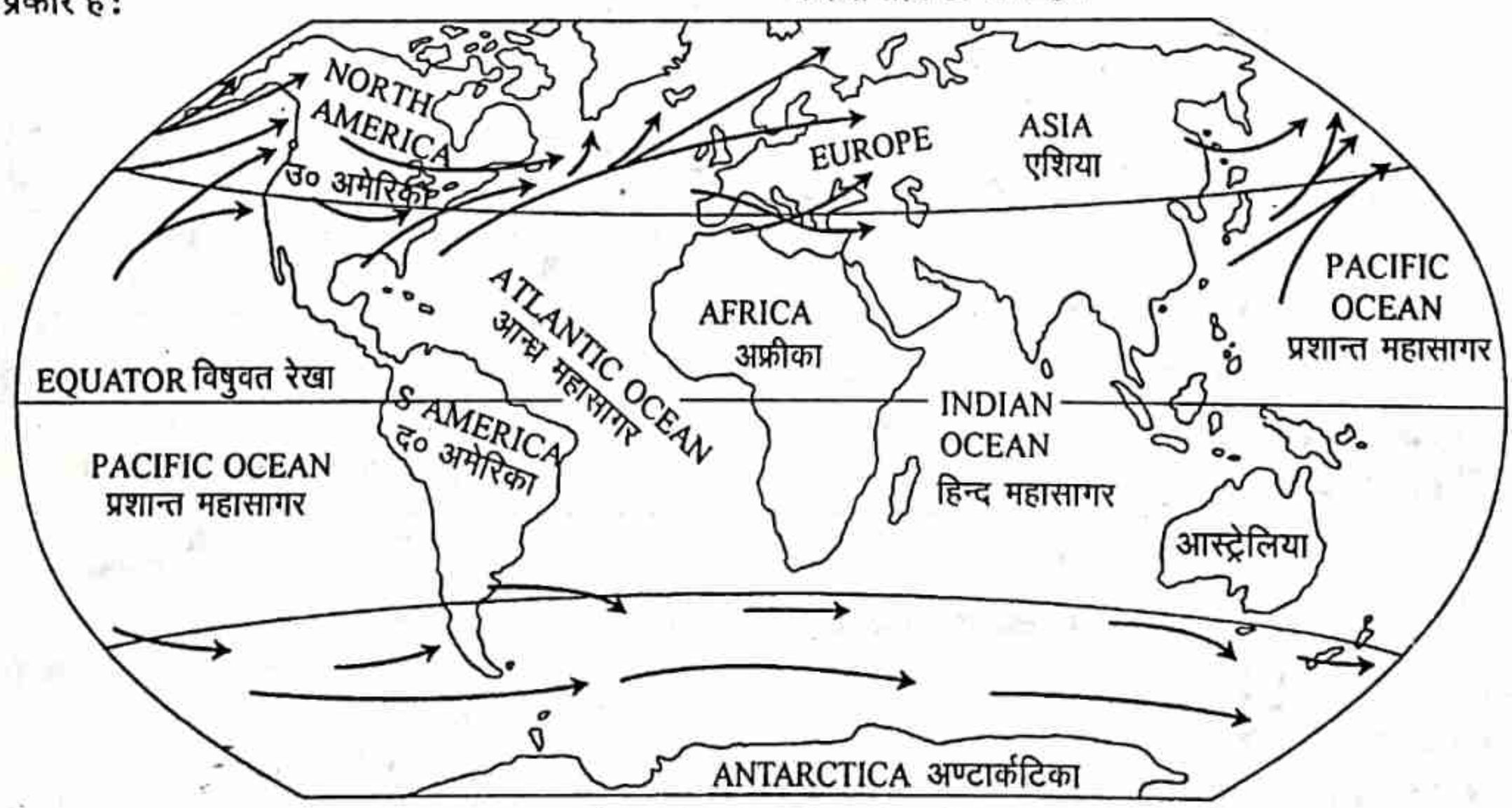

→ Principal tracks of extra-tropical (temperate) cyclones
शीतोष्ण चक्रवातों के प्रमुख मार्ग

चित्र 38.4: शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों के मार्ग। **Source :** *after Petterson, in G.T. Trewartha, 1954.*

(5) आइसलैण्ड एवं बैरेन्ट सागर के मध्य उत्पन्न होने वाले शीतोष्ण चक्रवात पूर्वी मार्ग का अनुसरण करते हुए उत्तरी यूरोप के मौसम को प्रभावित करते हैं।

(6) यूरोप महाद्वीप में वाताग्रजनन के दो प्रमुख क्षेत्र हैं: (i) बाल्टिक सागर क्षेत्र, तथा (ii) रूम सागरीय क्षेत्र। रूम सागर पर उत्पन्न होने वाले शीतोष्ण चक्रवातों में से कुछ चक्रवात पूर्व दिशा की ओर चलते हुए पाकिस्तान तथा उ० प० भारत तक पहुँचते हैं। यहाँ पर इनको **पश्चिमी विक्षोभ** (western disturbances) कहते हैं। रूमसागर पर उत्पन्न अधिकांश चक्रवात उ०पू० दिशा में अग्रसर होते हैं तथा 'कामनवेल्थ ऑव इण्डिपेण्डेंट स्टेट्स' (CIS) के देशों के मौसम को प्रभावित करते हैं।

5. शीतोष्ण चक्रवातों से सम्बन्धित मौसम

शीतोष्ण चक्रवात के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की वायुराशियों तथा तापमान के कारण मौसम में अनेक अनियमितताएँ होती हैं तथा जिस स्थान पर चक्रवात का आगमन होता है, वहाँ पर मौसम सम्बन्धी तत्वों में अचानक परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। चक्रवात के गुजरते समय उसके उष्ण तथा शीत वाताग्रों एवं वृत्तांशों के साथ बदलते मौसम का आभास होता है।

(1) चक्रवात का आगमन: पश्चिम दिशा से आने वाला चक्रवात जब करीब आ जाता है तो वायु का वेग मन्द पड़ जाता है, वायु दाब गिरने लगता है तथा चन्द्रमा और सूर्य के चारों तरफ प्रभामण्डल (halo) स्थापित हो जाता है। वास्तव में ये

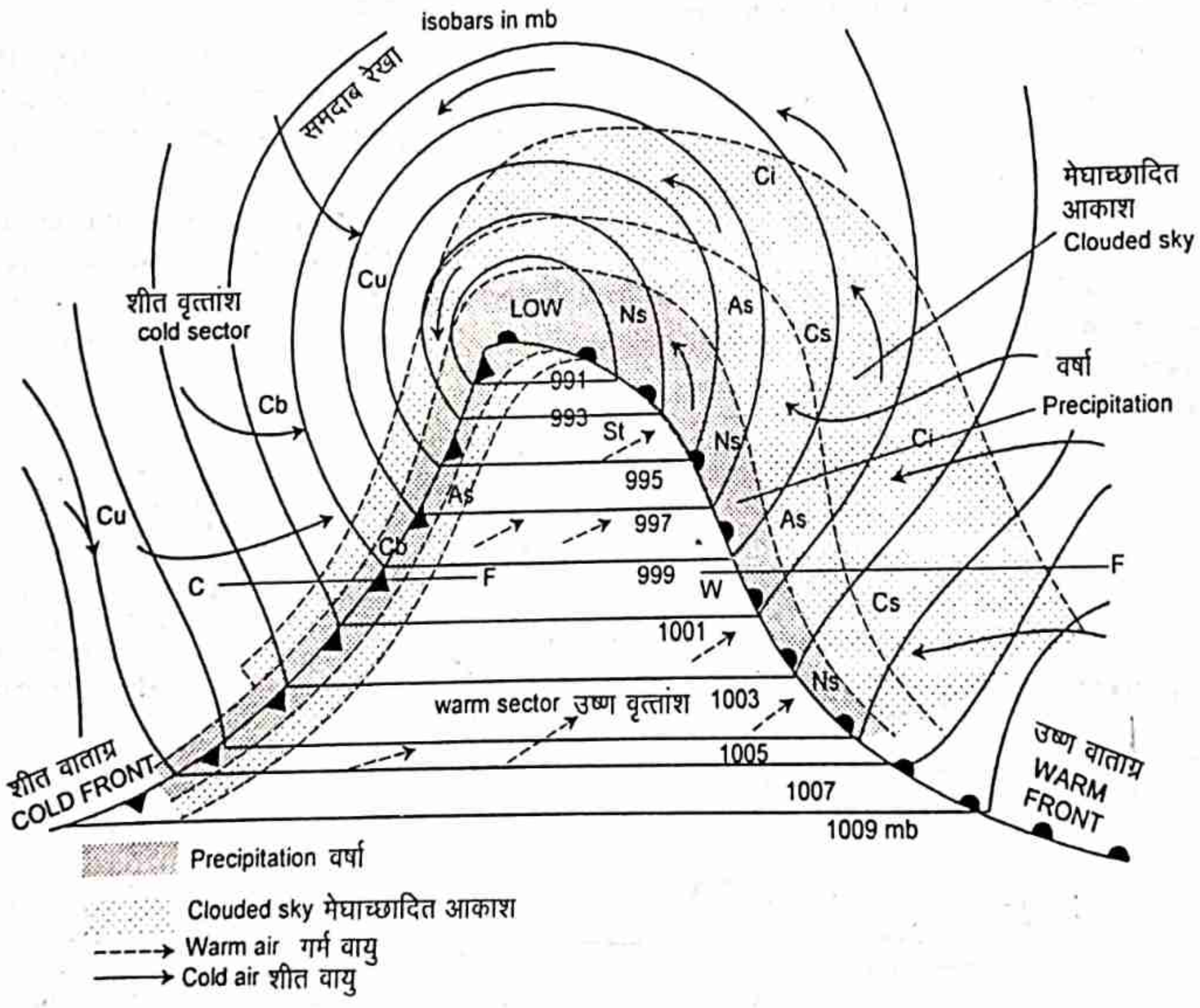

चित्र 38.5: एक पूर्ण विकसित शीतोष्ण चक्रवात तथा विभिन्न वाताग्रों (fronts) एवं वृत्तांशों (sectors) से सम्बन्धित मौसम।
Ns = nibostratus clouds (वर्षा-स्तरी बादल), Cs = cirro- stratus clouds (पक्षाभ-स्तरी बादल)
As = alto-stratus clouds (उच्चस्तरीय बादल), Cb = cumulonimbus clouds (कपासी-वर्षा बादल)।

प्रभामण्डल पश्चिम दिशा से बढ़ते पक्षाभ (cirrus) तथा पक्षाभ-स्तरी (cirrorstratus) मेघों की झीनी चादर के प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं। जैसे-जैसे चक्रवात करीब आता जाता है, तापमान बढ़ता जाता है। बादलों की घमस बढ़ने लगती है, वायु की दिशा पूर्वी से बदलकर दक्षिणी-पूर्वी होने लगती है, बादलों की ऊँचाई कम होने लगती है तथा वे काले होने लगते हैं।

(2) उष्ण वाताग्र प्रदेशीय वर्षा: उष्ण वाताग्र के आने पर बादलों की घमस अचानक बढ़ जाती है तथा वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। वर्षा-स्तरी मेघों (nimbo-stratus) के साथ वर्षा अत्यधिक तीव्र हो जाती है। चूँकि इस वाताग्र में गर्म हवा धीरे-धीरे ऊपर उठती है, तथा वाताग्र ढाल मन्द होता है, अत: वर्षा मन्द गति से सम्पन्न होती है, परन्तु अधिक देर तक तथा विस्तृत होती है। उष्ण वाताग्र की वर्षा मुख्य रूप से हवा में नमी की मात्रा तथा उसकी अस्थिरता पर आधारित होती है। यदि वायु अधिक आर्द्र तथा अस्थिर होती है तो वर्षा अधिक होती है। समस्त आकाश मेघाच्छन्न रहता है तथा सूर्य का दर्शन नहीं हो पाता है।

(3) उष्ण वृत्तांश (warm sector) **:** उष्ण वाताग्र के गुजर जाने पर उष्ण वृत्तांश का आगमन होता है तथा पहले वाले मौसम में अचानक तथा तीव्र परिवर्तन हो जाता है। वायु की दिशा पूर्ण दक्षिणी हो जाती है। आकाश बादलों से रहित होकर साफ हो जाता है। वायु का तापमान शीघ्रता से बढ़ने लगता है। वायु की विशिष्ट आर्द्रता में वृद्धि हो जाती है। वायुदाब कम होने लगता है। यद्यपि वर्षा पूर्णतया समाप्त हो जाती है परन्तु यदा-कदा हल्की फुहार भी पड़ जाती है। कुल मिलाकर मौसम साफ तथा सुहावना हो जाता है।

(4) शीत वाताग्र: उष्ण वृत्तांश के गुजर जाने पर शीत वाताग्र आ जाता है, जिसके साथ तापमान गिरने लगता है तथा सर्दी बढ़ने लगती है। ठंडी वायु गर्म वायु को ऊपर धकेलने लगती है तथा वायु की दिशा में पर्याप्त अन्तर हो जाता है। आकाश में पुन: मेघाच्छादन प्रारम्भ हो जाता है तथा वर्षा प्रारम्भ हो जाती है।

(5) शीत वाताग्र प्रदेशीय वर्षा : आकाश में काले कपासी वर्षा (cumulo-nimbus) बादल छा जाते हैं तथा तीव्र वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। चूँकि गर्म हवा तेजी से ऊपर उठ जाती है, अत: इस भाग की वर्षा मूसालाधार होती है परन्तु अल्पकालिक एवं कम विस्तृत होती है क्योंकि शीत वृत्तांश पास ही होता है। इस भाग में तड़ित्झंझा (thunderstorm) का भी आविर्भाव होता है तथा बिजली की चमक एवं बादलों की गरज के साथ वर्षा होती है। यदि ऊपर उठने वाली गर्म वायु आर्द्र तथा अस्थिर होती है तो वर्षा तीव्र होती है।

(6) शीत वृत्तांश (cold sector) **:** शीत वाताग्र के गुजरने पर शीघ्र ही शीत वृत्तांश का आगमन हो जाता है। मौसम में पुन: अचानक परिवर्तन होने लगता है। आकाश मेघरहित होकर स्वच्छ हो जाता है। तापमान में तीव्र पतन तथा वायुदाब में वृद्धि होने लगती है। विशिष्ट आर्द्रता में गिरावट हो जाती है तथा वायु मार्ग में 45° से 180° का परिवर्तन हो जाता है तथा वह पश्चिमी हो जाता है। इस प्रकार के मौसम किसी स्थान विशेष में तभी अनुभव किये जा सकते हैं, जबकि वह स्थान चक्रवात के शीर्ष के दक्षिण में स्थित हो अन्यथा यदि वह उत्तर में होगा तो मौसम के कुछ तत्त्व अनुपस्थित होंगे। चक्रवात के विलीन हो जाने पर उस स्थान पर चक्रवात आने से पहले वाली दशाएँ पुन: स्थापित हो जाती हैं।

(7) अधिविष्ट वाताग्र (occluded front) **:** शीत वाताग्र द्वारा उष्ण वाताग्र के अभिलंघन (overtaking) को चक्रवातीय वाताग्र का अधिधारण (occlusion) कहते हैं। अर्थात् जब शीतवाताग्र उष्ण वाताग्र को समाप्त कर देता है तो चक्रवात का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। वाताग्रों का अधिधारण दो प्रकार का होता है: (1) **शीत वाताग्र अधिधारण**, तथा (2) **उष्ण वाताग्र अधिधारण**। अधिधारण का यह विभाजन वायुराशियों के तापमान तथा घनत्व के आधार पर किया जाता है। अधिविष्ट वाताग्रों (occluded fronts) के साथ मौसम सम्बन्धी अत्यधिक जटिलता होती है। शीत वाताग्र अधिधारण के बाद का मौसम शीत वाताग्र वाला मौसम ही होता है। प्रतिबन्धित अस्थिरता वाली गर्म वायु (conditionally unstable warm air) के उत्थापन (lifting) के कारण संवहनीय तड़ित्झंझा (thundrstorms) उत्पन्न होते हैं जिनसे भारी वर्षा होती है। परन्तु शीत अधिविष्ट वाताग्र के गुजर जाने के बाद शान्त मौसम का आगमन होता है। इसी तरह उष्ण वाताग्र अधिधारण के समय लगभग उष्ण वाताग्र वाला ही मौसम रहता है। ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त दोनों प्रकार के वाताग्र अधिधारण के समय गर्म हवा ऊपर उठती है जिस कारण उसका शीतलन एवं संघनन होने से वर्षा होती है। वर्षा की प्रकृति तथा मात्रा, वायु में नमी की मात्रा, गर्म वायु के उत्थापन की प्रकृति तथा वायु की गति पर निर्भर करती है।

6. शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति

शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों की उत्पत्ति की समस्या अब भी अनबूझ पहेली बनी हुई है जिसका अभी तक सार्थक निराकरण नहीं हो पाया है क्योंकि उनकी उत्पत्ति से सम्बन्धित अब तक सर्वमान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जा सका है। शीतोष्ण चक्रवातों के जनन के सम्बन्ध में ऊपरी वायुमण्डल के परिसंचरण (upper air circulation) से सम्बन्धित अधिक से अधिक विश्वस्त सूचनायें तथा उपग्रहों से प्राप्त आंकड़ों की सुलभता एवं प्राप्ति से सर्वमान्य सिद्धान्त के प्रतिपादन का मार्ग प्रशस्त हो गया है। मध्य अक्षांशों अर्थात् शीतोष्ण कटिबन्ध में चक्रवातों की उत्पत्ति से सम्बन्धित संकल्पनाओं के क्रमविकास को निम्न रूपों में व्यक्त किया जा सकता है।

(1) शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति की पहेली को सुलझाने के लिए प्रथम पॉयनियर प्रयास फिटजराय द्वारा सन् 1863 में किया गया। फिटजराय ने प्रतिपादित किया कि शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों की उत्पत्ति दो विरोधी गुणों (तापमान, वायुदाब, घनत्व, पवन दिशा एवं गति, तथा नमी की मात्रा के संदर्भ में) वाली वायुराशियों के अभिसरण (convergence) के परिणामस्वरूप होती है। फिटजराय के अनुसार उष्णकटिबन्धीय उत्पत्ति वाली गर्म एवं आर्द्र वायुराशियों तथा ध्रुवीय उत्पत्ति वाली शीतल एवं भारी वायुराशियों के आमने-सामने एक रेखा के सहारे मिलने से वाताग्र का निर्माण होता है जो आगे चलकर चक्रवात में विकसित हो जाता है। इस तरह शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों की उत्पत्ति की व्याख्या करने के क्षेत्र में अगुआई करने (पहल करने) के लिए फिटजराय महोदय को निश्चित तौर पर श्रेय दिया जाना चाहिए क्योंकि इनकी इस संकल्पना ने भविष्य में अन्य विद्वानों द्वारा इस संकल्पना के विस्तरण एवं विकास के लिए आधार प्रस्तुत किया।

(2) अपनी पुस्तक 'Weather' के 1887 में प्रकाशन के साथ ही **अंबरक्रोम्बी** ने मध्य अक्षांशों में चक्रवातों की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए नयी दिशा दी। इन्होंने शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति से सम्बन्धित भौतिक प्रक्रियाओं की व्याख्या करने का प्रयास किया परन्तु गणितीय मॉडलिंग तथा विशिष्ट शीतोष्ण चक्रवात के मॉडल डायग्राम पर आधारित अम्बरक्रोम्बी की नयी संकल्पना परम्परावादी विज्ञानियों के विचारों के जाल में फँसकर तिरोहित हो गयी। ज्ञातव्य है कि परम्परावादी विद्वान शीतोष्ण चक्रवातों की व्याख्या के वर्णनात्मक उपागम (descriptive approach) में अधिक दिलचस्पी रखते थे। अतः लोगों ने अम्बरक्रोम्बी के विश्लेषणात्मक उपागम को नजरअंदाज कर दिया।

(3) **शा तथा लेम्फर्ट** ने प्रतिपादित किया कि सभी दिशाओं से आने वाली हवाओं के एक केन्द्र की ओर अभिसरण (convergence) के कारण शीतोष्ण चक्रवातों का निर्माण होता है। वास्तव में इन्होंने अम्बरक्रोम्बी की गतिक संकल्पना का विस्तरण किया तथा शीतोष्ण प्रदेशों में चक्रवातों की उत्पत्ति से सम्बन्धित अपने **गतिक सिद्धान्त** का सन् 1891 में प्रतिपादन किया।

(4) आगे चलकर शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों की उत्पत्ति की व्याख्या के लिए **संवहन तरंग सिद्धान्त** (convective current theory) का प्रतिपादन किया गया। परन्तु इस सिद्धान्त की कटु आलोचना हुई और अन्ततः इसे अस्वीकार कर दिया गया।

(5) संवहन तरंग सिद्धान्त के अस्वीकरण के बाद गैर उष्णकटिबन्धी चक्रवातों (extra-tropical cyclones) की उत्पत्ति के लिए **भंवर सिद्धान्त** (eddy theory) का प्रतिपादन किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति गतिशील वायुराशियों में अवरोध के कारण जनित भंवर के कारण होती है।

(6) नार्वे के दो ऋतुविज्ञानी **वी० बर्कनीज** तथा **जे० बर्कनीज** ने शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति के **ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त** (polar front theory) नामक एक नये सिद्धान्त का सन् 1918 में प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त को **लहर सिद्धान्त** (wave theory) के नाम से भी जाना जाता है। स्वीडन के प्रसिद्ध विद्वान **बर्जेन** के नाम पर इसे **बर्जेन सिद्धान्त** भी कहा जाता है।

(7) उपग्रहों एवं राडार से मध्य एवं ऊपरी क्षोभमण्डल (troposphere) से जलवायु से सम्बन्धित अभिनव आंकड़ों के आधार पर मध्य अक्षांशों में शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति से सम्बन्धित **वैरोक्लिनिक सिद्धान्त** (baroclinic theory) का प्रतिपादन किया गया है।

1. ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त (Polar Front Theory)

ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त, या **वाताग्री सिद्धान्त**, या **लहर सिद्धान्त या बर्जेन सिद्धान्त** का वी० बर्कनीज तथा जे० बर्कनीज द्वारा सन् 1918 में प्रतिपादन किया गया। यह सिद्धान्त मुख्य रूप से वाताग्रों के निर्माण की प्रक्रियाओं पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार, चक्रवातों का आविर्भाव वाताग्र के बनने पर आधारित होता है। जब दो विभिन्न तापमान वाली वायुराशियाँ विपरीत दिशाओं से आकर आमने-सामने मिलती हैं तो वाताग्र का निर्माण होता है। इनमें से एक वायुराशि ध्रुवीय होती है, जो कि ठंडी, भारी तथा उ०पू० (उ० गोलार्द्ध) होती है। दूसरी वायुराशि उष्ण कटिबन्धीय होती है, जो उष्ण, आर्द्र तथा द० प० (उ० गोलार्द्ध) होती है। जब ये हवाएँ शीतोष्ण कटिबन्ध में मिलती हैं तथा एक दूसरे के समानान्तर चलने लगती हैं तो **स्थायी वाताग्र** (stationary front) का निर्माण होता है (चित्र 38.6 A)। इस वाताग्र से चक्रवात की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि हवाओं में लम्बवत् गति नहीं होती है तथा हवाएँ स्थिर होती हैं। इसके विपरीत जब ये वायुराशियाँ एक दूसरे से घर्षण करती हैं तो **अस्थिर लहरें** उत्पन्न होती हैं (चित्र 38.6 B), जो कि चक्रवात की उत्पत्ति में सहायक होती हैं। प्रारम्भ में दोनों वायुराशियों का पृथक्कारी तल (surface of discontinuity) सीधा होता है। परन्तु उष्ण वायु शीत वायुप्रदेश तथा शीतल ध्रुवीय वायु उष्ण वायु प्रदेश में बलात् प्रविष्ट होने का प्रयास करती हैं, जिस कारण वाताग्र लहरनुमा हो जाता है। इसे **ध्रुवीय वाताग्र** कहते हैं। जब दक्षिण-पश्चिम दिशा वाली वायु, ध्रुवीय वाताग्र के सहारे ध्रुवीय ठंडी वायु के प्रदेश में प्रविष्ट होती है तो वह हल्की होने के कारण ऊपर उठ जाती है जिस कारण वहाँ पर न्यून दाब केन्द्र स्थापित हो जाता है। इस न्यून दाब की ओर हवाएँ चारों तरफ से झपटती हैं तथा एक चक्रवात का आविर्भाव हो जाता है। हवाओं के एक केन्द्र की ओर प्रवाहित होने तथा चक्रवात का रूप धारण करने में वायु का

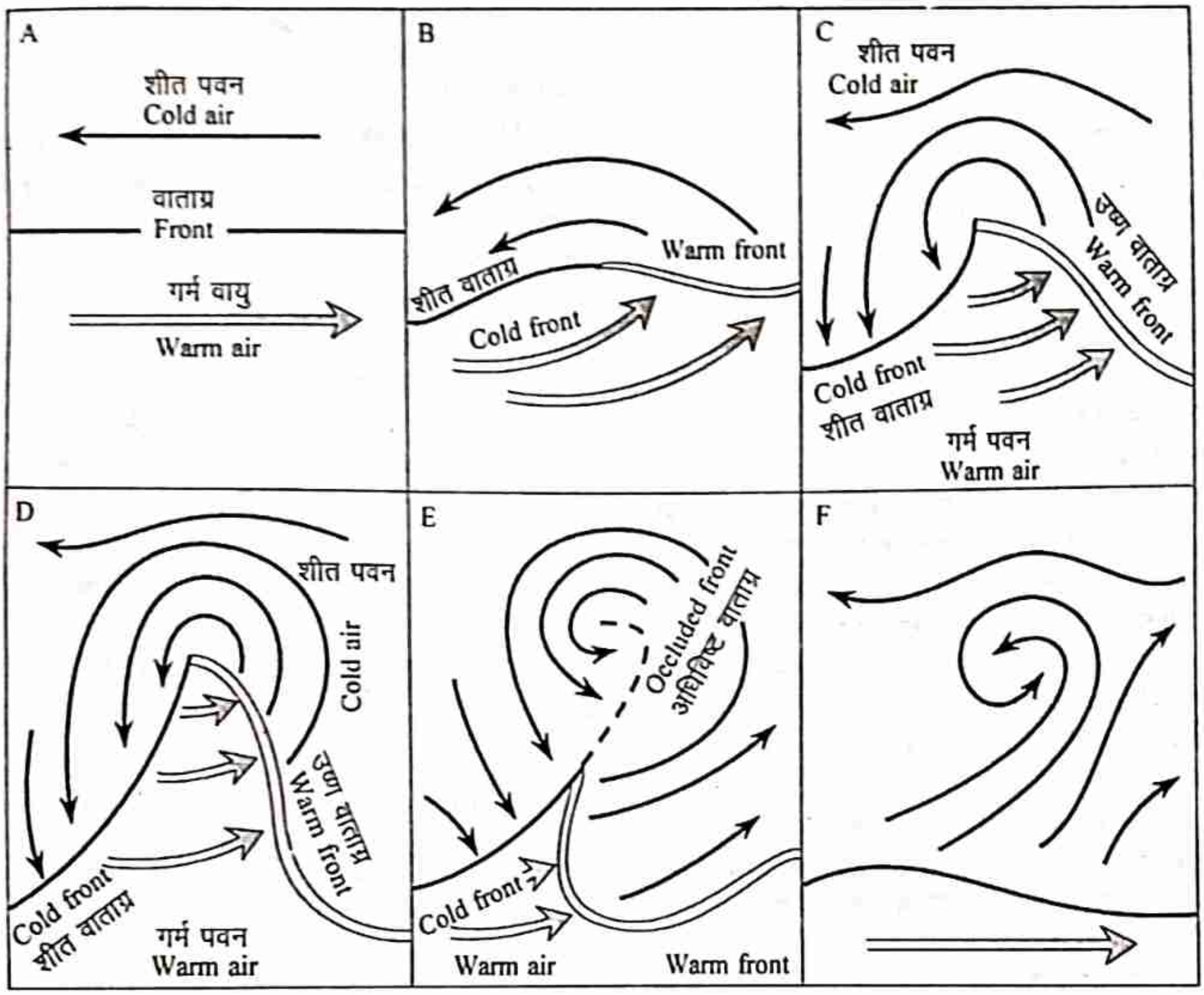

चित्र 38.6 : शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों के जीवन-चक्र की अवस्थायें।

ढाल, पृथ्वी की गति तथा घर्षण (friction) का सामूहिक प्रभाव होता है। ध्रुवीय वाताग्र के पूर्वी भाग में उष्ण वाताग्र (warm front) (चित्र 38.6 C) तथा पश्चिमी भाग में शीत वाताग्र (cold front) का आविर्भाव होता है। उष्ण वाताग्र के सहारे गर्म हवा, ठंडी हवा के ऊपर स्वत: चढ़ती है। यहाँ पर उष्ण वायु आक्रामक होती है। इसके विपरीत शीत वाताग्र के सहारे ठंडी वायु गर्म वायु को ऊपर ढकेलती है। यहाँ पर ठंडी वायु आक्रामक होती है। चक्रवात के दक्षिण-पूर्वी भाग को 'उष्ण वृत्तांश' (warm sector) तथा उ० प० भाग को 'शीत वृत्तांश' (cold sector) कहते हैं। पूर्वी भाग में गर्म वायु के आगमन के साथ ही न्यूनदाब तीव्र हो जाता है, जिस कारण अगल-बगल की हवाएँ तेजी से झपटती हैं। परिणामस्वरूप शीत वाताग्र, उष्ण वाताग्र की अपेक्षा तेजी से आगे बढ़ता है, जिस कारण दोनों वाताग्र समीप आने लगते हैं। जब शीत वाताग्र उष्ण वाताग्र को समाप्त कर देता है तो चक्रवात का समापन हो जाता है। इसे चक्रवात का विनाश या अधिधारण (occlusion) कहते हैं (चित्र 38.6 E तथा F)। कभी-कभी चक्रवात के अवसान होने पर भी क्षीण चक्रवात का विकास हो जाता है जिन्हें 'उप चक्रवात' कहते हैं। ऐसा तब होता है, जबकि शीत वाताग्र में कभी-कभी कुछ गर्म वायु बची रहती है, जिसके कारण पुन: न्यून दाब बन जाता है। इस तरह के चक्रवात अत्यन्त कमजोर होते हैं तथा शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं। स्मरणीय है कि चक्रवात की उत्पत्ति यद्यपि शीघ्र होती है, परन्तु यह कई क्रमिक अवस्थाओं में ही सम्पन्न होती है। एक चक्रवात की उत्पत्ति से लेकर उसके अवसान (occulsion, अधिधारण) तक के इतिहास को चक्रवात का जीवन चक्र (life cycle) कहते हैं।

शीतोष्ण चक्रवात का जीवन चक्र : शीतोष्ण कटिबन्धी चक्रवातों के वाताग्रजनन (frontogenesis) से लेकर उसके अवसान (frontolysis) तक के समय को चक्रवात का जीवन चक्र कहते हैं, जो 6 क्रमिक अवस्थाओं में सम्पन्न होता है (चित्र 38.6)।

(1) प्रथम अवस्था : सर्वप्रथम विपरीत भौतिक गुणों वाली दो वायुराशियों का अभिसरण (convergence) होता है। आरम्भिक अवस्था में गर्म, हल्की वायुराशियाँ तथा ठंडी एवं भारी वायुराशियां एक दूसरे के समानान्तर प्रवाहित होती हैं जिस कारण **स्थायी वाताग्र** (stationary front) का निर्माण होता है (चित्र 38.6 A)। गर्म तथा ठंडी हवायें समदाब रेखाओं के समानान्तर चलती हैं क्योंकि ठंडी हवा की सीधी पूर्वी दिशा होती है जबकि गर्म हवा पश्चिम से पूर्व दिशा में चलती है। स्थायी वाताग्र संतुलित दशा में रहता है। इस अवस्था को **आरम्भिक अवस्था** (initial stage) कहते हैं (चित्र 38.6 A)।

(2) द्वितीय अवस्था : इस अवस्था में गर्म एवं ठंडी वायुरशियाँ एक-दूसरे के क्षेत्र में बलात् प्रवेश करती हैं जिस कारण प्रारम्भिक अवस्था वाले स्थायी वाताग्र का सन्तुलन विक्षुब्ध हो जाता है तथा एक **अस्थिर वाताग्र** का निर्माण होता है जो लहरनुमा होता है। इसे **लहरनुमा वाताग्र** (wave-like front या wavy front) कहते हैं (चित्र 38.6 B)।

(3) तृतीय अवस्था : इसे **प्रौढ़ावस्था** (mature stage) भी कहते हैं जिस समय चक्रवात का पूर्ण विकास हो जाता है तथा समदाब रेखायें लगभग गोलाकार हो जाती हैं। उष्ण एवं शीत वाताग्रों का पूर्णतया विकास हो जाता है तथा इन दोनों वाताग्रों का उष्ण वृत्तांश (warm sector) द्वारा अलगाव होता है। उष्ण वाताग्र की अपेक्षा शीतवाताग्र के तेज गति से आगे बढ़ने के कारण उष्ण वृत्तांश लगातार संकरा होता जाता है। ज्ञातव्य है कि गर्म वायु ही दोनों वाताग्रों (उष्ण एवं शीत वाताग्र) के सहारे बलात् ऊपर उठायी जाती है, अत: इसमें यदि पर्याप्त नमी होती है तो एडियाबेटिक विधि से शीतलन (cooling) तथा संघनन होने पर यह पर्याप्त वर्षा करती है। उष्ण वाताग्री वर्षा धीरे-धीरे लम्बे समय तक होती है जबकि शीत वाताग्री वर्षा अल्प अवधि वाली होती है परन्तु मूसलाधार रूप में होती है। शीत वाताग्री वर्षा के साथ हिमपात तथा ओलापात भी हो जाता है, परन्तु यह स्थानीय दशाओं पर निर्भर करता है (चित्र 38.6 C)।

(4) चतुर्थ अवस्था : इस अवस्था में शीत वाताग्र के तेजी से आगे बढ़ने के कारण उष्ण वृत्तांश संकुचित होने लगता है क्योंकि उष्ण वाताग्र की अपेक्षा अधिक तेज गति के कारण शीत वाताग्र, उष्ण वाताग्र के समीप आ जाता है (चित्र 41.6 D) ।

(5) पंचम् अवस्था : पांचवीं अवस्था में चक्रवात का अवसान होना प्रारम्भ हो जाता है जबकि शीत वाताग्र, उष्ण वाताग्र का अन्तिम रूप से अभिलंघन (overtaking) कर लेता है तथा **अधिविष्ट वाताग्र** (occluded front) का निर्माण हो जाता है। इसे **अधिधारण अवस्था** (occulsion stage) कहते हैं (चित्र 38.6 E) ।

(6) षष्ठम् अवस्था : इस छठी अवस्था को चक्रवात की अवसान अवस्था (stage of frontolysis) कहते हैं। इस अवस्था में उष्ण वाताग्र पूर्णतया समात हो जाता है तथा चक्रवात का अवसान हो जाता है (चित्र 38.6 F) ।

38.4 प्रतिचक्रवात

(Anticyclones)

जैसा कि 'anticyclone' (प्रतिचक्रवात) शब्द से विदित होता है कि चक्रवात के विपरीत दशाओं एवं विशेषताओं वाले वायु परिसंचरण तंत्र को प्रतिचक्रवात कहते हैं। उच्च वायुदाब वाले केन्द्र से बाहर की ओर चारों दिशाओं में चलने वाले अपसारी (divergent) वायु परिसंचरण के लिए 'anticyclone' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम **यफ० गैफन** ने सन् 1861 में किया था।

प्रतिचक्रवात वृत्ताकार समदाब रेखाओं द्वारा घिरा हुआ वायु का एक ऐसा क्रम होता है, जिसके केन्द्र में वायु दाब उच्चतम होता है तथा बाहर की ओर घटता जाता है, जिस कारण हवाएँ केन्द्र से परिधि की ओर चलती हैं (चित्र 38.7)। प्रतिचक्रवात उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च दाब क्षेत्रों में अधिक उत्पन्न होते हैं, परन्तु भूमध्यरेखीय भागों में इनका सर्वदा अभव होता है। शीतोष्ण कटिबन्ध में चक्रवातों के विपरीत प्रतिचक्रवातों में मौसम साफ होता है तथा हवाएँ मन्द गति

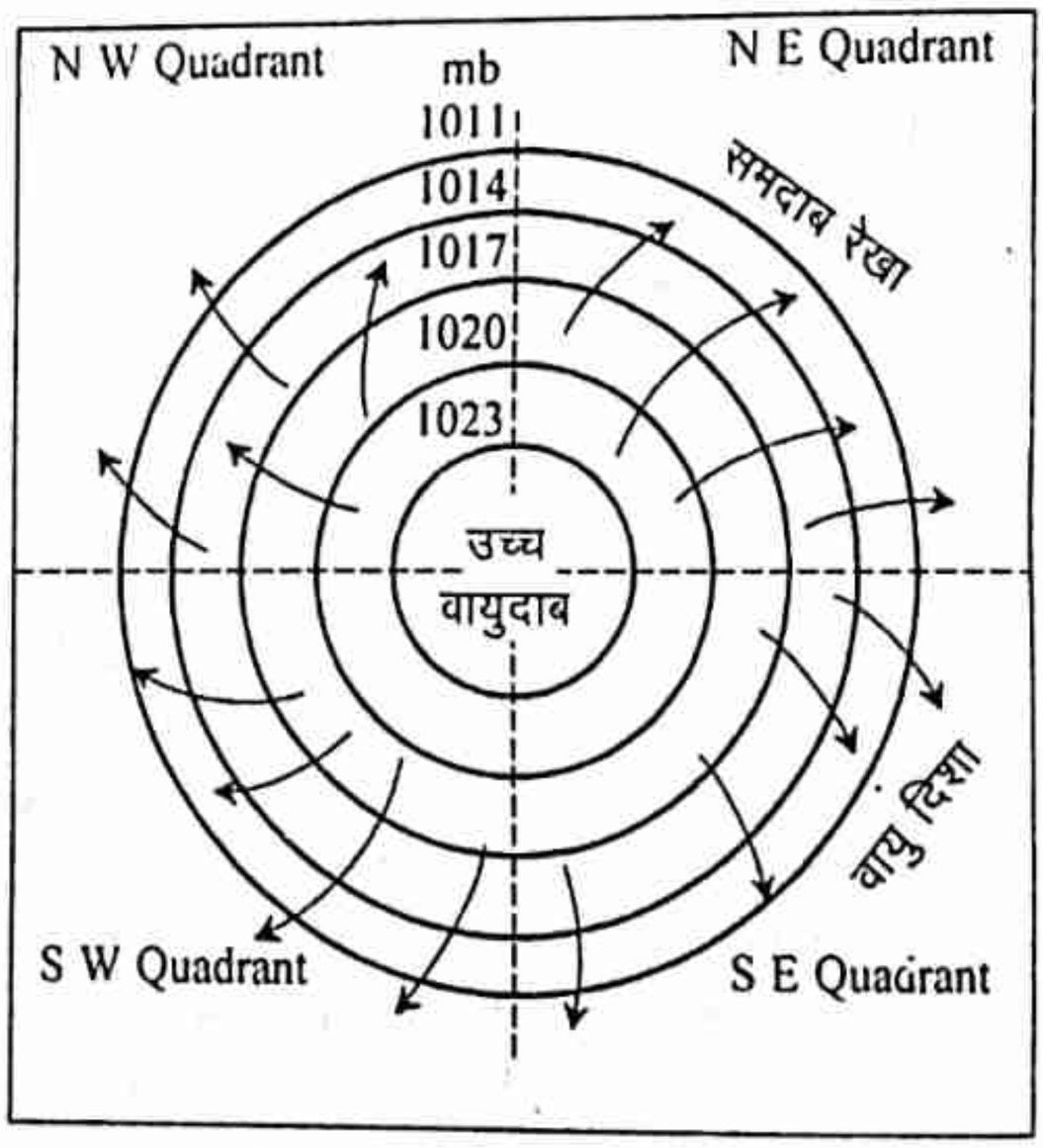

चित्र 38.7: एक आदर्श प्रतिचक्रवात में वायुदाब तथा वायु प्रतिरूप।

से चलती हैं। प्रतिचक्रवातों में उत्तरी गोलार्द्ध में हवायें घड़ी की सूइयों के अनुकूल तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में प्रतिकूल दिशा में प्रवाहित होती हैं। इनके साथ मौसम साफ एवं शुष्क रहता है। इसी कारण से प्रतिचक्रवातों को **मौसम रहित परिघटना** (weatherless phenomena) कहते हैं।

प्रतिचक्रवातों की सामान्य विशेषताएँ

प्रतिचक्रवातों की निम्न सामान्य विशेषताएँ होती हैं:

(1) इनका आकार प्राय: गोलाकार होता है। परन्तु कभी-कभी यह V आकार में भी मिलते हैं। केन्द्र में वायुदाब अधिकतम होता है। केन्द्र तथा परिधि के वायुदाबों का अन्तर 10-20 mb तथा कभी-कभी 35 mb तक होता है। दाब प्रवणता कम होती है, अर्थात् केन्द्र से बाहर की ओर वायुदाब में परिवर्तन सामान्य होता है।

(2) आकार में प्रतिचक्रवात चक्रवातों की अपेक्षा अधिक विस्तृत होते हैं। इनकी व्यास, चक्रवातों की अपेक्षा 75 प्रतिशत अधिक बड़ी होती है।

(3) प्रतिचक्रवात यद्यपि चक्रवातों के पीछे ही चलते हैं, परन्तु इनके मार्ग एवं दिशा में निश्चितता नहीं होती है। प्रतिचक्रवात प्रति घण्टे 30-50 किलोमीटर की चाल से आगे बढ़ते हैं, परन्तु कभी-कभी कई दिन तक एक ही स्थान पर स्थिर हो जाते हैं।

(4) केन्द्र में उच्च दाब के कारण हवाएँ केन्द्र से बाहर की ओर उत्तरी गोलार्द्ध में घड़ी की सुइयों के अनुकूल तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में प्रतिकूल दिशा में चलती हैं। कम दाब प्रवणता के कारण हवाएँ मन्द गति से चलती हैं।

(5) केन्द्र में हवाएँ ऊपर से नीचे उतरती हैं, जिस कारण केन्द्र का मौसम साफ होता है। वर्षा की सम्भावना नहीं होती है।

(6) प्रतिचक्रवात का तापमान, मौसम, वायुराशि के स्वभाव तथा आर्द्रता पर आधारित होता है। ग्रीष्मकाल में उष्ण वायुराशि के बनने के कारण तापमान ऊँचा तथा जाड़े में ध्रुवीय हवाओं के कारण तापमान नीचा हो जाता है।

(7) प्रतिचक्रवात में वाताग्र नहीं बनते हैं परन्तु कभी-कभी दो प्रतिचक्रवातों की सम्मिलन रेखा (चित्र 12.8 में FM) के सहारे निम्न दाब के गर्त (trough) में वाताग्र का निर्माण हो जाता है। इस तरह से दो प्रतिचक्रवातों के प्रतिच्छेदन (intersection) के सहारे उत्पन्न वाताग्र की दिशा उत्तर-दक्षिण होती है, अत: इसे **देशान्तरीय वाताग्र** कहते हैं।

प्रतिचक्रवात में वायुप्रणाली

प्रतिचक्रवात में दाब प्रवणता के क्षीण होने के कारण वायु प्रणाली का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। मुख्य रूप से वायु की सामान्य प्रणाली अपसारी (divergence) होती है, जिसके अन्तर्गत हवाएँ केन्द्र से परिधि की ओर चलती हैं (चित्र 12.7)। प्रतिचक्रवात (पूर्व दिशा में चलने वाले) के अग्रभाग में हवा की दिशा पश्चिमी होती है तथा अपेक्षाकृत उसकी गति कुछ अधिक होती है। प्रतिचक्रवात के पृष्ठ भाग में हवा की दिशा पूर्वी होती है तथा मंद गति होती है। केन्द्र में हल्की हवा चलती है। इस तरह की वायु प्रणाली शीतल प्रतिचक्रवातों में होती है। गर्म प्रतिचक्रवातों में वायुप्रणाली अविकसित होती है।

प्रतिचक्रवात का आकार

लगभग वृत्ताकार या गोलाकार या फनाकार (wedge shaped) प्रतिचक्रवात विशालकाय होते हैं। कभी-कभी इनका आकार इतना विस्तृत हो जाता है कि व्यास 9000 किलोमीटर तक होती है। प्रतिचक्रवातों की लम्बाई तथा चौड़ाई में पर्याप्त अन्तर नहीं होता है। शीतोष्ण कटिबन्धीय प्रतिचक्रवात इतने अधिक विस्तृत होते हैं कि आधे संयुक्त राज्य अमेरिका पर विस्तृत हो जाते हैं। इसी तरह यूरेशिया में प्रतिचक्रवात कृष्ण सागर से बेरिंग जलडमरूमध्य तक के स्थान पर विस्तृत हो जाते हैं।

प्रतिचक्रवात का तापमान

प्रतिचक्रवातों की उत्पत्ति या तो ठंडी ध्रुवीय पवन के कारण होती है या गर्म उष्ण कटिबन्धीय वायु से। स्पष्ट है कि शीतल प्रतिचक्रवातों के साथ प्रभावित क्षेत्रों में सामान्य से अत्यधिक कम तापमान हो जाता है। शीतकाल में तो इनके द्वारा शीत लहरें उत्पन्न हो जाती हैं, परन्तु जब इन शीतल चक्रवातों का आगमन ग्रीष्मकाल में होता है तो मौसम सुहावना हो जाता है। गर्मियों में गर्म प्रतिचक्रवातों के कारण तापमान इतना अधिक हो जाता है कि गर्म लहरें उत्पन्न हो जाती हैं।

प्रतिचक्रवातों में वर्षा का मौसम

सामान्य रूप से प्रतिचक्रवात वर्षा रहित होते हैं तथा आकाश मेघरहित होता है। इसके कई सन्तोजनक कारण बताये जा सकते हैं। प्रतिचक्रवातों के केन्द्र में हवाएँ ऊपर से नीचे उतरती हैं। हवा के इस अवतलन के कारण तापमान ऊँचा हो जाता है, जिस कारण सामान्य ताप पतन दर घट जाती है, और वायु में स्थिरता (stability) बढ़ने लगती है, जिस कारण वायु शुष्क हो जाती है। केन्द्र से हवाओं के अपसरण (divergence) के कारण वाताग्र का निर्माण नहीं हो पाता है। परिणामस्वरूप गर्माद्र तथा शीतल वायु राशियों के न मिल सकने के कारण वर्षा की सम्भावना नहीं हो पाती है। परन्तु यह सदा आवश्यक नहीं है कि प्रतिचक्रवात वर्षा प्रदान नहीं करते। जब कभी गर्म प्रतिचक्रवात महासागरों के ऊपर अधिक दूरी तय करके आता है तो नमी धारण कर लेता है, और सामान्य बादलों के साथ हल्की वर्षा प्रदान करता है।

चक्रवात के समान प्रतिचक्रवातों के आगमन की सूचना चन्द्रमा या सूर्य के चतुर्दिक प्रभामण्डल द्वारा नहीं मिल पाती है। इसके विपरीत प्रतिचक्रवात के नजदीक आते ही आकाश से बादल छंटने लगते हैं, मौसम साफ होने लगता है तथा हवा मन्द पड़ जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा उत्तरी यूरेशिया के मौसम प्रतिचक्रवातों से अधिक प्रभावित होते हैं।

कनाडा के उत्तर में शीतकाल में हिममण्डित भाग पर उत्पन्न होकर शीतल प्रतिचक्रवात जब दक्षिण दिशा में अग्रसर होते हैं तो ध्रुवीय ठंडी हवा के कारण प्रभावित क्षेत्र का तापमान हिमांक से नीचे कर देते हैं। पवन उ० प० होती है। बर्फ की आंधियाँ चलने लगती हैं, जिन्हें 'शीतलहरी' (cold waves) कहते हैं। जब प्रभावित क्षेत्र पर प्रतिचक्रवात का चक्षु होता है तो तापमान अत्यन्त कम हो जाता है, वायु शान्त होती है तथा मौसम साफ रहता है। प्रतिचक्रवात के पृष्ठ भाग के आने पर तापमान अचानक गिर जाता है तथा पवन वेग तेज हो जाता है। इसके विपरीत गर्म प्रतिचक्रवातों के आगमन पर तापमान में अचानक वृद्धि हो जाती है तथा गर्म लहर चलने लगती है।

प्रतिचक्रवात के प्रकार

सन् 1909 ई० में **हैजिल्क** महोदय ने प्रतिचक्रवातों को शीतल तथा उष्ण, दो प्रकारों में विभाजित किया। यह वर्गीकरण अब भी माना जाता है। **हम्फ्रीज** महोदय ने प्रतिचक्रवातों को तीन वर्गों में विभाजित किया है: (1) यांत्रिक या गतिक प्रतिचक्रवात, (2) तापीय प्रतिचक्रवात, तथा (3) विकिरण प्रतिचक्रवात। **गिडीज** महोदय ने प्रतिचक्रवातों को तीन प्रकारों में रखा है: (1) बड़े प्रतिचक्रवात, जो कि इतने बड़े होते हैं कि पूरे महाद्वीप को आच्छादित कर लेते हैं। (2) अस्थायी प्रतिचक्रवात, जो कि व्यास में 250-300 किमी० तक होते हैं तथा महाद्वीपों के केवल किनारे वाले भागों को ही प्रभावित करते हैं। (3) चक्रवात जनित प्रतिचक्रवात, जो कि दो शीतोष्ण चक्रवातों के मध्य उच्च दाब के कारण बन जाते हैं। सामान्य रूप से प्रतिचक्रवातों को निम्न तीन वर्गों में रखा जा सकता है।

(1) शीतल प्रतिचक्रवात (cold anti-cyclone) : आर्कटिक क्षेत्रों में उत्पन्न होकर शीतल प्रतिचक्रवात पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व दिशा में आगे बढ़ते हैं। आकार में ये गर्म प्रतिचक्रवातों से छोटे होते हैं, परन्तु अपेक्षाकृत तेजी से आगे बढ़ते हैं। इनकी गहराई भी कम होती है। बहुत कम शीतल प्रतिचक्रवात 3000 मीटर से अधिक ऊँचे होते हैं, क्योंकि अधिक ऊँचाई पर कम दाब विकसित होने लगता है। **हारविज** तथा **नोबुल** महोदयों ने संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा की सीमा के पास धरातलीय प्रतिचक्रवात के ऊपर उच्च वायुमण्डलीय निम्न दाब केन्द्र का पर्यवेक्षण किया है, परन्तु यह सदैव नहीं होता है। शीतल प्रतिचक्रवातों को दो उप प्रकारों में रखा जा सकता है : (1) **अस्थायी या क्षणिक प्रतिचक्रवात**, इनमें से अधिकांश मार्ग में ही विलीन हो जाते हैं तथा कुछ ही उष्ण प्रदेशों तक पहुँच पाते हैं, (2) **अर्द्ध स्थायी प्रतिचक्रवात**: इनका मार्ग लम्बा होता है तथा ये अधिक सक्रिय होते हैं। शीतल प्रतिचक्रवातों की उत्पत्ति तापीय होती है, क्योंकि इनका उच्च दाब वायु के उतरने के कारण न होकर तापीय कारणों से होता है। आर्कटिक क्षेत्रों में शीतकाल में विकिरण द्वारा अत्यधिक ताप ह्रास होने तथा कम सूर्यातप मिलने के कारण उच्च दाब बन जाता है तथा प्रतिचक्रवात उत्पन्न हो जाते हैं। शीतल प्रतिचक्रवातों के दो मार्ग होते हैं: (1) कनाडा के उत्तर में उत्पन्न प्रतिचक्रवात कनाडा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका को प्रभावित करते हैं। इनकी दिशा पू० तथा द० पू० होती है। (2) साइबेरिया के उत्तर में उत्पन्न प्रतिचक्रवात चीन, जापान तथा अलास्का की ओर अग्रसर होते हैं। उ० प० यूरोप में आने वाले प्रतिचक्रवात शीतोष्ण चक्रवातों के साथ उत्पन्न होते हैं (इनके पृष्ठ भाग में)। ये शीतल प्रतिचक्रवात जैसे ही दक्षिण की ओर चलकर उष्ण कटिबन्ध में प्रवेश करते हैं, अधिक ताप के कारण नष्ट हो जाते हैं।

(2) गर्म प्रतिचक्रवात : इन प्रति चक्रवातों की उत्पत्ति उपोष्ण उच्च वायुदाब की पेटी में होती है। यहाँ पर हवाओं का अपसरण (divergence) होता है। इस तरह गर्म प्रतिचक्रवातों की उत्पत्ति गतिक या यांत्रिक होती है। आकार में ये विशालकाय होते हैं। ये कम सक्रिय होते हैं तथा अपने उत्पत्ति स्थान से बाहर निकलने का कम प्रयास करते हैं। इनकी आगे बढ़ने की गति इतनी मंद होती है कि कभी-कभी हफ्ते तक एक स्थान पर स्थित रहते हैं। इनमें हवा मन्द होती है, आकाश मेघरहित होते हैं तथा मौसम साफ रहता है। ये प्रतिचक्रवात दक्षिणी-पूर्वी संयुक्त राज्य तथा पश्चिमी यूरोप को अधिक प्रभावित करते हैं।

(3) अवरोधी प्रतिचक्रवात (blocking anti-cyclone): हाल ही में कुछ जलवायुवेत्ताओं ने नवीन प्रकार के प्रतिचक्रवातों की खोज की है, जिनका आविर्भाव क्षोभमण्डल (troposphere) के ऊपरी भाग में वायुसंचार में रुकावट या अवरोध के कारण होता है। इसी कारण से इन्हें 'अवरोधी प्रतिचक्रवात' कहते हैं। वायु प्रणाली, वायुदाब तथा मौसम सम्बन्धी विशेषताओं में ये गर्म प्रतिचक्रवातों से मिलते-जुलते हैं, परन्तु आकार में छोटे होते हैं तथा मन्द गति से चलते हैं। इनके उत्पत्ति क्षेत्र उ० प० यूरोप तथा समीपी अटलांटिक महासागर का भाग (जो कि 0° से 30° प० देशान्तर के बीच है) तथा 140° - 170° प० देशान्तर के मध्य उत्तरी प्रशान्त महासागर के पश्चिमी भाग हैं। अब तक इनके विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकी है।

38.5 उष्णकटिबन्धी चक्रवात

(Tropical Cyclones)

अयनवर्ती क्षेत्रों (30^0 उ०-30^0 द० अक्षांश) में उत्पन्न चक्रवातों को उष्ण कटिबन्धी चक्रवात कहते हैं। ये निम्न वायुदाब वाले अभिसरणीय परिसंचरण तंत्र होते हैं जिनकी औसत व्यास 640 किमी० तक होती है। वायु संचरण की दिशा उत्तरी गोलार्द्ध में घड़ी की सुइयों के प्रतिकूल तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में अनुकूल दिशा में होती है। उष्णकटिबन्धी चक्रवात इतने शक्तिशाली होते हैं कि एक प्रचण्ड चक्रवात में

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापान के नागासाकी पर गिराये गये परमाणु बम के समान 10,000 परमाणु बमों के बराबर ऊर्जा होती है। इसी कारण से उष्णकटिबन्धी चक्रवात अत्यधिक शक्तिशाली, विनाशकारी, खतरनाक तथा घातक वायुमण्डलीय तूफान होते हैं। विश्व के विभिन्न भागों में उष्णकटिबन्धी चक्रवातों को अलग-अलग नामों से जाना जाता है, उदाहरण के लिए, उत्तरी अटलाण्टिक महासागर खासकर कैरेबियन सागर में, तथा द० पू० संयुक्त राज्य अमेरिका में इन्हें हरिकेन, उत्तरी प्रशान्त महासागर खासकर चीन सागर, चीन के पूर्वी एवं दक्षिणी तटीय प्रदेशों, फिलीपाइन्स तथा द० पू० एशिया में टाइफून, बांग्लादेश तथा भारत के पूर्वी तटीय प्रदेशों में **चक्रवात**, और आस्ट्रेलिया में **विली विली** कहते हैं।

उष्ण कटिबन्धी चक्रवात अपने अत्यधिक पवन वेग (180 से 400 किमी० प्रति घण्टा), उच्च ज्वारीय तरंगों (high tidal surges), उच्च वर्षा गहनता (high rainfall intensity, फिलीपाइन्स में अब तक विश्व की अधिकतम वर्षा की गहनता, 2000 मिलीमीटर प्रतिदिन से अधिक, का मापन एवं अभिलेखन किया जा चुका है), अत्यन्त न्यून वायुमण्डलीय वायुदाब तथा उसके द्वारा सागर तल में अस्वाभाविक उभार, तथा एक ही क्षेत्र में कई दिनों तक स्थिर रहने के कारण अत्यधिक विनाशकारी वायुमण्डलीय प्रकोप तथा आपदा (hazards and disasters) हो जाते हैं। उच्च वेग वाली वायु, मूसलाधार वृष्टि, उच्च ज्वारीय तरंगों तथा उनके स्थलीय तटीय भागों में प्रवेश का संचयी प्रभाव इतना अधिक होता है कि इस तरह के वायुमण्डलीय जलप्रलय तटवर्ती प्रदेशों में तबाही का ताण्डव नृत्य करने लगते हैं तथा अपार धन-जन की हानि हो जाती है। अत्यधिक न्यून वायुदाब एवं तीव्र वेग वाली वायु के कारण जनित सागरीय सतह में अस्वाभाविक उभार को **तूफान महालहर** (storm surge) या **ज्वारीय महालहर** (tidal surge) कहते हैं। जब ये तूफान महालहरें दीर्घ ज्वारीय लहरों के साथ आती हैं तो और अधिक ऊँची होकर विकराल रूप धारण कर लेती हैं तथा तटीय भगों में प्रविष्ट होकर जलप्लावन कर देती हैं।

1. उष्ण कटिबन्धी चक्रवातों की विशेषतायें

कर्क तथा मकर रेखाओं के मध्य उत्पन्न चक्रवातों को 'उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात' के नाम से जाना जाता है। शीतोष्ण चक्रवातों की तरह इन चक्रवातों में समरूपता नहीं होती है। इन चक्रवातों के कई रूप होते हैं, जिनकी गति, आकार तथा मौसम सम्बन्धी तत्वों में पर्याप्त अन्तर होते हैं। निम्न अक्षांशों के मौसम खासकर वर्षा पर, उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों का पर्याप्त प्रभाव होता है। इन चक्रवातों का वर्तमान समय तक व्यवस्थित अध्ययन नहीं किया जा सका है। इनके विषय में जो कुछ विवरण उपलब्ध भी हैं, उनमें स्पष्टता का अभाव है। इसके होते हुए भी इन चक्रवातों में कुछ ऐसे विशेषताएँ अवश्य हैं, जिनके सहारे इनको पहचाना जा सकता है।

1. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के आकार में पर्याप्त अन्तर होता है। सामान्य रूप से इनकी व्यास 80 से 300 किमी० तक होती है। परन्तु कभी-कभी ये इतने छोटे होते हैं कि व्यास 50 किमी० से भी कम होती है।

2. ये विभिन्न गति (साधारण से प्रचण्ड) से आगे बढ़ते हैं। क्षीण चक्रवात 32 किमी० प्रति घण्टे की चाल से भ्रमण करते हैं, जबकि हरिकेन 120 किमी० प्रति घण्टे से भी अधिक तेज चलते हैं। सुपर चक्रवात 200 किमी० प्रति घण्टे से भी अधिक रफ्तार से चलते हैं।

3. ये चक्रवात सागरों के ऊपर तेज चलते हैं, परन्तु स्थलों पर पहुँचते-पहुँचते क्षीण हो जाते हैं तथा आन्तरिक भागों में पहुँचने के पहले ही समाप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि ये महाद्वीपों के केवल तटीय भागों को ही अधिक प्रभावित कर पाते हैं।

4. चक्रवात के केन्द्र में वायुदाब बहुत कम होता है, कभी-कभी तो यह 650 मिलीबार से भी कम हो जाता है। समदाब रेखाएँ वृत्ताकार होती हैं, परन्तु इनकी संख्या कम होती है। यही कारण है कि ये मानचित्र पर आसानी से परिलक्षित नहीं हो पाती हैं। हरिकेन में केन्द्र से बाहर की ओर वायुदाब तीव्रता से बढ़ता है, जिस कारण हवाएँ तेजी से केन्द्र की ओर झपटती हैं, और तूफानी गति धारण कर लेती हैं।

5. शीतोष्ण चक्रवातों की तरह इनमें तापमान सम्बन्धी विभिन्नता नहीं होती है, क्योंकि उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों में विभिन्न वाताग्र (fronts) नहीं होते हैं।

6. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात के प्रत्येक भाग में वर्षा होती है। वर्षा की विभिन्न कोशिकाएं नहीं होती हैं।

7. ये सदैव गतिशील नहीं होते हैं। कभी-कभी एक ही स्थान पर कई दिन तक स्थायी हो जाते हैं तथा तीव्र वर्षा प्रदान करते हैं।

8. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों का भ्रमण पथ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विभिन्न होता है। साधारण तौर पर ये व्यापारिक हवाओं के साथ पूर्व से पश्चिम दिशा में अग्रसर होते हैं (चित्र 12.9)। भूमध्य रेखा से 15^0 अक्षांशों तक भ्रमण दिशा पश्चिमी, 15^0 से 30^0 तक ध्रुवों की ओर तथा उसके आगे पुन: पश्चिमी हो जाती है, परन्तु ये चक्रवात उपोष्ण कटिबन्ध में प्रविष्ट होते ही समाप्त होने लगते हैं।

9. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात वर्ष के निश्चित समय में ही आते हैं। खासकर इनका समय ग्रीष्मकाल होता है। शीतकाल में ये दिखाई नहीं पड़ते हैं। शीतोष्ण चक्रवातों की तुलना में इनकी संख्या तथा प्रभावित क्षेत्र कम होते हैं।

10. अपनी प्रचण्ड गति तथा तूफानी स्वभाव के कारण ये चक्रवात अत्यन्त विनाशकारी होते हैं। एक स्थान पर कई दिनों

तक स्थायी होकर इतनी भीषण वर्षा प्रदान करते हैं कि भयंकर बाढ़ें आ जाती हैं। तटीय भागों में अपार क्षति होती है। सन् 1970 में बांगलादेश में टाइफून के कारण लाखों में नरसंहार हुआ तथा लाखों लोग बेघरबार हो गये।

2. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के प्रकार

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के मौसम, आकार तथा सामान्य स्वभाव में अन्तर इतना अधिक होता है कि उनको कुछ निर्दिष्ट प्रकारों में विभाजित करना दुष्कर हो जाता है। तीव्रता के आधार पर संयुक्त राज्य अमेरिका में इनको चार भागों में विभक्त किया गया है:

1. उष्ण कटिबन्धीय विक्षोभ (tropical disturbance)
2. उष्ण कटिबन्धीय अवदाब (tropical depressions)
3. उष्ण कटिबन्धीय तूफान (tropical storms)
4. हरिकेन या टाइफून (hurricane or typhoon)

सामान्य रूप से उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों को तीव्रता के आधार पर दो प्रमुख तथा चार उप-प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है :

1. कमजोर चक्रवात (weak cyclone)
- (i) उष्ण कटिबन्धीय विक्षोभ
- (ii) उष्ण कटिबन्धीय अवदाब

2. प्रचण्ड चक्रवात (strong cyclone)
- (i) हरिकेन या टाइफून
- (ii) टारनैडो

1. उष्ण कटिबन्धीय विक्षोभ (tropical disturbance) : इन चक्रवातों में एक या दो घिरी समदाब रेखाएं रहती हैं। हवाएं क्षीण गति से केन्द्र की ओर प्रवाहित होती हैं तथा यह चक्रवात मन्द गति से आगे बढ़ता है, परन्तु उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों में सर्वाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता है एवं उष्ण, उपोष्ण, दोनों कटिबन्धों को प्रभावित करता है। इनकी गति इतनी मन्द होती है कि कभी-कभी एक ही स्थान पर कई दिन तक टिके रहते हैं। इसी श्रेणी में पूर्वी तरंग को भी सम्मिलित किया जाता है। ये तरंगें पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर चलती हैं, जिससे कहीं-कहीं पर हल्की वर्षा हो जाती है।

2. उष्ण कटिबन्धीय अवदाब (tropical depression) : एक से अधिक समदाब रेखाओं वाले छोटे आकार के उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात को 'अवदाब' कहते हैं। इनके अन्दर हवाएँ 40-50 किमी० प्रति घण्टे की चाल से प्रवाहित होती हैं। इनकी दिशा तथा गति अनियमित होती है। कभी-कभी एक ही स्थान पर कई दिन तक स्थिर रहते हैं। इनका आविर्भाव अन्तरा उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण (Inter-tropical convergence-ITC) के साथ होता है, न कि व्यापारिक पवनों के साथ। ये चक्रवात मुख्य रूप से भारत तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया को गर्मियों में प्रभावित करते हैं। बंगाल की खाड़ी के उत्तरी भाग में उत्पन्न ये चक्रवात देश के भीतर उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिम दिशा में अग्रसर होते हैं। उत्तरी आस्ट्रेलिया में इनकी गति पश्चिमी होती है। इन चक्रवातों से प्रभावित क्षेत्रों में भारी वर्षा होती है, जिससे भयंकर बाढ़ें आ जाती हैं। जापान तथा चीन के दक्षिणी भागों को भी ये चक्रवात प्रभावित करते हैं।

3. उष्ण कटिबन्धी तूफान (tropical storms): उष्ण कटिबन्धी तूफान न्यून वायुदाब के केन्द्र होते हैं तथा समदाब रेखाओं से घिरे होते हैं। बाहर से हवायें केन्द्र की ओर 40 से 120 किमी० प्रति घण्टा की गति से प्रवाहित होती हैं। ये अरब सागर एवं बंगाल की खाड़ी में गर्मियों में विकसित होते हैं। उष्णकटिबन्धी तूफान कैरेबियन सागर तथा फिलीपाइन्स के आस-पास भी उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी ये इतने प्रचण्ड एवं विनाशकारी हो जाते हैं कि बांगलादेश के निचले भागों, पश्चिमी बंगाल के डेल्टाई प्रदेश, तथा आन्ध्र प्रदेश एवं उड़ीसा के तटीय भागों में मूसलाधार वर्षा द्वारा जलप्लावन करके भारी तबाही मचा देते हैं। ऐसी स्थिति में ये तूफानी चक्रवात विनाशी वायुमण्डलीय प्रकोप एवं आपदा हो जाते हैं।

4. हरिकेन या टाइफून : कई घिरी समदाब रेखाओं वाले विस्तृत उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात को 'हरिकेन' (संयुक्त राज्य अमेरिका) या 'टाइफून' (चीन) कहते हैं। हरिकेन प्रति घण्टे में 120 किमी० की गति से चलते हैं। यद्यपि हरिकेन अत्यधिक विशालकाय तथा प्रचण्ड होते हैं, परन्तु इनका जलवायु सम्बन्धी महत्व नगण्य होता है, क्योंकि इनकी संख्या बहुत कम होती है तथा यदा-कदा आते हैं। इतना ही नहीं, अयन रेखाओं के मध्य केवल कुछ खास भागों में ही उत्पन्न होते हैं। देखने में शीतोष्ण चक्रवात तथा हरिकेन प्राय: एक से लगते हैं (वायु प्रणाली, आकार तथा वर्षा के सम्बन्ध में), परन्तु इनमें कुछ ऐसे अन्तर अवश्य होते हैं कि उन्हें एक-दूसरे से अलग किया जा सके : (1) हरिकेन की समदाब रेखाएं अधिक सुडौल तथा वृत्ताकार होती हैं। केन्द्र से बाहर की ओर वायुदाब तेजी से बढ़ता है, जिस कारण दाब प्रवणता अधिक होती है। इसी कारण से हरिकेन प्रचण्ड गति से आगे बढ़ते हैं। (2) हरिकेन में वर्षा मूसलाधार होती है तथा उसका वितरण सर्वत्र समान होता है जबकि शीतोष्ण चक्रवातों में वर्षा केवल उष्ण तथा शीत वाताग्रों में ही होती है, उष्ण तथा शीत वृत्तांश वर्षारहित होते हैं। (3) तापमान सम्बन्धी अन्तर हरिकेन में नहीं होता है तथा शीतोष्ण चक्रवात के समान विभिन्न वाताग्र नहीं होते हैं। हरिकेन में विपरीत स्वभाव वाली वायुराशियाँ नहीं होती हैं। (4) हरिकेन में वायु दिशा में परिवर्तन नहीं होता है। बाहर से केन्द्र की ओर हवाएं चलती हैं तथा केन्द्र से ऊपर उठती हैं। (5) हरिकेन के साथ प्रतिचक्रवात नहीं होते हैं। (6) हरिकेन की दिशा शीतोष्ण चक्रवातों के विपरीत पूर्व से पश्चिम होती है।

हरिकेन की अन्य विशेषाएँ : हरिकेन के आकार में पर्याप्त अन्तर होता है। इसकी व्यास 160 से 640 किमी० तक हो सकती है। भूमध्य रेखा के पास उत्पन्न हरिकेन का आकार छोटा होता है तथा उससे दूर जाने पर आकार बढ़ता जाता है। केन्द्र का दाब 900 से 950 mb होता है। सम्भवत: चक्रवातों में यह न्यूनतम दाब होता हैं। केन्द्र तथा परिधि की समदाब रेखाओं के मान में 10 से 55 mb का अन्तर होने से दाब प्रवणता (pressure gradient) अधिक हो जाती है, जिस कारण परिधि से हवाएं केन्द्र की ओर तेजी से झपटती हैं। हरिकेन के केन्द्र में 6 से 48 किमी० का ऐसा क्षेत्र होता है जहाँ पर हवाएँ शान्त होती हैं तथा वर्षा नहीं होती है। इसे हरिकेन का **'चक्षु'** (eye of the storm) कहते हैं। हरिकेन के साथ सागरों में तरंगें उठती हैं जिन्हें **हरिकेन लहर** (hurricane waves) कहते हैं। इनकी ऊँचाई 3 से 6 मीटर तक होती है। इन तरंगों से सागर का जल तटीय भागों में अन्दर तक प्रविष्ट हो जाता है जिससे मानव आवास तथा फसलों को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ती है। हरिकेन के प्रभाव से सागर तल में सामयिक परिवर्तन के कारण ज्वार आ जाते हैं। सागर तल से हरिकेन की ऊँचाई 12,000 मीटर तक होती है। इनका जीवन काल एक सप्ताह तक हो सकता है।

3. उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति के विषय में एक मत नहीं है। **वाताग्र सिद्धान्त** (frontal theory) के समर्थकों के अनुसार सभी प्रकार के चक्रवातों की उत्पत्ति वाताग्र के कारण होती है। भूमध्यरेखीय भागों में दो विपरीत भौतिक गुणों वाली वायुराशियों के अभाव में भी वाताग्र का निर्माण स्थलीय तथा सागरीय हवाओं के मिलने के कारण हो जाता है। प्रारम्भ में विभिन्न वाताग्र होते हैं, परन्तु आगे चलकर ये वाताग्र विलीन हो जाते हैं। इस मत को मान्यता प्राप्त नहीं हैं, क्योंकि उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों का सम्बन्ध वाताग्र से कदापि नहीं होता है। उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति को समझने के लिए निम्न तथ्यों को ध्यान में रखना होगा : (1) ये ग्रीष्मकाल में उत्पन्न होते हैं, जबकि तापमान 27^{0}C से अधिक होता है। (2) इनका विकास केवल गर्म सागरों के ऊपर होता है। (3) भूमध्य रेखा पर ये नहीं पाये जाते हैं। गर्मियों में इनकी उत्पत्ति अन्तरा-उष्णकटिबन्धीय अभिसरण (ITC) के साथ होती है, जबकि यह खिसककर 5^0 से 30^0 उत्तरी अक्षांश तक चली जाती है। भूमध्यरेखा पर कोरिआलिस बल की अनुपस्थिति के कारण ही यहाँ चक्रवात उत्पन्न नहीं हो पाते हैं। भूमध्यरेखा के उत्तर कोरिआलिस बल तथा पृथ्वी की अक्षीय गति के कारण हवाओं की व्यवस्था चक्रीय हो जाती है।

उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति तथा विकास के लिए निम्न अनुकूल दशाओं का होना आवश्यक होता है :

- गर्म एवं आर्द्र वायु की लगातार आपूर्ति होती रहनी चाहिए। ज्ञातव्य है कि उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों का गर्मियों में उस समय निर्माण होता है जब सागरीय सतह का तापमान 27^{0}C होता है।
- इन चक्रवातों की उत्पत्ति के लिए उच्च मान वाले कोरिआलिस बल का होना आवश्यक होता है। यही कारण है कि भूमध्यरेखा के दोनों ओर 5^0 से 8^0 अक्षांशों तक वाले क्षेत्रों में न्यूनतम कोरिआलिस बल के कारण उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों का प्राय: अभाव रहता है। इससे यह साफ प्रकट होता है कि कोरिआलिस बल के कारण हवाओं की दिशा में विक्षेप (deflection) होने से ही चक्राकार चक्रवातीय परिसंचरण सिस्टम का उद्भव होता है। अधिकांश उष्णकटिबन्धी चक्रवात 5^0-30^0 अक्षांशों की चौड़ी पट्टी में महासागरों के पश्चिमी भागों में उत्पन्न होते हैं।
- उष्णकटिबन्धी चक्रवात अन्तरा-उष्णकटिबन्धी अभिसरण (ITC=Inter-Tropical Convergence) से सम्बन्धित होते हैं। इस अभिसरण मेखला का 5^0 से 30^0 उ० अक्षांशों के बीच विस्तार रहता है। यह स्थिति उत्तरी गोलार्द्ध के ग्रीष्मकाल में रहती है। सूर्य की दक्षिणायन स्थिति में ITC का दक्षिण की ओर स्थानान्तरण हो जाता है। यही कारण है कि उत्तरी गोलार्द्ध की शीत ऋतु में उष्णकटिबन्धी चक्रवात प्राय: अनुपस्थित रहते हैं।
- उष्णकटिबन्धी चक्रवातों के पहले कमजोर उष्णकटिन्धी विक्षोभों की स्थिति होने से ये विक्षोभ तीव्र होते जाते हैं, और अन्तत: एक प्रचण्ड तूफानी चक्रवात में बदल जाते हैं।
- धरातलीय चक्रवातों के ऊपर 9000 से 15000 मीटर की ऊँचाई पर प्रतिचक्रवातीय परिसंचरण होना चाहिए। ज्ञातव्य है कि ऊपर स्थित प्रतिचक्रवातीय परिसंचरण के कारण धरातलीय सतह की हवायें ऊपर खिंचती हैं जिस कारण धरातलीय सतह वाला न्यून वायुदाब केन्द्र और अधिक तीव्र हो जाता है।
- उष्णकटिबन्धी चक्रवात अन्तराउष्णकटिन्धी अभिसरण मण्डल में छोटे-छोटे वायुमण्डलीय भंवरों (vortices) के आस-पास उत्पन्न होते हैं।

सारांश में सभी प्रकार के उष्ण कटिबन्धी चक्रवातों की उत्पत्ति के लिए निम्न दशायें आवश्यक होती हैं : (1) गर्म एवं आर्द्र वायु की लगातार आपूर्ति, (2) सेन्सिबुल तथा संघनन की गुप्त ऊष्मा का उपयुक्त स्रोत, (3) वायु में उपरिमुखी संचलन, तथा हवाओं का अभिसरण (convergence), (4) शक्तिशाली ट्रिगर क्रियाविधि जो चक्रवात को सक्रिय (activate) कर सके, यह कार्य ऊपरी क्षोभमण्डल में निम्न वायुदाब

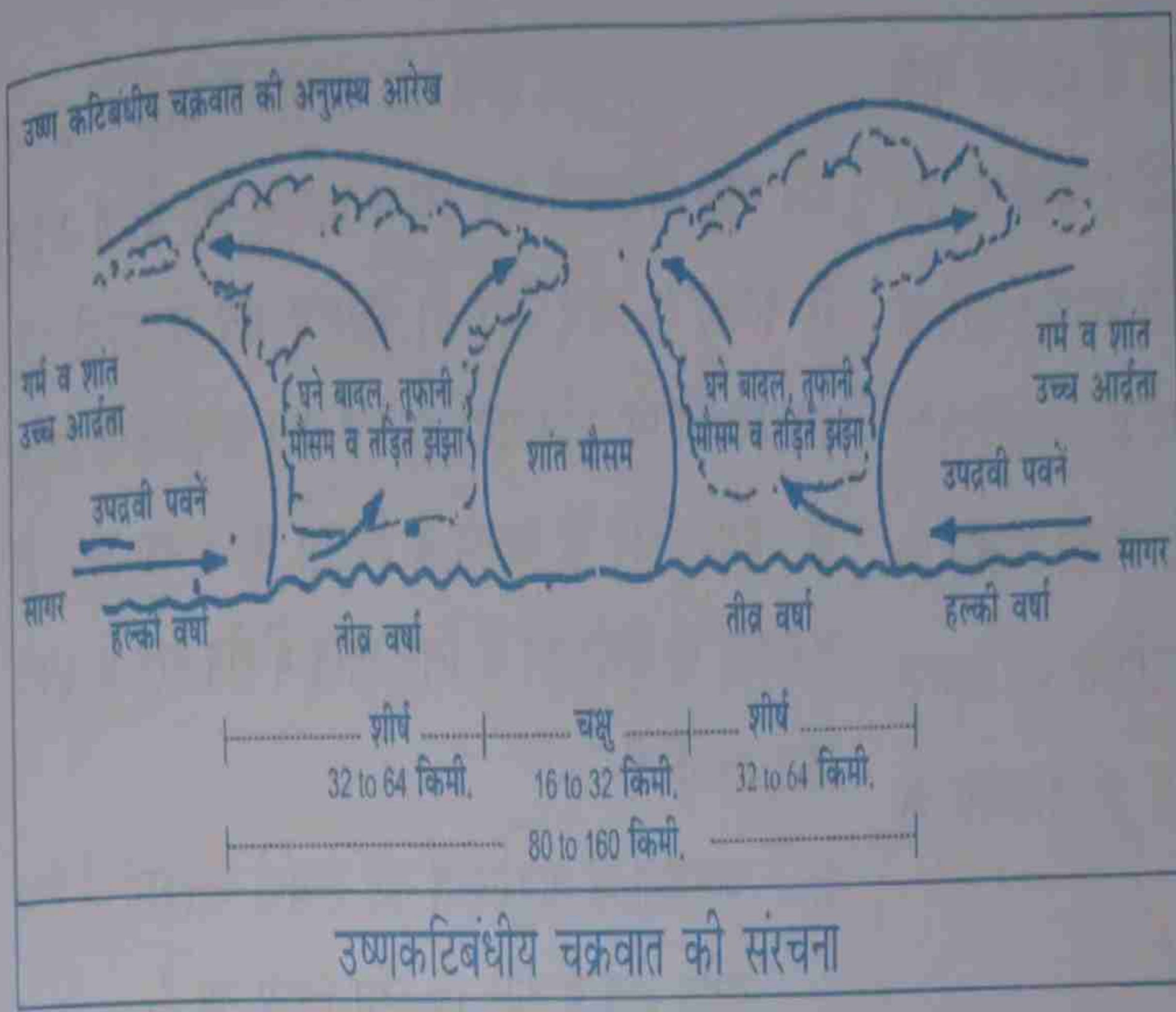

उष्णकटिबंधीय चक्रवात की संरचना

सिस्टम के प्रवेश द्वारा सम्पन्न होता है, (5) 60-70 मीटर की गहराई तक सागरीय जल का कम से कम 27°C तापमान, (6) निम्न ऊँचाई पर पूर्वस्थित विक्षोभों (pre-existing disturbances) की उपस्थिति, (7) कोरिआलिस बल का उच्च मान (value), (8) ऊपरी क्षोभमण्डल में अपसारी परिसंचरण (divergent circulation), (9) अन्तरा-उष्ण कटिबन्धी अभिसरण (ITC) मण्डल में छोटे-छोटे वायुमण्डलीय भंवर का अस्तित्व आदि।

4. उष्ण कटिबन्धी चक्रवातों से सम्बन्धित मौसम

उष्णकटिबन्धी चक्रवातों के आगमन के पहले वायु मन्द पड़ जाती है, परन्तु शीघ्र ही तापमान बढ़ने लगता है, वायु दाब घटने लगता है तथा वायु का वेग बढ़ने लगता है। आकाश पर पक्षाभ मेघ (cirrus clouds) दिखने लगते हैं। सागर में ऊँची तरंगें उठने लगती हैं। जैसे ही चक्रवात नजदीक आ जाता है हवाएं तूफान का रूप धारण कर लेती हैं, आकाश में काले कपासी वर्षा (cumulo nimbus) मेघ छा जाते हैं तथा भीषण मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। वर्षा का सामान्य औसत 10-25 सेंमी० होता है। परन्तु इसके मार्ग में अवरोध आ जाने के कारण 75-100 सेंमी० तक वर्षा हो जाती है। आकाश पूर्णतया मेघाच्छन्न हो जाता है, जिस कारण दृश्यता समाप्त हो जाती है। यह स्थिति कुछ घंटे तक रहती है। इसके बाद अचानक वायु शान्त पड़ जाती है। आकाश मेघरहित तथा साफ हो जाता है। वर्षा रुक जाती है। यह लक्षण चक्रवात के 'चक्षु' (केन्द्र) का परिचायक होता है। वायुदाब न्यूनतम होता है। यह अवस्था लगभग आधे घण्टे तक रहती है। इसके बाद चक्रवात का पृष्ठ भाग आ जाता है। घनघोर वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। यह दशा लम्बे समय तक बनी रहती है। जैसे-जैसे चक्रवात आगे बढ़ता जाता है, वायुदाब बढ़ता जाता है, वायु वेग मन्द पड़ने लगता है तथा बादलों का आवरण हल्का होते जाने से वर्षा क्षीण हो जाती है। चक्रवात के आगे निकल जाने पर आकाश से बादल छंट जाते हैं तथा मौसम साफ हो जाता है।

5. उष्णकटिबन्धी चक्रवातों का वितरण

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात मुख्य रूप से 5^0-15^0 अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में सागरों के ऊपर पाये जाते हैं तथा महाद्वीपों के तटीय भागों को प्रभावित करने के बाद समाप्त हो जाती हैं। उष्ण कटिबन्धीय भागों में कहीं न कहीं उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों का कोई न कोई रूप अवश्य देखने को मिलता है, परन्तु हरिकेन दक्षिण अटलांटिक महासागर, दक्षिणी पूर्वी प्रशान्त महासागर तथा भूमध्यरेखा के दोनों ओर 5^0 अक्षांशों के मध्य बिल्कुल नहीं देखे जाते हैं। उष्ण कटिबन्धीय भागों में चक्रवातों के 6 प्रमुख प्रदेश पाये जाते हैं : (1) पश्चिमी द्वीप समूह, मेक्सिको की खाड़ी तथा कैरेबियन सागर, (2) पश्चिमी उत्तरी प्रशान्त महासागर-फिलीपाइन्स द्वीपमाला, चीन सागर, पूर्वी चीन, जापान द्वीपमाला, (3) अरब सागर एवं बंगाल की खाड़ी, (4) दक्षिणी हिन्दमहासागर (मैडागास्कर के आसपास), (5) पश्चिमी दक्षिणी प्रशान्त महासागर, तथा (6) आस्ट्रेलिया का उत्तरी तटीय भाग।

(1) उत्तरी अटलांटिक महासागर : उत्तरी अटलांटिक महासागर के दक्षिणी तथा द० प० भाग में 30^0 उत्तरी अक्षांश तक प्रतिवर्ष 7 चक्रवात आते हैं, जिनमें आधे हरिकेन का रूप धारण कर लेते हैं। इनमें से (i) केप वर्डे द्वीप क्षेत्र में अगस्त तथा सितम्बर में, (ii) पश्चिम द्वीप समूह के उत्तर तथा पूर्व में फ्लोरिडा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के अटलांटिक तट के दक्षिणी भागों में जून से अक्टूबर तक, (ii) उत्तरी कैरेबियन सागर में मई से नवम्बर तक, (iv) दक्षिणी कैरेबियन सागर में जून से अक्टूबर तक, तथा (v) मेक्सिको की खाड़ी में जून से अक्टूबर तक हरिकेन आते हैं।

(2) उत्तरी प्रशान्त महासागर : मेक्सिको के पश्चिमी तट के सहारे उत्पन्न होकर ये चक्रवात उ० प० दिशा में चलकर कैलिफोर्निया के तट को प्रभावित करते हैं तथा कभी-कभी हवाई द्वीप तक भी पहुँच जाते हैं। जून से नवम्बर तक प्रतिवर्ष ये चक्रवात 5-6 की संख्या में आते हैं, जिनमें लगभग 2 हरिकेन का रूप धारण कर लेते हैं।

(3) दक्षिणी-पश्चिमी उत्तरी प्रशान्त महासागर : खासकर चीन सागर, फिलीपाइन द्वीप तथा दक्षिणी जापान के पास चक्रवात उत्पन्न होकर मई से दिसम्बर तक उक्त भागों को प्रभावित करते हैं। चीन के पूर्वी तट पर इनका विनाशकारी प्रभाव होता है। इस भाग में इन चक्रवातों को **'टाइफून'** कहते हैं। वर्ष में लगभग 21 टाइफून आते हैं।

(4) दक्षिणी प्रशान्त महासागर : आस्ट्रेलिया के पूर्व में 140^0 प० देशान्तर के पास सोसायटी द्वीप के पूर्व में उत्पन्न होकर ये चक्रवात आस्ट्रेलिया के उत्तरी-पूर्वी तट को प्रभावित करते हैं। इनका समय दिसम्बर से अप्रैल तक होता है।

(5) उत्तरी हिन्द महासागर : बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर से उत्पन्न होकर ये चक्रवात भारत को बड़े पैमाने पर प्रभावित करते हैं। बंगाल की खाड़ी में अप्रैल से दिसम्बर तक तथा अरब सागर में अप्रैल से जून एवं सितम्बर से दिसम्बर तक चक्रवात आते हैं। इन्हें **चक्रवात** या **'अवदाब'** (depressions) कहते हैं।

(6) दक्षिणी हिन्द महासागर : मैडागास्कर, रीयूनियन तथा मारीशस द्वीपों के पास चक्रवात आते हैं। इनका समय नवम्बर से अप्रैल है।

6. उष्णकटिबन्धी चक्रवातों के मार्ग (tracks)

उष्णकटिबन्धी महासागरों की गर्म सतहों पर उत्पन्न होने के बाद उष्ण कटिबन्धी चक्रवात दोनों गोलार्द्धों में 5^0-20^0 अक्षांशों की मेखला में पूर्वी व्यापारिक हवाओं के प्रभाव में पूर्व

से पश्चिम दिशा में अग्रसर होते हैं (चित्र 38.8)। महासागरों के पश्चिमी छोर पर पहुंचने के बाद तथा महाद्वीपों के पूर्वी तटवर्ती भागों से टकराकर उ० प० दिशा में मुड़ जाते हैं। इसके बाद इनकी दिशा ध्रुवों की ओर हो जाती है। भूमध्यरेखीय गर्म महासागरीय धारायें भी इन चक्रवातों को पश्चिम दिशा में चलने में सहायता करती हैं। दोनों गोलार्द्धों में 20^0-30^0

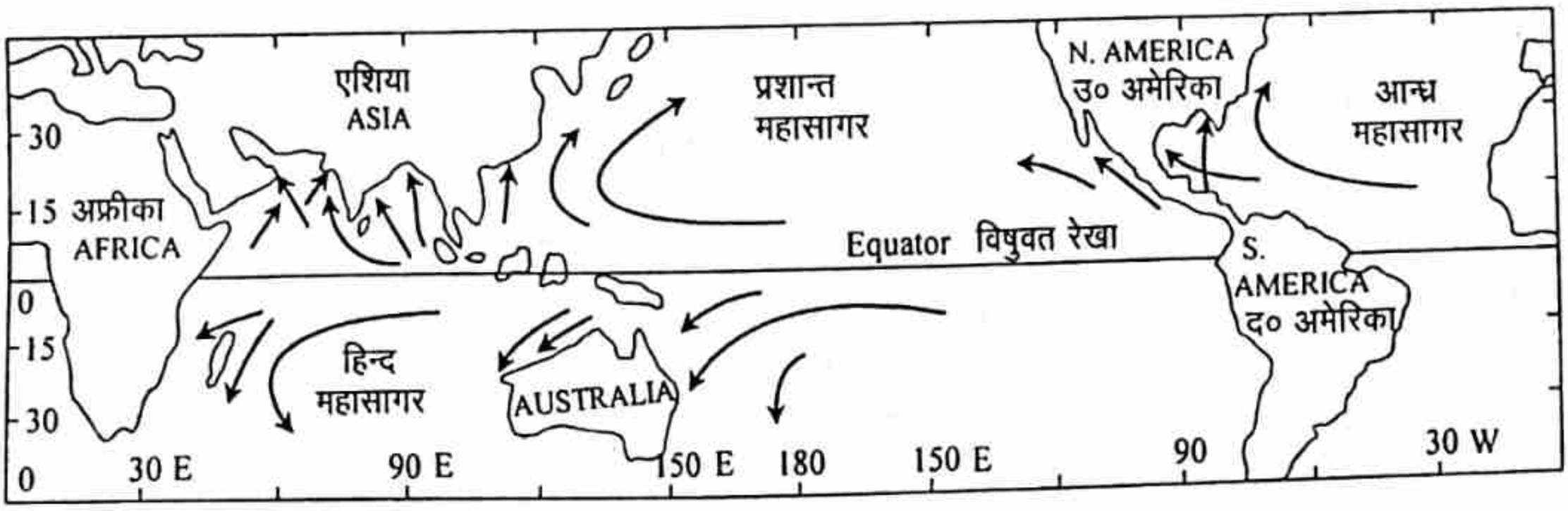

चित्र 38.8 : उष्णकटिबन्धी चक्रवातों के मार्ग (tracks)।

अक्षांशों तक पहुँचने के बाद, यदि उष्णकटिबन्धी चक्रवात अब भी समाप्त नहीं हुए, तो पछुवा हवाओं के प्रभाव में मुड़कर पूर्व दिशा की ओर चलने लगते हैं। ज्ञातव्य है कि जैसे ही उष्णकटिबन्धी चक्रवात तटवर्ती स्थलीय भागों से टकराते हैं, उनकी ऊर्जा का क्षय प्रारम्भ हो जाता है तथा वे कमजोर पड़ने लगते हैं क्योंकि इनका ऊर्जा के मुख्य स्रोत, जो कि उष्ण कटिबन्धी महासागरों की गर्म सतह है, से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। कभी-कभी उष्णकटिबन्धी चक्रवात एक ही स्थान पर अपने जीवन चक्र के दौरान कई दिनों तक स्थायी हो जाते हैं।

उल्लेखनीय है कि उष्णकटिबन्धी चक्रवातों के मार्गों में क्षेत्रीय विभिन्नता भी होती है। परन्तु सामान्य तौर पर ये पूर्वी व्यापारिक हवाओं तथा विषुवतरेखीय महासागरीय धाराओं के प्रभाव में पूर्व से पश्चिम दिशा में गतिशील होते हैं। विषुवत रेखा से 15^0 अक्षांशों (दोनों गोलार्द्धों में) तक सामान्य दिशा पूर्व से पश्चिम, 15^0-30^0 अक्षांशों के बीच (दोनों गोलार्द्धों में) ध्रुवों की ओर, तत्पश्चात् पूर्व की ओर होती है।

38.6 टारनैडो
(Tornado)

1. टारनैडो : तात्पर्य तथा विशेषतायें

टारनैडो छलनी (funnel) की आकृति वाले प्रचण्ड स्थानीय तूफान होते हैं, जिनका ऊपरी भाग छतरीनुमा होता है तथा मध्यवर्ती एवं निचला हिस्सा पाइप जैसा होता है जो धरातलीय सतह का स्पर्श करती रहती है। टारनैडो चक्रवातों की तुलना में लघुतम होते हैं परन्तु अत्यन्त विस्फोटक, भयानक तथा विनाशकारी होते हैं। टारनैडो सभी प्रकार के वायुमण्डलीय तूफानों में प्रबलतम तथा विध्वंशक होते हैं जिनसे, यदि समय से चेतावनी नहीं दी गयी तो अपार धन-जन की क्षति होती है। वास्तव में टारनैडो अत्यन्त भयावह एवं उग्र रूप से घूर्णन करती वायु के स्तम्भ होते हैं जिनका ऊपरी भाग कपासी वर्षा (cumulonimbus) बादलों द्वारा आवृत्त होता है। ये बादल छलनी की आकृति में विस्तृत होते हैं। ये कीपाकार कपासी वर्षा बादल धरातलीय सतह से वायु के पाइपनुमा पतले स्तम्भ (column) द्वारा सम्बद्ध होते हैं (चित्र 38.9)।

टारनैडो आकार (विस्तार) की दृष्टि से सभी वायुमण्डलीय तूफानों में सबसे छोटा होता है परन्तु प्रभाव के दृष्टिकोण से सबसे अधिक प्रलयकारी तथा प्रचण्ड होता है। टारनैडो मुख्यरूप से संयुक्त राज्य अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया में उत्पन्न होते हैं। इनका आकार एक कीप या छलनी (funnel) के समान होता है जिसका निचला पतला भाग धरातलीय सतह से सम्बद्ध होता है तथा ऊपरी चौड़ा भाग, कपासी वर्षा मेघ से जुड़ा होता है। टारनैडो की निम्न विशेषतायें होती हैं :

(1) टारनैडो प्रचण्ड रूप से घूर्णन करती वायु के सिस्टम होते हैं जिनमें ऊपरी वायु धरातलीय सतह की वायु को तीव्र गति से ऊपर खींचती है जिस कारण उत्थापित वायु (uplifted air) के फलस्वरूप संवहनीय अस्थिरता उत्पन्न होती है।

(2) टारनैडो के केन्द्र में अत्यन्त न्यून वायुदाब होता है। ज्ञातव्य है कि टारनैडो में वायुदाब का अब तक सही ढंग से मापन नहीं किया जा सका है क्योंकि वायु की गति इतनी अधिक तेज होती है कि वायुदाब मापी यंत्रों को ही वायु उड़ाकर नष्ट कर देती है। सन् 1904 में संयुक्त राज्य अमेरिका के मिनिसोटा प्रान्त में एक टारनैडो में 813 मिलीबार का रेकार्ड न्यूनतम वायुदाब नापा गया था। सामान्य तौर पर टारनैडो के केन्द्र में अत्यन्त न्यून वायुदाब होता है अर्थात् वाह्य भाग के वायुदाब से 100 mb कम वायुदाब होता है। दूसरे शब्दों में,

टारनैडो के बाहरी भाग तथा केन्द्र के वायुदाब में 100 mb का अन्तर होता है।

(3) टारनैडो की छलनी की व्यास निचले भाग अर्थात् धरातलीय सतह पर 90 मीटर तथा ऊपरी भाग में 460 मीटर होती है।

(4) टारनैडो के वाह्य एवं केन्द्रीय भागों के बीच अत्यधिक तीव्र वायुदाब प्रवणता के कारण हवायें बाहरी भाग से केन्द्रीय भाग की ओर अत्यन्त तीव्र गति से झपटती हैं। वायु वेग इतना तीव्र होता है कि वह 400 से 800 किमी० प्रति घण्टा तक हो जाता है। वायु का वेग वायुदाब प्रवणता की तीव्रता पर निर्भर करता है। इस तरह केन्द्र की ओर तेजी से झपटती वायु तूफान के एक भंवर (vortex of storm) में फंस जाती है तथा तेजी से ऊपर उठा दी जाती है जिस कारण वह एडियाबेटिक दर से ठंडी होती है तथा तड़ित्झंझा (thunderstorm) का निर्माण करती है। यही कारण है कि टारनैडो सदैव प्रचण्ड तड़ित्झंझा से सम्बन्धित होते हैं।

(5) टारनैडो किसी सुनिश्चित मार्ग से निश्चित दिशा में नहीं चलते हैं। कभी-कभी तो ये किसी एक ही स्थान पर स्थायी हो जाते हैं। सामान्य तौर पर 40-60 किमी० प्रति घण्टा की दर से आगे बढ़ते हैं परन्तु स्थायी टारनैडो में उनकी गति शून्य हो जाती है। विशेष परिस्थितियों में इनकी गति 100 किमी० प्रति घण्टा से भी अधिक हो जाती है।

(6) टारनैडो बहुत संकरे मार्ग से आगे बढ़ते हैं। टारनैडो के मार्गों (tornado tracks or routes) की चौड़ाई कुछ मीटर से लेकर 2000 मीटर या उससे अधिक होती है। टारनैडो द्वारा तय किए गये मार्ग की औसत लम्बाई 40-50 किमी० तक होती है। अर्थात् एक टारनैडो औसतन 40-50 किमी० तक की यात्रा करता है। सन् 1970 में संयुक्त राज्य अमेरिका के इल्लीनोइस एवं इण्डियाना प्रान्तों में इनके द्वारा 570 किमी० की सर्वाधिक लम्बी दूरी तय की गयी थी।

(7) टारनैडो का जीवन काल/अस्तित्व काल औसतन 15-20 मिनट का होता है परन्तु कभी-कभी विशेष परिस्थितियों में कुछ घण्टों तक बने रहते हैं।

(8) टारनैडो देखने में अत्यन्त भूरे एवं काले रंग के होते हैं क्योंकि इनके साथ धूल, रेत, राख, मलवा आदि भारी मात्रा में मिले होते हैं।

(9) टारनैडो के आने के पहले आकाश में गहरे रंग के मोटे बादल छा जाते हैं। जिस कारण घुप्प अन्धेरा हो जाता है, दृश्यता न्यूनतम हो जाती है तथा वायुदाब कम हो जाता है।

(10) टारनैडो या तो अकेले चलते हैं या औसतन 7-8 के समूह में चलते हैं। टारनैडो के समूह को टारनैडो परिवार (tornado family) कहते हैं। जब किसी क्षेत्र में कई टारनैडो समूह (groups) एक के बाद एक करके क्रम से आते हैं तो ऐसी घटना को टारनैडो प्रस्फोट या टारनैडो विप्लव (tornado outbreak) कहते हैं।

2. टारनैडो की उत्पत्ति

वायुमण्डलीय तूफान विशेषज्ञ तथा जलवायु विज्ञानी अभी तक टारनैडो की उत्पत्ति एवं विकास की प्रक्रिया को भलीभांति नहीं समझ पाये हैं क्योंकि इनके आने के समय तापमान, आर्द्रता, वायुदाब एवं वायु वेग का मापन सम्भव नहीं हो पाता है, क्योंकि टारनैडो की प्रचण्डता एवं प्रबल पवन वेग के कारण मौसम के इन तत्वों की माप करने वाले उपकरण भी ऊपर उठा लिये जाते हैं तथा विनष्ट कर दिए जाते हैं। इसके होते हुए भी अधिकांश जलवायु वेत्ताओं का मानना है कि टारनैडो की उत्पत्ति का प्रमुख एवं आधारभूत कारण प्रबल संवहनीय क्रियाविधि का आविर्भाव तथा उसके अन्तर्गत गर्म एवं आर्द्र अस्थिर वायु का तेजी से ऊपर उठना है। टारनैडो के निर्माण के लिए निम्न दशाओं का होना आवश्यक है:

- धरातलीय सतह के पास वायु का प्रबल अभिसरण (convergence),
- धरातलीय सतह के ऊपर वायु का व्यापक अपसरण (divergence),
- उत्प्लावी वायुराशि (buoyant airmass) अर्थात् ऊपर उठकर टिकी रहने वाली वायुराशि,
- लम्बवत् रूप में पवन अपरूपण (wind shear), अर्थात् एक दिशा में पवन दिशा में परिवर्तन की दर,
- निचली परत में आर्द्र वायुराशि की स्थिति,
- ट्रिगर क्रियाविधि (trigger mechanism),
- अस्थिर तापीय लम्बवत् संरचना, अर्थात् ऊँचाई के साथ तापमान में तेजी से परिवर्तन,
- वायु के घूर्णन के लिए पहले से स्थापित क्रियाविधि,
- धरातलीय सतह पर चक्रवात जनन की स्थिति आदि।

कुछ विद्वानों ने टारनैडो की उत्पत्ति को वाताग्रों से भी सम्बन्धित बताया है। शीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में शीत वाताग्र के सहारे शीत ध्रुवीय वायुराशि द्वारा गर्म एवं आर्द्र उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धी वायुराशि के तेजी से बलपूर्वक ऊपर धकेलने से भी टारनैडो की उत्पत्ति की सम्भावना बनती है। कभी-कभी अत्यधिक सूर्यातप के कारण धरातलीय सतह के अत्यधिक गर्म होने के कारण प्रबल संवहनीय धारायें उत्पन्न हो जाती हैं जिस कारण टारनैडो की उत्पत्ति एवं विकास हो जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के वैज्ञानिक वी० जे० रोसाव के अनुसार दो मेघराशियों के आपसी आकर्षण के कारण भी टारनैडो की उत्पत्ति होती है। यद्यपि टारनैडो का निर्माण किसी भी समय हो सकता है परन्तु अधिकतर ये बसन्त एवं ग्रीष्मकाल में बनते हैं।

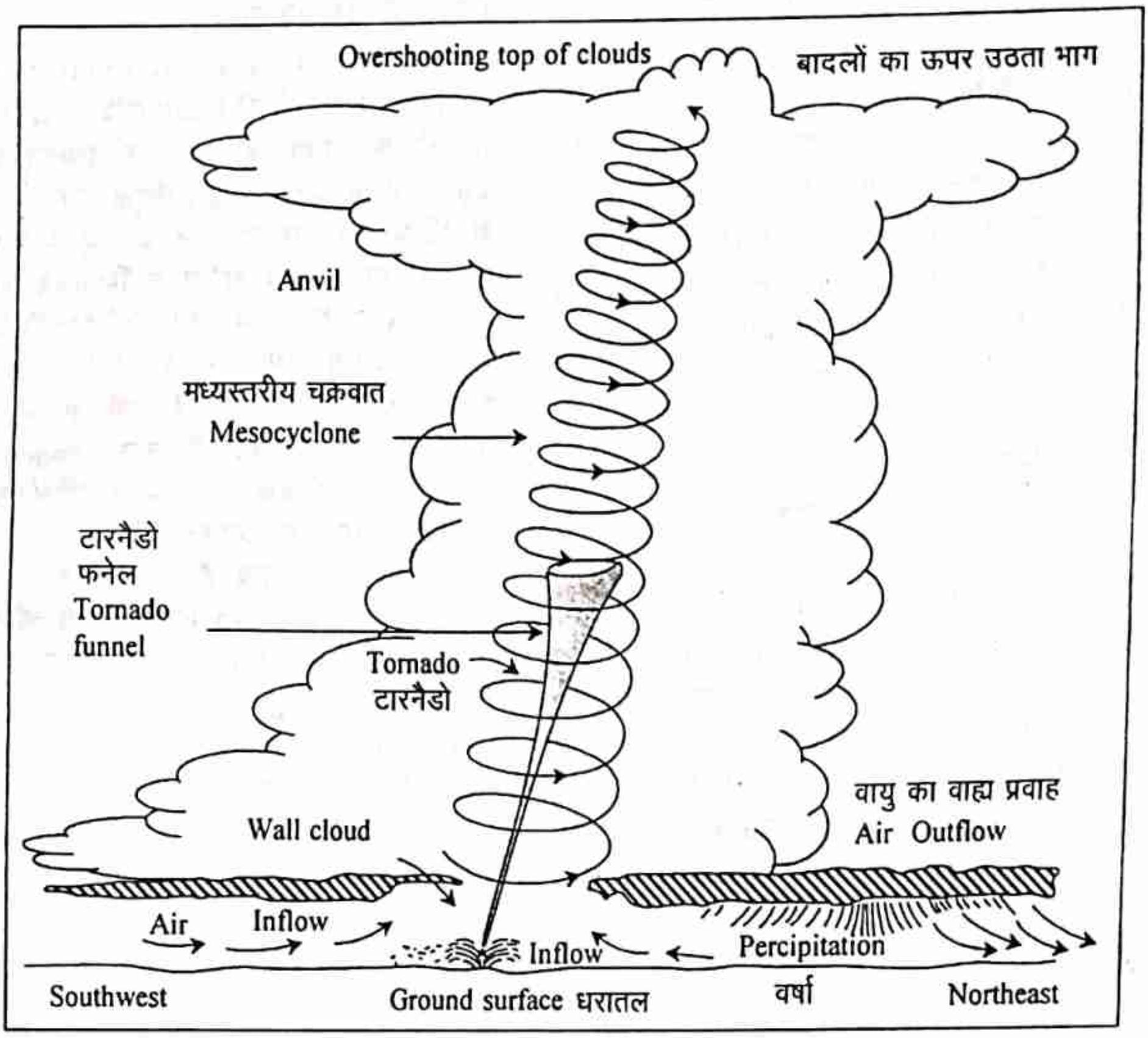

चित्र 38.9 : टारनैडो का निर्माण एवं विकास / **Source :** *A. C. Donald, 1988, modified from Oliver and Hidore, 2003.*

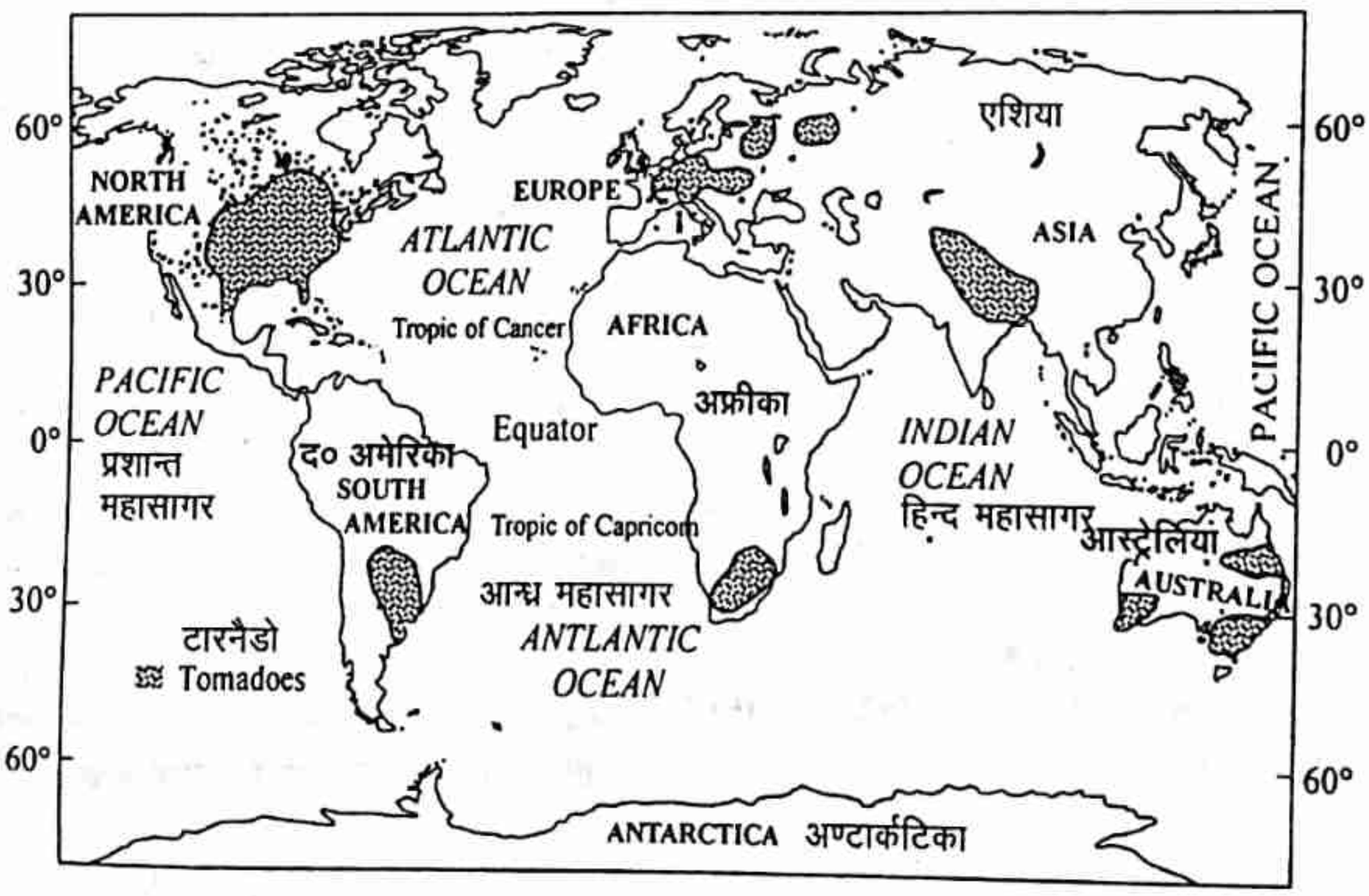

चित्र 38.10 : विश्व में टारनैडो के क्षेत्र / **Source :** *based on and modified from McKnight, 1996.*

ध्रुवीय वाताग्री क्षेत्रों में टारनैडो की उत्पत्ति उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धी गर्म एवं आर्द्र वायुराशि तथा ठंडी एवं भारी ध्रुवीय वायुराशि की जबरदस्त भिड़न्त के कारण गर्म एवं आर्द्र वायु के तेजी से ऊपर धकेले जाने के कारण होती है। विपरीत भौतिक गुणों वाली दो वायुराशियों के इस तरह की जबरदस्त टक्कर के कारण टकराव सीमा के सहारे प्रबल विक्षोभ (turbulence) उत्पन्न हो जाता है जिस कारण कई भंवर (eddies) बन जाते हैं जो शीघ्र ही घूर्णन करती वायु के शक्तिशाली विस्तृत भंवर (whirl) के रूप में विकसित हो जाते हैं। इन शक्तिशाली वायु भंवर के कारण गर्म एवं आर्द्र वायु कारखानों की चिमनियों के धुंए के समान ऊपर उठ जाती हैं। विरोधी गुणों वाली हवाओं के विस्फोटक विनिमय को सक्रिय करने के लिए ऊष्मा ट्रिगर क्रियाविधि का कार्य करती है। अर्थात् सौर्यिक ऊर्जा की ऊष्मा द्वारा धरातलीय सतह जब अचानक अत्यधिक गर्म हो जाती है तो गर्म-आर्द्र वायु ऊपर उठने के लिए बाध्य हो जाती है। वास्तव में सूर्यातप से तप्त धरातलीय सतह ऊष्मा का ऊपर की ओर विकिरण करती है। यही ऊष्मा ऊपर उठती गर्म वायु को ऊर्जा प्रदान करती है। इस स्थिति के कारण धरातलीय सतह पर अत्यधिक न्यून वायुदाब बन जाता है तथा धरातलीय सतह के ऊपर प्रबल संवहनीय क्रिया होने लगती है। धरातलीय सतह पर विकसित अत्यनत न्यून वायुदाब के कारण चारों तरफ से हवायें तेजी से न्यून वायुदाब के केन्द्र की ओर झपटती हैं। ये हवायें चक्कर काटती हुई ऊपर उठती हैं। इस तरह चक्कर काटती हवाओं का ऊपर उठता स्तम्भ बन जाता है तथा एक टारनैडो तूफान का निर्माण हो जाता है। इस तरह के प्रचण्ड वायुमण्डलीय तूफान में कई सुपर कोशिकायें होती हैं। जब ये प्रचण्ड चक्कर काटती गर्म एवं आर्द्र हवायें और अधिक ऊपर उठती हैं तो बड़े आकार वाले तड़ित्झंझा (thunderstorms) का निर्माण हो जाता है जिसमें कई सुपर कोशिकायें होती हैं। इन सुपर कोशिकाओं से मूसलाधार वृष्टि होती है तथा स्थानीय दशाओं के अनुसार कभी-कभी उपलवृष्टि (hailstorm) भी हो जाती है। ज्ञातव्य है कि टारनैडो में वायु का चक्करदार प्रवाह प्रतिरूप पवन अपरूपण (wind shear, वायु की दिशा एवं गति में बार-बार परिवर्तन) के कारण बनता है। जैसे ही एक टारनैडो का तड़ित्झंझा के रूप में विकास होता है, धरातलीय सतह के पास मैमण्टस बादलों (mamantus clouds) का निर्माण हो जाता है जबकि तड़ित्झंझा के ऊपरी भाग में छलनी के आकार (funnel shaped) के बादलों का निर्माण हो जाता है (चित्र 12.10)। कीपाकार बादल नीचे की ओर बढ़ते हैं तथा बादलों की दीवाल से टारनैडो का विस्तार एवं विकास होता है।

3. टारनैडो का वितरण

यद्यपि ध्रुवीय क्षेत्रों को छोड़कर टारनैडो का विकास विश्व के किसी भी भाग में हो सकता है परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका टारनैडो का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रजनन प्रदेश (breeding region of tornadoes) है। संयुक्त राज्य के 40° उ० अक्षांश के दक्षिण एवं राकीज पर्वत के पूर्व में स्थित वृहद् क्षेत्र में टारनैडो का विकास अप्रैल से सितम्बर तक होता है। ग्रेट प्लेन्स (वृहद् मैदान) में टारनैडो की उत्पत्ति के लिए सर्वाधिक अनुकूल दशायें पायी जाती हैं। यहां पर टारनैडो का निर्माण शीतवाताग्र के सहारे होता है। अधिकतम आवृत्ति के कारण वृहद् मैदान को **टारनैडो वीथिका** (tornado alley) कहते हैं। टारनैडो द्वारा सर्वाधिक दुष्प्रभावित राज्यों में टेक्सस, मिसीसीपी, अलाबामा, मिसौरी, ओक्लाहामा, अरकन्सास, कन्सस तथा अयोवा अधिक प्रमुख हैं। ज्ञातव्य है कि संयुक्त राज्य में तड़ित्झंझा (thunderstorms) एवं टारनैडो की घटना समकालिक (synchronous) होती है, अर्थात् ये एक ही समय में (अप्रैल से सितम्बर) दिन (photoperiod or day light) में बनते तथा विकसित होते हैं। जब कई टारनैडो समूह में विकसित होते हैं तो संयुक्त राज्य में उसे **टारनैडो परिवार** तथा उनके घटित होने को **टारनैडो विप्लव** (tornado outbreak) कहते हैं। इस तरह का एक भयानक टारनैडो विप्लव 9 फरवरी, 1884 को उत्पन्न हुआ था जब 60 टारनैडो के परिवार ने वर्जीनिया, उत्तरी कैरोलाइना, दक्षिणी कैरोलाइना, जार्जिया, अलाबामा, मिसीसीपी, टेनेसी तथा केन्टुकी प्रान्तों में 10 बजे प्रात: से 12 बजे अर्द्ध रात्रि तक तबाही मचायी थी। इस टारनैडो विप्लव के दौरान भयावह तूफानी हवाओं से भारी क्षति हुइ थी। उक्त प्रान्तों में उक्त तिथि से पहले इतना प्रचण्ड टारनैडो विप्लव कभी नहीं हुआ था। दूसरा महत्वपूर्ण टारनैडो विप्लव, जिसे **जम्बो विप्लव** के नाम से जाना जाता है, 3 अप्रैल सन् 1974 में आया था। इस विनाशकारी टारनैडो विप्लव ने संयुक्त राज्य अमेरिका के 12 केन्द्रीय प्रान्तों में प्रलय मचाया था।

यद्यपि संयुक्त राज्य में टारनैडो किसी महीने में उत्पन्न हो सकते हैं परन्तु यदि 1950 से 1997 तक टारनैडो की आवृत्ति (frequency) को देखा जाय तो स्पष्ट होता है कि इनकी सर्वाधिक आवृत्ति तीन महीनों (अप्रैल, मई तथा जून) में होती है। सामान्यतया अप्रैल, मई तथा जून में टारनैडो की औसत संख्या क्रमश: 104, 171 तथा 161 प्रतिवर्ष है। 1950 से 1997 तक 50 वर्षों में कुल 37, 760 टारनैडो की घटनायें हुईं। इस तरह संयुक्त राज्य में टारनैडो की औसत वार्षिक आवृत्ति 786 है।

संयुक्त राज्य के अलावा टारनैडो फ्रान्स, यूनाइटेड किंगडम, जर्मनी, अर्जनटीना, दक्षिणी अफ्रीका, चीन, भारत, आस्ट्रेलिया आदि में भी आते हैं। भारत में इन्हें बवण्डर कहते हैं।

प्रश्न :- जलवायु वर्गीकरण :- सामान्य, कोपेन, थोर्नथ्वेट

जलवायु का वर्गीकरण तथा जलवायु प्रदेश

(Classification of Climates and Climatic Regions)

39.1 जलवायु वर्गीकरण के उपागम
(Approaches to Climatic Classification)

विश्व जलवायु के वर्गीकरण के उपागम मुख्यतया दो बातों पर निर्भर करते हैं: (1) भूमण्डलीय स्तर पर जलवायु के तत्वों के समान संयोगों के निर्धारण के लिए चयनित मौसम एवं जलवायु के विचर (parameters), तथा (2) वर्गीकरण करने वाले व्यक्ति का उद्देश्य तथा उसका दृष्टिकोण। प्रारम्भ में वनस्पति विज्ञानियों एवं भूगोलवेत्ताओं ने औसत मासिक तथा वार्षिक तापमान एवं वर्षा (precipitation) को जलवायु के वर्गीकरण का मुख्य आधार बनाया। इस तरह का सामान्य वर्गीकरण, वनस्पति तथा तापमान-आर्द्रता के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों पर इस विचारधारा के ऊपर आधारित था कि किसी भी क्षेत्र या प्रदेश की वनस्पति वहाँ की तापमान एवं आर्द्रता की दशाओं का प्रतिफल होती है। अर्थात् किसी क्षेत्र की वनस्पति एवं वहाँ के तापमान एवं आर्द्रता सम्बन्धी दशाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस तरह जलवायु के प्रकार वनस्पति के प्रकारों पर आधारित थे तथा उनका नामकरण वनस्पति साहचर्य (vegetation associations) के आधार पर किया गया था, यथा: विषुवतरेखीय वर्षा वन जलवायु (सदाबहार वृक्ष), सवाना जलवायु (मोटी घास एवं बिखरे छोटे-छोटे पेड़ों वाला वनस्पति प्रदेश), टैगा जलवायु (उत्तरी अमेरिका एवं यूरेशिया के उपआर्कटिक प्रदेशीय कोणधारी सदाबहार वन), टुण्ड्रा जलवायु (उत्तरी अमेरिका एवं यूरेशिया का वृक्षविहीन हिमाच्छादित विस्तृत सतह वाला बंजर प्रदेश) आदि।

उल्लेखनीय है कि वर्तमान समय में भी वनस्पति प्रकारों पर जलवायु के प्रभावों को जलवायु वर्गीकरण का आधार बनाया जाता है, परन्तु इस तरह के वर्गीकरण के लिए जलवायु के प्रति वनस्पति की अनुक्रिया (vegetation response to climate) के अलावा, जलवायु के मनुष्य, अनाच्छादन के प्रक्रमों (अपक्षय एवं अपरदन के प्रक्रम), मृदा एवं मृदाजनन, कृषि फसलों की जल, तापमान एवं आर्द्रता की मांग (requirement) पर प्रभावों को भी वर्गीकरण के आधारों में सम्मिलित किया जाना चाहिए ताकि जलवायु का वर्गीकरण अधिकाधिक तार्किक एवं वैज्ञानिक हो सके। इस तरह जलवायु के वनस्पति, मृदा तथा मृदाजनन (pedogenesis), शैल अपक्षय, कृषि फसलों, मनुष्य के स्वास्थ्य, भूआकृतिक प्रक्रमों पर प्रभावों का पर्यवेक्षित सूचनाओं (observed information) तथा आंकड़ों के आधार पर निर्धारण किया जाता है। जलवायु के पर्यवेक्षित प्रभावों के आधार पर विश्व जलवायु के वर्गीकरण को **आनुभविक वर्गीकरण** (empirical classification) कहते हैं तथा इस तरह के वर्गीकरण के उपागम को **आनुभविक उपागम** (empirical approach) कहते हैं।

दूसरी तरफ, कतिपय विद्वानों ने जलवायु की विभिन्नताओं के कारणों तथा उनसे जनित विभिन्न प्रकार की जलवायु के आधार पर विश्व की जलवायु के वर्गीकरण का प्रयास किया है। इस तरह जलवायु की विभिन्नताओं के कारणों तथा उनकी व्याख्या के आधार पर किये गये जलवायु के वर्गीकरण को **जननिक वर्गीकरण** (genetic classification) कहते हैं तथा इस तरह के वर्गीकरण में अपनायी गयी विधि को **जननिक उपागम** कहते हैं। जलवायु का तीसरा वर्गीकरण **संख्यात्मक वर्गीकरण** (numerical classification) है जिसमें वायुमण्डल के विषय में राडार तथा मौसम उपग्रहों से प्राप्त आंकड़ों और उनके विश्लेषण को वर्गीकरण का आधार बनाया जाता है।

इस तरह स्पष्ट है कि विश्व जलवायु के वर्गीकरण के निम्न तीन उपागम हैं:

(1) आनुभविक उपागम (empirical approach)
(2) जननिक उपागम (genetic approach)
(3) संख्यात्मक या परिमाणात्मक उपागम (numerical or quantitative approach)

इन उपागमों के आधार पर जलवायु के वर्गीकरण के 3 प्रकार होते हैं:

(1) आनुभविक वर्गीकरण
(2) जननिक वर्गीकरण
(3) संख्यात्मक या परिमाणात्मक वर्गीकरण

39.2 कोपेन का जलवायु वर्गीकरण

जर्मन वनस्पति विज्ञानी तथा जलवायु विज्ञानवेत्ता ब्लाडीमीर कोपेन ने 1900 में विश्व की जलवायु का वर्णनात्मक वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इनके इस वर्गीकरण का आधार फ्रांसीसी विद्वान **कैण्डोल** द्वारा 1874 में प्रस्तुत विश्व का वनस्पति कटिबन्ध (vegetation zone) था। सन् 1918 में कोपेन ने अपने वर्गीकरण की योजना में संशोधन एवं परिमार्जन किया तथा औसत वार्षिक तापमान एवं औसत वार्षिक वर्षा तथा उसके ऋत्विक वितरण (seasonal distribution) के आधार पर विश्व की जलवायु का पुनरीक्षित वर्गीकरण प्रस्तुत किया। कोपेन ने अपने वर्गीकरण की योजना को पुन: 1931 तथा 1936 में संशोधित किया। सन् 1953 में **गीगर-पोही** ने कोपेन के विश्व जलवायु के वर्गीकरण की मौलिक योजना को संशोधित करके वर्गीकरण की नयी योजना को प्रकाशित कराया। आगे चलकर विश्व जलवायु का यह वर्गीकरण **गीगर-पोही वर्गीकरण** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्ञातव्य है कि कोपेन का वर्गीकरण **परिमाणात्मक** (quantitative) होने के कारण अधिक महत्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि जलवायु प्रदेशों की सीमाओं के निर्धारण में तापमान तथा वर्षा सम्बन्धी संख्यात्मक मूल्यों (numerical values) को सम्मिलित किया गया है। कोपेन ने जलवायु का नामकरण अंग्रेजी भाषा के अक्षरों, तथा जलवायु का निर्धारण फार्मूला के आधार पर किया है, जिस कारण इनका वर्गीकरण आवश्यकता से अधिक दुरूह हो गया है, क्योंकि प्रत्येक अक्षर का विशिष्ट विशद अर्थ होता है जिसे हमेशा याद रखना होता है।

कोपेन ने **कैण्डोल** द्वारा 1874 में प्रस्तावित विश्व के निम्न 5 वनस्पति मण्डलों को विश्व की जलवायु के विभाजन का आधार बनाया है तथा इन्हीं के आधार पर विश्व की जलवायु को भी प्रमुख समूहों में विभक्त किया है जिनका नामकरण A, B, C, D तथा E अक्षरों से किया गया है। कैण्डोल ने विश्व की वनस्पतियों को निम्न 5 वनस्पति मण्डलों में विभक्त किया है:

(1) **मेगाथर्मल मण्डल** के अन्तर्गत ऐसे पौधे आते हैं जो वर्ष भर उच्च तापमान तथा उच्च आर्द्रता (वर्षा) पर निर्भर करते हैं। ऐसी दशाओं वाले क्षेत्रों में शीतकाल नहीं होता है। पौधे सदाबहार (evergreen) प्रकार के होते हैं। सबसे ठंडे महीने का तापमान 18°C से अधिक रहता है। उष्णकटिबन्धी विषुवतरेखीय वर्षा वन का मेगाथर्मल वनस्पति मण्डल में आधिपत्य रहता है। यहाँ की वनस्पतियों की लम्बवत् संरचना में पाँचों स्तरों का विकास होता है।

(2) **जेरोफाइटिक (मरूद्भिदी) मण्डल** के अन्तर्गत ऐसे पौधे आते हैं जो गर्म एवं शुष्क दशाओं में पनप सकें। इस तरह के पौधों में शुष्कता को सहन करने के लिए अनुकूल विशिष्टतायें होती हैं। ऐसी दशाओं वाले क्षेत्रों में वर्षा से वाष्पीकरण अधिक होता है। जेरोफाइटिक पौधों में नमी के संरक्षण के लिए विशेष प्राकृतिक व्यवस्था होती है, यथा: लम्बी जड़ें, मोटी छाल, मोमदार पत्तियाँ, छोटे आकार की पत्तियाँ, कांटे आदि ताकि पौधों से वाष्पनवाष्पोत्सर्जन (evapotranspiration) द्वारा नमी का क्षय न हो सके।

(3) **मेसोथर्मल मण्डल** में मेसोथर्म समूह की वनस्पतियाँ होती हैं, जिनके पौधे सामान्य तापमान एवं वर्षा के साथ अनुकूलित होते हैं, सबसे सर्द महीने का तापमान 18°C से कम परन्तु -3°C से अधिक होता है, जबकि सबसे गर्म महीने का औसत तापमान 22°C होता है।

(4) **माइक्रोथर्मल मण्डल** के अन्तर्गत ऐसे पौधे आते हैं जो ऐसे प्रदेश में पनप सकते हैं, जिनमें सबसे ठंडे महीने का तापमान 10°C से अधिक परन्तु 22°C से कम रहता है। इस मण्डल के अन्तर्गत उत्तरी पतझड़ एवं स्टेपी वनस्पतियाँ आती हैं।

(5) **हेकिस्टोथर्मल मण्डल** के अन्तर्गत ऐसे पौधे आते हैं जो टुण्ड्रा प्रदेश की सतत हिमीकृत सतह पर पनप सकें। यहां की लिथोसॉल मिट्टियों में केवल लाइकेन तथा मॉस ही विकसित हो पाते हैं।

उल्लेखनीय है कि कोपेन इस तथ्य से पूर्णतया सहमत थे कि पादप समूह एवं जलवायु में पूर्ण सामन्जस्य एवं सम्बन्ध होता है। इसी आधार पर कोपेन ने कैण्डोल के 5 वनस्पति मण्डलों (जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है) को जलवायु के वर्गीकरण का मुख्य आधार बनाया है। उन्हें यह भी विश्वास था कि प्राकृतिक वनस्पति का वितरण किसी भी प्रदेश की जलवायु के स्वरूप का सबसे अच्छा संकेतक (indicator) होता है। कोपेन ने इन पाँच वनस्पति मण्डलों के आधार पर विश्व की जलवायु को पाँच प्रमुख प्रकारों में विभाजित किया है तथा उन्हें अंग्रेजी के कैपिटल लेटर A, B, C, D, तथा E से नामित किया है।

(1) **A जलवायु :** शीतऋतुरहित उष्ण कटिबन्धी आर्द्र जलवायु, वर्ष भर आर्द्र एवं गर्म दशायें रहती हैं, औसत वार्षिक तापमान सदा 18°C से अधिक रहता है।

(2) **B जलवायु :** गर्म शुष्क जलवायु, वाष्पीकरण वर्षा से अधिक होता है वर्ष भर लगातार नमी की कमी रहती है।

(3) C जलवायु : सामान्य शीत ऋतु वाली मध्य अक्षांशीय आर्द्र जलवायु (उष्णार्द्र समशीतोष्ण जलवायु)। सबसे सर्द तथा सबसे गर्म महीने का औसत तापमान क्रमशः 8°C से 18°C के बीच (सबसे सर्द), तथा 22°C रहता है।

(4) D जलवायु : मध्य अक्षांशीय शीत जलवायु या शीत वन जलवायु, सामान्य शीत ऋतु, सबसे ठंडे महीने का औसत तापमान 3°C से कम, तथा सबसे गर्म महीने का औसत तापमान 10°C से अधिक किन्तु 22°C से कम रहता है।

(5) E जलवायु : ध्रुवीय जलवायु, ग्रीष्म ऋतु अनुपस्थित रहती है, सबसे गर्म महीने का औसत तापमान 10°C से कम होता है।

इन कैपिटल लेटर्स के अलावा कोपेन ने अपने जलवायु वर्गीकरण की योजना में विशिष्ट अर्थों के लिए निम्न स्माल (लोअर) लेटर्स का भी उपयोग किया है:

f = वर्ष भर वर्षा, सबसे ठंडे महीने का औसत तापमान 18°C से अधिक रहता है, वर्ष के प्रत्येक महीने में न्यूनतम 6 सेण्टीमीटर वर्षा अवश्य होती है।

m = मानसूनी जलवायु, लघु शुष्क मौसम, सबसे शुष्क महीने में 6 सेण्टीमीटर से कम वर्षा।

w = शुष्क शीत ऋतु।

s = शुष्क ग्रीष्म ऋतु।

कोपेन ने पाँच प्रमुख जलवायु समूहों को कई उपभागों में विभक्त किया है, जहाँ पर विभाजन का मुख्य आधार वर्षा के मौसमी वितरण सम्बन्धी दशाएँ तथा शीत और शुष्कता की प्रकृति है। इस तरह कोपेन ने विश्व जलवायु को 5 प्रमुख समूहों तथा 11 जलवायु प्रकारों में विभक्त किया है।

A जलवायु (उष्णकटिबन्धी वर्षा जलवायु)

(Tropical Rainy Climate)

इसे उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु (tropical rainy climate) कहते हैं, जिसमें सबसे ठंडे महीने का तापमान 18°C सें० (64.4° फा०) से अधिक होता है। इस समूह में सर्वत्र एकरूपता नहीं मिलती है। अतः इसमें चार प्रमुख जलवायु प्रकार निश्चित किये जाते हैं, जिनका निर्धारण वर्षा की अवधि के आधार पर किया जाता है।

(1) Af जलवायु : उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु जिसमें शुष्कतम महीने में भी वर्षा 6 सेमी० से अधिक होती है। (f) वर्षा का मौसमी वितरण समान होता है तथा वार्षिक एवं दैनिक तापान्तर न्यून होते हैं।

(2) Aw जलवायु : उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र तथा शुष्क जलवायु, जिसमें शीत काल शुष्क (w) होता है, कम से कम एक महीने की वर्षा 6 सेंमी० से कम होती है। वर्ष भर उच्च तापमान रहता है।

(3) Am जलवायु : इसे मानसून जलवायु कहते हैं, जिसमें एक लघु शुष्क मौसम होता है, परन्तु वार्षिक वर्षा इतनी अधिक होती है कि भूतल वर्ष भर तर रहता है तथा सघन वन मिलते हैं। वास्तव में यह जलवायु प्रथम दो (Af तथा Aw) के बीच की है। Am, तथा Aw दोनों में कम से कम एक महीने की वर्षा 6 सेंमी० (2.4 इंच) से कम होती है। Am तथा Aw के बीच सीमा निर्धारण वर्ष भर की कुल वर्षा तथा शुष्कतम महीने की वर्षा के आधार पर किया जाता है। इसके लिए निम्न गुर का प्रयोग किया जाता है।

a = 3.94—r/25

a = शुष्कतम महीने की वर्षा

r = वार्षिक वर्षा (इंच में)

यदि किसी स्थान के शुष्कतम महीने की वर्षा a के मूल्य से कम हो तो वह Aw जलवायु और यदि अधिक है तो वह Am जलवायु होगी। उदाहरण : यदि किसी स्थान की वार्षिक वर्षा 50 इंच है तो Am/Aw के बीच की सीमा = 3.94 – (50/25) = 1.94 इंच होगी। अब यदि उस स्थान के शुष्कतम महीने की वर्षा 2 इंच है (इसे 2.4 इंच से सदा कम रहना चाहिए, नहीं तो वह Af हो जायेगी) तो वहाँ की जलवायु Am होगी। यदि वहाँ के शुष्कतम महीने की वर्षा 1.8 इंच है,तो वहाँ की जलवायु Aw होगी।

(4) As जलवायु : शुष्क ग्रीष्म ऋतु, बहुत कम पायी जाती है।

कोपेन के उपर्युक्त तीन जलवायु प्रकारों को **विषुवतरेखीय जलवायु** (Af), उष्ण कटिबन्धीय **मानसूनी जलवायु** (Am) तथा उष्ण कटिबन्धीय **सवाना जलवायु** (Aw) के ही समानार्थी समझना चाहिए। कोपेन ने A जलवायु में अन्य बारीकियाँ भी लायी हैं तथा अन्य अक्षरों का भी प्रयोग किया है।

w' = पतझड़ में अधिकतम वृष्टि।

w" = दो अधिकतम वर्षा वाले मौसम, जिनके बीच दो शुष्क मौसम।

s = ग्रीमष्काल में शुष्क ऋतु।

i = सबसे गर्म तथा सबसे ठंडे महीनों का तापान्तर 5° सें० से कम

g = वर्षा के पहले सबसे गर्म मौसम।

B जलवायु (शुष्क जलवायु)

वर्षा की अपेक्षा वाष्पीकरण अधिक होता है। वर्षा की मात्रा इतनी नहीं हो पाती है कि स्थायी भौम जलस्तर बना रहे। वार्षिक तापमान तथा वर्षा एवं अधिकतम वर्षा वाले महीने के आधार पर इस जलवायु को दो प्रकारों में विभक्त किया जाता है: (1) शुष्क

मरुस्थलीय जलवायु (BW), तथा (2) अर्द्ध शुष्क स्टेपी जलवायु (BS)।

शुष्क मरुस्थलीय जलवायु (BW) तथा अर्द्धशुष्क या स्टेपी जलवायु (BS)। BW/BS के बीच की सीमा का निर्धारण निम्न गुर से होता है:

r = (0.44 t − 8.5)/2

r = वार्षिक वर्षा (इंच)

t = वार्षिक तापमान (फा०)

अर्थात् यदि किसी क्षेत्र की वार्षिक वर्षा उपर्युक्त गुर से प्राप्त परिणाम से अधिक है तो वह BS जलवायु वाला क्षेत्र होगा, और यदि कम है तो BW जलवायु वाला भाग। यदि किसी स्थान का तापमान 80° फा० है तो विभाजन के लिए वार्षिक वर्षा का मूल्य 13.3 इंच होगा।

r = (0.44 × 80−8.5)/2 = 13.3 इंच

वार्षिक तापमान के आधार पर इनमें पुन: विभेद किया जाता है। जब औसत वार्षिक तापमान 18° सें० (64.4° फा०) से अधिक होता है तो उसे h वर्ण से इंगित किया जाता है, और 18° सें० से कम होने पर k वर्ण से। इस तरह B जलवायु समूह को निम्न चार प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है।

BWh = उष्ण कटिबन्धीय रेगिस्तानी जलवायु। औसत वार्षिक तापमान 18° सें० से अधिक।

BSh = उष्ण कटिबन्धीय स्टेपी जलवायु। औसत वार्षिक तापमान 18° सें० से अधिक।

BWk = मध्य अक्षांशीय शीत रेगिस्तानी जलवायु। औसत वार्षिक तापमान 18° सें० से कम।

BSk = मध्य अक्षांशीय स्टेपी जलवायु। औसत वार्षिक तापमान 18° सें० से कम।

B जलवायु में प्रयुक्त अन्य वर्णों का तात्पर्य :

k = औसत वार्षिक तापमान 18° सें० से कम

h = औसत वार्षिक तापमान 18° सें० से अधिक

a = शुष्क ग्रीष्म ऋतु, ग्रीष्म ऋतु के शुष्कतम महीने की अपेक्षा शीत ऋतु के आर्द्रतम महीने में 3 गुना अधिक वर्षा।

w = शुष्क शीत ऋतु, शीत ऋतु के शुष्कतम महीने की तुलना में ग्रीष्म ऋतु के आर्द्रतम महीने में 10 गुना अधिक वर्षा।

n = न्यूनतम कुहरा।

C जलवायु (समशीतोष्ण आर्द्र जलवायु)

इसे गर्म शीतोष्ण आर्द्र जलवायु (warm temperate rainy climate) भी कहते हैं। सबसे ठंडे महीने का औसत तापमान 13° सें० से कम परन्तु (-) 3° सें० (26.6° फा०) से अधिक होता है। वर्षा के मौसमी वितरण के आधार पर इसको तीन जलवायु प्रकारों में विभक्त किया जाता है:-

(1) Cf जलवायु : वर्ष भर वर्षा होती है। ग्रीष्मकाल के शुष्कतम महीने में 3 सेंमी० (1.2 इंच) से अधिक वर्षा होती है। पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु को इसके अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है।

(2) Cw जलवायु : शीतकाल शुष्क होता है। शीतकाल के शुष्कतम महीने की अपेक्षा ग्रीष्म काल के सबसे आर्द्र महीने में दस गुनी अधिक वर्षा होती है। इसे चीन तुल्य जलवायु के अन्तर्गत रखा जाता है।

(3) Cs जलवायु : ग्रीष्म काल शुष्क होता है। ग्रीष्म काल के शुष्कतम महीने की अपेक्षा शीतकाल में सबसे आर्द्र महीने में तीन गुनी अधिक वर्षा होती है। ग्रीष्मकाल के शुष्कतम महीने की वर्षा 3 सेमी० से कम होती है। यह रूम सागरीय जलवायु है।

C जलवायु में प्रयुक्त अन्य वर्णों का तात्पर्य है :

a = उष्ण ग्रीष्मकाल। उष्णतम महीने का औसत तापमान 22° सें० (71.6° फा०) से अधिक ।

b = सर्द ग्रीष्म काल। उष्णतम महीने का औसत तापमान 22° सें० से कम।

c = सर्द लघु ग्रीष्म काल। चार महीने से कम समय में तापमान 10° सें० (50° फा०) से ऊपर।

i, n g = इनका अर्थ ऊपर (A तथा B जलवायु में) स्पष्ट किया जा चुका है।

D जलवायु (शीतोष्ण जलवायु)

सबसे ठंडे महीने में औसत तापमान (−) 3° सें० (26.6° फा०) से कम होता है। उष्णतम महीने का तापमान 10° सें० (50° फा०) से अधिक होता है। इस जलवायु में धरातल कई महीने तक हिमाच्छादित रहता है। इसके दो उपविभाग किये जा सकते हैं।

(1) Df जलवायु : शीतार्द्र जलवायु, जिसमें शुष्क ऋतु नहीं होती है। इसे पुन: तीन उपप्रकारों में विभाजित किया जाता है : (i) Dfa (लम्बी ग्रीष्म ऋतु, महाद्वीपीय जलवायु) (ii) Dfb (लम्बी एवं शीत ग्रीष्म ऋतु), तथा (iii) Dfc (लघु तथा शीत ग्रीष्म ऋतु)।

(2) Dw जलवायु : शीतार्द्र जलवायु, जिसमें शीतकाल शुष्क होता है। इसे निम्न उप प्रकारों में विभाजित किया गया है:(i) Dwa (महाद्वीपीय जलवायु, दीर्घ सर्द शीत ऋतु), (ii) Dwb (उप आर्कटिक प्रकार की जलवायु, सर्द लघु ग्रीष्म ऋतु), (iii) Dwc (ठंडी दीर्घ शीत ऋतु, (iv) Dwd (सबसे ठंडे महीने का तापमान −38° सें० या उससे कम)।

अन्य प्रयुक्त वर्णों (f, s, w, a, b, c) का ऊपर विवरण दिया गया है।

E जलवायु (ध्रुवीय जलवायु)

उष्णतम महीने का तापमान 10° सें० (50° फा०) से कम होता है। इसके दो उपविभाग किये गये हैं:

(1) ET जलवायु : टुण्ड्रा जलवायु। उष्णतम महीने का तापमान 10° सें० से कम, किन्तु 0° सें० से अधिक होता है।

(2) EF जलवायु : सतत् हिमाच्छादित जलवायु। सभी महीनों में तापमान 0° सें० (32० फा०) से कम रहता है।

कोपेन के वर्गीकरण का मूल्यांकन

कोपेन ने अपने वर्गीकरण में मौसम के आसानी से नापे जाने वाले तत्वों (तापमान तथा वर्षा) का विभिन्न जलवायु प्रदेशों के निर्धारण के लिए सांख्यिकी विचर के रूप में उपयोग किया है। वास्तव में तापमान तथा वर्षा जलवायु के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व हैं। इनका वर्गीकरण मुख्य रूप से किसी स्थान या प्रदेश के वनस्पति प्रकार तथा उसकी विशेषताओं एवं जलवायु की विशेषताओं के सम्बन्धों पर आधारित है। इन्होंने वर्गीकरण में प्रभावी वर्षा (वर्षा की वह मात्रा जो वास्तविक रूप में वनस्पतियों की सुलभ हो) की मात्रा का समावेश किया है। ज्ञातव्य है कि वास्तविक वार्षिक वर्षा वनस्पतियों के लिए उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती है बल्कि वाष्पीकरण के बाद बची आर्द्रता (प्रभावी वर्षा) ही वनस्पतियों के लिए महत्वपूर्ण होती है। कोपेन की जलवायु वर्गीकरण की योजना भूगोलविज्ञानियों को अधिक पसंद आयी क्योंकि इस योजना में जलवायु प्रकार तथा वनस्पति प्रकार के बीच सम्बन्ध को भरपूर महत्व दिया गया है। इसके अलावा यह योजना सरल, वर्णनात्मक तथा आसानी से ग्राह्य होने वाली है, अत: इसे व्यापक समर्थन मिला।

इन प्रभावी पक्षों के अलावा इस योजना में कतिपय कमियाँ भी बतायी गयी हैं यथा: कोपेन ने अपने वर्गीकरण की योजना में औसत मासिक तापमान तथा वर्षा के अन्य तत्वों यथा : वर्षा की गहनता, मेघाच्छन्नता की मात्रा, वर्षा के दिन, दैनिक तापमान की विषमता, पवन आदि को नजर अन्दाज कर दिया है। इन्होंने अपनी योजना को आवश्यकता से अधिक साधारण तथा वर्णनात्मक बना दिया है तथा जलवायु प्रकारों तथा उनके उप प्रकारों को इंगित करने के लिए विभिन्न पारिभाषिक वर्णों (अक्षरों) का उपयोग किया है परन्तु इन्हें याद रखने में कठिनाई होती है।

पुनश्च, अभी तक यह भी सर्वमान्य नहीं हो सका है कि वनस्पति प्रकार एवं जलवायु प्रकार में पूर्ण सामंजस्य एवं गहरा सम्बन्ध होता है। कतिपय विज्ञानी वनस्पति वितरण एवं जलवायु वितरण के बीच सम्पूर्ण सम्बन्ध को लेकर संशकित हैं। कतिपय विद्वानों का यह भी मानना है कि विभिन्न जलवायु प्रकारों के बीच सीमाओं का बड़ी कड़ाई के साथ निर्धारण किया गया है जो सही नहीं है क्योंकि किसी भी तापमान तथा वर्षा में एक वर्ष से दूसरे वर्ष उतार-चढ़ाव तथा परिवर्तन होता रहता है। उपर्युक्त आपत्तियों एवं कमियों के होते हुए भी आनुभविक उपागम पर आधारित कोपेन की विश्व जलवायु के वर्गीकरण की योजना आज भी प्रचलित है तथा इसको व्यवहार में लाया जाता है।

39.3 थार्न्थ्वेट का वर्गीकरण

(Classification by Thornthwaite)

अमेरिकी जलवायु विज्ञानी सी० डब्लू० थार्न्थ्वेट ने 1931 में उत्तरी अमेरिका की जलवायु का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। वास्तव में उन्होंने 1931 में उत्तरी अमेरिका के जलवायु मानचित्र का प्रकाशन किया था जिसमें उत्तरी अमेरिका के विभिन्न जलवायु प्रकारों का चित्रण किया गया था। आगे चलकर इन्होंने जलवायु वर्गीकरण की अपनी योजना का पूरे विश्व की जलवायु के वर्गीकरण के लिए उपयोग किया तथा 1933 में पूरे विश्व की जलवायु को निश्चित प्रकारों में विभाजित किया। इन्होंने अपनी वर्गीकरण योजना में पुन: संशोधन तथा परिमार्जन किया तथा सन् 1948 में विश्व जलवायु का संशोधित वर्गीकरण प्रस्तुत किया। थार्न्थ्वेट की जलवायु के वर्गीकरण की योजना जटिल है तथा जलवायु वर्गीकरण के आनुभविक उपागम (empirical approach) पर आधारित है।

1931 का वर्गीकरण

थार्न्थ्वेट ने सर्वप्रथम अपना वर्गीकरण 1931 में प्रस्तुत किया, तत्पश्चात् उसमें कुछ और परिमार्जन करके 1933 में उसे प्रस्तुत किया। पुन: इन्होंने 1948 में अपने वर्गीकरण का संशोधित रूप प्रस्तुत किया। कोपेन की भाँति थार्न्थ्वेट ने भी यह स्वीकार किया कि वनस्पति, जलवायु की सूचक होती है तथा वनस्पति पर वर्षा की मात्रा तथा तापमान का पर्याप्त प्रभाव होता है, परन्तु वाष्पीकरण को भी ध्यान में रखना होगा। इसी आधार पर उन्होंने **वर्षण प्रभाविता** (precipitation effectiveness) को जलवायु प्रदेशों के सीमा निर्धारण में महत्व प्रदान किया है।

(1) वर्षण प्रभाविता (Precipitation Effectiveness) : 'वर्षण प्रभाविता' का तात्पर्य सम्पूर्ण वार्षिक वर्षा के केवल उस भाग से है, जो वनस्पति की उत्पत्ति तथा विकास को प्रभावित करती है। इसके लिए उन्होंने **वर्षण प्रभाविता अनुपात** (Precipitation Effectiveness Ratio = P/E Ratio) का परिकलन किया है। P/E अनुपात का परिकलन कुल मासिक वर्षा को कुल मासिक वाष्पीकरण से भाग देकर किया जाता है और बारह महीने के P/E अनुपात का योग करके **वर्षण प्रभाविता सूची** (precipition effectiveness index) तैयार कर ली जाती है। चूँकि प्रत्येक केन्द्र के वाष्पीकरण का आंकड़ा प्राप्त करना कठिन होता है, अत: थार्न्थ्वेट ने P/E अनुपात तथा P/E सूची ज्ञात करने के लिए निम्न गुर बताया है:

(i) P/E अनुपात = $11.5\left(\frac{r}{t-10}\right)^{10/9}$

(ii) P/E सूची = $\sum_{i=1}^{12} 11.5\left(\frac{r}{t-10}\right)^{10/9}$

r = औसत मासिक वर्षा (इंच में)

t = औसत मासिक तापमान (^{0}F)

P/E सूची के आधार पर थार्न्थवेट ने भूपटल को 5 आर्द्रता **मण्डल** (humidity zone) में विभक्त किया है, जिनमें प्रत्येक प्रदेश में विशिष्ट प्रकार की वनस्पति पायी जाती है। इनमें से प्रत्येक का नामकरण अंग्रेजी के वर्ण (letter) द्वारा किया गया है।

आर्द्रता प्रदेश	वनस्पति	P/E सूची
1. तर (wet)-A	वर्षा वन	127 से ऊपर
2. आर्द्र (humid)-B	वन	64–127
3. उपार्द्र (sub-humid)-C	घास के मैदान	32–63
4. अर्द्ध शुष्क (semi-arid)-D	स्टेपी	16–31
5. शुष्क (arid)-E	मरुस्थल	16 से कम

मौसमी वर्षा के वितरण के आधार पर उपर्युक्त आर्द्रता प्रदेशों में से प्रत्येक को चार उपभागों में विभक्त किया गया है:

1. Ar	5. Br	9. Cr	13. Dr	17. Er
2. As	6. Bs	10. Cs	14. Ds	18. Es
3. Aw	7. Bw	11. Cw	15. Dw	19. Ew
4. Ad	8. Bd	12. Cd	16. Dd	20. Ed

r = वर्ष भर पर्याप्त वर्षा

s = ग्रीष्मकाल में न्यून वर्षा

w = शीतकाल में न्यून वर्षा

d = सभी मौसम में न्यून वर्षा

(2) तापीय दक्षता (Thermal Efficiencies) : वनस्पति की उत्पत्ति तथा विकास में तापमान का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस तरह थार्न्थवेट ने तापीय दक्षता अनुपात (Thermal Effeciency Ratio, T/E ratio) का परिकलन निम्न गुर के आधार पर किया है:

(i) तापीय दक्षता अनुपात T/E ratio = (T – 32)/4

T = औसत मासिक तापमान (^{0}F)

(ii) तापीय दक्षता सूची T/E index = $\sum_{i=1}^{12}\left(\frac{T-32}{4}\right)$

T/E सूची के आधार पर थार्न्थवेट ने भूपटल को 6तापमान प्रदेशों में विभक्त किया है तथा उनका नामकरण वर्ण के आधार पर किया है।

तापमान प्रदेश	T/E सूची
1. A' उष्ण कटिबन्धीय	127 के ऊपर
2. B' मध्य तापीय (meso-thermal)	64–127
3. C' सूक्ष्म तापीय (micro-thermal)	32–63
4. D' टैगा	16–31
5. E' टुण्ड्रा	1–15
6. F' हिमाच्छादित (frost)	0

इस तरह यदि वर्षण प्रभाविता, वर्षा के मौसमी वितरण तथा तापीय दक्षता को देखा जाय तो कुल 120 उपप्रकार या वर्ग बन सकते हैं, परन्तु भूपटल पर थार्न्थवेट ने इसमें से केवल 32 जलवायु प्रकार ही स्वीकार किये हैं:

1. AA' r = उष्ण कटिबन्धीय तर जलवायु, सभी महीनों में पर्याप्त वर्षा।
2. AB' r = मध्य तापीय (meso-thermal) तर जलवायु, सभी महीनों में पर्याप्त वर्षा।
3. AC' r = सूक्ष्म तापीय (micro-thermal) तर जलवायु, सभी महीनों में पर्याप्त वर्षा।
4. BA' r = उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु, सभी मौसम में पर्याप्त वर्षा।
5. BA' w = उष्णकटिबन्धीय आर्द्र जलवायु, शीतकाल में कम वर्षा।
6. BB' r = मध्य तापीय आर्द्र जलवायु, सभी मौसम में पर्याप्त वर्षा।
7. BB' w = मध्य तापीय आर्द्र जलवायु, शीतकाल में कम वर्षा।
8. BB' s = मध्य तापीय आर्द्र जलवायु, ग्रीष्म काल में कम वर्षा।
9. BC' r = सूक्ष्म तापीय आर्द्र जलवायु, सभी मौसम में पर्याप्त वर्षा।
10. BC' s = सूक्ष्म तापीय आर्द्र जलवायु, ग्रीष्म काल में कम वर्षा।
11. CA' r = उष्ण कटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसम में पर्याप्त वर्षा।
12. CA' w = उष्ण कटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु, शीतकाल में कम वर्षा।
13. CA'd = उष्ण कटिबन्धीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसम में कम वर्षा।
14. CB' r = मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसम में पर्याप्त वर्षा।

15. CB' w = मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु, शीतकाल में कम वर्षा।
16. CB' s = मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु, ग्रीष्मकाल में कम वर्षा।
17. CB' d = मध्य तापीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसम में कम वर्षा।
18. CC' r = सूक्ष्म तापीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसम में कम वर्षा।
19. CC' s = सूक्ष्म तापीय उपार्द्र जलवायु, ग्रीष्म काल में कम वर्षा।
20. CC' d = सूक्ष्म तापीय उपार्द्र जलवायु, सभी मौसम में कम वर्षा।
21. DA' w = उष्ण कटिबन्धीय अर्द्ध शुष्क जलवायु, शीतकाल में कम वर्षा।
22. DA' d = उष्ण कटिबन्धीय अर्द्ध शुष्क जलवायु, सभी मौसम में कम वर्षा।
23. DB' w = मध्य तापीय अर्द्ध शुष्क जलवायु, शीतकाल में कम वर्षा।
24. DB' s = मध्य तापीय अर्द्धशुष्क जलवायु, ग्रीष्मकाल में कम वर्षा।
25. DB' d = मध्य तापीय अर्द्ध शुष्क जलवायु, सभी मौसम में कम वर्षा।
26. DC' d = सूक्ष्म तापीय अर्द्ध शुष्क जलवायु, सभी मौसम में कम वर्षा।
27. EA' d = उष्ण कटिबन्धीय शुष्क जलवायु, सभी मौसम में कम वर्षा।
28. EB' d = मध्य तापीय शुष्क जलवायु, सभी मौसम में कम वर्षा।
29. EC' d = सूक्ष्म तापीय शुष्क जलवायु, सभी मौसम में कम वर्षा।
30. D' = टैगा तुल्य जलवायु।
31. E' = टुण्ड्रा तुल्य जलवायु।
32. F' = सतत् हिमाच्छादित जलवायु–ध्रुवीय जलवायु।

1948 का वर्गीकरण

थार्न्थ्वेट ने 1948 में अपने वर्गीकरण में पुन: संशोधन किया। यद्यपि इस बार भी वर्गीकरण में तीन सूचियों (वर्षण प्रभाविता, वर्षा का मौसमी वितरण तथा तापीय दक्षता) का प्रयोग किया है, तथापि उनका उपयोग दूसरे ढंग से किया गया है। इस नये वर्गीकरण में जलवायु प्रदेशों का सीमा निर्धारण वनस्पति के आधार पर न होकर वर्षा तथा सम्भाव्य वाष्पीकरण वाष्पोत्सर्जन (potential evapotranspiration), जो कि वास्तव में तापीय दक्षता तथा जल हानि का सूचकांक है, पर किया गया है। ज्ञातव्य है कि सम्भाव्य वाष्पीकरण वाष्पोत्सर्जन का औसत मासिक तापमान के आधार पर परिकलन किया जाता है न कि प्रत्यक्ष मापन किया जाता है। इसमें दिन की लम्बाई 12 घण्टे तक (जब तक सूर्य का प्रकाश प्राप्त होता है) ही मानी जाती है।

सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन (PE, सेण्टीमीटर में)

$$= 1.6\,(10t/I)^{a}$$

जबकि PE = सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन

I = 12 महीने के $(t/5)^{1.514}$ का योग

a = I का कारक (function)

t = तापमान (^{0}C)

इस आधार पर थार्न्थ्वेट ने विभिन्न जलवायु की सीमाओं के निर्धारण के लिए चार सूचकांकों को विकसित किया है:

(1) आर्द्रता सूचकांक (Im)
(2) सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन या तापीय दक्षता सूचकांक (PE)
(3) शुष्कता एवं आर्द्रता सूचकांक
(4) तापीय दक्षता या सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन सान्द्रण सूचकांक

(1) आर्द्रता सूचकांक (Im) : आर्द्रता सूचकांक का तात्पर्य आर्द्रता अभाव (humidity deficit) या आर्द्रता आधिक्य (humidity surplus) से होता है। इसका परिकलन निम्न गुर से होता है:

Im = (100S–60 D)/PE

जबकि Im = मासिक आर्द्रता सूचकांक

S = मासिक आर्द्रता आधिक्य

D = मासिक आर्द्रता अभाव

इस गुर से परिकलित 12 महीनों का योग वार्षिक आर्द्रता सूचकांक बताता है।

$$\text{वार्षिक आर्द्रता सूचकांक (Im)} = \sum_{i=1}^{12}(100S\text{-}60D)/P$$

(2) तापीय दक्षता सूचकांक : यह सूचकांक वास्तव में सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन का सूचक है जो सेण्टीमीटर में व्यक्त किया जाता है। इसके परिकलन का गुर वही है जो PE के परिकलन का है (ऊपर व्यक्त किया गया है)।

(3) शुष्कता एवं आर्द्रता सूचकांक : इन सूचकांकों का उपयोग आर्द्रता पर्याप्तता (moisture adequacy) के मौसमी वितरण के निर्धारण के लिए किया जाता है। शुष्कता सूचकांक

आर्द्र जलवायु में वार्षिक जल के घाटे को वार्षिक सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन के प्रतिशत के रूप में तथा आर्द्रता सूचकांक को शुष्क जलवायु में जल आधिक्य को वार्षिक सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है।

(4) तापीय दक्षता के सान्द्रण का तात्पर्य ग्रीष्मकाल के तीन महीनों के सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन का वार्षिक सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन के प्रतिशत से होता है।

आर्द्रता सूचकांक (Im) के आधार पर थार्न्थ्वेट ने 9 आर्द्रता मण्डलों का निर्धारण किया है:

आर्द्रता सूचकांक	आर्द्रता मण्डल
(1) 100 तथा उससे अधिक	A आर्द्र
(2) 80 से 100	B4 आर्द्र
(3) 60 से 80	B3 आर्द्र
(4) 40 से 60	B2 आर्द्र
(5) 20 से 40	B1 आर्द्र
(6) 0 से 20	C2 तर अर्द्ध आर्द्र
(7) -33.3 से 0	C1 शुष्क अर्द्ध आर्द्र
(8) -66.7 से -33.3	D अर्द्ध शुष्क
(9) -100 से -66.7	E शुष्क

तापीय दक्षता (सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन) के आधार पर 9 तापीय मण्डलों का अभिनिर्धारण किया गया है:

तापीय दक्षता सूचकांक (सेण्टीमीटर)	तापीय मण्डल प्रकार
(1) 114 तथा उससे अधिक	A' वृहद्तापीय (मेगाथर्मल)
(2) 99.7 से 114	B'. 4 मध्य तापीय (मेसोथर्मल)
(3) 85.5 से 99.7	B' 3 मध्य तापीय
(4) 71.2 से 85.5	B' 2 मध्य तापीय
(5) 57.0 से 71.2	B' 1 मध्य तापीय
(6) 42.7 से 57.0	C' 2 सूक्ष्मतापीय (माइक्रोथर्मल)
(7) 28.5 से 42.7	C' 1 सूक्ष्म तापीय
(8) 14.2 से 28.5	D' टुण्ड्रा
(9) 14.2 से कम	E' फ्रास्ट (पाला)

तापीय दक्षता के ग्रीष्मकालीन सान्द्रण के आधार पर विश्व को 8 मण्डलों में विभक्त किया गया है:

तापीय दक्षता का ग्रीष्मकालीन सान्द्रण %	प्रकार
(1) 48.0 से कम	a'
(2) 48.0 से 51.9	b'
(3) 51.9 से 56.3	b' 3
(4) 56.3 से 61.6	b' 2
(5) 61.6 से 68.0	b' 1
(6) 68.0 से 76.3	C' 2
(7) 76.3 से 88.0	C' 1
(8) 88.0 से अधिक	d'

थार्न्थ्वेट ने मौसमी आर्द्रता पर्याप्तता के आधार पर दो प्रमुख तथा 10 उप जलवायु प्रकारों का अभिनिर्धारण किया है:

(I) तर जलवायु (A, B, C2)	शुष्कता सूचकांक
(1) r न्यून या शून्य जल का अभाव	0-10
(2) s सामान्य ग्रीष्मकालीन जल का अभाव	10-20
(3) w सामान्य शीतकालीन जलाभाव	10-20
(4) s2 अधिक ग्रीष्मकालीन जलाभाव	20 से अधिक
(5) w2 अधिक शीतकालीन जलाभाव	20 से अधिक
(II) शुष्क जलवायु (C1, D, E)	**आर्द्रता सूचकांक**
(6) d न्यून या शून्य जलाधिक्य	0-16.7
(7) s सामान्य शीतकालीन जलाधिक्य	16.7-33.3
(8) w सामान्य ग्रीष्मकालीन जलाधिक्य	16.7-33.3
(9) s2 अधिक शीतकालीन जलाधिक्य	33.3 से अधिक
(10) w2 अधिक ग्रीष्मकालीन जलाधिक्य	33.3 से अधिक

इस प्रकार किसी भी स्थान या क्षेत्र की जलवायु उपर्युक्त जलवायु के तत्वों तथा सूचकांकों के समूहन के आधार पर निर्धारित की जाती है। इस तरह किसी भी स्थान या क्षेत्र की जलवायु को चार वर्णों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। उदाहरणार्थ AA 'a' r जलवायु = सतत आर्द्र (perhumid A) मेगाथर्मल (A') जलवायु जिसमें वार्षिक तापीय दक्षता का ग्रीष्मकालीन सान्द्रण 48 प्रतिशत से कम ('a') तथा जल का अभाव न्यून या शून्य (r) होता है।

उपर्युक्त सूचकांकों के आधार पर जलवायु के वर्गीकरण की पूरी योजना इतनी जटिल हो जाती है कि कार्टोग्रैफिक विधि से उनका मानचित्रण कठिन हो जाता है क्योंकि जलवायु प्रकारों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो जाती है।

थार्न्थ्वेट के वर्गीकरण की योजना का मूल्यांकन

थार्न्थवेट का 1931 का वर्गीकरण कोपेन द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण के लगभग समान ही था क्योंकि इनमें कतिपय उभय बिन्दु थे : (i) कोपेन के समान ही थार्न्थ्वेट की योजना भी आनुभविक (इम्पीरिकल) तथा मात्रात्मक थी क्योंकि वर्षण तथा तापमान से परिकलित विभिन्न परिमाणात्मक प्राचलों (quan-

titative parameters) के आधार पर विभिन्न जलवायु प्रकारों की सीमाओं का निर्धारण किया गया है, (ii) जलवायु प्रदेशों के निर्धारण में वनस्पति को प्रमुख आधार बनाया गया है, (iii) विभिन्न जलवायु प्रकारों को इंगित करने के लिए विभिन्न वर्णों (letters) का प्रयोग किया गया है आदि।

थान्थ्वेंट की योजना कोपेन की योजना से इस मायने में भिन्न है कि थान्थ्वेंट ने विभिन्न जलवायु प्रकारों में विभेद करने के लिए दो महत्त्वपूर्ण सूचकांकों (वर्षण दक्षता तथा तापीय दक्षता) का उपयोग किया परन्तु इन सूचकांकों के आधार पर जलवायु की सीमाओं का निर्धारण कठिन तथा अस्पष्ट हो जाता है। कोपेन की तुलना में थान्थ्वेंट ने तीन गुना अधिक जलवायु प्रकारों (32) का अभिनिर्धारण किया है। कोपेन के समान थान्थ्वेंट की योजना भी प्राणिविज्ञानियों, वनस्पतिविज्ञानियों तथा भूगोलविदों में लोकप्रिय हुई परन्तु ऋतुविज्ञानियों तथा जलवायुविज्ञानियों ने इस योजना का स्वागत नहीं किया क्योंकि वर्गीकरण की इन योजनाओं में जलवायु के कारकों (causative factors) को सम्मिलित नहीं किया गया। सभी स्थानों के वाष्पीकरण के आंकड़े भी सुलभ नहीं हो पाते हैं।

यद्यपि 1948 का जलवायु वर्गीकरण पूर्णतया परिमार्जित तथा संशोधित था तथा चार महत्वपूर्ण सूचकांकों (आर्द्रता सूचकांक, तापीय दक्षता या सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन सूचकांक, मौसमी आर्द्रता पर्याप्तता सूचकांक, शुष्कता एवं आर्द्रता सूचकांक) तथा वार्षिक तापीय दक्षता के ग्रीष्मकालीन सान्द्रण पर आधारित था परन्तु इस आधार पर विश्व जलवायु मानचित्र नहीं बनाया जा सकता। थान्थ्वेंट द्वारा विकसित आनुभविक गुरों (empirical formulae) के लिए जलवायु के विभिन्न तत्वों के नियमित आंकड़े चाहिए परन्तु ये सदा सुलभ नहीं हो पाते हैं। इनके लिए काफी परिकलन करना पड़ता है। इन्हीं कारणों से इस योजना को पर्याप्त समर्थन तथा लोकप्रियता नहीं मिल सकी।

39.4 ट्रीवार्था का कम्पोजिट वर्गीकरण

जी० टी० ट्रीवार्था ने कोपेन के वर्गीकरण में संशोधन तथा परिमार्जन करके अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जिसमें **आनुभविक** (empirical) तथा **जननिक** (genetic), दोनों प्रकार के वर्गीकरण को समाविष्ट किया गया है। वास्तव में ट्रीवार्था का प्रमुख उद्देश्य सरल वर्गीकरण के पक्ष में था, ताकि भूपटल पर कुछ मुख्य जलवायु प्रकारों की पहचान की जा सके। इसके लिए आवश्यक है कि यथासम्भव जलवायु प्रकारों की संख्या कम रखी जाय। कोपेन ने अपने वर्गीकरण में जलवायु प्रदेशों की सीमाओं के निर्धारण तथा उनकी परिभाषा पर आवश्यकता से अधिक बल देकर उन्हें दुरूह बना दिया है, जिन्हें सरलता से याद नहीं किया जा सकता है। ट्रीवार्था ने अपने वर्गीकरण में इसे अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझा है। कोपेन के समान ही ट्रीवार्था ने भी भूपटल पर 5 बड़े जलवायु एवं जननिक योजनाओं के मध्य एक तरह से स ट्रीवार्था सांख्यिकीय एवं परिमाणात्मक विचरों के अधिसंख्य जलवायु प्रकारों के पक्ष में नहीं थे। यह कि उन्होंने कम से कम प्रमुख जलवायु प्रकारों व किया। इन्होंने भी तापमान एवं वर्षा को वर्गीकरण बनाया। इन्होंने विश्व स्तर पर 6 प्रथम श्रेणी के जल का निर्धारण किया तथा उनका नामकरण A, B, C, D से किया। इनमें से B जलवायु का निर्धारण वर्षा के किया तथा प्रमुख जलवायु प्रकारों का निर्धारण आधार पर किया।

(1) A जलवायु (उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र इसके अन्तर्गत भूमध्यरेखा के आर-पार के उन निम भागों को सम्मिलित किया जाता है, जहाँ पर व तापमान रहता है, वर्षा साल भर होती है तथा श मौसम नहीं होता है। वर्षा सम्बन्धी विषमता के अ जलवायु समूह को दो जलवायु प्रकार (Af तथा A उप प्रकार (Am) में विभाजित किया गया है। Af अधिक वर्षा होती है (यह विषुवतरेखीय जलव Aw में शीतकाल में कम वर्षा होती है, Am मानस होती है जबकि Aw सवाना जलवायु है।

(2) B जलवायु (शुष्क जलवायु) : इस उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु (A) से मध्य अक्ष पाया जाता है। शुष्कता सम्बन्धी विशेषताओं के जलवायु को दो जलवायु प्रकारों में विभक्त किया शुष्क जलवायु (BW) तथा (ii) अर्द्धशुष्क या स्टे (BS)। पुनः तापमान के आधार पर इन्हें उपप्रकार किया गया है : (i) उष्ण कटिबन्धीय शुष्क जल (ii) उपोष्ण कटिबन्धीय स्टेपी जलवायु (BSh), (iii) म शुष्क जलवायु (BWk), तथा (iv) मध्य अक्षांशीय स (BSk)। उष्ण शुष्क जलवायु तथा शीत शुष्क सीमा का निर्धारण सबसे ठंडे महीने की 32° फा की समताप रेखा द्वारा होता है। शुष्क मरुस्थली (BWh, BSh) जलवायु उपोष्ण कटिबन्धीय प्रति शुष्क व्यापारिक पवन (ध्रुवोन्मुख भाग) से प्रभा तथा वर्ष भर शुष्क मौसम होता है, जबकि शीत तथा स्टेपी जलवायु (BWk, BSk) पर्वतों के पवन पर महाद्वीपों के आन्तरिक भागों में पायी जाती शीतकाल में प्रतिचक्रवात सक्रिय होते हैं।

(3) C जलवायु (मध्य अक्षांशीय आर्द्र जल जलवायु के अन्तर्गत शीतकाल छोटा तथा सामा इसके अन्तर्गत 3 जलवायु प्रकार अलग किये जा उपोष्ण कटिबन्धीय उप आर्द्र जलवायु, जिसमें शुष्क होता है (Cs), (ii) उपोष्ण कटिबन्धीय अ जिसमें ग्रीष्म काल उष्ण होता है (Ca), तथा (iii) म

titative parameters) के आधार पर विभिन्न जलवायु प्रकारों की सीमाओं का निर्धारण किया गया है, (ii) जलवायु प्रदेशों के निर्धारण में वनस्पति को प्रमुख आधार बनाया गया है, (iii) विभिन्न जलवायु प्रकारों को इंगित करने के लिए विभिन्न वर्णों (letters) का प्रयोग किया गया है आदि।

थार्न्थ्वेट की योजना कोपेन की योजना से इस मायने में भिन्न है कि थार्न्थ्वेट ने विभिन्न जलवायु प्रकारों में विभेद करने के लिए दो महत्त्वपूर्ण सूचकांकों (वर्षण दक्षता तथा तापीय दक्षता) का उपयोग किया परन्तु इन सूचकांकों के आधार पर जलवायु की सीमाओं का निर्धारण कठिन तथा अस्पष्ट हो जाता है। कोपेन की तुलना में थार्न्थ्वेट ने तीन गुना अधिक जलवायु प्रकारों (32) का अभिनिर्धारण किया है। कोपेन के समान थार्न्थ्वेट की योजना भी प्राणिविज्ञानियों, वनस्पतिविज्ञानियों तथा भूगोलविदों में लोकप्रिय हुई परन्तु ऋतुविज्ञानियों तथा जलवायुविज्ञानियों ने इस योजना का स्वागत नहीं किया क्योंकि वर्गीकरण की इन योजनाओं में जलवायु के कारकों (causative factors) को सम्मिलित नहीं किया गया। सभी स्थानों के वाष्पीकरण के आंकड़े भी सुलभ नहीं हो पाते हैं।

यद्यपि 1948 का जलवायु वर्गीकरण पूर्णतया परिमार्जित तथा संशोधित था तथा चार महत्वपूर्ण सूचकांकों (आर्द्रता सूचकांक, तापीय दक्षता या सम्भाव्य वाष्पोत्सर्जन सूचकांक, मौसमी आर्द्रता पर्याप्तता सूचकांक, शुष्कता एवं आर्द्रता सूचकांक) तथा वार्षिक तापीय दक्षता के ग्रीष्मकालीन सान्द्रण पर आधारित था परन्तु इस आधार पर विश्व जलवायु मानचित्र नहीं बनाया जा सकता। थार्न्थ्वेट द्वारा विकसित आनुभविक गुरों (empirical formulae) के लिए जलवायु के विभिन्न तत्वों के नियमित आंकड़े चाहिए परन्तु ये सदा सुलभ नहीं हो पाते हैं। इनके लिए काफी परिकलन करना पड़ता है। इन्हीं कारणों से इस योजना को पर्याप्त समर्थन तथा लोकप्रियता नहीं मिल सकी।

गया है। इस वर्गीकरण के अन्तर्गत किसी भी स्थान की जलवायु पर स्थलीय एवं सागरीय सतहों के प्रभावों को भी सम्मिलित किया गया है। अपनी सरलता के कारण ट्रीवार्था की विश्व जलवायु के वर्गीकरण की योजना भूगोलविदों में ज्यादा प्रसिद्ध हुई है। वास्तव में ट्रीवार्था का वर्गीकरण **'भूगोलवेत्ता का वर्गीकरण'** है।

39.5 विश्व के जलवायु प्रदेश

सामान्य तौर पर विश्व की जलवायु को 3 प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जाता है: (1) उष्णकटिबन्धी जलवायु, (2) मध्य अक्षांशीय जलवायु, तथा (3) ध्रुवीय एवं उच्चस्थलीय जलवायु। विभिन्न विद्वानों ने जलवायु के इन तीन प्रमुख वर्गों को विभिन्न आधारों पर द्वितीय एवं तृतीय श्रेणियों के कई जलवायु प्रकारों में विभाजित किया है। जलवायु के इस तरह के वर्गीकरणों का पिछले अध्याय में विशद विवेचन किया गया है। इस अध्याय में प्रमुख जलवायु प्रकारों तथा जलवायु प्रदेशों का निम्न शीर्षकों के तहत वर्णन किया गया है : जलवायु प्रदेशों की अवस्थिति, तापमान, वायुदाब तथा पवन, वर्षण (मेघाच्छादन, वर्षा की मात्रा, वितरण, प्रवृत्ति तथा परिवर्तनशीलता), तथा जलवायु का प्राकृतिक वनस्पतियों पर प्रभाव।

39.6 विषुवत रेखीय जलवायु प्रदेश
(उष्ण कटिबन्धीय वर्षा वाले जलवायु प्रदेश)
(Af जलवायु)

1. स्थिति

विषुवत रेखा के उत्तर तथा दक्षिण 5° से 10° अक्षांश तक विस्तृत जलवायु वाले भाग को 'विषुवत्रेखीय जलवायु' अथवा 'उष्ण कटिबन्धीय तर जलवायु प्रदेश' कहते हैं। इसका विस्तार (चित्र 39.1) कभी-कभी भूमध्यरेखा के दोनों ओर 15° से 25° अक्षांश तक भी पाया जाता है। इस तरह वायु दाब की

पेटियों के खिसकाव के साथ इस जलवायु प्रदेश के विस्तार में प्रसार तथा संकुचन होता रहता है। विषुवत् रेखीय जलवायु की प्रमुख विशेषताएँ हैं : (i) वर्ष भर समान उच्च तापमान तथा (ii) वर्ष भर समान उच्च वर्षा। इस जलवायु के अन्तर्गत द० अमेरिका की अमेजन बेसिन, अफ्रीका की कांगो बेसिन, गिनी तट, पूर्वी द्वीपसमूह तथा पूर्वी मध्य अमेरिका (पनामा, कोस्टारिका, निकारागुआ, होण्डुरास, गाटेमाला आदि के भाग) को सम्मिलित किया जाता है। पूर्वी द्वीप समूह में विषुवत् रेखीय जलवायु में कुछ परिमार्जन आ जाता है।

2. तापमान

सूर्य लगभग वर्ष भर विषुवतरेखा पर लम्बवत् चमकता है तथा वर्ष भर रात और दिन की अवधि में अन्तर बहुत कम होता है, अत: भूमध्यरेखीय भाग में सर्वाधिक सूर्यातप प्राप्त होता है, जिस कारण वर्ष भर उच्च तापमान बना रहता है। धरातल पर सूर्य की किरणें कभी भी 43° से कम कोण पर नहीं पड़ती हैं। औसत वार्षिक तापमान 20°C रहता है परन्तु अधिकतम 30°C रहता है। औसत वार्षिक तापमान 18°C रहता है। कोपेन के आधार पर इस प्रदेश की उत्तरी तथा दक्षिण सीमा का निर्धारण शीततम महीने की 64.4° फा० (18°C) की समताप रेखा द्वारा होता है। वार्षिक तापान्तर द्वीपीय क्षेत्रों में 0.5°C से 1.0°C के बीच तथा अन्य क्षेत्रों का 2° से 3°C के मध्य रहता है। अमेजन बेसिन में बेलम तथा इक्वीटोस में वार्षिक तापान्तर क्रमश: 2° तथा 3°C, मध्य अफ्रीका के काकिलहैटविली में 2°C, सिंगापुर में 3°C रहता है। महासागरों पर यह वार्षिक तापान्तर और कम हो जाता है। उदाहरण के लिए, मध्य प्रशान्त महासागर के मार्शल द्वीप में स्थित जल्यूट का वार्षिक तापान्तर 0.4°C पाया जाता है। इस तरह विषुवत् रेखीय प्रदेश का उच्च तापमान यद्यपि उष्ण रेगिस्तानी जलवायु की तुलना में अधिक नहीं होता है, तथापि उसमें वर्ष भर समरूपता तथा नीरसता के कारण जलवायु मानव के लिए कष्टप्रद हो जाती है। स्मरणीय है कि वार्षिक तापान्तर सूर्य के उत्तरायण या दक्षिणायन होने के कारण नहीं होता है, अपितु वह मेघाच्छन्नता तथा वर्षा की मात्रा तथा समय पर आधारित होता है। सामान्य रूप में उच्चतम तापमान उस महीने में होता है, जबकि वर्षा न्यूनतम होती है तथा आकाश अधिक समय तक मेघरहित होता है।

दैनिक तापान्तर, जो कि वार्षिक तापान्तर से अधिक होता है, 5°C से 10°C के बीच अंकित किया जाता है। दोपहर के बाद प्राय: तापमान 29-34°C तक पहुँच जाता है तथा रात्रि के समय 21-24°C तक गिर जाता है। इसी कारण से विषुवत्रेखीय प्रदेश में रात्रि को ही वहाँ की 'शीत ऋतु' कहते हैं। बेल्जियन

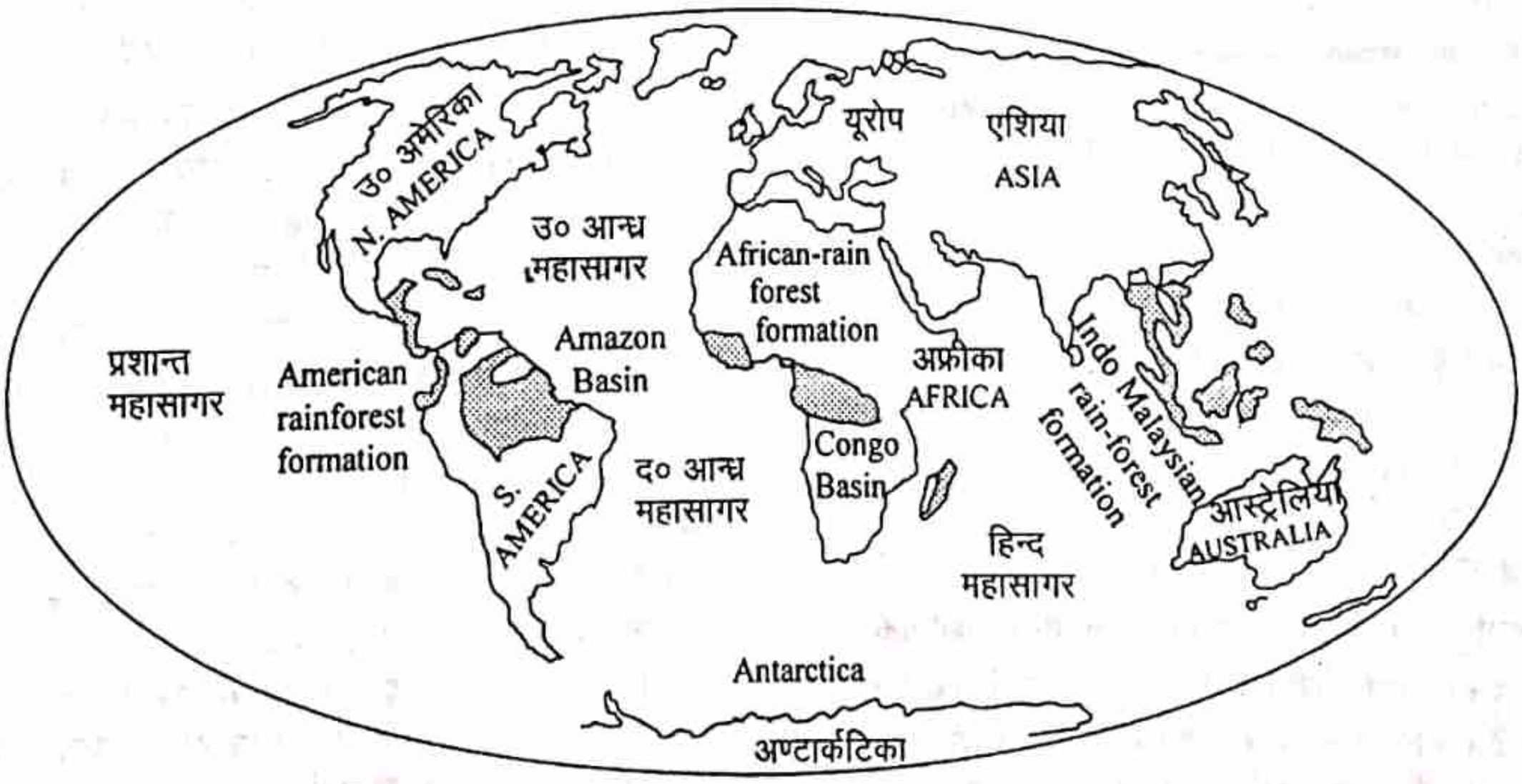

चित्र 39.1 : विषुवतरेखीय वर्षा वन (Af) जलवायु का विश्व वितरण।

कांगों में स्थित बोलोवो का वार्षिक तापान्तर 1°C है, जबकि दैनिक तापान्तर 9°C है। बेलम नगर में दिन का उच्चतम तापमान 32.8°C तथा न्यूनतम 20.1°C अंकित किया जाता है (दैनिक तापान्तर 12.7°C)। अमेजन बेसिन में सान्तारेम का अंकित अधिकतम दैनिक तापमान 35.5°C तथा न्यूनतम 19.5°C है। तापमान के आंकड़ों से स्पष्ट विदित होता है कि दिन का

तापमान यद्यपि बहुत नहीं हो पाता है, परन्तु अधिक ऊष्मा, मन्द वायु संचरण (गति), प्रखर प्रकाश तथा उच्च सापेक्षिक एवं निरपेक्ष (absolute) आर्द्रता के कारण मौसम असह्य हो जाता है। दिन भर उमस बनी रहती है तथा वातावरण में नीरसता का साम्राज्य होता है। यहाँ के निवासी वर्ष भर उच्च तापमान के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि रात्रि में जरा भी तापमान में गिरावट होने का आभास उन्हें मिल जाता है तथा 20°C से नीचे जाने पर तो उन्हें लकड़ी जलानी पड़ती है। रात्रि में तापमान की गिरावट के कारण मौसम आरामदायक हो जाता है, इसी कारण से भूमध्यरेखीय प्रदेशों में रात्रियों को **उष्णकटिबन्धी शीत ऋतु** (tropical winter) कहते हैं।

3. वायुदाब एवं हवाएँ

वर्ष भर उच्च तापमान के कारण विषुवतरेखा के पास निम्न वायुदाब की पेटी बन जाती है। परन्तु दाब प्रवणता (pressure gradinet) इतनी कम होती है कि वायु में तीव्र संचरण (गति) नहीं हो पाता है। वायु गर्म होकर ऊपर उठ जाती है तथा कर्क और मकर रेखाओं की ओर मुड़ जाती है। धरातल पर लगभग समान वायु दाब के कारण हवा फैल जाती है। भूमध्यरेखा पर विच्छिन्न रूप में डोलड्रम की पेटी मिलती है, जिसमें विषुवत्रेखीय पछुवा हवा चलती है। अयनवर्तीय भागों से व्यापारिक हवाओं का आगमन होता है जो कि शुष्क मौसम में इस प्रदेश में अधिक प्रविष्ट हो जाती है। विषुवत्रेखीय भागों में इन्हीं व्यापारिक हवाओं के अभिसरण (convergence) के कारण **'अन्तरा उष्णकटिबन्धीय अभिसरण पेटी'** (inter-tropical convergence belt) का आविर्भाव होता है, जिसके साथ चक्रवातीय दशाएँ पायी जाती हैं। तड़ित झंझा (thunder-storm) के साथ हवा कुछ तेज हो जाती है, जिस कारण मानव को क्षणिक आराम मिल जाता है। गिनी तट पर रात्रि के समय हरमट्टान हवा के आगमन के कारण तापमान में कुछ गिरावट हो जाती है। तटीय भागों की सागरीय समीर (sea breezes) स्थलीय भाग में 48 से 96 किमी० तक प्रविष्ट हो जाती है, जिस कारण तापमान में कुछ गिरावट हो जाती है। यही कारण है कि विषुवत्रेखीय भाग के सागरतटीय भाग भीतरी भागों की अपेक्षा रहने के लिए बेहतर होते हैं।

4. वर्षा (मात्रा, वितरण, प्रकृति तथा परिवर्तनशीलता)

वर्ष भर वर्षा होती है। औसत वार्षिक वर्षा 200 सेण्टीमीटर होती है। कोई शुष्क मौसम नहीं होता है। सबसे शुष्क महीने की वर्षा भी 6 सेण्टीमीटर से अधिक होती है। वार्ड के अनुसार डोलड्रम तथा उसके समीपी भाग की औसत वार्षिक वर्षा 250 सेण्टीमीटर है। यद्यपि भूमध्यरेखीय प्रदेश की अधिकांश वर्षा संवहनीय होती है, परन्तु जहाँ कहीं भी पर्वतीय अवरोध मिल जाता है, वर्षा की मात्रा अधिक हो जाती है। नाइजीरिया में केमरून चोटी की तलहटी में स्थित देबुन्दजा में वार्षिक वर्षा 1000 सेण्टीमीटर तक पहुँच जाती है।

वर्षा का वितरण : साल भर उच्च वर्षा के बावजूद यहाँ पर वर्षा का वितरण समान नहीं होता है। कुछ महीनों में वर्षा अन्य की अपेक्षा निश्चित ही बहुत अधिक होती है, परन्तु कोई भी महीना शुष्क नहीं हो पाता है। इस आधार पर अधिक वर्षा वाले महीने को 'तर' तथा कम वर्षा वाले महीने को 'कम तर' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। यदि भूमध्यरेखीय क्षेत्रों के वर्षा के वितरण के मानचित्र को देखा जाय तो अधिकतम वर्षा के दो काल तथा न्यूनतम वर्षा के दो काल दृष्टिगत होते हैं। सामान्य रूप से अप्रैल तथा नवम्बर में सर्वोच्च वर्षा का समय होता है, परन्तु स्थान-स्थान पर इसमें अन्तर भी मिलता है। उदाहरण के लिए, लागोस में मई, जून तथा जुलाई में 100 सेंटीमीटर तथा अक्टूबर में 25 सेण्टीमीटर वर्षा होती है।

वर्षा के दिन : प्रत्येक महीने तथा मौसम में वर्षा के दिनों की संख्या में भी पर्याप्त अन्तर होता है। परन्तु कोई भी ऐसा महीना नहीं होता है जिसमें वर्षा के दिन न हों। हाँ, अधिक तर महीनों में इनकी संख्या कम तर (या सबसे शुष्क महीने) की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। उदाहरण के लिए, बेलम नगर का मार्च महीना सबसे तर है तथा नवम्बर शुष्कतम है। परन्तु नवम्बर में भी 10 दिन वर्षा के होते हैं तथा वर्षा की मात्रा 5 सेण्टीमीटर के लगभग होती है। मार्च महीने में 28 दिन वर्षा के होते हैं, जिस समय 35 सेण्टीमीटर वर्षा होती है। इस तरह सबसे तर महीने में 97 प्रतिशत दिन वर्षा के होते हैं, जबकि शुष्कतम महीने में मात्र 34 प्रतिशत दिन वर्षा के होते हैं।

मेघाच्छन्नता : विषुवत्रेखीय प्रदेश में मेघाच्छन्नता (cloudi-ness) भी अधिक रहती है। प्राय: कपासी (cumulus) बादल पाये जाते हैं। अमूमन 60 प्रतिशत तक मेघाच्छन्नता पायी जाती है। मनाओस (अमेजन घाटी) में प्रत्येक महीने में मेघाच्छन्नता 6/11 से 7/10 पायी जाती है। बेलम नगर में शुष्कतम महीने में 4/10 तथा सबसे तर महीने में 8/10 मेघाच्छन्नता मिलती है, परन्तु पूर्णतया मेघरहित दिन नहीं होते हैं। दिन में अधिक तापमान वाले घंटों में मेघाच्छन्नता अधिक होती है, जबकि रात्रि तथा प्रात: काल के प्रारम्भिक समय में आकाश मेघरहित होता है, क्योंकि उच्च मध्य अक्षांशों में वर्षा वाताग्रों से सम्बन्धित होने के कारण लम्बे समय तक होती है, यद्यपि मात्रा कम होती है, जबकि विषुवत्रेखीय भागों में संवहनीय वर्षा के कारण बदली कम समय तक रहती है, यद्यपि वर्षा की मात्रा मूसलाधार वृद्धि के कारण अधिक होती है।

वर्षा की प्रकृति : विषुवत्रेखीय वर्षा संवहनीय होती है जिसमें प्रतिदिन कपासी वर्षी (cumulo-nimbus) बादलों के साथ मूसलाधार वर्षा होती है। प्रतिदिन प्रात:काल आकाश मेघरहित होता है। जैसे-जैसे सूर्य क्षितिज से ऊँचा उठने लगता है, तापमान बढ़ता जाता है, हवा में ऊर्ध्वगति होने लगती है तथा वह अस्थिर हो जाती है। इस तरह हवा में संवहनीय गति

उत्पन्न हो जाती है। आकाश में बादल दिखलाई पड़ने लगते हैं। प्रारम्भ में ये कपासी मेघ होते हैं तथा इनकी संख्या कम होती है, परन्तु जैसे-जैसे दिन चढ़ता है, उमस बढ़ जाती है, बादल घने होने लगते हैं तथा अंधेरापन बढ़ जाता है। दोपहर के बाद पूरा आकाश कपासी वर्षी मेघ से घिर जाता है तथा बिजली की चमक और बादलों की गड़गडाहट के साथ मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। धरातल जलप्लावित हो जाता है। जैसे-जैसे दिन ढलने लगता है, वर्षा मन्द पड़ जाती है और सायंकाल तक वर्षा रुक जाती है, आकाश साफ हो जाता है तथा मौसम कुछ समय के लिए सुहावना हो जाता है, परन्तु थोड़े समय बाद ही उमस बढ़ जाती है। इस क्रिया की पुनरावृत्ति होती रहती है। परन्तु कभी-कभी इस सामान्य प्रक्रिया में व्यवधान भी देखा जाता है, क्योंकि वर्षा कई दिनों तक लगातार चलती रहती है। नाक्स ने आइबरी कोस्ट में 40 घंटे तक लगातार वर्षा का उल्लेख किया है। विषुवत् रेखीय वर्षा की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वर्षा तड़ित झंझा के साथ होती है जिनका विकास इस भाग में सर्वाधिक होता है। वर्ष में लगभग 75 से 150 दिन तड़ित झंझायुक्त होते हैं।

वर्षा की परिवर्तनशीलता (variability) : अत्यधिक वार्षिक वर्षा के होते हुए भी वार्षिक वर्षा की मात्रा में परिवर्तनशीलता देखने को मिलती है, और यह परिवर्तनशीलता तापमान की तुलना में अधिक होती है। चूँकि इस जलवायु में केवल ऐसी फसलें उगायी जाती हैं, जिन्हें अत्यधिक नमी उपलब्ध हो, अत: जिस समय वर्षा की मात्रा में थोड़ा भी अन्तर आ जाता है, सूखे की स्थिति आ जाती है और कभी तो फसलें भी सूख जाती हैं। भूमध्यरेखीय प्रदेश में 'सूखा' शब्द विचित्र तथा अस्वाभाविक लगता है, परन्तु कभी-कभी ऐसा हो जाता है।

प्राकृतिक वनस्पति पर जलवायु का प्रभाव

विषुवतरेखीय प्रदेश में जलवायु एवं प्राकृतिक वनस्पति में पूर्ण सामंजस्य पाया जाता है। वर्ष भर उच्च तापमान तथा वायु में उच्च आर्द्रता एवं प्रतिदिन होने वाली वर्षा के कारण वर्ष भर सदाबहार प्रकार की वनस्पतियाँ पायी जाती हैं तथा पतझड़ का सर्वथा अभाव रहता है। प्रकाशसंश्लेषण (photosynthesis) के लिए सूर्यप्रकाश की प्राप्ति के लिए पौधों में आपस में होड़ लगी रहती है जिस कारण वे ऊँचाई में बढ़ते रहते हैं। यही कारण है भूमध्यरेखीय जलवायु में विकसित उष्णकटिबन्धी वर्षा वन में वनस्पति समुदाय के पाँचों लम्बवत स्तरों का भलीभाँति विकास हुआ है।

वर्ष भर उच्च तापमान तथा वर्षा के कारण इस जलवायु में उष्ण कटिबन्धीय चौड़ी पत्ती के सदाबहार वन मिलते हैं, जिनमें गटापार्चा, रबर, एबोनी, ताड़, बाँस, बेंत, महोगनी, चन्दन, सिनकोना आदि प्रमुख हैं। वृक्ष काफी चौड़े, लम्बे तथा सघन होते हैं। वन इतने सघन होते हैं कि इनका ऊपरी भाग आपस में इतना मिल जाता है कि सूर्य की किरणें धरातल तक नहीं पहुँच पाती हैं। परिणामस्वरूप घना अन्धकार छाया रहता है। नीचे लता तथा बल्लरियों की इतनी भरमार होती है कि वे वृक्षों को आपस में बाँधे रखती हैं, जिस कारण उनमें से होकर रास्ता तय करना दुष्कर हो जाता है। आर्थिक दृष्टिकोण से विषुवत्रेखीय वन महत्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि : (i) सघनता के कारण वांछित लकड़ी को प्राप्त करना कठिन होता है, (ii) एक ही प्रकार के वृक्ष समूह में नहीं मिलते हैं।

39.7 उष्णकटिबन्धी मानसूनी जलवायु (Am जलवायु)

1. अवस्थिति (Location)

मानसूनी जलवायु का विस्तार (चित्र 39.2) भूमध्यरेखा के दोनों ओर 5° से 30° अक्षांशों के मध्य पाया जाता है। वास्तव में ये प्रदेश व्यापारिक हवाओं की पेटी में आते हैं, जिनमें ऋतुवत् उत्तर तथा दक्षिण की ओर खिसकाव होता रहता है, जिस कारण मानसून प्रकार की विशिष्ट जलवायु की उत्पत्ति होती है, जिसमें 6 महीने तक हवाएँ सागर से स्थल की ओर तथा शेष 6 महीने में स्थल से सागर की ओर चला करती हैं। इस जलवायु के अन्तर्गत पाकिस्तान, भारत, बांगलादेश, बर्मा (म्यांमार),

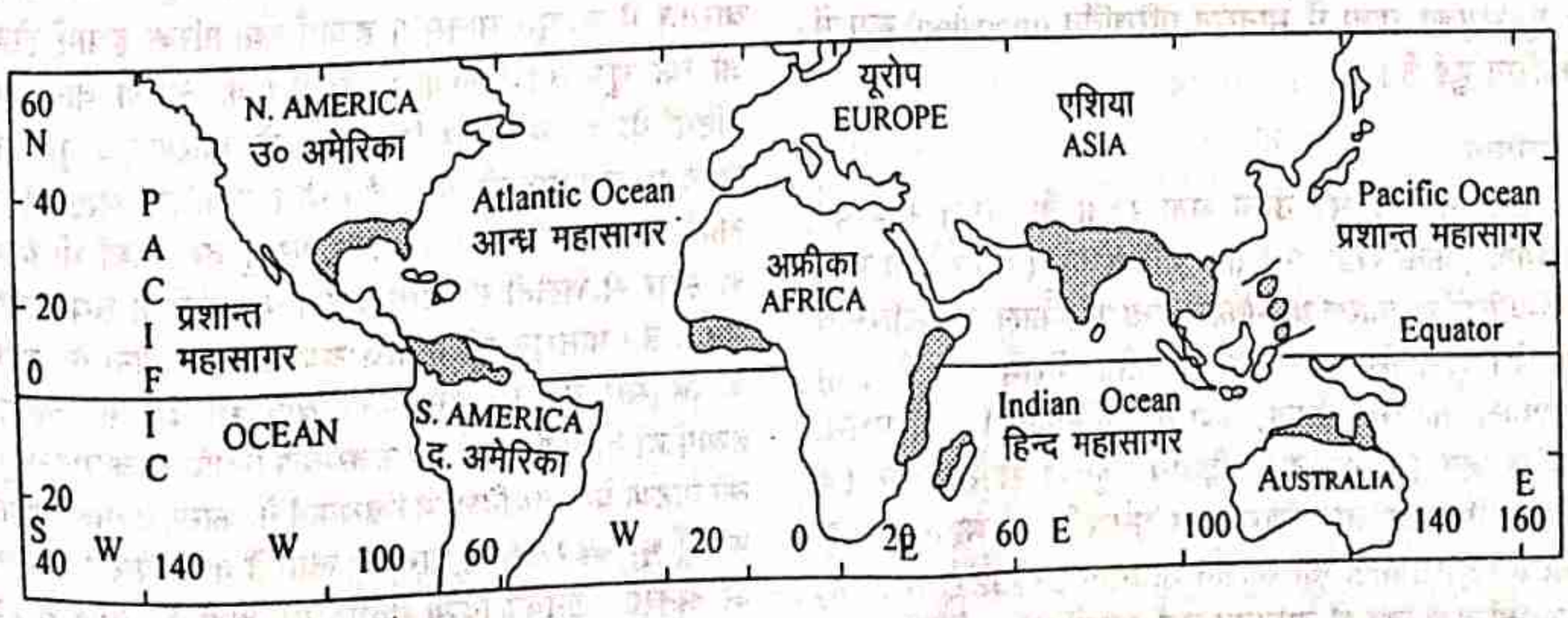

चित्र 39.2 : मानसूनी जलवायु का विश्ववितरण।

थाईलैण्ड, कम्बोडिया, लाओस, उ० तथा द०वियतनाम, पू० द्वीपसमूह, अफ्रीका का पूर्वी तटीय भाग, संयुक्त राज्य अमेरिका का दक्षिण-पूर्वी तटीय भाग, आस्ट्रेलिया का उत्तरी भाग आदि को सम्मिलित किया जाता है।

प्रादेशिक स्तर पर मानसून को 3 प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जाता है : (1) एशियाई मानसून, (2) अफ्रीकी मानसून, तथा (3) अमेरिकी मानसून। एशियाई मानसून को पुन: दो उप प्रकारों में विभाजित किया जाता है: (i) द०पू० एशियाई मानसून, तथा (ii) दक्षिणी एशियाई मानसून। इससे अलग हट कर मानसून को दो प्रमुख प्रकारों में विभाजित किया जाता है : (1) **पराम्परागत मानसून** (traditional mansoon), तथा

(2) **प्रच्छन्न मानसून** (pseudo monsoon): उदाहरण के लिए, अफ्रीकी एवं अमेरिकी मानसून। मानसून का तीसरा वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है : **वास्तविक मानसून** (true monsoon); इसके अन्तर्गत परम्परागत मानसून वाले क्षेत्र आते हैं; तथा **प्रच्छन्न मानसून**। मानसून क्षेत्रों को निम्न चार वर्गों में रखा जाता है:

(1) **वास्तविक या परम्परागत मानसून क्षेत्र** : इसके अन्तर्गत भारत, पाकिस्तान, बांगलादेश, म्यांमार, थाइलैण्ड, लाओस, कम्बोडिया, उत्तरी एवं दक्षिणी वियतनाम, दक्षिणी चीन, फिलीपाइन्स, तथा आस्ट्रेलिया के उत्तरी तटीय क्षेत्र को सम्मिलित किया जाता है।

(2) **प्रच्छन्न मानसून या मानसून प्रवृत्ति वाले क्षेत्र** : अफ्रीका के द० प० तटीय प्रदेश (गायना, सियरालिओन, लाइबेरिया तथा आइवरी कोस्ट के तटवर्ती भाग), पूर्वी अफ्रीका एवं पश्चिमी मेडागास्कर में प्रच्छन्न मानसून का विकास हुआ है।

(3) **मानसूनी प्रभाव के क्षेत्र** : इसके अन्तर्गत लैटिन अमेरिका के उत्तरी-पूर्वी तटीय प्रदेश (पूर्वी वेनेजुएला, गायना, सुरिनाम, फ्रेंच गायना तथा उत्तरी-पूर्वी ब्राजील), प्योर्टिरिको एवं डोमिन्कन रिपब्लिक को सम्मिलित करते हैं।

(4) **परिवर्तित मानसून क्षेत्र** : मध्य अमेरिकी देशों तथा द० पू०संयुक्त राज्य में मानसून परिवर्तित (modified) रूप में विकसित हुई है।

2. तापमान

तापमान वर्ष भर ऊँचा बना रहता है, परन्तु सूर्य की उत्तरायण (कर्क रेखा पर) तथा दक्षिणायन (मकर रेखा पर) की स्थितियों के कारण ग्रीष्मकाल तथा शीतकाल का आविर्भाव होता है। कुल मिलाकर यहाँ पर तीन मौसम होते हैं : (i) ग्रीष्मकाल, (ii) वर्षा काल, तथा (iii) शीतकाल। इनमें प्रथम, मार्च से जून (4 महीना), द्वितीय, जुलाई से अक्टूबर (4 महीना) तथा अन्तिम नवम्बर से फरवरी (4 महीना) तक रहता है। ग्रीष्मकाल का औसत तापमान 27°-32°C रहता है, परन्तु मई तथा जून में तापमान कई स्थानों पर 38°-48°C तक पहुँच जाता है। उत्तरी भारत में तो मई-जून में कई बार गर्म लहर (लू) चलने लग जाती है। तटीय भागों में तापमान 27°-35°C के बीच अंकित किया जाता है। स्पष्ट है कि उच्च तापमान पर धरातलीय प्रभाव की छाप है। शीत काल में औसत तापमान 10°-27°C के बीच होता है। सूर्य की स्थिति दक्षिणायन हो जाती है, जिस कारण यह मकर रेखा पर लम्बवत् चमकता है, परिणामस्वरूप इस भाग का तापमान गिर जाता है। इस तरह वार्षिक तापान्तर अधिक हो जाता है। वार्षिक तापान्तर पर सागर से दूरी तथा वर्षा की मात्रा का पर्याप्त प्रभाव होता है। तट से दूर शुष्क भागों में वार्षिक तापान्तर बढ़ता जाता है। वार्षिक तापान्तर 2°-11°C के बीच रहता है। वर्षा काल में तापमान ग्रीष्मकाल की अपेक्षा कुछ कम हो जाता है (27°C-29°C)।

मानसून जलवायु के तीन प्रतिनिधि क्षेत्रों के तीन नगरों: कोलकाता (भारत, वास्तविक मानसूनी क्षेत्र), डकार (सेनेगल, प्रच्छन्न मानसूनी क्षेत्र), तथा डार्विन (आस्ट्रेलिया, वास्तविक मानसूनी क्षेत्र) के औसत मासिक तापमान को तालिका 14.1 में प्रदर्शित किया गया है।

3. वायुदाब तथा हवाएँ

ग्रीष्म तथा शीत काल के कारण मानसूनी प्रदेश क्रमश: निम्न तथा उच्च दाब से प्रभावित होता रहता है। ग्रीष्म काल में 21 मार्च से सूर्य उत्तरायण होने लगता है तथा 21 जून को कर्क रेखा पर लम्बवत् चमकता है, परिणामस्वरूप उच्च तापमान के कारण निम्न वायुदाब का निर्माण हो जाता है, जिस कारण सागर से स्थल की ओर हवाएँ चलने लगती हैं, जो कि द० प० मानसून (भारत) होती हैं। 23 सितम्बर के बाद सूर्य की स्थिति दक्षिणयन होने लगती है, और वह 24 दिसम्बर को मकर रेखा पर लम्बवत् चमकता है, जिस कारण उत्तरी गोलार्द्ध के मानसूनी प्रदेशों में शीतकाल के कारण उच्च वायुदाब का निर्माण होता है। परिणामस्वरूप स्थल से सागर की ओर हवाएँ चलने लगती हैं। ये हवाएँ उ० पू० मानसून कही जाती हैं। वास्तव में उ०पू० मानसूनी हवाएँ व्यापारिक हवाएँ होती हैं, जो कि सूर्य की दक्षिणायन स्थिति के कारण वायुदाब की पेटियों के द० की ओर खिसकाव के कारण द० पू० एशिया आदि पर स्थापित हो जाती हैं। चूँकि ये हवाएं स्थल से होकर आती हैं, अत: ये शुष्क होती हैं, परन्तु जहाँ कहीं भी ये सागर के ऊपर से चलती हैं, नमी धारण कर लेती हैं तथा वर्षा कर बैठती हैं। मानसून की **तापीय उत्पत्ति** के सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार द० प० मानसून हवाएँ भी द० पू० व्यापारिक हवाएँ ही होती हैं। सूर्य की उत्तरायण स्थिति के कारण वायुदाब की पेटियों के उत्तर दिशा में खिसकने के कारण द०पू० व्यापारिक हवाएँ भूमध्य रेखा को पार कर लेती हैं तथा 'फेरल के नियम' के अनुसार इनकी दिशा द०प० हो जाती है। चूँकि ये हवाएँ सागर से होकर आती हैं, अत: आर्द्र होने के कारण वर्षा करती

हैं। मानसून की गतिक उत्पत्ति (dynamic origin) के समर्थकों के अनुसार सूर्य की उत्तरायण स्थिति के समय डोलड्रम की पेटी का द०पू० एशिया पर विस्तार हो जाता है तथा उसमें प्रवाहित होने वाली 'विषुवत रेखीय पछुवा हवा' ही द० प० मानसून हवा होती है। डोलड्रम के साथ द०पू० एशिया पर चक्रवातीय दशाएँ व्याप्त हो जाती हैं। ये उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात प्राय: पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर चलते हैं तथा पर्याप्त वर्षा प्रदान करते हैं। विभिन्न स्थानों पर इन्हें 'टाइफून', 'चक्रवात' तथा 'हरिकेन' नाम से सम्बोधित किया जाता है। मानसून की उत्पत्ति के विशद विवरण के लिए देखिए इस पुस्तक के अध्याय 8 का अनुभाग 8.8।

4. वर्षा

मानसूनी प्रदेशों में वर्षा मुख्यत: चक्रवातीय तथा पर्वतीय प्रकार की होती है, परन्तु कुछ वर्षा संवहनीय (मुख्य रूप से ग्रीष्मकाल के प्रारम्भिक चरण में) प्रकार की भी होती है। आर्द्र मानसून हवाएँ जब पर्वतीय अवरोध का सामना करती हैं तो उन्हें ऊपर उठना पड़ता है, परिणामस्वरूप पर्याप्त वर्षा हो जाती है। हिमालय के दक्षिणी ढाल पर असम से लेकर कश्मीर तक इन हवाओं से पर्याप्त वर्षा होती है, परन्तु जैसे-जैसे ये हवाएँ आगे बढ़ती जाती हैं, वर्षा की मात्रा घटती है। जून से अक्टूबर तक द०प० मानसून हवाओं से वर्षा प्रात होती है। शरद काल में पश्चिम से आने वाले चक्रवातों से कुछ वर्षा प्राप्त होती है। वर्षा के वार्षिक वितरण में पर्याप्त विषमता पायी जाती है। कुल वार्षिक वर्षा का अधिकांश भाग (80 प्रतिशत से अधिक) केवल 4 महीने (जून, जुलाई, अगस्त तथा सितम्बर) में प्राप्त हो जाता है। यह वर्षा भी लगातार नहीं होती है। बीच-बीच में सूखा भी पड़ जाता है। वर्षा के प्रादेशिक वितरण में भी पर्याप्त अन्तर होता है। उदाहरण के लिए, भारत के चेरापूँजी में वार्षिक वर्षा 426 इंच (1060 cm) तक होती है, जबकि थार के रेगिस्तान में 10 इंच (25 cm) से भी कम होती है। इस तरह मानसूनी वर्षा की मात्रा, वितरण, समय आदि सभी अनिश्चित होते हैं, जिस कारण कृषि भी अनिश्चित हो जाती है (प्राय: फसलें या तो अतिवृष्टि या अनावृष्टि से नष्ट होती रहती हैं)।

5. वनस्पति समुदाय

मानसूनी जलवायु प्रदेश में वर्षा की मौसमी प्रवृत्ति (seasonal regime) के कारण पर्णपाती (deciduous) प्रकार की वनस्पतियों का विकास हुआ है। शीतऋतु के अन्त तथा ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ के बीच संक्रमण काल (पतझड़ काल) में पौधे नमी के संरक्षण के लिए अपनी पत्तियाँ गिरा देते हैं।

मानसूनी प्रदेशों में वर्षा की मात्रा में विषमता के कारण कई प्रकार की वनस्पति मिलती है। 200 सेंमी० से अधिक वर्षा वाले भागों में सदाबहार (सदापर्णी) वन (महोगनी, रबड़, ताड़, बांस, गटापार्चा आदि) मिलते हैं (उदाहरण के लिये, भारत के पश्चिमी घाट क्षेत्र में)। 100 से 200 सेंमी० वर्षा वाले क्षेत्रों में पतझड़ (पर्णपाती) वृक्ष मिलते हैं (सागौन, साल, आम, शीशम, महुआ आदि)। 50 से 100 सेंमी० वर्षा वाले भागों में घास के साथ पर्णपाती वन मिलते हैं। शुष्क भाग में झाड़ियाँ आदि ही मिलती हैं।

39.8 सवाना तुल्य जलवायु (उष्ण कटिबन्धीय तर एवं शुष्क जलवायु) (Aw जलवायु)

1. स्थिति

सवाना तुल्य जलवायु (Aw) (चित्र 39.3) में विषुवत्रेखीय तर जलवायु (Af) की अपेक्षा वार्षिक वर्षा कम होती है तथा वार्षिक वितरण भी असमान होता है, परिणामस्वरूप घास के वृहद् क्षेत्र मिलते हैं जिन्हें अफ्रीका में 'सवाना' कहते हैं। इसी आधार पर इस जलवायु का 'सवाना तुल्य जलवायु' नामकरण किया गया है। इसे सूडान तुल्य जलवायु भी कहा जाता है। स्मरणीय है कि वृहद् सवाना घास के मैदानों में भी वृक्ष मिलते हैं। इस जलवायु प्रदेश का अक्षांशीय विस्तार भूमध्यरेखा के दोनों ओर 5^0 या 10^0 से प्रारम्भ होकर 15^0 या 20^0 अक्षांश तक पाया जाता है (चित्र 39.3)। इस तरह सवाना जलवायु प्रदेश भूमध्यरेखीय जलवायु (Af) तथा शुष्क (B) तथा आर्द्र उपोष्ण जलवायु (Ca) के बीच स्थित है, अर्थात् इसकी स्थिति भूमध्यरेखीय निम्न वायुदाब तथा उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च वायुदाब के बीच है। दक्षिणी अमेरिका में इस जलवायु का विस्तार वेनेजुएला, कोलम्बिया, गायना, दक्षिणी मध्य ब्राजील, परागवे, अफ्रीका में विषुवत्रेखीय जलवायु के उत्तर तथा दक्षिण (सूडान में सर्वाधिक विस्तार) एवं उत्तरी आस्ट्रेलिया में पाया जाता है।

2. तापमान

सवाना तुल्य जलवायु तथा विषुवत्रेखीय जलवायु की तापमान सम्बन्धी दशाओं में अधिक अन्तर नहीं होता है। वर्ष भर, उच्च तापमान बना रहता है। परन्तु वार्षिक तापान्तर कुछ अधिक होता है, जो कि 3^0-8^0C के बीच रहता है। इसका प्रमुख कारण ग्रीष्मकाल तथा शीतकाल में सूर्य की किरणों के कोण में कुछ अन्तर का हो जाना है। अर्थात् ग्रीष्मकाल की अपेक्षा शीतकाल में सूर्य की किरणें कुछ तिरछी हो जाती हैं, जिस कारण अपेक्षाकृत कुछ कम ऊष्मा प्रदान कर पाती हैं। स्मरणीय है कि उष्णतम महीने वर्षाकाल के ठीक पहले होते हैं (मार्च, अप्रैल तथा मई-उ० गोलार्द्ध)। कुल मिलाकर तापमान में भिन्नता की दृष्टि से यहाँ पर तीन मौसम अनुभव किये जाते हैं:

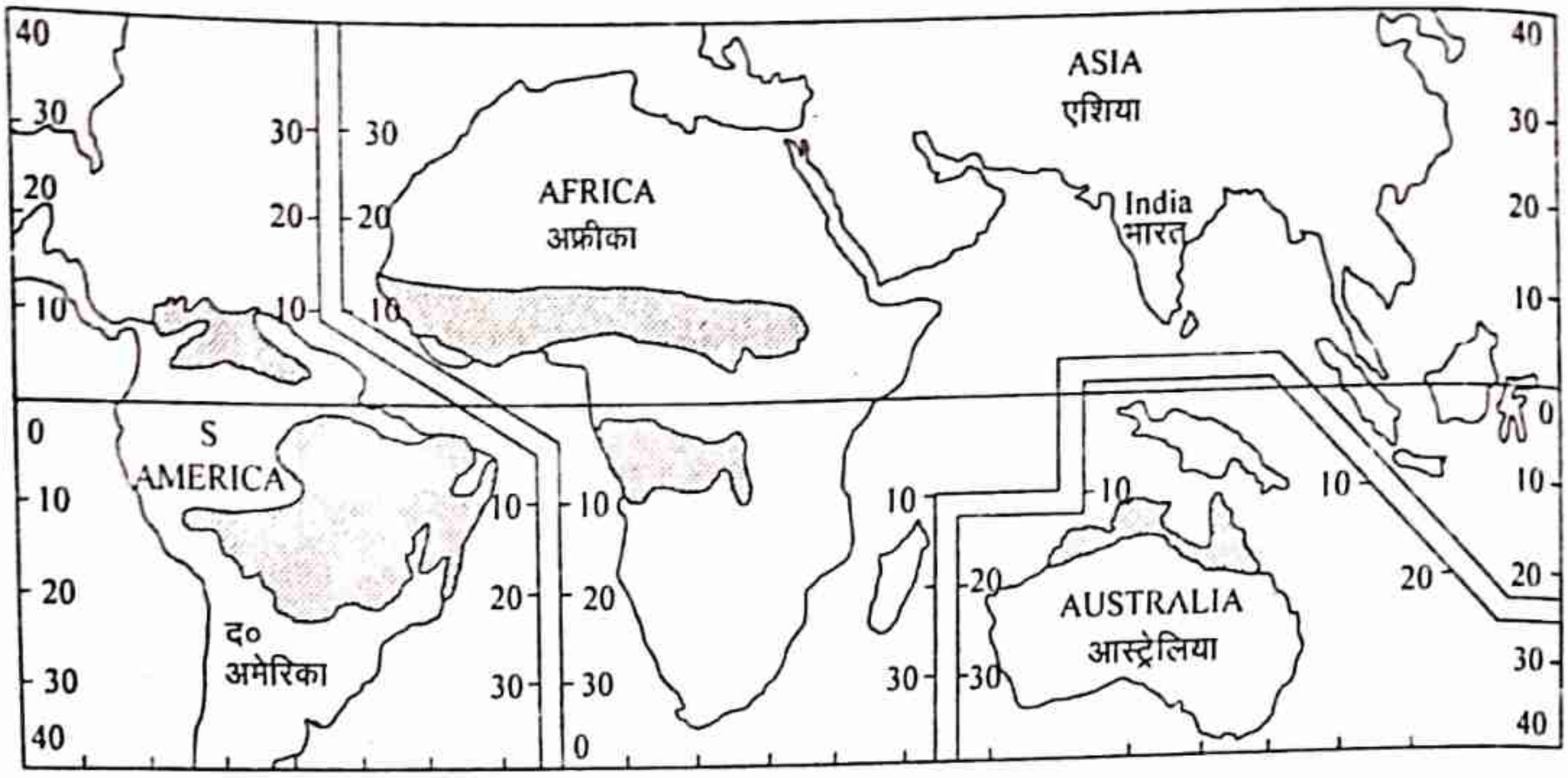

चित्र 39.3 : सवाना जलवायु की अवस्थिति।

(i) शुष्क शीत मौसम : जिस समय दिन का तापमान ऊँचा होता है, दोपहर के बाद तापमान 26°-32°C के बीच हो जाता है तथा रात्रि में 21°C हो जाता है, लेकिन कभी भी 15°C से कम नहीं हो पाता है। आर्द्रता के कम होने के कारण गर्मी कष्टदायक नहीं हो पाती है।

(ii) उष्ण शुष्क मौसम : सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं, जिस कारण तापमान 32°C तक तथा कभी-कभी 38°C तक पहुँच जाता है।

(iii) उष्ण तर मौसम : यह वर्षा का समय होता है, जो कि जून से प्रारम्भ होता है। वर्षा के कारण तापमान कुछ घट जाता है, परन्तु हवा में नमी अधिक होती है, अत: मौसम कष्टदायक हो जाता है।

3. वायुदाब तथा हवाएँ

सवाना तुल्य जलवायु के प्रदेश वर्ष में निम्न तथा उच्च वायुदाब से प्रभावित होते हैं। सूर्य की उत्तरायण स्थिति के कारण टोलड्रम की न्यून दाब की पेटी का विस्तार हो जाता है तथा यह भाग 'इण्टर ट्रापिकल कन्वर्जेन्स' (ITC) के अन्तर्गत आ जाता है तथा चक्रवातीय दशाओं के कारण वर्षा होती है। सूर्य की दक्षिणायन स्थिति के समय यह प्रदेश उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च वायुदाब के प्रभाव में आ जाता है, जिस कारण प्रतिचक्रवातीय दशाएँ व्यवस्थित हो जाती हैं। इस तरह शीतकाल (उ० गो०) में स्थिर तथा नीचे उतरती हुई शुष्क हवाएँ चलने लगती हैं, जिस कारण वर्षा नहीं हो पाती है। इस सामान्य दशा के अलावा तटीय भागों में स्थलीय तथा जलीय समीर का प्रभाव होता है। पूर्वी तटों पर व्यापारिक हवाएँ चलती हैं। वर्षा काल में उष्ण कटिबन्धीय तेज चक्रवात चलते हैं। इन्हें 'टारनैडो' कहा जाता है। पश्चिमी द्वीप समूह में 'हरिकेन' का प्रभाव अधिक होता है। इस तरह 'सवाना जलवायु' का जन्म सूर्य की उत्तरायण तथा दक्षिणायन स्थितियों के कारण क्रमश: आर्द्र ग्रीष्मकाल तथा शुष्क शरदकाल के कारण होता है। चूँकि सवाना जलवायु विषुवत्रेखीय तथा उष्ण कटिबन्धीय शुष्क जलवायु के मध्य की है, अत: उसमें भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर मौसम में क्रमिक अन्तर होता जाता है। जैसे-जैसे ध्रुवों की ओर बढ़ते जाते हैं, शुष्कता बढ़ती जाती है।

4. वर्षा

सवाना प्रदेश में औसत वार्षिक वर्षा 100 से 150 सेंमी० के बीच होती है, परन्तु चूँकि सवाना जलवायु आर्द्र तथा शुष्क जलवायु के बीच संक्रमण पेटी (transitional belt) के बीच स्थित है अत: इसकी आर्द्र तथा शुष्क सीमाओं पर वार्षिक वर्षा की मात्रा तथा अवधि में पर्याप्त विषमता पायी जाती है। विषुवत्रेखीय जलवायु (Af) की सीमा के पास वाले भाग में वायु के अभिसरण (convergence) तथा आरोही (ascending) स्वभाव के कारण भारी वर्षा होती है। शुष्क जलवायु (BWh) की सीमा के पास प्रतिचक्रवातीय दशा के कारण वायु के अवरोही (descending) स्वभाव के कारण वर्षा की मात्रा घट जाती है तथा वार्षिक वर्षा का औसत 25 सेंमी० तक हो जाता है। सूर्य की उत्तरायण स्थिति के कारण जैसे ही 'इण्टर ट्रापिकल कन्वर्जेन्स' उत्तर (उ० गो०) की ओर खिसकता

जाता है, मार्च के महीने तक तड़ित झंझा (thunderstorm) बनने लगते हैं तथा वर्षा की मात्रा में अगले महीनों में निरन्तर वृद्धि होती है। अगस्त तक 'इण्टर ट्रापिकल कन्वर्जेन्स' (ITC) अपनी अधिकतम उत्तरी सीमा को प्राप्त कर लेता है। इसके बाद उसमें दक्षिण की ओर स्थानान्तरण होने लगता है, जिस कारण वर्षा की मात्रा में कमी होने लगती है। नवम्बर के बाद पुन: शुष्क व्यापारिक वायु का साम्राज्य हो जाता है तथा सूखे की स्थिति आ जाती है। इस तरह विषुवत्रेखीय जलवायु की सीमा से उत्तर (उ०गो०) की ओर जाने पर आर्द्र मौसम की अवधि निरन्तर घटती जाती है तथा शुष्क मौसम की अवधि बढ़ती जाती है। पूर्व से पश्चिम भी वर्षा की मात्रा घटती जाती है, परन्तु अफ्रीका (उ० गो०) के प० तटीय भागों में तूफान के कारण वर्षा की मात्रा कुछ बढ़ जाती है। सवाना जलवायु में वार्षिक वर्षा की मात्रा में भी पर्याप्त विषमता होती है। किसी वर्ष तो इतनी अधिक हो जाती है कि बाढ़ की स्थिति आ जाती है, जबकि अगले वर्ष कम वर्षा के कारण सूखे की स्थिति आ जाती है।

5. वनस्पति समुदाय पर जलवायु का प्रभाव

आर्द्र विषुवत्रेखीय तथा उष्ण शुष्क मरुस्थलीय जलवायु के बीच की स्थिति के कारण यहाँ की वनस्पति भी मध्य प्रकार की होती है। सर्वप्रमुख वनस्पति मोटी घासें हैं, जिनके आधार पर 'सवाना' नामकरण किया गया है। दूर-दूर तक घास के वृहद् मैदान देखने को मिलते हैं, जिनमें छोटे-छोटे वृक्ष भी उगे रहते हैं। जैसे-जैसे वर्षा की मात्रा घटती जाती है, घास के रंग तथा ऊँचाई एवं वृक्षों की ऊँचाई तथा संख्या में अन्तर आ जाता है। इस आधार पर सवाना प्रदेश में वनस्पति के तीन मण्डल देखने को मिलते हैं: (i) **आर्द्र सवाना** : जब वर्षा का मौसम 7 से 9 महीने या उससे अधिक होता है, तो लम्बी-लम्बी घासें उगती हैं एवं वृक्ष संख्या में अधिक होते हैं। घासों की पत्तियाँ मोटी होती हैं तथा वर्षा होते ही इनकी ऊँचाई में तीव्रता से वृद्धि होने लगती है, जो कि 10 से 30 सेंमी० तक हो जाती हैं। इनका रंग कुछ पीलापन या भूरापन लिये हरा होता है, (ii) जैसे-जैसे आर्द्र मौसम की अवधि कम होने लगती है, घासों की ऊँचाई कम हो जाती है। वृक्ष भी कम ऊँचे होते हैं तथा उनकी संख्या भी कम हो जाती है, तथा (iii) जब आर्द्र मौसम 3 महीने से भी छोटा होता है तो **कंटीली वनस्पति** देखने को मिलती है, परन्तु इसमें भी घासें तथा वृक्ष साथ-साथ मिलते हैं, यद्यपि वृक्ष कम ऊँचे तथा संख्या में निहायत कम हो जाते हैं। ग्रीष्मकाल में घासें तप कर जल जाती हैं। सवाना प्रदेश में वृक्ष प्राय: पर्णपाती होते हैं, परन्तु विषुवत्रेखीय जलवायु की सीमा के पास सदापर्णी होते हैं।

39.9 उष्ण कटिबन्धीय शुष्क रेगिस्तानी जलवायु (BWh) (सहारा तुल्य जलवायु)

1. स्थिति

उष्ण मरुस्थलीय शुष्क जलवायु 15° से 30° अक्षांशों के बीच भूमध्यरेखा के दोनों ओर महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में स्थित है। (चित्र 39.4) इसके अन्तर्गत (1) **एशिया** के थार, सिन्ध, दक्षिणी बिलोचिस्तान, अरब प्रायद्वीप, (2) **अफ्रीका** के सहारा तथा कालाहारी, (3) **उत्तरी अमेरिका** के पश्चिमी मरुस्थलीय भाग (मोजावे तथा अरिजोना के रेगिस्तान), (4) **दक्षिणी अमेरिका** के अटाकामा, तथा (5) **आस्ट्रेलिया** के पश्चिमी मरुस्थल (ग्रेट सैण्डी डेजर्ट, ग्रेट विक्टोरिया डेजर्ट, तनामी डेजर्ट) को सम्मिलित किया जाता है। अफ्रीका तथा द० प० एशिया में इस जलवायु का सर्वाधिक विस्तार पाया जाता है। वर्ष भर शुष्कता का रहना इस जलवायु की प्रमुख विशेषता है। इसके निम्न कारण बताये जा सकते हैं: (i) मध्य अक्षांशों के चक्रवात यहाँ तक नहीं पहुँच पाते हैं, (ii) विषुवत्रेखा से इतने दूर हैं कि इण्टर ट्रापिकल कन्वर्जेन्स (ITC) का प्रभाव यहाँ तक नहीं पहुँच पाता है, (iii) पूर्वी तटों से इतने दूर हैं कि आर्द्र सागरीय हवाएँ यहाँ तक नमी नहीं पहुँचा पाती हैं, तथा (iv) प्रतिचक्रवाती दशाओं के कारण वायु नीचे बैठती है, जिसके कारण उनमें स्थिरता के कारण वर्षा की सामर्थ्य समाप्तप्राय हो जाती है। जब कभी वर्षा होती है तो धरातलीय ताप इतना अधिक होता है कि बूँदों का धरातल पर गिरने के पहले ही वाष्पीकरण हो जाता है। इस तरह उष्ण शुष्क रेगिस्तानी जलवायु वाले प्रदेश वर्षाविहीन होने के कारण जीव-जगत के लिए प्रेरणादायक नहीं हैं।

2. तापमान

तापमान के वार्षिक वितरण के आधार पर दो मौसम, ग्रीष्मकाल तथा शीतकाल होते हैं। ग्रीष्मकाल का औसत तापमान 30^0-35^0C के बीच रहता है तथा दोपहर के समय तो तापमान 40^0C-48^0C तक पहुँच जाता है। आस्ट्रेलिया के रेगिस्तान के पश्चिमी भाग में लगातार 64 दिनों तक तापमान 40^0C तक पहुँच जाता है तथा 150 दिनों तक 32^0C से ऊपर अंकित किया जा चुका है। इसके विपरीत रात्रि को तापमान कुछ गिर जाता है, जिस कारण कुछ आराम मिल जाता है। अरिजोना के फोयनिक्स में दोपहर का तापमान 40^0C से ऊपर हो जाता है तथा रात्रि को 24^0C तक गिर जाता है। अजीजिया में अब तक 58^0C (136.4^0 फा०) का उच्चतम तापमान अंकित किया जा चुका है। इसी तरह संयुक्त राज्य अमेरिका का उच्चतम तापमान कैलिफोर्निया मरुस्थल की डेथ वैली में 56.4^{0}C (134° फा०) तक अंकित किया जा चुका है। शीतकाल में भी दिन के समय तापमान 15.5^0 से 21^0C तक बना रहता है, और कभी-कभी

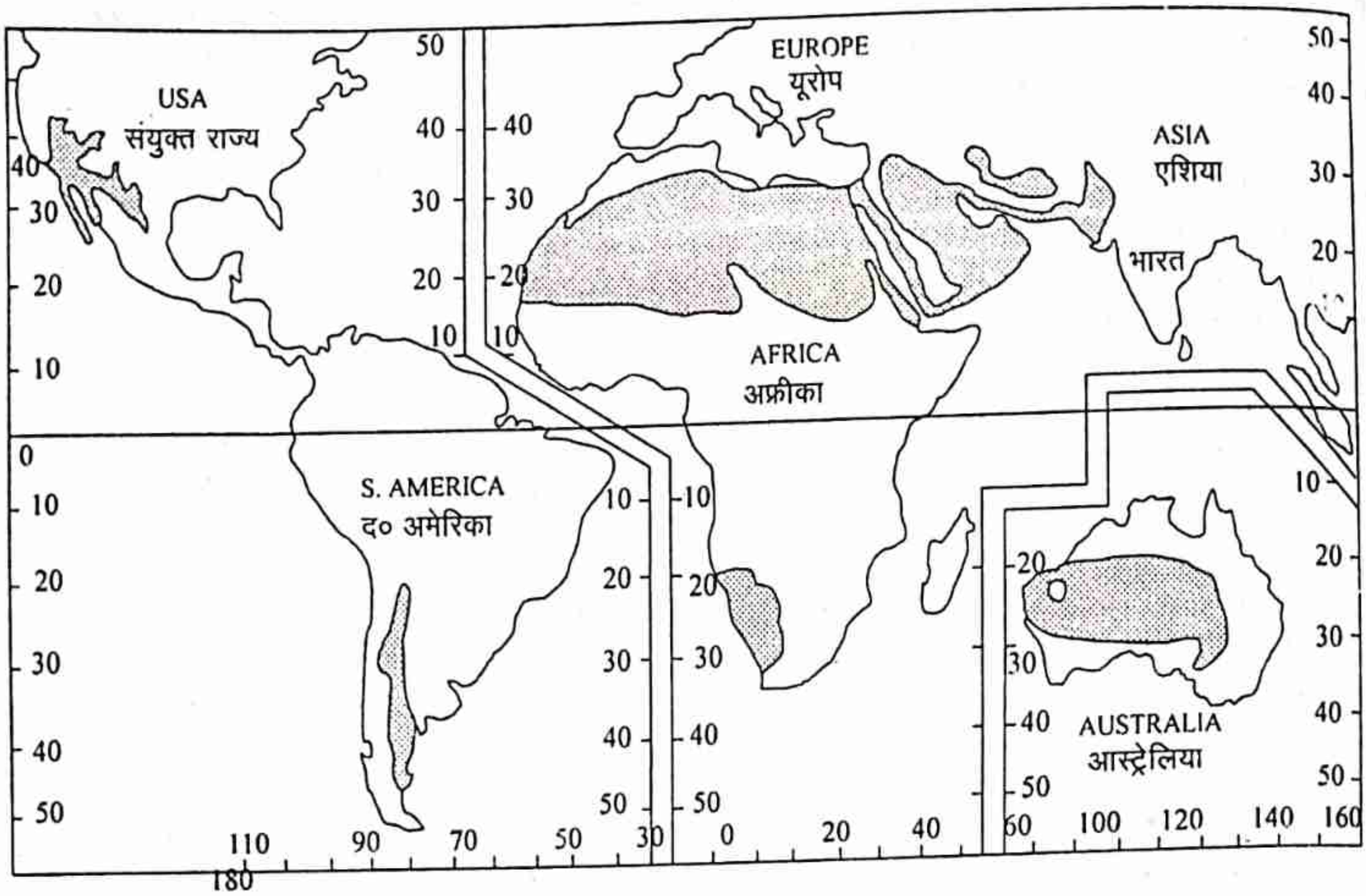

चित्र 39.4 : उष्ण-उपोष्णकटिबन्धी गर्म शुष्क मरुस्थली (सहारा तुल्य) जलवायु के क्षेत्रों का वितरण।

27°C क पहुँच जाता है, परन्तु रात्रि में तापमान अधिक गिर जाता है, जो 10°C के आस-पास होता है। रेतीले धरातल के कारण तापमान में विकिरण के कारण कभी-कभी इतनी गिरावट हो जाती है कि तापमान -3°C तक पहुँच जाता है।

इस तरह उष्ण शुष्क रेगिस्तानी भागों में वार्षिक तथा दैनिक तापान्तर, दोनों अधिक होते हैं। सामान्य रूप से औसत वार्षिक तापान्तर 17°C से 22°C तक होता है, परन्तु कभी-कभी यह 22°C के ऊपर भी पहुँच जाता है। यह उच्च वार्षिक तापान्तर खुले आकाश, वनस्पति-रहित धरातल, कम आर्द्रता, भूमध्यरेखा से दूरी, रेतीली मिट्टी के कारण होता है। दैनिक तापान्तर (22°C-28°C) भी काफी ऊँचा होता है। कभी-कभी विशिष्ट दशाओं में दैनिक तापान्तर 40°C से भी ऊपर हो जाता है। 25 दिसम्बर, 1878 को ट्रिपोली में उच्चतम तापमान 33°C तथा न्यूनतम-2.8°C अंकित किया गया, जिस कारण तापान्तर 35.8°C हो गया।

उष्ण एवं उपोष्णकटिबन्धी गर्म रेगिस्तानी क्षेत्रों में सतत शुष्कता का निम्न कारणों से जनन होता है:

- इन क्षेत्रों तक शीतोष्ण चक्रवात नहीं पहुँच पाते हैं।
- विषुवत रेखा से दूर स्थिति के कारण अन्तरा उष्णकटिबन्धी अभिसरण (ITC) का यहाँ तक प्रभाव नहीं हो पाता है।
- व्यापारिक हवायें महाद्वीपों के पूर्वी भागों में वर्षा करने के बाद महाद्वीपों के पश्चिमी भागों तक पहुँचने पर नमी रहित हो जाती हैं, अत: वर्षा नहीं कर पाती हैं।
- प्रतिचक्रवाती दशाओं के कारण हवायें ऊपर से नीचे अवतलित होती हैं जिस कारण एडियाबेटिक विधि से गर्म होती हैं। परिणामस्वरूप वायुमण्डलीय अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है और शुष्क मौसम होता है।
- उपोष्णकटिबन्धी उच्च वायुदाब मेखला के कारण हवायें धरातलीय सतह पर अपसरित होती हैं। अपसरणीय (divergent) पवन परिसंचरण की दशा में वर्षा नहीं होती है, अपितु शुष्क मौसम होता है।
- धरातलीय सतह पर तापमान इतना अधिक रहता है कि जल की बूंदें सतह पर पहुँचने के पहले वाष्पीकृत हो जाती हैं।

3. वायुदाब, हवाएँ एवं वर्षा

उष्ण-शुष्क मरुस्थलीय जलवायु प्रदेश के ध्रुवोन्मुखी भाग उच्च वायुदाब की पेटी में पड़ते हैं, अत: अपसरण (divergence) होने के कारण प्रतिचक्रवातीय दशाएँ पायी जाती हैं।

ऊपर से आकर हवाएँ नीचे बैठती हैं, जिस कारण उनमें 'स्थिरता' आती है तथा वे शुष्क होती जाती हैं, परिणामस्वरूप वर्षा नहीं कर पाती हैं। व्यापारिक हवाओं का भी ध्रुवीय भाग ही इस प्रदेश में आता है। चूँकि व्यापारिक हवाएं उ० पू० (उ० गो०) दिशा से आती हैं, अत: महाद्वीपों के पश्चिमी भाग तक पहुँचते-पहुँचते शुष्क हो जाती हैं, ग्रीष्मकाल में स्थानीय निम्न वायुदाब के कारण कुछ हल्के चक्रवात निर्मित हो जाते हैं, परन्तु ये भी वर्षा नहीं कर पाते हैं, क्योंकि इनके ऊपर भी प्रतिचक्रवातीय संचरण होता रहता है जिस कारण वायु में अपेक्षित उठाव नहीं हो पाता है। ग्रीष्मकाल में अत्यधिक ऊष्मा के कारण गर्म हवाएँ चलने लगती हैं, जिस कारण मानव जीवन दूभर हो जाता है। सहारा और आस्ट्रेलिया के रेगिस्तान उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय वायुराशि की उत्पत्ति के लिए आदर्श क्षेत्र प्रस्तुत करते हैं।

उष्ण रेगिस्तानी क्षेत्रों की वार्षिक वर्षा इतनी कम तथा परिवर्तनशील है कि औसत वार्षिक वर्षा का निर्धारण कठिन कार्य है। इसके होते हुए भी औसत वर्षा 10 इंच (25 सेंमी०) से 15 इंच (37.5 सेंमी०) तक है, परन्तु ये आंकड़े अत्यन्त भ्रामक हैं, क्योंकि कितने ही ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ पर वर्षों तक नाममात्र की भी वर्षा नहीं होती है। सहारा के अधिकांश भाग में वार्षिक वर्षा 5 इंच (12.5 सेंमी०) से कम होती है। मिस्र के काहिरा में वार्षिक वर्षा 1.2 इंच, पेरू के लीमा में 2 इंच, आस्ट्रेलिया के विलियम क्रीक में 5.4 इंच, अरिजोना के यूमा में 3.3 इंच तथा द० प० अफ्रीका के तोलीथ में 2.3 इंच होती है। चिली के उत्तरी भाग में तो लगातार 5 से 10 वर्षों तक नाम मात्र की भी वर्षा नहीं हो पाती। इस प्रदेश में विस्तृत वर्षा न होकर स्थानीय रूप में होती है। वर्षा मुख्य रूप से संवहनीय प्रकार की होती है। कुछ घण्टों में ही वादियां जलप्लावित हो जाती हैं। भारतीय थार रेगिस्तान में स्थित दूरबाजी में केवल दो दिन के अन्दर ही 34 इंच की वर्षा अंकित की जा चुकी है, जबकि उसकी औसत वार्षिक वर्षा 5 इंच ही है। इस तरह की अचानक मूसलाधार वृष्टि के कारण भयंकर बाढ़ आ जाती है, जिस कारण बस्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, यातायात के साधन बर्बाद हो जाते हैं तथा नहरों में मलवा जमा हो जाने से उनका बहाव रुक जाता है। इस तरह की वृष्टि से प्राप्त जल कृषि के लिए सुलभ नहीं हो पाता है, क्योंकि उनका अधिकांश भाग वाही जल (runoff) के रूप में बह निकलता है तथा कुछ भाग का उच्च तापमान के कारण वाष्पीकरण हो जाता है।

आकाश प्राय: मेघरहित होते हैं, जिस कारण वर्ष भर धूप मिलती रहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा मेक्सिको के सोनोरन रेगिस्तान में शीतकाल में 75 प्रतिशत से अधिक धूप मिलती है तथा ग्रीष्मकाल में 90 प्रतिशत तक धूप सुलभ हो जाती है। सहारा के अधिकांश भाग में दिसम्बर तथा जनवरी में 1/10, जून से अक्टूबर क 1/30 बदली रहती है। इस तरह धरातल को सदा चिलचिलाती धूप का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी गहरे कपासी वर्षा (cumulo-nimbus) मेघ बन जाते हैं तथा तड़ितझंझा एवं बिजली की चमक के भी दर्शन हो जाते हैं, परन्तु वर्षा नहीं हो पाती है, क्योंकि जल की बूंदें धरातल पर पहुँचने के पहले ही वाष्पीकरण का शिकार हो जाती हैं।

4. वनस्पति

उष्ण मरुस्थलों की जलवायु वनस्पति के विकास के लिए प्रेरक नहीं होती है। यही कारण है कि अधिकांश भाग या तो वनस्पतिविहीन हैं (जैसे कि लीबिया तथा अरब के रेगिस्तान) और यदि वनस्पति है भी तो झाड़ियों के रूप में ही। यहाँ की वनस्पतियाँ विशेष प्रकार की होती हैं, ताकि सूखे का सामना कर सकें। इनकी जड़ें लम्बी होती हैं ताकि अधिक गहराई तक प्रविष्ट होकर नमी प्राप्त कर सकें। तने की छाल मोटी होती है। पत्तियाँ या तो होती ही नहीं और यदि होती भी हैं तो वे छोटी-छोटी तथा चिकनी एवं मोटी होती हैं, उन पर छोटे-छोटे कांटे होते हैं, रोम छिद्र बन्द होते हैं ताकि उनसे वाष्पीकरण-वाष्पोत्सर्जन (evapotranspiration) न हो सके। वनस्पतियाँ झाड़ियों के रूप में मरुद्यानों में मिलती हैं। कुछ आर्द्र भागों में छोटी-छोटी घासें भी मिलती हैं, परन्तु ये इतनी रूखी होती हैं कि पालतू जानवर इनका उपयोग नहीं कर सकते हैं। खजूर, बबूल, सेहुड़, नागफनी आदि वनस्पतियाँ हैं।

39.10 उपोष्ण कटिबन्धी शुष्क ग्रीष्म वाली जलवायु रूमसागरीय जलवायु (Cs जलवायु)

1. अवस्थिति

भूमध्य सागर या रूम सागर के आस-पास (चित्र 39.5) विस्तृत होने के कारण इनका नामकरण 'भूमध्य सागरीय/रूम सागरीय जलवायु' किया गया है। यद्यपि यह जलवायु प्रदेश भूपटल के केवल 1.7 प्रतिशत भाग पर ही फैला है तथापि यह सर्वाधिक सुनिश्चित जलवायु है, जिसको अन्य जलवायु प्रदेशों से आसानी से अलग किया जा सकता है। इस जलवायु की अग्रलिखित 3 ऐसी विशेषताएँ हैं कि इसके प्रभुत्व की पहचान शीघ्र हो जाती है: (i) शीतकाल में वार्षिक वर्षा का अधिकांश भाग प्राप्त होता है, जबकि ग्रीष्मकाल शुष्क व्यतीत होता है, (ii) ग्रीष्मकाल गर्म और उष्ण होता है, जबकि शीतकाल साधारण होता है, तथा (iii) वर्ष भर अधिक मात्रा में (खास कर ग्रीष्मकाल में) धूप की प्राप्ति होती रहती है।

भूमध्यसागरीय जलवायु का विस्तार भूमध्यरेखा के दोनों ओर 30^0 से 40^0 अक्षांशों के बीच महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में पाया जाता है। इस जलवायु प्रदेश के अन्तर्गत रूम सागर के चतुर्दिक फैले फ्रांस की रोन तथा सेओन नदियों की घाटियाँ, दक्षिणी इटली, यूनान, पश्चिमी टर्की, सीरिया, पश्चिमी इजरायल, उ०प० अफ्रीका का अलजीरिया प्रदेश, उ० अमेरिका में दक्षिणी कैलिफोर्निया, दक्षिणी अमेरिका में मध्य चिली,

दक्षिणी अफ्रीका का द० प० भाग तथा द० आस्ट्रेलिया के भाग सम्मिलित किये जाते हैं। रूमसागरीय जलवायु की विशिष्टता का प्रमुख कारण सूर्य की उत्तरायण तथा दक्षिणायन स्थिति के कारण वायुदाब की पेटियों में खिसकाव को ही बताया जा सकता है जिस कारण जाड़े में ये प्रदेश पछुवा हवा की पेटी में आ जाते हैं, परिणामस्वरूप चक्रवातीय वर्षा होती है। ग्रीष्मकाल में ये अयनवर्तीय उच्च वायुदाब के क्षेत्र में आ जाते हैं, जिस कारण प्रतिचक्रवातीय दशाओं के कारण वर्षा नहीं हो पाती है।

2. तापमान

शीतकाल में औसत तापमान 5°-10°C तक होता है, जबकि ग्रीष्मकालीन औसत तापमान 20° से 27°C तक पहुँच जाता है। इस प्रकार वार्षिक तापांतर 15° से 17°C या उससे भी अधिक हो जाता है। शीतकाल साधारण होता है। वास्तव में रूम सागरीय जलवायु अपने स्वास्थ्यवर्धक तथा आनन्दायक शीतकाल के लिए ही अधिक सुप्रसिद्ध है। रूमसागरीय प्रदेशों की चाहे तटीय स्थिति हो या आन्तरिक, प्रत्येक स्थान पर तापमान हिमांक से ऊँचा अवश्य रहता है। सर्वाधिक सर्द महीने का औसत तापमान 4.4° से 10°C के बीच रहता है। सैक्रामेण्टो का तापमान (जनवरी) 7.7°C, मार्शिलिज का 6.1°C, पर्थ का 12.8°C तथा रोम का 6.6°C होता है। कभी रात्रि का तापमान इतना गिर जाता है कि पाला पड़ जाता है, परन्तु इनकी संख्या कम ही होती है। लासएन्जिलेस, नेपल्स तथा सैक्रामेण्टो में न्यूनतम तापमान क्रमशः-2.2°C, -1°C तथा -8°C तक अंकित किया जा चुका है। परन्तु तापमान का इस तरह हिमांक के नीचे गिरना कुछ मिनट या घण्टे तक सीमित रहता है। कभी भी पूरे दिन तापमान हिमांक के नीचे नहीं रह पाता है। ग्रीष्मकालीन तापमान अधिक हो जाता है, जो कि अधिकांश भागों में 26°C से ऊपर हो जाता है, सैक्रामेण्टो की घाटी में स्थित रेड ब्लफ में 27.5°C (जुलाई), यूरोप के रूम सागरीय भाग में औसत तापमान 24°C, उत्तरी पश्चिमी अफ्रीका में 26.6°C तक होता है। परन्तु कम आर्द्रता के कारण ये उच्च तापमान कष्टदायक नहीं होते हैं। दैनिक उच्चतम तापमान और अधिक हो जाता है। कैलिफोर्निया की वृहत घाटी में औसत दैनिक उच्चतम तापमान 30° से 32°C या उससे अधिक हो जाता है। सैक्रामेण्टो में 45.5°C तथा रेडब्लफ में 46°C तक का उच्चतम तापमान अंकित किया जा चुका है। गर्मियों में रात्रि का तापमान 15.5°C तक पहुँच जाता है, जिस कारण दैनिक तापान्तर 30°C से ऊपर पहुँच जाता है।

तापमान की विभिन्नता के आधार पर रूमसागरीय जलवायु (Cs) को 2 उपप्रकारों में विभाजित किया जाता है : (1) Csa जलवायु, तथा (2) Csb जलवायु। Csa जलवायु की अवस्थिति तट से दूर आन्तरिक भाग में होती है। गर्मियों में तापमान बहुत अधिक हो जाता है। Csb जलवायु सागर तटीय भागों में पायी जाती है तथा गर्मियां सामान्य होती हैं।

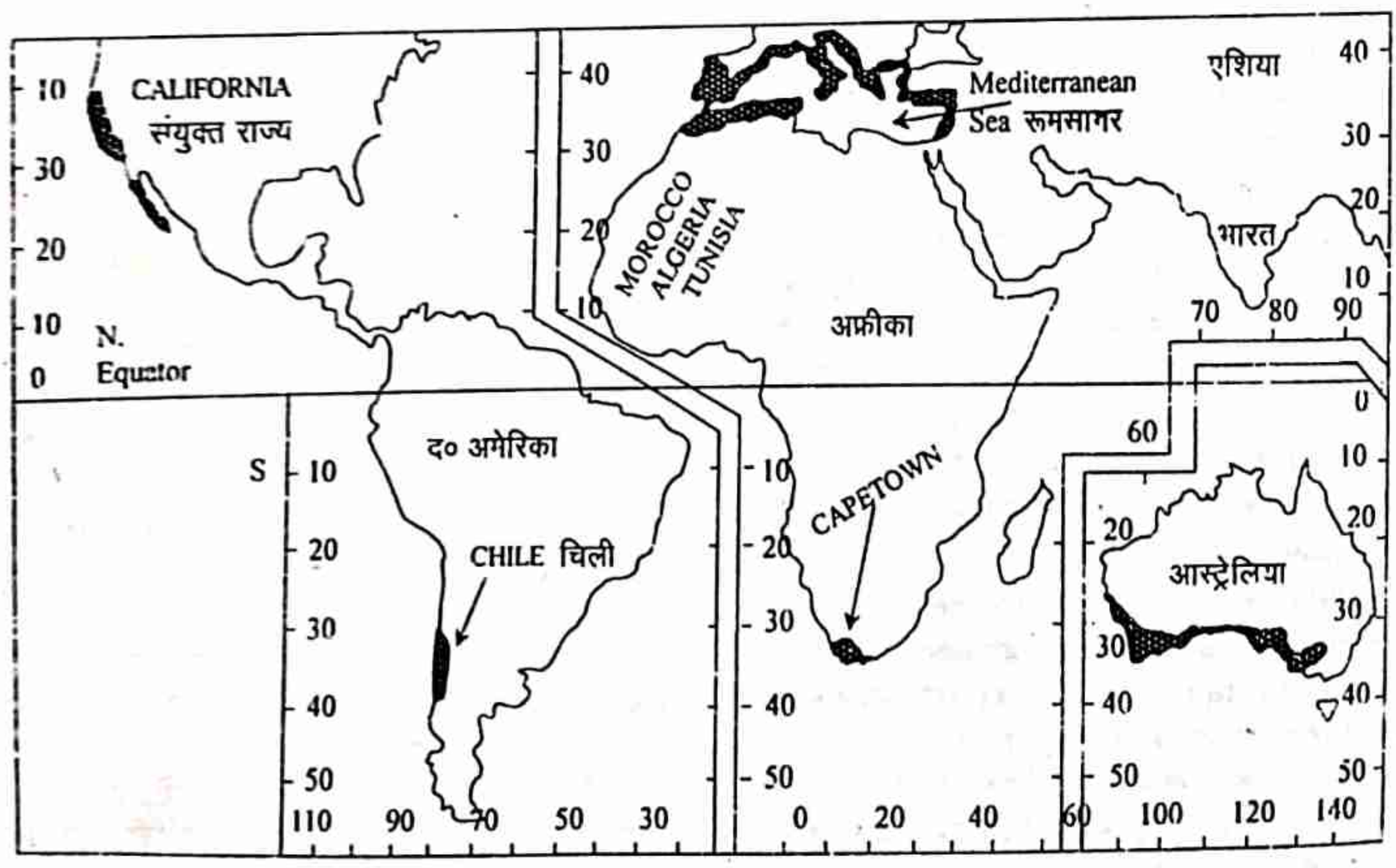

चित्र 39.5 : रूमसागरीय जलवायु का वितरण।

ज्ञातव्य है कि रूमसागरीय क्षेत्रों को छोड़ कर अन्य भागों में तापमान ठंडी महासागरीय धाराओं से प्रभावित तथा नियंत्रित होता है, यथा: कैलिफोर्नियन प्रदेश में कैलिफोर्निया की ठंडी धारा द्वारा; चिली के तटीय भाग में ठंडी पेरु की धारा द्वारा; केपटाउन प्रदेश में ठंडी बेंगुला धारा द्वारा आदि।

3. वायुदाब तथा हवाएँ

वास्तव में वायुदाब के ऋतुवत् स्थानान्तरण के कारण ही भूमध्य सागरीय जलवायु का आविर्भाव होता है। ग्रीष्मकाल में (उ० गो०) सूर्य की उत्तरायण स्थिति के कारण सभी वायुदाब की पेटियों में उत्तर की ओर खिसकाव हो जाता है, जिस कारण इन प्रदेशों पर उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च वायुदाब का विस्तार हो जाता है और प्रतिचक्रवातीय दशाएँ तथा शुष्क व्यापारिक हवाएँ व्याप्त हो जाती हैं। इसी समय सहारा से उत्पन्न सिराकों पवन उत्तर दिशा की ओर चलती है तथा इटली, स्पेन आदि तक पहुँच जाती है, जिनके साथ लाल रेत उड़ाकर लायी जाती हैं। ग्रीष्मकालीन हवाएँ प्राय: शुष्क होती हैं। शीतकाल में जब सूर्य की दक्षिणायन स्थिति होती है तो इन प्रदेशों के ऊपर पछुवा हवाओं का विस्तार हो जाता है, जिनके साथ मध्य अक्षांशों में उत्पन्न चक्रवातों का आगमन होने से वर्षा होती है। पछुआ हवाएँ चूँकि सागर के ऊपर से होकर आती हैं, अत: पश्चिमी तटीय भागों में पर्याप्त वर्षा प्रदान करती हैं। कुछ स्थानीय हवाएं, जैसे बोरा तथा मिस्ट्रल, शीतकाल में चलती हैं। ये ठंडी हवाएं होती हैं, जिनके आगमन के कारण तापमान नीचे गिर जाता है।

4. वर्षा

वार्षिक वर्षा का औसत 37 से 75 सेंमी० के बीच होता है, जिसका अधिकांश भाग शीतकाल में प्राप्त होता है। ग्रीष्मकाल प्राय: शुष्क होता है। शीतकालीन वर्षा पछुवा हवा के साथ आने वाले चक्रवातों द्वारा प्राप्त होती है। परन्तु जहाँ-कहीं भी पर्वतीय अवरोध सामने आ जाता है, वर्षा का रूप पर्वतीय भी हो जाता है। यद्यपि शीतकाल में सर्वाधिक वर्षा होती है परन्तु आकाश लम्बे समय तक मेघाच्छन्न नहीं रहता है। धूप बराबर मिलती रहती है। उदाहरण के लिए, रेड ब्लफ में वर्षा के दिन दिसम्बर में 11, जनवरी में 12, फरवरी में 10 तथा मार्च में 10 होते हैं। सन बर्नारडिनो, लासएंजिलेस प्रदेश में जनवरी में सबसे अधिक वर्षा का समय होता है, परन्तु वर्षा केवल सात दिन ही होती है। रेड ब्लफ के शीततम माह जनवरी की 11.5 सेंमी० तथा पर्थ के शीततम मास जुलाई की 16 सेंमी० की वर्षा शीतकाल में वर्षा की सघनता को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करती है। ग्रीष्मकाल में अत्यन्त कम वर्षा होती है। आकाश मेघरहित होते हैं तथा चिलचिलाती धूप होती है। उदाहरण के लिए, सेक्रामेण्टो में जुलाई-अगस्त में कोई वर्षा नहीं होती है और धूप 95-96 प्रतिशत होती है। ग्रीष्मकाल के तीन महीनों में लास एंजिलेस में वर्षा के दिन 1, सनबर्नारडिनो में 2 तथा रेडब्लफ में 3 होते हैं। वर्षा के क्षेत्रीय वितरण में भी असमानता पायी जाती है। उदाहरण के लिए, कैलिफोर्निया में द० से उ० तीन नगर सन डिगो, लासएंजिलेस तथा सैनफ्रांसिस्को में क्रमश: 24 सेंमी०, 29 सेंमी० तथा 58 सेंमी० वर्षा होती है।

5. वनस्पति

रूम सागरीय जलवायु में जाड़े में वर्षा की सघनता तथा ग्रीष्मकाल के लम्बे सूखे के कारण विशेष प्रकार की वनस्पति पायी जाती है, जो शीतकालीन वर्षा पर निर्भर होती है तथा ग्रीष्मकाल की चिलचिलाती धूप से अपनी रक्षा कर सके। वृक्षों की जड़ें काफी लम्बी होती हैं, ताकि अधिक गहराई तक प्रविष्ट होकर नमी प्राप्त कर सकें। छाल मोटी होती है, पत्तियाँ कम तथा छोटी-छोटी होती हैं। पत्तियाँ प्राय: मोटी तथा चिकनी होती हैं तथा रोम छिद्र बन्द होते हैं, जिस कारण वे वाष्पीकरण से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाती हैं। कुछ वृक्षों की पत्तियाँ गूदेदार होती हैं ताकि उनमें अधिक नमी रह सके। तने तथा टहनियों में काँटे भी होते हैं (कुछ के)। प्रमुख वृक्ष ओक, वालनट, चेस्टनट, साइप्रस, सिडार आदि हैं। इन वृक्षों की ऊँचाई कम होती है, परन्तु शाखाओं का विस्तार पूर्ण रूप से होता है। ये वृक्ष दूर-दूर पाये जाते हैं। जहाँ पर वर्षा अधिक होती है, वहाँ पर ये समूह में पाये जाते हैं। वनों में धरातल पर पीले रंग की झाड़ियाँ मिलती हैं जिनमें पत्तियाँ कम होती हैं। कहीं-कहीं पर छोटे-छोटे वृक्षों से युक्त झाड़ियों के झुण्ड मिलते हैं, जिन्हें कैलिफोर्निया में **चैपरल** (chaparral) तथा भूमध्यसागर के तटीय भागों में **माकी** (maqui) कहते हैं। रूम सागरीय प्रदेशों में उपर्युक्त वृक्षों के अलावा जैतून तथा शहतूत की भी अधिकता होती है। घासें कम पायी जाती हैं, क्योंकि घासों की उत्पत्ति तथा विकास के लिए उच्चतम तापमान के साथ वर्षा का संयोग होना चाहिए जो कि रूम सागरीय जलवायु में सम्भव नहीं है। कैलिफोर्निया तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया के कुछ भागों में घासें पायी जाती हैं, परन्तु ग्रीष्मकाल में सूख जाती हैं। इनके अलावा रूमसागरीय प्रदेश अपने रसीले फलों के लिए विश्वविख्यात हैं। इनमें प्रमुख हैं: नीबू, सन्तरा, जैतून, अंजीर, खूबानी, अंगूर आदि।

39.11 चीन तुल्य जलवायु, (Ca जलवायु) आर्द्र उपोष्ण जलवायु

1. अवस्थिति

चीन तुल्य अथवा आर्द्र उपोष्ण कटिबन्धीय जलवायु (Ca) का विस्तार दोनों गोलार्द्धों में 25^0 से 40^0 अक्षांशों के बीच पाया जाता है। (चित्र 39.6) इस जलवायु की स्थिति महाद्वीपों के पूर्वी भाग में पायी जाती है। इनके पश्चिम में आन्तरिक शुष्क रेगिस्तान (पा घाटी तथा डेन्यूब बेसिन अपवाद स्वरूप हैं), दक्षिण में मानसूनी जलवायु तथा उत्तर में आर्द्र महाद्वीपीय

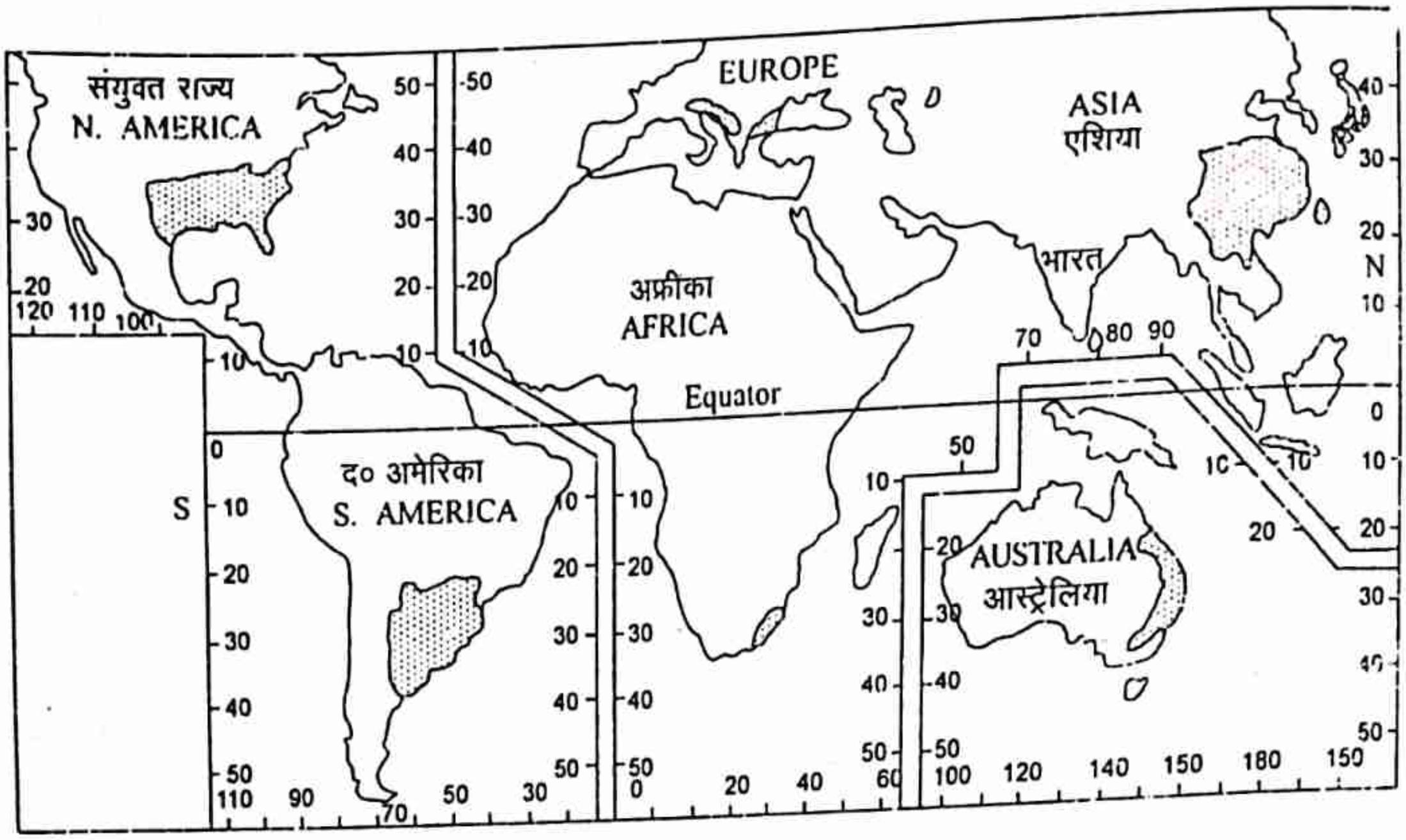

चित्र 39.6 : चीन तुल्य जलवायु (Ca) का क्षेत्रीय वितरण।

जलवायु के प्रदेश पाये जाते हैं। इसके अन्तर्गत द० पू० तथा द० चीन; पो बेसिन; डेन्यूब बेसिन; द० पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका; द० पू० ब्राजील; यूरुग्वे; दक्षिणी अफ्रीका का द० पू० भाग; द० पू० आस्ट्रेलिया आदि को सम्मिलित किया जाता है। (चित्र 39.6) इस तरह चीन तुल्य जलवायु तथा रूमसागरीय जलवायु एक ही अक्षांशों में पायी जाती हैं, परन्तु इनमें निम्न अन्तर पाये जाते हैं : (i) रूम सागरीय जलवायु महाद्वीपों के प० भाग में तथा चीन तुल्य जलवायु पूर्वी भाग में पायी जाती है, (ii) रूम सागरीय जलवायु में शीतकाल में वर्षा होती है तथा ग्रीष्मकाल शुष्क रहता है, जबकि चीन तुल्य जलवायु में गर्मी में सर्वाधिक वर्षा तो होती है, परन्तु वर्ष भर वर्षा होती रहती है, तथा (iii) रूम सागरीय जलवायु की अपेक्षा चीन तुल्य जलवायु में वार्षिक वर्षा अधिक होती है। चीन तुल्य जलवायु तथा मानसूनी जलवायु में पर्याप्त समता होती है, इसी कारण इसे 'मानसून से मिलती-जुलती या उप मानसूनी जलवायु' भी कहते हैं।

2. तापमान

चीन तुल्य जलवायु प्रदेशों के तटीय भागों से होकर गर्म सागरीय धाराएं चलती हैं, जिस कारण समीपी भागों के तापमान पर उनका प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। ग्रीष्मकाल का औसत तापमान 24° से 26.6° C के बीच होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के चार्ल्सटन (द० कैरोलिना) में जुलाई का औसत तापमान 28° C, माण्टगोमरी (अलाबामा) में 28° C तथा शंघाई (चीन) में 27.2° C, दक्षिणी गोलार्द्ध में जनवरी (सबसे गर्म मास) में ब्रिस्बेन (आस्ट्रेलिया) का तापमान 25° C, डर्बन (द० अफ्रीका) का 25° C, तथा ब्यूनस आयर्स का 23.3° C अंकित किया जाता है। माण्टगोमरी में जुलाई में उच्चतम तापमान 41° C तथा अगस्त में 41.6° C तक अंकित किया जा चुका है। सवाना (जार्जिया) में जुलाई में 41.6° C तक का उच्चतम तापमान अंकित किया जा चुका है। उच्च तापमान के साथ-साथ वायु में वास्तविक (निरपेक्ष) तथा सापेक्षिक आर्द्रता की मात्रा भी अधिक होती है, जिस कारण मौसम कष्टदायक हो जाता है। रात्रि के समय बदली के कारण विकिरण द्वारा तापमान कम ही नष्ट हो पाता है, परिणामस्वरूप रात्रि में भी ऊँचा तापमान बना रहता है, जिस कारण दैनिक तापान्तर बहुत अधिक नहीं हो पाता है। उदाहरण के लिए, जुलाई में माण्टगोमरी का उच्चतम तथा न्यूनतम तापमान क्रमशः 32.8°C तथा 22.2°C है, परिणमस्वरूप तापान्तर केवल 10.6°C का ही होता है।

शीतकाल साधारण सर्दीवाला होता है। औसत तापमान 6.6°C से 10°C तक होता है। माण्टगोमरी में औसत शीतकालीन तापमान 9.4°C, शंघाई में 3.3°C, ब्यूनस आयर्स में 10°C तथा सिडनी में 11.7°C होता है। गर्म जलधाराओं के कारण तापमान अधिक नहीं होने पाता है। दोपहर के समय तापमान सामान्य रूप से 12.8°C से 15.5°C तथा रात्रि में 1.7°C से 7.2°C तक अंकित किया जाता है। वार्षिक तापान्तर न्यून होता है। परन्तु

वार्षिक तापान्तर में एक स्थान से दूसरे स्थान पर महाद्वीपों के आकार तथा अक्षांश के आधार पर पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। ब्यूनस आयर्स में वार्षिक तापान्तर 12.8°C, सिडनी में 12.8°C, माण्टगोमरी में 10.5°C तथा शंघाई में 24°C अंकित किया जाता है। वास्तव में स्थलभाग जितना ही बड़ा होता है और शीत काल में मानसून हवाएं जितनी ही अधिक सक्रिय होती हैं, वार्षिक तापान्तर उतना ही अधिक हो जाता है। शीतकाल में ध्रुवीय हवाओं के आगमन से कुछ स्थानों पर तापमान हिमांक तक पहुँच जाता है।

3. वायुदाब तथा हवाएं

ग्रीष्मकाल में स्थलीय भागों में न्यून दाब तथा महासागरीय भागों में उच्च वायुदाब की स्थिति हो जाती है, जिस कारण मानसून का आविर्भाव हो जाता है। इस कारण (मुख्य रूप से चीन तथा द० पू० संयुक्त राज्य अमेरिका) उष्ण कटिबन्धीय सागरीय वायु राशि (mT) का स्थलीय भागों पर प्रसार हो जाता है। उ० गोलार्द्ध में इनकी दिशा द० पू० तथा द० गोलार्द्ध में (गर्मी) उ० पू० होती है। उच्च वायुदाब दक्षिणी-पश्चिमी तथा उत्तरी मध्य प्रशान्त महासागर में तथा अटलाण्टिक महासागर में एजोर्स के पास बन जाता है। इन सागरीय हवाओं के साथ उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात भी आते हैं तथा वर्षा प्रदान करते हैं। इन चक्रवातों को चीन में 'टाइफून', यू० एस० ए० में 'हरिकेन' तथा आस्ट्रेलिया में दक्षिणी बस्टर्स (southern busters) कहते हैं। शीतकाल में वायुदाब की स्थिति बदल जाती है। स्थलीय भागों पर उच्च वायुदाब तथा महासागरीय भागों पर निम्न वायुदाब बन जाता है तथा हवाएँ स्थल से जल की ओर चलने लगती हैं।

4. वर्षा

चीन तुल्य जलवायु प्रदेशों में औसत वार्षिक वर्षा 75 से 150 सेंमी० के बीच होती है, परन्तु वर्षा के प्रादेशिक तथा मौसमी वितरण में पर्याप्त अन्तर मिलता है। सामान्य रूप से वर्षा तट से आन्तरिक भागों की ओर जाने पर कम होती जाती है। वर्षा के मौसमी वितरण के आधार पर इस जलवायु के दो उपक्षेत्र अलग किये जाते हैं: (i) वे क्षेत्र जहाँ पर वर्षा वर्ष भर होती है (Caf), तथा (ii) वे क्षेत्र जहाँ पर शीतकाल शुष्क होता है। कुल मिलाकर चीन तुल्य जलवायु में ग्रीष्मकाल में निश्चय ही वर्षा अधिक होती है। जहाँ पर मानसून का विकास अधिक हो जाता है, वहाँ पर शीतकाल शुष्क होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के मिसीसिपी के दोनों ओर के भागों में वर्षा जाड़े में अधिक होती है, परन्तु इसे अपवाद समझना चाहिए।

ग्रीष्मकालीन वर्षा सम्वहनीय प्रकार की होती है, जिसमें वर्षा तड़ितझंझा के साथ बादलों की गरज तथा बिजली की चमक के साथ होती है। दक्षिणी-पूर्वी संयुक्त राज्य में इस तरह की वर्षा का अधिकतम विकास देखने को मिलता है, जहाँ पर वर्ष भर में औसत रूप में 60 (फ्लोरिडा में 90) तड़ितझंझा आते हैं। ये तड़ितझंझा उष्ण कटिबन्धीय सागरीय (mT) अस्थिर वायुराशि के साथ आते हैं। संयुक्त राज्य में कुछ वर्षा उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों (हरिकेन) द्वारा भी होती है। हरिकेन दक्षिणी एवं दक्षिणी-पूर्वी संयुक्त राज्य को अधिक प्रभावित करते हैं। खाड़ी तटीय प्रान्त, खासकर ल्युसियाना, टेक्सास, अलाबामा तथा फ्लोरिडा हरिकेन से सर्वाधिक दुष्प्रभावित होते हैं। 8 सितम्बर सन् 1900 में गाल्वेस्टन तथा टेक्सास में आये हरिकेन प्रकोप का इतना बड़ा दुष्प्रभाव हुआ कि हरिकेन के द्वारा जनित प्रचण्ड ज्वारीय तरंग (तूफान तरंग, storm surge) तटीय भाग के अन्दर तक प्रविष्ट होकर 3 से 3.5 मीटर गहरे जल प्लावन द्वारा 6000 लोगों को मौत के घाट उतार दिया। तड़ितझंझा से युक्त टारनैडो वर्षा प्रदान तो करते हैं परन्तु विनाश अधिक करते हैं। हरिकेन की तरह ही टारनैडो भी दक्षिणी एवं दक्षिणी-पूर्वी संयुक्त राज्य को प्रभावित करते हैं। संयुक्त राज्य में जब किसी खास दिन कई टारनैडो समूह में आते हैं तो उसे **टारनैडो विप्लव** (tornado outbreak) कहते हैं। इसी तरह के टारनैडो विप्लव की एक घटना 1884 में घटी थी जब 60 टारनैडो ने वर्जीनिया, उत्तरी तथा दक्षिणी कैरोलाइना, जार्जिया, अलाबामा, मिसीसिपी, टेनेसी तथा केन्टुकी प्रान्तों में प्रहार किया था (विशेष अध्ययन के लिए देखिये अध्याय 12 का अनुभाग 12.6, टारनैडो)।

चीन तथा जापान में ग्रीष्मकाल की वर्षा की मात्रा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है : (i) प्रारम्भिक ग्रीष्मकाल की अधिकतम वर्षा का काल, (ii) अन्तिम ग्रीष्मकाल का अधिकतम वर्षा का काल, तथा (iii) मध्य ग्रीष्मकाल का न्यूनतम वर्षा का समय, यहाँ पर ग्रीष्मकालीन वर्षा चक्रवातों द्वारा होती है। इसके अलावा चीन में टाइफून तथा द० पू० संयुक्त राज्य में हरिकेन द्वारा भी वर्षा होती है। इनका आगमन ग्रीष्मकाल के अन्तिम समय में होता है। ये इतने भंयकर होते हैं कि इनसे भंयकर बाढ़ आ जाती है तथा फसलें नष्ट हो जाती हैं। कभी-कभी तो ये 120 किमी० प्रति घण्टे की चाल से चलते हैं। शीतकाल में वर्षा कम होती है तथा वह चक्रवातीय प्रकार की होती है। यह वर्षा कई घण्टों तक होती रहती है, परन्तु वर्षा की मात्रा निहायत कम होती है। इस तरह शीतकाल में कम वर्षा के होते हुए भी गर्मी की अपेक्षा बदली अधिक रहती है तथा वर्षा के दिन अधिक होते हैं। उदाहरण के लिए, शंघाई की जनवरी की मात्र 5 सेंमी० की वर्षा 12 दिनों में होती है, जबकि अगस्त की 15 सेंमी० की वर्षा केवल 11 दिनों में ही हो जाती है। शीतकाल में आकस्मिक रूप से हिमपात भी हो जाता है, परन्तु यह अधिक दिनों तक टिक नहीं पाता है।

5. वनस्पति

चीन तुल्य जलवायु में उच्च तापमान तथा पर्याप्त वर्षा के कारण वनस्पति का विकास भली प्रकार हुआ है। मुख्य रूप से

अधिक वर्षा वाले भागों में सघन वन मिलते हैं, परन्तु सामान्य वर्षा वाले भागों में घास ही वनस्पति का प्रतिनिधित्व करती है। कहीं-कहीं पर तो घासों का विस्तार इतने विस्तृत भागों में हो गया है कि उन्हें वनस्पति जगत् में विशिष्ट नाम से जाना जाता है। उदाहरण के लिए, अर्जेनटाइना में पम्पाज तथा युरूग्वे के घास के मैदान विश्वविख्यात हैं। सामान्य रूप से चौड़ी पत्ती तथा नुकीली पत्तीवाले मिश्रित वन पाये जाते हैं। चौड़ीपत्ती वाले वन कहीं पर पर्णपाती होते हैं तो कहीं पर सदापर्णी। इसका प्रमुख कारण वर्षा की मात्रा में अन्तर का होना है। चीन तथा द० पू० आस्ट्रेलिया में चौड़ी पत्ती के सदापर्णी वन मिलते हैं। द० पू० संयुक्त राज्य अमेरिका के तटीय भाग के उच्चस्थ रेतीले भागों में कोणधारी वन (पाइन) तथा निचले तर भागों में चौड़ी पत्तीवाले पर्णपाती बन मिलते हैं, जिनमें साइप्रस, ऐश, चेस्टनट तथा रेंडगम प्रमुख हैं। चौड़ी पत्ती तथा नुकीली पत्ती वाले मिश्रित वनों में ओक, चेस्टनट तथा पाइन प्रमुख होते हैं। अधिकांश वनों को काट करके कृषि भागों में परिवर्तित कर दिया गया है।

39.12 मध्य अक्षांशीय स्टेपी जलवायु (BSk)

1. अवस्थिति

मध्य अक्षांशीय स्टेपी जलवायु का विस्तार शीतोष्ण घास प्रदेश (temperate grasslands) में पाया जाता है। स्टेपी जलवायु मध्य अंक्षाशों में महाद्वीपों के आन्तरिक भागों में पायी जाती है (चित्र 39.7)। यद्यपि स्टेपी जलवायु प्रदेश पछुवा हवाओं के पेटी में अवस्थित हैं परन्तु अपनी आन्तरिक स्थिति के कारण पर्याप्त वर्षा नहीं प्राप्त कर पाते हैं, अत: यहाँ के घास के मैदानों में वृक्षों का प्राय: अभाव पाया जाता है। दक्षिणी गोलार्द्ध के शीतोष्ण घास प्रदेश महाद्वीपों के दक्षिणी-पूर्वी किनारे वाले भागों में पाये जाते हैं (चित्र 39.7)। अत: उत्तरी गोलार्द्ध में अवस्थित शीतोष्ण घास मैदानों की अपेक्षा अधिक वर्षा प्राप्त करने के कारण अधिक माडरेट जलवायु वाले हैं क्योंकि सागरीय पर्यावरण के करीब होने के कारण इनमें सागरीय प्रभाव अधिक होता है। यूरेशिया के शीतोष्ण घास प्रदेश, जिन्हें **स्टेपी** कहा जाता है, सर्वाधिक विस्तृत हैं क्योंकि इनका विस्तार ब्लैक सागर के किनारे से प्रारंभ होकर ग्रेट रूसी मैदान से होते हुए अल्टाई पर्वतों की पदस्थली तक 3,200 किमी० की लम्बाई में पाया जाता है। कतिपय उच्च स्थलीय भागों द्वारा ही रूसी स्टेपी की अविच्छिन्निता कहीं-कहीं पर भंग होती है। इस प्रमुख स्टेपी प्रदेश के अलावा युरेशिया में कुछ छिट-पुट स्टेपी क्षेत्र भी विकसित हुए हैं, यथा : हंगरी में **पुस्ताज** तथा मंचूरिया के मैदान का **मंचूरियाई घास मैदान** (चित्र 39.7)। उत्तरी अमेरिका के कनाडा तथा संयुक्त राज्य में विस्तृत शीतोष्ण घासमैदान को स्थानीय स्तर पर **प्रेयरीज** कहते हैं। प्रेयरीज का

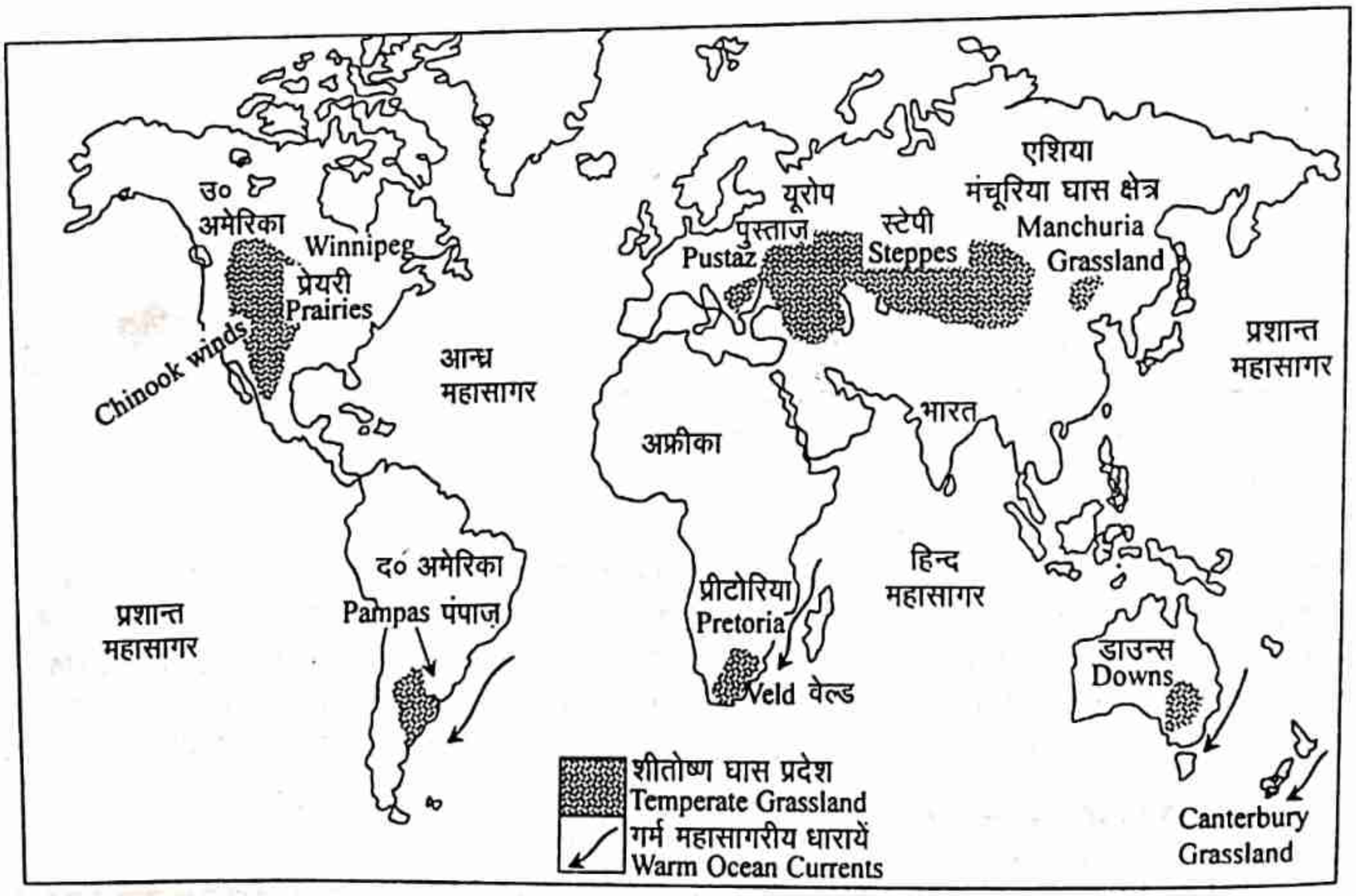

चित्र 39.7 : शीतोष्ण स्टेपी जलवायु का विश्व वितरण।

विस्तार पश्चिम में राकीज़ पर्वतमाला की पदस्थली से लेकर पूर्व में शीतोष्ण पर्णपाती वनों तक पाया जाता है (चित्र 39.7)। दक्षिणी गोलार्द्ध के शीतोष्ण घासमैदान को दक्षिणी अमेरिका के अर्जेनटीना एवं युरूग्वे में **पम्पाज**, दक्षिणी अफ्रीका में **बुश वेल्ड**, दक्षिणी आस्ट्रेलिया की मुरे-डार्लिंग बेसिन में **डाउन्स** तथा न्यूजीलैंण्ड में **कैण्टरबरी घास मैदान** कहते हैं (चित्र 39.7)।

2. तापमान

शीतोष्ण स्टेपी जलवायु महाद्वीपीय जलवायु की विशेषता वाली होती है जिसमें ग्रीष्म ऋतु एवं शीत ऋतु के तापमानों में भारी अन्तर होता है परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध के शीतोष्ण घासमैदानों की जलवायु अधिक माडरेट होती है अत: मौसमी तापीय विषमता उत्तरी गोलार्द्ध के स्टेपी जलवायु प्रदेशों की अपेक्षा कम होती है। ग्रीष्मकालीन मौसम गर्म होता है तथा जुलाई (उत्तरी गोलार्द्ध) का तापमान 20°C (विनीपेग, कनाडा) के आस-पास तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में जनवरी (ज्ञातव्य है कि दक्षिणी गोलार्द्ध में जनवरी में ग्रीष्मकाल होता है) का तापमान 22°C (प्रीटोरिया, दक्षिणी अफ्रीकी संघ) के आस-पास रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध में शीत ऋतु सागर से दूर होने के कारण अत्यधिक सर्द हो जाती है। विनीपेग (कनाडा) का जनवरी का तापमान -20°C हो जाता है। शीतकालीन औसत तापमान ताशकंद (उजबैक रिपब्लिक, उजबेकिस्तान) में 0°C तथा सेमीपलाटिन्स्क (कजाख रिपब्लिक, कजाखिस्तान) 0°C से कम रहता है। सागर के करीब होने के कारण दक्षिणी गोलार्द्ध की स्टेपी जलवायु प्रचण्ड न होकर माडरेट रहती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में शीतकालीन औसत तापमान 1°C से 12°C के मध्य रहता है।

स्टेपी जलवायु में उच्च वार्षिक तापान्तर रहता है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य के वायोमिंग प्रान्त के लैरामाइन का वार्षिक तापान्तर 23.4°C (जनवरी का औसत तापमान -6.7°C तथा जुलाई का औसत तापमान 16.7°C) होता है, जबकि कनाडा के विनीपेग का वार्षिक तापान्तर 40°C तक हो जाता है। सागरीय प्रभाव के कारण दक्षिणी गोलार्द्ध के स्टेपी जलवायु प्रदेश में उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा वार्षिक तापान्तर कम होता है (10°C से 12°C तक)। स्टेपी जलवायु प्रदेश में वार्षिक तापान्तर के समान ही दैनिक तापान्तर भी ऊँचा होता है।

3. वर्षा

स्टेपी घासप्रदेश की जलवायु वाले विभिन्न क्षेत्रों की औसत वार्षिक वर्षा 250 से 750 मिलीमीटर तक होती है। उत्तरी गोलार्द्ध में शीतकालीन अधिकांश वर्षा हिमपात के रूप में होती है तथा उत्तरी शीतकाल में अधिकांश स्टेपी क्षेत्र हिमाच्छादित रहते हैं। वार्षिक वर्षा का अधिकांश ग्रीष्मकाल में प्राप्त होता है। उत्तरी गोलार्द्ध में सागर से बढ़ती दूरी के साथ वर्षा की मात्रा घटती जाती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में सागरीय प्रभाव के कारण उत्तरी गोलार्द्ध के स्टेपी प्रदेशों की तुलना में वार्षिक वर्षा का औसत अधिक होता है।

4. प्रादेशिक विशेषतायें

उल्लेखनीय है कि शीतोष्ण घासप्रदेश का सर्वाधिक विस्तार युरेशिया में हुआ है जिसे स्थानीय स्तर पर **स्टेपी** कहते हैं, अत: क्षेत्रीय विस्तार में स्टेपी की श्रेष्ठता के आधार पर ही दोनों गोलार्द्धों के शीतोष्ण घासप्रदेशों की जलवायु को **स्टेपी जलवायु** कहा जाता है। परन्तु दोनों गोलार्द्धों में विस्तृत स्टेपी जलवायु के क्षेत्रों में प्रादेशिक विभिन्नतायें अवश्य पायी जाती हैं। अत: स्टेपी जलवायु प्रदेशों की जलवायु एवं वानस्पतिक पक्षों में व्याप्त विभिन्नताओं का वर्णन करना आवश्यक है।

(1) **युरेशियन स्टेपी** जलवायु का रूस के सर्वाधिक क्षेत्र पर विकास हुआ है। स्टेपी जलवायु प्रदेश का विस्तार पूर्वी यूरोप से पश्चिमी साइबेरिया तक उत्तर में शीतोष्ण कोंणधारी वनों तथा दक्षिण-पश्चिम में शुष्क प्रदेश के मध्य हुआ है। युरेशियन स्टेपी जलवायु प्रदेशों को दो उपप्रदेशों में विभाजित किया जाता है; (1) **वन स्टेपी**, इसमें वार्षिक वर्षा 500 से 600 मिलीमीटर तक होती है; (2) **घास स्टेपी**, इसमें वार्षिक वर्षा 400 से 500 मिलीमीटर तक होती है। उत्तर से दक्षिण जाने पर वनस्पतियों का निम्न अनुक्रम (sequence) पाया जाता है : (1) **वन स्टेपी** में ओक, एल्म, लाइम्स, मैपिल, बर्च, आस्पेन तथा विलो पाये जाते हैं। (2) **मीडो स्टेपी** में टर्फ की प्रजाति की घासों, यथा : stipa तथा fescue की बहुलता होती है, इनके अलावा कई तरह के शाकीय पुष्पी पौधे भी विकसित हुए हैं; (3) **घास स्टेपी** में मुख्यतया टसक प्रजाति की घासें तथा कई प्रकार की पुष्पी जेरोफाइटिक झाड़ियों की प्रजातियाँ भी विकसित हुई हैं; (4) **अर्द्ध शुष्क जेरोमार्फिक स्टेपी** में औसत वार्षिक वर्षा 300 से 350 मिलीमीटर तक होती है; यहाँ पर जेरोफाइटिक एवं फेदर घासों की प्रजातियाँ पायी जाती हैं।

(2) **उत्तरी अमेरिकी प्रेयरी** का संयुक्त राज्य एवं कनाडा में पश्चिम में राकी पर्वतमाला की पूर्वी पदस्थली से प्रारम्भ होकर पूर्व में शीतोष्ण पर्णपाती वनों के मध्य विकास हुआ है। पूर्व से पश्चिम जाने पर वार्षिक वर्षा की मात्रा कम होती जाती है, अर्थात पूर्वी सीमा पर औसत वार्षिक वर्षा 1050 मिलीमीटर जबकि पश्चिमी सीमा पर मात्र 400 मिलीमीटर तक ही होती है। इस आधार पर (पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ती शुष्कता के आधार पर) उत्तरी अमेरिकी प्रेयरी जलवायु को तीन उप प्रकारों में विभाजित किया जाता है : (1) **उच्च घास प्रेयरी** में 1.5 सेंमी० से लेकर 200 सेंमी० ऊंची घासों का विकास हुआ है। इसका प्रमुख कारण अपेक्षाकृत अधिक वार्षिक वर्षा का होना है। बीच-बीच में ओक तथा हिकरी के पेड़ भी पाये जाते

हैं। (2) **मिश्रित प्रेयरी** का सर्वाधिक विकास संयुक्त राज्य के 'ग्रेट प्लेन्स' में हुआ है। इस भाग में मध्यम ऊंचाई वाली एवं छोटी घासों का मिश्रित रूप विकसित हुआ है। (3) **छोटी घास प्रेयरी** का 'ग्रेट प्लेन्स' के पश्चिमी भाग में विकास हुआ है। 60 सेंमी० तक की ऊंचाई वाली छोटी घासों की बहुलता पायी जाती है।

(3) **दक्षिणी अमेरिकी पम्पाज** का अर्जेन्टीना के लगभग 12 प्रतिशत क्षेत्र पर विकास हुआ है। यह जलवायु प्रदेश युरेशियन स्टेपी जलवायु प्रदेश की तुलना में अधिक आर्द्र है। औसत वार्षिक वर्षा पूर्व (900 मिलीमी०, तट के पास) से पश्चिम (450 मिलीमी०) की ओर कम होती जाती है। इस आधार पर पम्पाज को दो उपप्रकारों में विभाजित किया जाता है : (1) **आर्द्र पम्पाज**, तथा (2) **अर्द्ध आर्द्र पम्पाज़**। आर्द्र पम्पाज का अर्जनटीना के पूर्वी भाग में विकास हुआ है। इसमें ऊँची घासें पायी जाती हैं (अपेक्षाकृत अधिक वर्षा एवं आर्द्रता के कारण) जबकि पश्चिम की ओर शुष्कता में वृद्धि के कारण पश्चिमी अर्द्ध आर्द्र पम्पाज में छोटी घासें विकसित हो पायी हैं।

(4) **अफ्रीकी वेल्ड** जलवायु दक्षिणी अफ्रीकी संघ में 1500 से 2000 मीटर की ऊंचाई वाले उच्च पठारी भागों पर पायी जाती है। अफ्रीकी वेल्ड के अर्न्तगत दक्षिणी अफ्रीकी संघ के ट्रान्सवाल तथा आरेन्ज फ्री स्टेट एवं लिसोथो के कुछ भागों को सम्मिलित किया जाता है। वर्षा की अनिश्चितता, बढ़ती शुष्कता, रात में पाले (frost) की प्रचण्डता तथा शीतकाल में उच्च दैनिक तापान्तर के कारण पौधों का विकास सम्भव नहीं हो पाया है, अत: अफ्रीकी वेल्ड में **वास्तविक चरम घास प्रदेश** (true climax grass-lands) विकसित हुआ है।

(5) **आस्ट्रेलियाई डाउन्स** घास प्रदेश का विकास आस्ट्रेलिया के द० पू० भागों एवं उत्तरी तस्मानिया में हुआ है। इस प्रदेश की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं : (1) उत्तरी गोलार्द्ध के शीतोष्ण घासप्रदेश की अपेक्षा शीत ऋतु गर्म होती है, तथा (2) घास एवं पेड़ मिश्रित रूप में मिलते हैं। पेड़ों में युकेलिप्टस की कई प्रजातियाँ पायी जाती हैं। औसत वार्षिक वर्षा की मात्रा दक्षिणी तटीय भागों (1520 मिलीमीटर) से उत्तर की ओर आन्तरिक भागों (635 मिलीमीटर) में कम होती जाती है। इस घास प्रदेश को 3 उपप्रदेशों में विभाजित किया जाता है। : (1) शीतोष्ण ऊंची घास वाला प्रदेश, (2) शीतोष्ण छोटी घास वाला प्रदेश, तथा (3) जेरोफाइटिक घास प्रदेश।

39.13 पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु (Cb जलवायु)

1. अवस्थिति तथा वितरण

पश्चिमी यूरोपीय जलवायु की स्थिति दोनों गोलार्द्धों में 40^0 से 65^0 अंक्षाशों के बीच महाद्वीपों के पश्चिमी किनारे पर पायी जाती है, जिसके दक्षिण में भूमध्य सागरीय जलवायु प्रदेश, उत्तर में अर्द्ध आर्कटिक जलवायु प्रदेश तथा पूर्व में या तो महाद्वीपीय जलवायु या शुष्क जलवायु पायी जाती है। आन्तरिक भागों में इस जलवायु के विस्तार पर धरातलीय बनावट का अधिक प्रभाव पड़ता है। जहाँ पर तट के समानान्तर पर्वतीय अवरोध मिलता है, वहाँ पर यह जलवायु एक संकरी पट्टी तक ही सीमित होती है। उदाहरण के लिए, उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका में राकीज तथा एण्डीज के कारण पश्चिमी यूरोपीय जलवायु का संकुचित विस्तार पाया जाता है। इसके विपरीत जहाँ पर इस तरह के अवरोध नहीं मिलते हैं, जैसा कि पश्चिमी यूरोप का तटीय भाग है, वहाँ पर सागरीय हवाएं अधिक अन्दर तक प्रविष्ट होकर जलवायु का विस्तार कर देती हैं। इस जलवायु के अर्न्तगत उ०प० यूरोप के ब्रिटिश द्वीप समूह, पश्चिमी नार्वे, डेनमार्क, उ०प० जर्मनी तथा प० फ्रांस, संयुक्त राज्य के वाशिंगटन तथा ओरेगन, कनाडा के ब्रिटिश कोलम्बिया, चिली तथा न्यूजीलैण्ड एवं तस्मानिया को सम्मिलित किया जाता है।

2. तापमान

प० यूरोपीय जलवायु प्रदेश में तापमान पर सागरीय जलधाराओं तथा प्रचलित वायु का पर्याप्त प्रभाव होता है। कुल मिलाकर इनका समकारी प्रभाव ग्रीष्मकालीन तथा शीतकालीन तापमान में अन्तर को कम कर देता है। गर्मी का मौसम अधिक गर्म नहीं हो पाता है। औसत तापमान 15^0 से 21^0 सेन्टीग्रेड के बीच रहता है। इस तरह गर्मियाँ सामान्य सर्द होती हैं। ग्रीष्मकाल में, इस तरह, तापमान की ऋणात्मक विसंगति (negative thermal anomaly) पायी जाती है। अर्थात् इन प्रदेशों में विभिन्न अंक्षाशों पर जितना औसत तापमान होना चाहिए, उससे कम तापमान अंकित किया जाता है। गर्मियों में तापमान के क्षेत्रीय वितरण में अन्तर न्यून होता है। सियटिल (वेल्स) में जुलाई का औसत तापमान 17^0C होता है। आर्द्रता एवं मेघाच्छन्नता के कारण रात्रि में तापमान में अधिक गिरावट नहीं हो पाती है। जुलाई महीने में औसत दैनिक तापमान सियटिल में 12.8^0C, बेलिंघम (वेल्स) में 10.6^0C रहता है, जब कि उन्हीं स्थानों पर औसत दैनिक उच्चतम तापमान क्रमश: 22.8^0C और 21.7^0C रहता है, जिस कारण दैनिक तापान्तर क्रमश: 10^0C तथा 11.1^0C रहता है। कभी-कभी दिन का तापमान 32^0C से 38^0C तक पहुँच जाता है, परन्तु इसकी स्थिति क्षणिक होती है।

सर्दियाँ सामान्य होती हैं तथा गर्म जलधाराओं के कारण तापमान की 'धनात्मक विसंगति' (positive anomaly) पायी जाती है। अर्थात जितना कम तापमान होना चाहिए, उससे अधिक रहता है। उ० प० यूरोप के तटीय भागों में 'गर्म अटलांटिक ड्रिफ्ट' के कारण तापमान (अंक्षाश के मुताबिक) 11^0C से 17^0C अधिक हो जाता है। परिणामस्वरूप समताप

रेखाएँ अंक्षाशों का अनुसरण न करके तट के समानान्तर हो जाती हैं। शीतकालीन तापमान के क्षेत्रीय वितरण में अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर तट से आन्तरिक भाग की ओर बढ़ता जाता है। रात्रि में प्राय: न्यूनतम तापमान हिमांक के नीचे चला जाता है। लन्दन में अब तक न्यूनतम -15.5^{0}C तक अंकित किया जा चुका है। इसी तरह सियटिल में न्यूनतम तापमान (-) 16^{0}C तक जा चुका है। इस तरह रात्रि में कम तापमान के कारण जनवरी-फरवरी के महीने में प्राय: पाला पड़ जाया करता है। शीतलहरी का आगमन सामान्य बात होती है।

औसत वार्षिक तापान्तर 10^0 से 20^0 फा० के बीच होता है। वैलेण्टिया (आयरलैण्ड) में तापान्तर 15^0 फा०, लन्दन में 23^0 फा० तथा वाल्डिविया (चिली) एवं सियटिल में 24^0 फा० होता है।

3. वायुदाब तथा हवाएं

प० यूरोपीय जलवायु प्रदेश पछुवा हवा की पेटी में आते हैं जो कि वर्ष भर निरन्तर चला करती हैं। सागर की ओर से आने के कारण ये हवाएं वर्षा प्रदान करती हैं। इन हवाओं के साथ शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात भी आते हैं, जो वर्षा के प्रधान स्रोत होते हैं।

4. वर्षा

पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु आर्द्र होती है, जिसमें वर्षा वर्ष के प्रत्येक मौसम में पर्याप्त तथा समान रूप से होती है। परन्तु वर्षा की मात्रा में एक स्थान से दूसरे स्थान पर अन्तर पाया जाता है। प्राय: वर्षा की मात्रा तट से आन्तरिक भागों की ओर घटती जाती है। वर्षा के प्रादेशिक वितरण पर उच्चावच्च का प्रभाव सर्वाधिक होता है। जहाँ पर उच्चावच्च निम्न होता है, वर्षा कम होती है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी यूरोप में किसी पर्वतीय अवरोध के अभाव में 50 से 75 सेंमी० के बीच वार्षिक वर्षा प्राप्त होती है। इसके विपरीत उत्तरी अमेरिका तथा द० अमेरिका के इस जलवायु वाले भागों में (राकीज तथा एण्डीज के कारण) वर्षा 250 से 375 सेंमी० तक पहुँच जाती है। पर्वतों के पवन विमुखी ढाल वृष्टि छाया में आने के कारण अत्यन्त न्यून वर्षा प्राप्त करते हैं।

यद्यपि वर्षा का वितरण वर्ष भर समान रूप से होता है, तथापि शीतकाल में ग्रीष्मकाल की अपेक्षा कुछ अधिक वर्षा होती है, परन्तु कोई भी शुष्क महीना नहीं होता है। परन्तु यह स्थिति केवल तटीय भागों तक ही सीमित होती है। आन्तरिक भागों में जाने पर गर्मियों में सर्दियों की अपेक्षा कुछ अधिक वर्षा होती है। उदाहरण के लिए, आयरलैण्ड के वैलेण्टिया में शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में वर्षा का प्रतिशत क्रमश: 59 तथा 41 होता है, जबकि पेरिस में 45 तथा 55 होता है।

निचले भागों में वर्षा का स्वभाव चक्रवातीय होता है, जिससे वर्षा रूक-रूक कर लम्बे समय तथा फुहार के रूप में होती है। कई दिन तक बादल आकाश में छाये रहते हैं। इस तरह की वर्षा काफी विस्तृत होती है। सर्दियों में इस तरह के चक्रवातों का आगमन अधिक होता है। गर्मियों में वर्षा कुछ तेज होती है तथा कम समय तक होती है। लन्दन में जुलाई की 6 सेंमी० की वर्षा 13 दिनों में तथा जनवरी में 5.3 सेंमी० की वर्षा 15 दिनों में प्राप्त होती है। तड़ितझंझा की संख्या बहुत कम होती है।

इस जलवायु की अद्‌भुत विशेपता यह है कि कम वार्षिक वर्षा अधिक दिनों में प्राप्त होती है, परिणामस्वरूप वर्षा के दिन (rainy days) अधिक होते हैं। पेरिस में वार्षिक वर्षा 56.5 सेंमी० है, जबकि वर्षा के दिन 188 हैं। इसी तरह लन्दन की 71.3 सेंमी० की वर्षा 164 दिनों में तथा शटलैण्ड द्वीप की 91.7 सेंमी० वर्षा 260 दिनों में होती है।

मेघाच्छन्नता भी इस जलवायु में अधिक होती है। उत्तरी अमेरिका में प्रशान्त तटीय भाग में (इस जलवायु के अर्न्तगत) औसत वार्षिक मेघाच्छन्नता (cloudiness) 60 से 70 प्रतिशत तक रहती है। पश्चिमी यूरोप में मेघाच्छन्नता 70 प्रतिशत से ऊपर हो जाती है।

शीतकाल में हिमपात भी होता है, परन्तु ऐसे दिनों की संख्या कम होती है। पेरिस में हिमपात के दिन 14, उ०पू० ब्रिटिश द्वीप में 25 तथा उसके प० तटीय भाग में 4 होते हैं। धरातल पर हिमावरण भी कुछ दिन तक ही रह पाता है।

5. वनस्पति

वर्ष भर वर्षा का वितरण घनी वनस्पति को जन्म देता है। इसी कारण से इस जलवायु प्रदेश में प्रारम्भ में वनों का घना आवरण पाया जाता था, परन्तु वर्तमान समय में मैदानी भागों से (खासकर प० यूरोप) वनों को काटकर कृषि फार्मों तथा मानव बस्तियों के रूप में बदल दिया गया है। घने वन अब केवल पहाड़ों तथा उच्च भागों पर ही पाये जाते हैं। प० यूरोप के मैदानी भागों में ओक, लिण्डेन, बीच तथा एल्म के वन पाये जाते हैं। नार्वे में 60^0 उ० अक्षांश के उत्तर में उच्च भागों में कोंणधारी वन मिलते हैं। ब्रिटिश कोलम्बिया में ऊँचे वृक्षों वाले कोंणधारी वन मिलते हैं। 'कोस्ट रैन्ज' के ढालों पर रेडउड जंगल मिलते हैं, जिनमें वृक्षों के तने 10 फीट मोटे होते हैं। वाशिंगटन, आरेगन तथा ब्रिटिश कोलम्बिया में डगलस, फर, स्प्रूस, हेमलॉक, सिडार आदि अच्छी लकड़ी वाले वृक्ष सघन वनों के रूप में पाये जाते हैं। इन वृक्षों का आर्थिक महत्व बहुत अधिक होता है। चिली में चौड़ी पत्ती के सख्त लकड़ी के वृक्ष पाये जाते हैं। इनका आर्थिक महत्व अपेक्षाकृत कम होता है।

39.14 सेण्टलारेन्स तुल्य जलवायु (Dd जलवायु)

1. अवस्थिति तथा वितरण

उत्तरी अमेरिका में स्थित सेण्टलारेन्स नदी के बेसिन में स्थिति के कारण इस जलवायु का 'सेण्टलारेन्स जलवायु'

नामकरण किया गया है। यह जलवायु आर्द्र महाद्वीपीय प्रकार की है, जो महाद्वीपों के पूर्वी किनारों पर मुख्य रूप से उ० गोलार्द्ध में 45° से 65° अक्षांशों के बीच पायी जाती है। कहीं-कहीं पर इसका विपुवत रेखा की ओर का विस्तार 35° अक्षांश तक भी हो जाता है। सागरीय किनारे पर स्थिति के होते हुए भी यह जलवायु महाद्वीपीय है, क्योंकि पवन विमुख भागों में स्थिति के कारण सागरीय प्रभाव सक्रिय नहीं हो पाता है। उत्तरी अमेरिका में कनाडा के सागरीय प्रांतों (क्यूबेक, ओण्टारियो आदि) तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यूइंग्लैण्ड प्रदेश (मेन, मेसाचुसेट्स, कनेक्टीकट, वरमाण्ट, न्यूहैम्पशायर तथा रोड द्वीप), एशिया में मंचूरिया (चीन), कोरिया तथा उत्तरी जापान (होकैडो) एवं दक्षिणी अमेरिका में अर्जेन्टाइना के द० भाग में सेंट लारेंस तुल्य जलवायु पायी जाती है।

2. तापमान

ग्रीष्मकाल तथा शीतकाल के तापमान में पर्याप्त अन्तर नहीं होता है। गर्मियों में तापमान 70° फा० (21° C) के पास रहता है। ठंडे धरातलों के कारण तापमान ऊँचा नहीं हो पाता है, परंतु कभी-कभी दक्षिण से आने वाली उष्ण हवाओं के कारण तापमान ऊँचा हो जाता है। जुलाई का तापमान हैलीफाक्स में 65°, सेंट जोंस में 59°, बोस्टन में 72°, ब्लाडीवोस्टक में 66°, तथा हारविन में 66° फा० रहता है। सर्दियों में तापमान काफी गिर जाता है जिस कारण मौसम कठोर हो जाता है। लेब्राडोर ठंडी धारा के कारण तो कनाडा के सागरीय प्रान्तों का तापमान और कम हो जाता है। सेण्ट लारेन्स नदी जाड़े में जम जाया करती है। तटीय भागों के किनारे वाले भागों पर सागरीय समीर तथा कुछ चक्रवातीय दशाओं के कारण जलवायु में कुछ परिमार्जन आ जाता है, जिस कारण उसकी कठोरता कुछ कम हो जाती है। पश्चिम से आने वाली बर्फीली आँधियों के कारण तापमान हिमांक के नीचे भी चला जाता है। कई दिनों तक हिमपात होता रहता है, जिस कारण धरातल हिमाच्छादित हो जाता है। इस तरह गर्मी और जाड़े में विषम स्थिति के कारण वार्षिक तापान्तर बहुत अधिक हो जाता है, जो कि 40° से 65° फा० के बीच रहता है।

3. वायुदाब तथा हवाएं

सर्दियों में महाद्वीपों के भीतरी भागों में उच्च दाब तथा आइसलैण्ड तथा अल्यूसियन द्वीपों के पास कम दाब निर्मित होते हैं, जिस कारण महाद्वीपों के भीतरी भागों से तटीय भागों की ओर सर्द हवाएँ चलने लगती हैं। इन हवाओं के साथ कभी-कभी चक्रवात भी आते हैं, जिस कारण वर्षा भी प्राप्त हो जाती है। गर्मियों में आंतरिक भागों पर निम्नदाब बन जाता है तथा सागरीय हवाएं चलने लगती हैं, परन्तु इनका प्रभाव अधिक अन्दर तक नहीं हो पाता है।

4. वर्षा

सामान्यत: वर्षा वर्ष भर होती है, परन्तु ग्रीष्मकाल में शीतकाल की अपेक्षा अधिक होती है। गर्मियों में वर्षा कपासी वर्षा (cumulo-nimbus) बादलों से संवहनीय वर्षा के रूप में होती है। वर्षा कम समय में तेजी के साथ होती है, परन्तु तड़ितझंझा की संख्या न्यून होती है। गर्मियों में मेघाच्छन्नता कम रहती है। जाड़े की वर्षा चक्रवातीय होती है परन्तु इनका अधिकांश भाग हिमपात के रूप में होता है, जिस कारण धरातल पर हिम की सतह कई हफ्ते से लेकर कई महीनों तक व्याप्त रहती है। न्यूइंग्लैण्ड तथा कनाडा के सागरीय प्रांतों में तो 4 महीने सतह पर हिम विद्यमान रहती है। वार्षिक वर्षा की मात्रा पर धरातलीय बनावट, सागर से दूरी तथा पवन दिशा का नियंत्रण अधिक रहता है। वर्षा की मात्रा तट से आंतरिक भागों की ओर तथा ध्रुवों की ओर घटती जाती है। मांट्रियल में 1025 मिमी०, हैलिफाक्स में 1400 मिमी०, सेंट जोंस में 1350 मिमी०, हारविन में 475 मिमी०, तथा ब्लाडीवोस्टक में 375 मिमी० वर्षा होती है।

5. वनस्पति

आर्द्र तटीय भागों में कोंणधारी वन तथा आन्तरिक कम आर्द्र भागों में प्रेयरी घास के मैदान मिलते हैं। वर्तमान समय में अधिकांश घास को काट करके कृषि फार्मों में बदल दिय गया है। वनों में सबसे उत्तरी भाग में शुद्ध कोंणधारी वन मिलते हैं जबकि द० भागों में कोंणधारी तथा पर्णपाती मिश्रित वन मिलते हैं। मुख्य वृक्ष चीड़, स्प्रूस, हेमलॉक आदि हैं। कनाडा तथा उ०पू० संयुक्त राज्य में इन्हीं वनों के आधार पर लकड़ी, लुग्दी एवं कागज उद्योग का बड़े पैमाने पर विकास किया गया है

39.15 उपआर्कटिक या टैगा तुल्य जलवायु (E जलवायु)

1. अवस्थिति तथा वितरण

बोरियल या उपआर्कटिक जलवायु वास्तव में 'बोरियल वन बायोम' या 'शीतोष्ण कोंणधारी वन बायोम' का प्रतिनिधित्व करती है। इसे **टैगा टाइप या साइबेरिया प्रकार** की जलवायु कहते हैं, जो सूक्ष्मतापीय जलवायु (microthermal climate) के अर्न्तगत आती है। इस जलवायु प्रदेश के अर्न्तगत (चित्र 39.8) पश्चिम में उत्तरी अमेरिका के संयुक्त राज्य अमेरिका के अलास्का से लेकर कनाडा होते हुए पूर्व में हडसन की खाड़ी तक वाले भाग, तथा युरेशिया में पश्चिम में स्कैण्डिनेविया प्रायद्वीप से रूसी साइबेरिया होते हुए पूर्व में बेरिंग सागर तक वाले भाग को सम्मिलित किया जाता है (चित्र 39.8)। इसके अलावा यूरोप में जर्मनी, पोलैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रिया तथा यूरोप के अन्य क्षेत्रों में ऊंचाई वाले भागों में छिट-पुट रूप में, तथा उत्तरी अमेरिका में राकीज पर्वतमाला पर भी टैगा जलवायु का विकास हुआ है। उल्लेखनीय है कि दक्षिणी गोलार्द्ध में टैगा जलवायु का विकास नहीं हो पाया है। यदि

भूमण्डल पर जलवायु प्रकारों के प्रादेशिक वितरण का अवलोकन किया जाय तो स्पष्ट होता है कि टैगा प्रकार की जलवायु का विस्तार उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर में टुण्ड्रा जलवायु प्रदेश तथा दक्षिण में शीतोष्ण घासप्रदेशों (स्टेपी-प्रेयरी जलवायु प्रदेशों) के बीच पाया जाता है। टैगा तुल्य जलवायु का अक्षांशीय विस्तार 50^0-55^0 उ० अक्षांश से 65^0 -70^0 उत्तरी अक्षांशों में पाया जाता है। टैगा रूसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है उपआर्कटिक क्षेत्रों में पाया जाने वाला कोणधारी सदाबहार वन।

2. तापमान

टैगा तुल्य जलवायु चरम महाद्वीपीय जलवायु (extreme continental climate) की परिचायक है जिसमें दीर्घ अवधि वाला शीतकाल होता है जिस समय कड़ाके की ठंडी पड़ती है, तथा लघु अवधि वाला सर्द ग्रीष्मकाल होता है। ग्रीष्मकाल की ऋतु इतनी छोटी होती है कि इसकी अवधि एक से तीन महीने तक होती है। बसन्तकाल एवं पतझड़काल ग्रीष्म एवं शीत ऋतुओं के बीच अति लघु अवधि वाला संक्रमणकाल (transitional period) होता है। सबसे गर्म महीने की 10^0C की समताप रेखा टैगा जलवायु प्रदेश की उत्तरी सीमा का निर्धारण करती है। शीत ऋतु का समय लगभग 8 महीनों तक रहता है जिस समय तापमान सदा हिमांक से कम रहता है। उदाहरण के लिए, जनवरी का औसत तापमान ईगल (कनाडा) में -26^0C, डासन (कनाडा) में -30.6^0C, ओखोस्टक (रूस) में -24^0C, याकूटस्क (रूस) में -43.3^0C तथा वरखोयान्स्क (रूस) में -50^0C रहता है। साइबेरियाई टैगा प्रदेश में न्यूनतम तापमान अंकित किया जाता है, उदाहरण के लिए, वरखोयान्स्क (रूस) में -68^0C तथा ओयमेकान (रूस) में -66.8^0C का न्यूनतम तापमान अंकित किया जा चुका है। उत्तरी अमेरिका के उपआर्कटिक जलवायु प्रदेश में अलास्का के युकान क्षेत्र के स्नैग में -62.8^0C के न्यूनतम तापमान की माप की जा चुकी है।

शीत ऋतु की प्रचण्डता के समाप्त होते ही ग्रीष्म ऋतु का आगमन होता है तथा तापमान में तेजी से वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है। जुलाई सबसे अधिक गर्म महीना होता है जिस समय औसत तापमान 16^0C रहता है। उल्लेखनीय है कि जुलाई में भी कई आन्तरिक अवस्थितियों वाले भागों में तापमान हिमांक (0^0C) के नीचे चला जाता है। पौधों का वर्धन काल मात्र 50 से 70 दिन तक का ही होता है क्योंकि शीत ऋतु में मिट्टियां 5 से 7 महीनों तक जमी दशा में रहती हैं। वार्षिक तापान्तर बहुत अधिक होता है तथा उसमें स्थानिक विभिन्नतायें होती हैं। उदाहरण के लिए, मास्को के सबसे ठंडे तथा सबसे गर्म महीने का तापमान -12^0C तथा 20^0C रहता है। इस प्रकार मास्को का वार्षिक तापान्तर 32^0C हो जाता है। रूस के वरखोयान्स्क का वार्षिक तापान्तर 64^0C से भी अधिक होता है।

3. वर्षा

टैगा तुल्य जलवायु प्रदेश में औसत वार्षिक वर्षा बहुत कम होती है क्योंकि (1) वर्ष के अधिकांश समय तापमान अत्यधिक कम रहता है जिस कारण वाष्पीकरण कम होने के फलस्वरूप वायु की निरपेक्ष आर्द्रता (absolute humidity) बहुत कम होती है, (2) टैगा जलवायु प्रदेश के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों की महाद्वीपों के पवनविमुखी एवं आन्तरिक भागों में अवस्थिति के कारण सागरीय प्रभाव नगण्य हो जाता है, तथा (3) टैगा जलवायु प्रदेश ध्रुवीय उच्च वायुदाब मेखला में आते हैं जहां पर वायु का ऊपर से अवतलन होता है तथा धरातलीय सतह पर अपसरण (divergence) होने से प्रतिचक्रवातीय दशायें रहती हैं। औसत वार्षिक वर्षा 370 से 600 मिलीमीटर के बीच होती है परन्तु अधिकांश वर्षा बर्फीक एवं शुष्क हिमकणों (snow) के रूप में होती है, जिसका पूरे शीत ऋतु में धरातलीय सतह पर सतत् निक्षेप होता रहता है। लघु अवधि वाली ग्रीष्म ऋतु में तापमान में बढ़त होने पर यह हिम धीरे-धीरे पिघलती है जिस कारण सतहीय जल (surface water) का आविर्भाव होता है। ज्ञातव्य है कि वार्षिक वर्षा का वर्ष भर लगभग समान वितरण होता है, चाहे वह लम्बी शीत ऋतु में ठोस (हिम) रूप में हो, या लघु ग्रीष्म ऋतु में तरल (जलवर्षा) रूप में हो।

4. टैगा जलवायु की प्रमुख विशेषतायें

उपआर्कटिक टैगा तुल्य जलवायु की निम्न विशेषतायें हैं :

- दीर्घ अवधि वाली अति प्रचण्ड शीत ऋतु, कम से कम 6 महीने तक तापमान हिमांक (0^0C) से कम रहता है।
- शीत ऋतु में भारी हिमपात होता है।
- हिमांक से नीचे तापमान के कारण धरातलीय नमी के जम जाने से परमाफ्रास्ट सतह (सतत् हिमीकृत धरातलीय सतह) का निर्माण।
- लघु अवधि वाली सर्द ग्रीष्म ऋतु जिस समय वर्षा तरल (जल) रूप में होती है।
- वनस्पतियों का वर्धन काल (growing season) उत्तरी सीमा पर 50 दिनों का तथा दक्षिणी सीमा पर 100 दिनों का होता है।
- वार्षिक वर्षा के स्थानिक वितरण में भारी विषमता एवं परिवर्तनशीलता होती है परन्तु कालिक वितरण (temporal distribution) में लगभग समरूपता होती है।
- वार्षिक तापान्तर बहुत ऊंचा होता है। ग्रीष्मकाल में मौसमी तापान्तर 25^0C तथा शीत ऋतु में मौसमी तापान्तर बढ़ कर 40^0C हो जाता है।

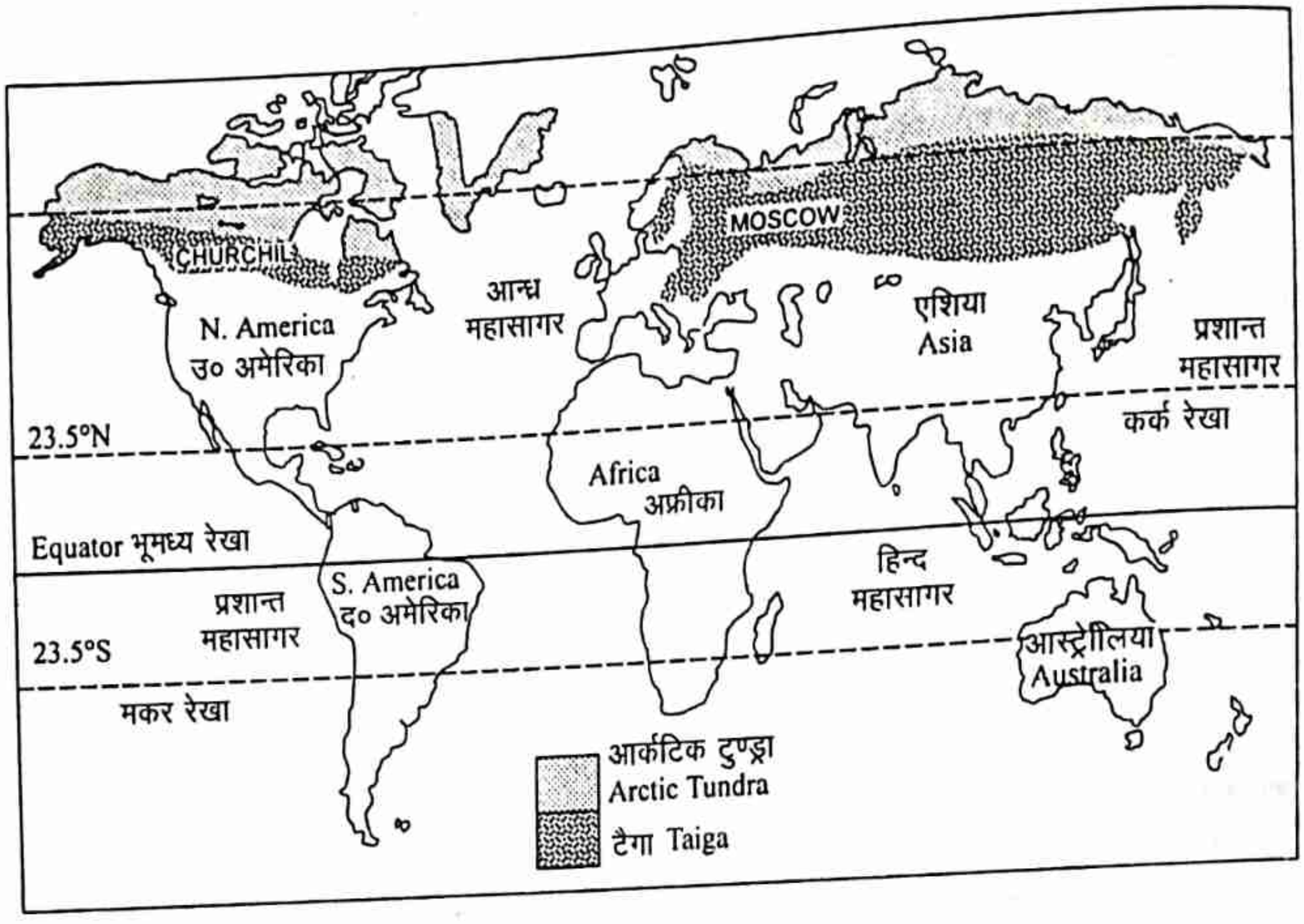

चित्र 39.8 : टैगा एवं टुण्ड्रा जलवायु की अवस्थिति।

5. प्राकृतिक वनस्पति

टैगा जलवायु प्रदेश में कोणधारी वृक्ष वनस्पति समुदाय के सर्वप्रमुख सदस्य हैं। कोणधारी पेड़ों का घना जंगल विकसित हुआ है जो विश्व की कोमल लकड़ी के सर्वाधिक समृद्ध स्रोत हैं। सदाबहार कोणधारी वृक्षों के चार वंश (genera) पाये जाते हैं: (i) पाइन (श्वेत पाइन, लाल पाइन, स्काट पाइन, जैक पाइन, लाजपोल पाइन आदि), (ii) फर (डगलस फर, बालसम फर आदि), (iii) स्प्रूस, तथा (iv) लार्च। जिन क्षेत्रों में मनुष्य ने मौलिक सदाबहार शीतोष्ण कोणधारी वनों का सफाया कर दिया है उन क्षेत्रों में शीतोष्ण पतझड़ वाले सख्त लकड़ी के वृक्षों की कतिपय प्रजातियों का भी विकास हुआ है। वास्तव में शीतोष्ण पर्णपाती वन वनस्पतियों के विकास के 'द्वितीयक अनुक्रम' (secondary succession) के परिचायक हैं। स्पष्ट है कि टैगा जलवायु में वृक्षों की शंक्वाकार आकृति (conical shape) इस जलवायु में वर्ष के अधिकांश समय में होने वाले हिमपात के अनुरूप विकसित हुई ताकि बर्फ आसानी से फिसलकर नीचे गिर जाय, तथा शीतकाल में वाष्पोत्सर्जन (transpiration) कम हो सके।

39.16 टुण्ड्रा जलवायु (Ft)

1. अवस्थिति तथा वितरण

'टुण्ड्रा' फिनिश भाषा का शब्द है जिसका तात्पर्य होता है 'बंजर भूमि' (barren land)। इस तरह न्यूनतम वनस्पति वाली ध्रुवीय या आर्कटिक जलवायु को टुण्ड्रा जलवायु कहते हैं जिसमें पारिस्थितिकीय उत्पादकता न्यूनतम होती है। टुण्ड्रा जलवायु प्रदेश का विस्तार उत्तर में स्थायी हिमटोपियों की दक्षिणी सीमा तथा दक्षिण में टैगा जलवायु प्रदेश की उत्तरी सीमा के मध्य उत्तरी अमेरिका तथा यूरेशिया में पाया जाता है (चित्र 39.8)। इस तरह यदि देखा जाय तो आर्कटिक टुण्ड्रा जलवायु का विकास संयुक्त राज्य के अलास्का के कुछ भागों, कनाडा के सुदूर उत्तरी भाग, ग्रीनलैण्ड के तटीय भागों, तथा युरोपीय रूस, आर्कटिक सागरीय भाग एवं उत्तरी साइबेरिया में हुआ है। इनके अलावा टुण्ड्रा जलवायु आर्कटिक द्वीपों पर भी विकसित हुई है। टुण्ड्रा जलवायु को पुनः दो उप प्रकारों में विभाजित किया जाता है: (1) आर्कटिक टुण्ड्रा जलवायु, तथा (2) अल्पाइन टुण्ड्रा जलवायु : जो उष्ण, उपोष्ण तथा शीतोष्ण कटिबन्धों के उच्च पर्वतों पर पायी जाती है।

सामान्य वनस्पति की विशेषताओं के आधार पर आर्कटिक टुण्ड्रा को तीन मण्डलों में विभाजित किया जाता है (दक्षिण से उत्तर की ओर) : (1) निम्न आर्कटिक टुण्ड्रा, (2) मध्य आर्कटिक टुण्ड्रा, तथा (3) उच्च आर्कटिक टुण्ड्रा। ज्ञातव्य है कि यहां निम्न, मध्य तथा उच्च का अर्थ ऊंचाई से न होकर अक्षांशों से है। टुण्ड्रा जलवायु प्रदेश की उत्तरी सीमा का निर्धारण वर्ष के सबसे गर्म महीने की 0^0C समताप रेखा द्वारा तथा दक्षिणी सीमा का निर्धारण वर्ष के सबसे गर्म महीने की 10^0C समताप रेखा द्वारा किया जाता है।

2. तापमान

टुण्ड्रा जलवायु प्रदेश में सूर्यातप तथा सूर्य प्रकाश का सामान्यतया अभाव रहता है तथा वर्ष भर निम्न तापमान रहता है। औसत वार्षिक तापमान 12^0C रहता है। सर्दियां लम्बी अवधि वाली होती हैं। गर्मियाँ भी सर्द होती हैं। सबसे गर्म महीने का औसत तापमान 0^0C तथा 10^0C के मध्य रहता है। यह दिलचस्प बात है कि दैनिक तापान्तर अत्यन्त न्यून होता है क्योंकि रात एवं दिन के तापमान में बहुत कम अन्तर होता है, परन्तु वार्षिक तापान्तर अधिक होता है। जलवायु की प्रचण्डता (अत्यधिक सर्द पर्यावरण) के कारण वानस्पतिक वृद्धि न्यूनतम होने से टुण्ड्रा जलवायु प्रदेश के अधिकांश भाग न्यूनतम पारिस्थितिकीय उत्पादकता के कारण बंजर प्रदेश बने रहते हैं। धरातलीय सतह वर्ष के 7-8 महीनों तक हिमाच्छादित रहती है। पौधों का वर्धन काल (growing season) वर्ष में 50 दिन से कम होता है। धरातल सदा हिमीकृत होने के कारण परमाफ्रास्ट (permanently frozen ground) के रूप में रहता है। यहां तक कि मिट्टियां भी सतत् जमी रहती हैं। ब्लिजर्ड नामक सर्द बर्फीली तेज हवायें चलती हैं।

3. वर्षा

औसत वार्षिक वर्षा 400 मिलीमीटर से कम होती है। अधिकांश वर्षा हिम के रूप में होती है। वर्ष भर अत्यधिक न्यून तापमान के कारण वाष्पीकरण कम होने से वायु में निरपेक्ष आर्द्रता (absolute humidity) की मात्रा निहायत कम रहती है। अपसारी पवन परिसंचरण (divergent air circulation) एवं प्रतिचक्रवातीय दशाओं के कारण वर्षा की कम ही सम्भावना होती है। अपेक्षाकृत ऊंचे तापमान के कारण अधिकांश वर्षा ग्रीष्मकाल की लघु अवधि में प्राप्त होती है।

4. प्राकृतिक वनस्पति

टुण्ड्रा जलवायु प्रदेश में वनस्पति तथा मिट्टियों में नमी की दशा के बीच पूर्ण सम्बन्ध होता है। टुण्ड्रा प्रदेश की सर्वप्रमुख लिथोसॉल में केवल काई (lichens) तथा मॉस ही पनप पाते हैं। जलवायु की प्रचण्डता तथा सूर्यातप एवं सूर्य प्रकाश की आवश्यक न्यूनतम मात्रा के अभाव में विश्व की समस्त पादप प्रजातियों (species) की केवल 3 प्रतिशत प्रजातियां ही इस जलवायु प्रदेश में विकसित हो पायी हैं। टुण्ड्रा प्रदेश की वनस्पतियां क्रायोफाइट (हिम के साथ अनुकूलित) प्रकार की हैं।

B.A/B.Sc - III rd Sem. Unit-III

Topic :- महासागरीय विज्ञान :- Oceanography)
(परिभाषा, प्रकृति, विषय-क्षेत्र)

प्रश्न :- महासागरीय विज्ञान की परिभाषा, प्रकृति, व विषय-क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।

1

समुद्र विज्ञान की प्रकृति

(Nature of Oceanography)

1.1 सामान्य परिचय

जलमण्डल हमारी पृथ्वी के 5 प्रमुख संघटकों अर्थात स्थलमण्डल, जलमण्डल, वायुमण्डल, जैवमण्डल तथा हिममण्डल में से एक महत्वपूर्ण संघटक है जो ग्लोब के धरातलीय क्षेत्र (509,950,000 वर्ग किमी०) के 361,060,000 वर्ग किमी० क्षेत्र पर फैला है।

इस तरह पृथ्वी के धरातल का 70.8 प्रतिशत भाग सागरीय जल से आवृत्त है। इस जलीय भाग को जलमंडल (hydrosphere) कहते हैं तथा इस जलमंडल या सागरों के अध्ययन को समुद्र विज्ञान कहते हैं जिसके अन्तर्गत जलमंडल के भौतिक एवं जैविक पहलुओं तथा उनकी जटिलताओं का वर्णन तथा व्याख्या को सम्मिलित किया जाता है। जे० प्राउडमैन के अनुसार, समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत सागरीय जल की विशेषताओं तथा जैविक (biological) पहलुओं के संदर्भ में गतिकी (dynamics) एवं ऊष्मागतिकी (thermodynamics) के मौलिक (fundamental) नियमों का अध्ययन किया जाता है। समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत सागरीय भूविज्ञान तथा सागरीय भूआकृति विज्ञान (marine geology and geomorphology), भौतिक समुद्र विज्ञान, रासायनिक समुद्र विज्ञान तथा जीव समुद्र विज्ञान को सम्मिलित किया जाता है। सागरीय भूविज्ञान एवं भूआकृति विज्ञान के अन्तर्गत महासागरीय बेसिन की उत्पत्ति (महाद्वीपीय प्रवाह तथा सागरनितल प्रसरण की प्लेट विवर्तन सिद्धान्त के परिवेश में व्याख्या), क्रस्ट तथा मैण्टिल की संरचना तथा रूप, सागरीय निक्षेप की विशेषताओं तथा वितरण एवं सागरीय स्थलरूपों की विशेषताओं एवं उत्पत्ति की व्याख्या की जाती है। भौतिक समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत तरल अर्थात् जल की गतियों (सागरीय लहर, धारायें, ज्वार तथा भाटा, सुनामी आदि), जल के भौतिक गुणों (तापमान, दबाव, लवणता, घनत्व, सम्पीडनात्मकता, श्यानता-viscosity, जलपुंज-water masses तथा उनके वितरण प्रारूप आदि) का अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत जलसागरीय मौसम विज्ञान (marine meteorology) का भी अध्ययन, जो सागर के ऊपर स्थित वायुमण्डलीय दशाओं से सम्बन्धित होता है, प्रारम्भ हो गया है। जीव समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत सागरीय पादपों तथा प्राणियों के विसरण, उनकी विशेषताओं एवं वितरण प्रतिरूपों तथा उनके आर्थिक महत्व का अध्ययन किया जाता है। आधुनिक तकनीकी विकास के

साथ सागर नितल में खनिज संसाधनों के सर्वेक्षण तथा विदोहन का कार्य भी प्रारम्भ हो गया है।

1.2 समुद्र विज्ञान: विज्ञान की एक शाखा

सामान्यतया लोग समुद्र विज्ञान को शुद्ध विज्ञान (pure science) समझते हैं क्योंकि यह भौतिकी, रसायनविज्ञान तथा गणित के मूलाधारों पर आधारित है परन्तु यह सत्य नहीं है क्योंकि समुद्र विज्ञान का विषय महासागरों की भौतिक एवं रासायनिक विशेषताओं के अध्ययन के साथ-साथ कालिक एवं स्थानिक परिपेक्ष्य में सागरीय जीवों का भी अध्ययन करता है। इस प्रकार समुद्र विज्ञान शुद्ध एवं जीव विज्ञानों के मूलाधारों (fandamentals) का समागम है। इस तरह सुस्पष्ट है कि समुद्र विज्ञान, विज्ञान की व्यवहारिक शाखा (applied branch) है।

समुद्र विज्ञान को, इस तरह, भूगोल विषय से अलग करना कदापि उचित नहीं है क्योंकि समुद्र विज्ञान के विभिन्न पक्षों यथा: महाद्वीपों एवं महासागरों (सागरों सहित), महासागरीय गतिकी (dynamics) तथा गतियों (movements) यथा: महासागरीय लहरें, धारायें, ज्वार-भाटा, सुनामी आदि), सागरीय अवसादों (sediments) तथा निक्षेपों, सागरीय जीवों, सागरीय आवासों (habitats), सागरीय संसाधनों आदि का ~~बिना स्थानिक सन्दर्भ के भली प्रकार~~ अध्ययन ~~न~~ किया जा ~~सकता~~ जाति है। यह भी सत्य है कि स्थानिक विज्ञान (spatial science) होने के नाते भूगोल भी विज्ञान का एक भाग है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि समुद्र विज्ञान, विज्ञान की शाखा है जिसके अन्तर्गत शुद्ध विज्ञान, जीव विज्ञान तथा स्थान विज्ञान अर्थात् भूगोल के महत्वपूर्ण तत्वों एवं सिद्धान्तों का समावेश है।

1.3 समुद्र विज्ञान: भौतिक भूगोल की एक शाखा

भौतिक भूगोल, भूगोल की दो शाखाओं अर्थात् भौतिक भूगोल तथा मानव भूगोल, में से एक प्रमुख शाखा है। वास्तव में पृथ्वी के भौतिक पक्षों का अध्ययन 'स्थान विज्ञान' (spatial science) अर्थात् भूगोल के क्रोड (core) का प्रतिनिधित्व करता है। अधिकांश भूगोलवेत्ताओं ने भूगोल के भौतिक भूगोल तथा मानव भूगोल के रूप में द्विशाखन (bifurcation) के लिए वकालत की है परन्तु पृथ्वी के जैवमण्डलीय पारिस्थितिक तंत्र के जैविक पक्षों को नजरअंदाज करना उचित नहीं है, अत: भूगोल का त्रिशाखन (tifurcation) होना चाहिए, अर्थात् भूगोल का विभाजन भौतिक भूगोल, मानवभूगोल तथा जैवभूगोल (biogeography) के रूप में किया जाना चाहिए।

भौतिक भूगोल में इसकी अवधारणाओं, परिभाषा, विषय क्षेत्र तथा अध्ययन की विधियों के सन्दर्भ में विगत कतिपय दशकों में भारी परिवर्तन हुए हैं। प्रारम्भ में भौतिक भूगोल को पृथ्वी के केवल भैतिक पर्यावरण अर्थात् स्थल (उच्चावच्च), वायु (वायुमण्डल) तथा जल (जलमण्डल) के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया गया था, जैसा कि आर्थर होम्स की निम्न परिभाषा से इंगित होता है:

"The study of physical environment by itself is physical geography which includes consideration of surface relief of the globle (geomorphology), of the seas and the oceans (oceanography), and of the air (meteorology and climatology)" **Arthur Holmes**

'भौतिक पर्यावरण का अध्ययन ही भौतिक भूगोल है जो कि ग्लोब के धरातलीय उच्चावचों (भूआकृति विज्ञान), सागरों तथा महासागरों (समुद्र विज्ञान) तथा वायु, (जलवायु विज्ञान) के विवरणों का अध्ययन है।' **आर्थर होम्स**

भौतिक भूगोल को विभिन्न भूविज्ञानों (earth sciences) या प्रकृति विज्ञानों (natural sciences, यथा: मौसम विज्ञान तथा जलवायु विज्ञान, समुद्र विज्ञान, भूगर्भशास्त्र, मृदा विज्ञान—science of Solis, वनस्पति विज्ञान तथा मूलाकृति विज्ञान) का समूहन मात्र समझा जाता रहा है, जैसा कि आर्थर होम्स की भौतिक भूगोल की निम्न परिभाषा से विदित होता है:

"Physical geography is simply the study of unification of a number of earth sciences which give us a general insight into the nature of man's environment. Not in itself a distinct branch of science physical geography is a body of basic principles of earth sciences selected with a view to include primarily the environmental influces that vary from place to place over the earth's surface." **Arthur Holmes, 1960**

' भौतिक भूगोल सामान्य रूप में कई भूविज्ञानों का अध्ययन एवं समन्वय है जो कि मनुष्य के पर्यावरण पर सामान्य प्रकाश डालते हैं। स्वयं में विज्ञान की स्पष्ट शाखा न होकर भौतिक भूगोल भूविज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों का, जिनका चयन भूतल पर स्थानिक रूप में परिवर्तनशील पर्यावरण प्रभावों की व्याख्या के लिए किया जाता है, का समन्वय हैं'।

आर्थर होम्स, 1960

ज्ञातव्य है कि वर्तमान समय में भौतिक भूगोल अन्य भूविज्ञानों से चयनित विषयों का समन्वय एवं समूहन मात्र ही नहीं है वरन् यह भौतिक पर्यावरण एवं मानव के पारस्परिक क्रियाओं के प्रतिरूपों (patterns of interactions) का भी अध्ययन करता है जो अन्य विज्ञानों, जिनसे भौतिक भूगोल का सम्बन्ध है, में नहीं होता है। भूगोल की एक प्रमुख शाखा के रूप में भौतिक भूगोल पर्यावरणीय तत्वों के स्थानिक प्रतिरूपों (spatial patterns) तथा स्थानिक सम्बन्धों (spatial relationships) का प्रादेशिक परिवेष में अध्ययन करता है तथा भूतल पर इन प्रतिरूपों के प्रादेशिक प्रारूपों के कारणों की व्याख्या भी करता है, साथ ही साथ स्थान तथा समय परिवेश में (in spatial and temporal contexts) पर्यावरणीय तत्वों के परिवर्तनों की व्याख्या तथा उनके कारणों की व्याख्या करता है।

स्पष्ट है कि वर्तमान समय में भौतिक भूगोल के अध्ययन के अन्तर्गत स्थलमंडल, जलमंडल, वायुमंडल तथा जीवमंडल के क्रमबद्ध अध्ययन तथा इनके मध्य पारस्परिक क्रियाओं एवं अन्तर्सम्बन्धों के अध्ययन को सम्मिलित किया जाता है।

इस तरह जलमण्डल का अध्ययन करने वाला 'समुद्र विज्ञान' भौतिक भूगोल का अभिन्न अंग है। जलमण्डलीय पर्यावरण के अन्तर्गत महासागरीय बेसिन की उत्पत्ति, महासागरीय नितल के उच्चावच, महासागरीय जल का तापमान, लवणता तथा घनत्व, महासागरीय अवसाद तथा निक्षेप, महासागरीय ज्वार, महासागरीय लहरों तथा धाराओं, प्रवाल भित्ति, सागरीय संसाधन, तटीय प्रक्रम, तटीय आवास तथा जैवकटिबन्ध, सागरीय पारिस्थितिकी एवं सागरीय जीव, मनुष्य तथा सागरीय पर्यावरण आदि के अध्ययन को सम्मिलित किया जाता है।

1.4 समुद्र विज्ञान : तात्पर्य एवं परिभाषा

समुद्र विज्ञान शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों 'okeanos' या 'oceanus', से बना है : जिसका तात्पर्य होता है 'समुद्र' + 'graphia', जिसका अर्थ है 'वर्णन'। अत: समुद्र विज्ञान के शाब्दिक अर्थों के आधार पर समुद्र विज्ञान को निम्न प्रकार से परिभाषित किया जाता है :

'समुद्र विज्ञान सागरीय पर्यावरण, अर्थात् सागरीय तत्वों का वर्णन है।' .....(1)

ज्ञातव्य है कि कोई भी विज्ञान तत्वों का वर्णन मात्र ही नहीं होता है वरन् वह गवेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक विज्ञान होता है। इस आधार पर समुद्र विज्ञान को निम्नवत् परिभाषित किया जा सकता है।

'समुद्र विज्ञान वह सागरीय विज्ञान है जिसके अन्तर्गत सागरीय पर्यावरण एवं तत्वों, भौतिक, रासायनिक एवं जीवीय प्रक्रमों का व्याख्यात्मक अध्ययन किया जाता है।'.....(2)

वास्तव में 'oceanography' शब्द की अपेक्षा 'oceanology' शब्द सागरीय प्रक्रमों एवं पर्यावरण को अच्छी तरह व्यक्त करता है, परन्तु परम्परा में 'oceanography' शब्द का प्रचलन पहले से चला आ रहा है, अत: oceanology इसका स्थान नहीं ले पायी। 'ology' का तात्पर्य है 'विज्ञान', अत: cceanology का सामान्य अर्थ होता है 'सागर का विज्ञान'। समुद्र विज्ञान की निम्न परिभाषायें इस विज्ञान का अच्छी तरह प्रतिनिधित्व करती हैं :

'समुद्र विज्ञान सागरों से सम्बन्धित सभी अध्ययनों को समाहित करता है तथा सागर विज्ञान के अन्तर्गत सागरीय सीमाओं तथा नितलीय स्थलाकृतियों, सागरीय जल के भौतिक एवं रासायनिक गुणों, सागरीय धाराओं एवं सागर जीवविज्ञान से सम्बन्धित प्राप्त ज्ञान को समान्वित किया जाता है।'

स्वेर्डरूप, जानसन तथा फ्लेमिंग .....(3)

'समुद्र विज्ञान मुख्य रूप से सागरीय द्रोणियों के रूपों एवं विशिष्टताओं, इन द्रोणियों के जल के गुणों एवं विशेषताओं तथा जल की गतियों का अध्ययन करता है।'

यच० ए० मार्मर .....(4)

'ऋतु विज्ञान (meteorology) के समान ही समुद्र विज्ञान का भी उद्भव एवं विकास भूगोल से हुआ है। पृथ्वी के सबसे गतिशील भाग अर्थात् जलमण्डल से इसका गहरा सम्बन्ध है। इसके अन्तर्गत ज्वारों, सागरीय धाराओं, सागरीय जल के भौतिक गुणों, सागरीय तटों एवं सागरीय तलों (floors) के आकारों, सागरीय जीवों तथा उनके प्रादेशिक वितरण का अध्ययन किया जाता है। यह 'विज्ञान' से निकटतम रूप से सम्बन्धित है।'

फ्रीमैन .....(5)

समुद्र विज्ञान की उपर्युक्त परिभाषाओं के विषय को यदि ध्यान में रखा जाय तो यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इन परिभाषाओं से समुद्र विज्ञान के विषय-वस्तु का भी बोध हो जाता है। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए सविन्द्र सिंह (2008) ने समुद्र विज्ञान की निम्न परिभाषा प्रस्तुत की है :

'समुद्र विज्ञान एक विज्ञान है जिसके अन्तर्गत सागरीय द्रोणियों एवं उनके उच्चावचों की विशेषताओं एवं उत्पत्ति, सागरीय जल के भौतिक एवं रासायनिक गुणों (तापमान, लवणता एवं घनत्व), सागरीय गतियों (ज्वार, सागरीय तरंग, महासागरीय धारायें, ज्वारीय तरंग, सुनामी आदि), सागरीय अवसादों तथा निक्षेपों, सागरीय संसाधनों, तटीय आवासों (habitats), सागरीय जीवों तथा जैविक उत्पादकता, एवं मानव तथा सागरीय पर्यावरण के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है।'

सविन्द्र सिंह (2008) .....(6)

1.5 समुद्र विज्ञान का विषय क्षेत्र

उपर्युक्त समुद्र विज्ञान की परिभाषाओं से समुद्र विज्ञान के विषय क्षेत्र का आभास मिल जाता है। सामान्य रूप में जलमण्डल के अध्ययन को समुद्र विज्ञान या महासागरों का भूगोल कहते हैं जिसके अन्तर्गत जलमण्डल के भौतिक एवं जैविक पहलुओं के वर्णन एवं विश्लेषण को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार महासागरों का विज्ञान अर्थात् समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत सागरीय भौमिकी (geology), सागरीय भूआकारिकी (geomorphology), भौतिक समुद्र विज्ञान, सागरीय जल की रासायनिकी (chemistry), तथा जैवसमुद्र विज्ञान का अध्ययन किया जाता है।

महासागरों के भौमिकीय तथा भूआकारिकीय पक्षों के अन्तर्गत महासागरीय बेसिन की उत्पत्ति (महाद्वीपीय प्रवाह, प्लेट विवर्तनिकी के आधार पर सागर नितल प्रसरण), सागरीय अवसादों (sediments) की विशेषताओं तथा उत्पत्ति, सागरीय निक्षेप, तटीय प्रक्रमों की क्रियाविधि तथा तटीय स्थलरूपों की विशेषताओं आदि का अध्ययन किया जाता है।

समुद्र विज्ञान के भौतिक पक्षों के अन्तर्गत महासागरीय जल की भौतिक विशेषताओं (यथा: तापमान, दाब, घनत्व, लवणता, सम्पीडनशीलता—compressibility,श्यानता—viscqsity, जलराशि तथा उनका वितरण प्रतिरूप), तथा महासागरीय जल की गतिकी अर्थात् सागरीय तरंग, महासागरीय धाराओं, ज्वार, सुनामी, ज्वारीय एवं तूफान तरंगों के अध्ययन को सम्मिलित किया जाता है।

वर्तमान समय में सागरीय ऋतुविज्ञान (marine meteorology) का भी समुद्र विज्ञान में अध्ययन प्रारम्भ हो गया है जिसके अन्तर्गत महासागरीय जल पर वायुमण्डलीय दशाओं तथा वायुमण्डल—महासागरीय अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

समुद्र विज्ञान के जैविक पक्षों के अन्तर्गत सागरीय जीवों की विशेषताओं, उनके उद्भव, वितरण तथा विसरण, तटीय आवास तथा जैवकटिबन्ध, सागरीय पारिस्थितिकी, तथा सागरीय पारिस्थितिकीय उत्पादकता का अध्ययन किया जाता है।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद 'आर्थिक मानव' के रूप में मनुष्य के अवतार ने सागरीय पर्यावरण को बड़े पैमाने पर प्रभावित किया है। अत: सागरीय पर्यावरण पर मनुष्य के आर्थिक क्रिया-कलापों के प्रभावों का महत्व अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है। अत: यह विषय समुद्र विज्ञान के विषय क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया है।

उपर्युक्त आधारों पर समुद्र विज्ञान के विषय क्षेत्र एवं अध्ययन सामग्री को निम्न रूप में सारांशित किया जा सकता है:

समुद्र विज्ञान के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत निम्न पक्षों का अध्ययन किया जाता है :

(1) सागरीय भौमिकीय एवं विवर्तनिक पक्ष (geological एवं tectonic aspects)
- ➤ महासागरों की उत्पत्ति (महाद्वीपीय विस्थापन एवं प्रवाह)
- ➤ प्लेट टेक्टानिक्स एवं सागर नितल का प्रसरण (sea floor spreading)

(2) सागरीय भूआकृतिक पक्ष (geomorphological aspects)
- ➤ सागरीय द्रोणियों के उच्चावच (reliefs)
  - (i) महाद्वीपीय निमग्न तट एवं ढाल (continental shelves and slope)
  - (ii) गहरे सागरीय मैदान तथा खड्ड (deep sea plains and trenches)
- ➤ तटीय प्रक्रम तथा स्थलाकृतियां

(3) भौतिक एवं रासायनिक पक्ष
- ➤ सागरीय जल का तापमान
- ➤ सागरीय जल का घनत्व
- ➤ सागरीय जल की श्यानता (viscosity), दबाव, सम्पीडनात्मकता (compressibility)

- ➤ सागरीय जल की लवणता
- ➤ सागरीय अवसाद (sediments) एवं निक्षेप

(4) **महासागरों की गतियां**

- ➤ सागरीय तरंगें
- ➤ महासागरीय धारायें
- ➤ महासागरीय ज्वार
- ➤ सुनामी
- ➤ ज्वरीय तरंगें

(5) **भूमण्डलीय वायुमण्डल-महासागर परिसंचरण (circulation) तथा वायु-सागर प्रतिक्रिया (interactions)**

- ➤ वायुमण्डलीय परिसंचरण एवं महासागरीय धारायें
- ➤ दक्षिणी दोलन एवं वाकर परिसंचरण
- ➤ एल निनो

(6) **तटीय आवास एवं बायोम**

- ➤ तटीय आवास (habitats)
  - (i) एश्चुअरी
  - (ii) तरभूमि (wetlands)
  - (iii) लैगून
  - (iv) मैंग्रूव
- ➤ तटीय बायोम
  - (i) लिटोरल बायोम
  - (ii) उपलिटोरल बायोम
  - (iii) पेलैजिक बायोम

(7) **सागरीय जीव एवं सागरीय पारिस्थितिकी (ecology)**

- (i) सागरीय जीवों का वर्गीकरण
- (ii) सागरीय पारिस्थितिकीय उत्पादकता
- (iii) सागरीय आहार शृंखला एवं जैव भूरसायन चक्र
- (iv) सागरीय पौधे
- (v) सागरीय जन्तु

(8) **प्रवाल भित्ति तथा एटाल**

(9) **सागरीय संसाधन**

(10) **मनुष्य एवं सागरीय पर्यावरण**

1.6 समुद्र विज्ञान की शाखायें

यदि हम अनुभाग 1.4 में समुद्र विज्ञान की परिभाषाओं में निहित विषयों एवं अनुभाग 1.5 में प्रस्तुत समुद्र विज्ञान की विषय सामग्री को मिलाकर देखें तो समुद्र विज्ञान की निम्न प्रमुख शाखाओं का निर्धारण होता है :

- भौमिकीय समुद्र विज्ञान
- भूआकृतिक समुद्र विज्ञान
- भौतिक समुद्र विज्ञान
- रासायनिक समुद्र विज्ञान
- गतिक समुद्र विज्ञान
- जैविक समुद्र विज्ञान
- आर्थिक समुद्र विज्ञान
- पर्यावरण समुद्र विज्ञान

समुद्र विज्ञान की उपर्युक्त 8 शाखाओं को यदि आपस में मिला दिया जाये तो निम्न चार प्रमुख शाखायें उभर कर सामने आती हैं :

- ➤ भौमिकीय समुद्र विज्ञान
  (इसके अन्तर्गत भूआकृतिक समुद्र विज्ञान भी सम्मिलित है)
- ➤ भौतिक समुद्र विज्ञान
  (इसके अन्तर्गत गतिक समुद्र विज्ञान भी सम्मिलित है)
- ➤ रासायनिक समुद्र विज्ञान
- ➤ जैविक (जीवीय) समुद्र विज्ञान
  (इसके अन्तर्गत आर्थिक एवं पर्यावरण समुद्र विज्ञान समाहित है)।

भौमिकीय समुद्र विज्ञान
(Geological Oceanography)

भौमिकीय समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत मुख्य रूप से सागर नितल की विशेषताओं, उसकी आकृतियों तथा उनके निर्माण, महासागरीय द्रोणियों की उत्पत्ति, प्लेट संचलन तथा सागरीय तली का प्रसार (sea floor spreading), सागरीय अवसाद एवं निक्षेप आदि का अध्ययन किया जाता है। मैण्टिल से उठने वाली तापीय संवहन तरंगों का अध्ययन भी आवश्यक होता है।

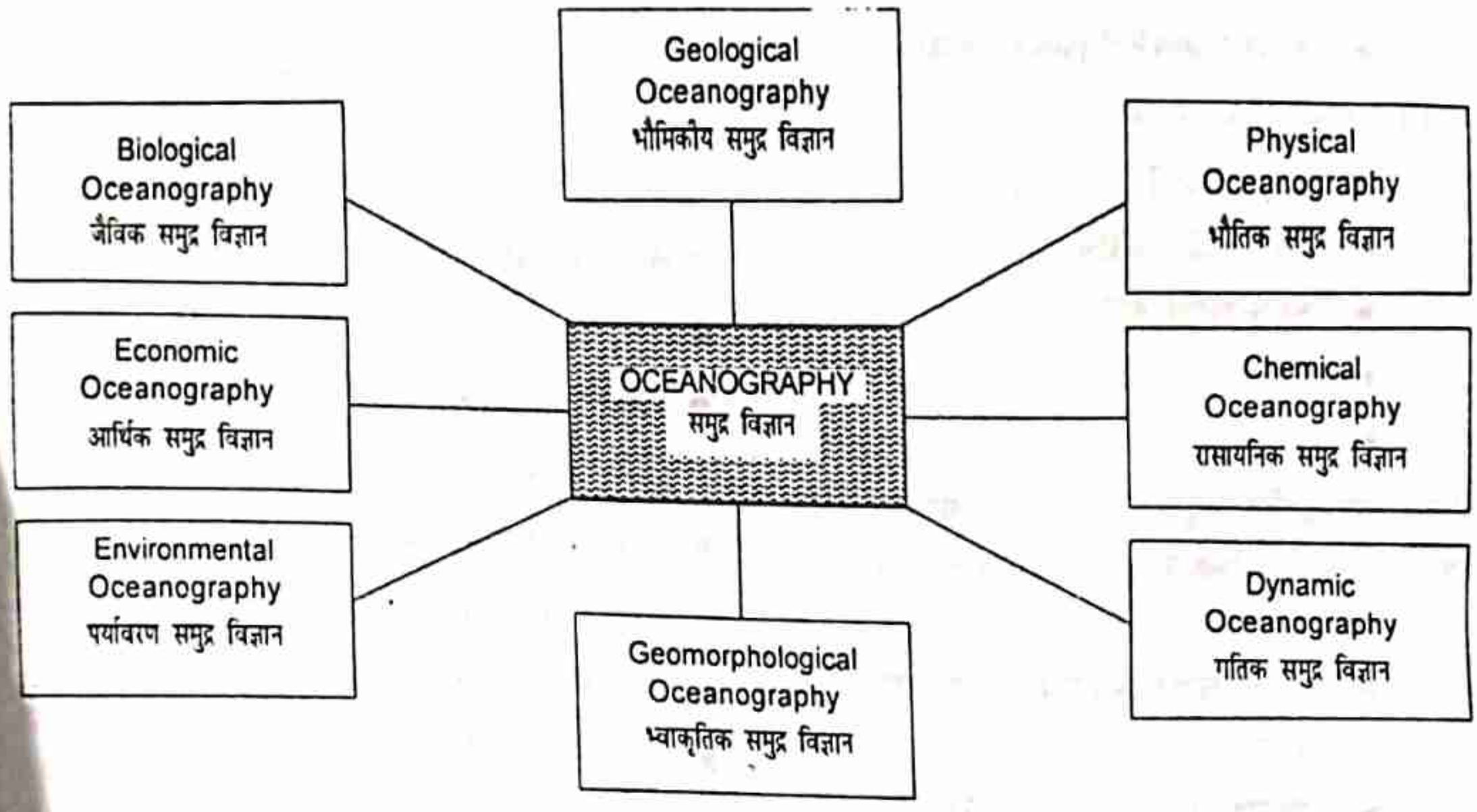

चित्र 1.1 : समुद्र विज्ञान की शाखायें।

भूआकृतिक समुद्र विज्ञान
(Geomorphological Oceanography)

भूआकृतिक समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत अनाच्छादन (denudation) के तटीय (सागरीय) प्रक्रमों की क्रियाविधियों एवं उनसे उत्पन्न स्थलरूपों (यथा : सागरीय क्लिफ, तरंग घर्षित प्लेटफार्म, सागरीय कन्दरा, स्केरी, स्टैक, तरंग-निक्षेपित वेदिका, सागरीय पुलिन-beaches आदि) का अध्ययन किया जाता है। ये स्थलरूप सागरीय जीवों (सागरीय पौधे, सागरीय जन्तु तथा सूक्ष्म जीव) को आदर्श आवास प्रदान करते हैं।

भौतिक समुद्र विज्ञान
(Physical Oceanography)

भौतिक समुद्र विज्ञान मुख्य रूप से महासागरीय जल के भौतिक गुणों (यथा : सागरीय जल की तापीय दशा, घनत्व, गंदलापन, श्यानता-viscosity, सम्पीडनात्मकता आदि) का अध्ययन करता है। सागरीय जल के तापमान एवं घनत्व का समय एवं स्थान के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाता है। तापमान एवं घनत्व सागरीय जल के अत्यधिक महत्वपूर्ण गुण हैं क्योंकि इन्हीं दो गुणों द्वारा सागरीय गतियों का निर्धारण होता है। कुछ समुद्र विज्ञानी महासागरीय गतियों (यथा : सागरीय तरंग, महासागरीय धारायें, ज्वार आदि) के अध्ययन को भौतिक समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत सम्मिलित करने की वकालत करते हैं, जब कि अन्य विद्वान इन्हें समुद्र विज्ञान की अलग शाखा अर्थात् गतिक समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत रखना चाहते हैं। सागरीय अवसादों के प्रकारों, विशेषताओं, उत्पत्ति तथा उनके वितरण प्रतिरूपों का भी अध्ययन भौतिक समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है।

रासायनिक समुद्र विज्ञान

सागरीय जल के रासायनिक संघटन एवं रासायनिक विशेषताओं के अध्ययन को रासायनिक समुद्र विज्ञान कहते हैं। इस शाखा के अन्तर्गत सागरीय लवणता के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता है क्योंकि यह सागरीय जल के घनत्व, सागरीय जल की गति (movement), वाष्पीकरण प्रक्रिया तथा सागरीय जीवों को प्रभावित एवं नियंत्रित करती है। इसके अन्तर्गत सागरीय जल के प्रदूषण एवं खारे सागरीय जल से कतिपय रसायनों के अलगाव एवं निष्कासन का भी अध्ययन किया जाता है।

गतिक समुद्र विज्ञान
(Dynamic Oceanography)

गतिक समुद्र विज्ञान मूलत: सागरी : जल की विभिन्न गतियों, यथा : सागरीय तरंगों, महासागरीय धाराओं, ज्वारों, सुनामी, ज्वारीय एवं तूफान तरंगों के विभिन्न पक्षों के अध्ययन से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत वायु-सागर अन्तर्क्रियाओं (air-sea interactions) तथा उनसे जनित दक्षिणी दोलन (southern oscillation) एवं वाकर संचरण, एल निनो-ला निना परिघटना, सुनामी आदि का भी अध्ययन किया जाता है।

जैव समुद्र विज्ञान
(Biological Oceanography)

जैव समुद्र विज्ञान वास्तव में सागरीय जीवों के विभिन्न पक्षों (यथा : सागरीय पौधों, सागरीय जन्तुओं एवं सागरीय सूक्ष्म जीवों की विशेषताओं एवं उनके वितरण); सागरीय आवासों, खासकर तरभूमि (wetlands), कोरल (प्रवाल), मैंग्रूव, सागरीय पुलिन, लैगून आदि की विशेषताओं); सागरीय वायोम; पारिस्थितिकीय उत्पादकता; सागरीय आहार शृंखला तथा सागरीय जैव भूरसायनचक्र का विधिवत् अध्ययन करता है।

आर्थिक समुद्र विज्ञान

आर्थिक स्तर पर महासागर वर्तमान समय में अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं क्योंकि ये मानव समाज को जीवीय एवं खनिजीय संसाधन प्रदान करते हैं। इसके अलावा महासागर अनादिकाल से व्यापार एवं वाणिज्य के लिए उपयोग किये जाते रहे हैं। 19वीं शताब्दी से महासागरों का सामरिक महत्व भी बढ़ गया। आर्थिक समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत सागरीय संसाधनों की विशेषताओं, उनकी उत्पत्ति एवं वितरण का विधिवत् अध्ययन किया जाता है। महासागर कई प्रकार के जीवीय संसाधनों (आहार एवं अन्य) के अलावा आर्थिक महत्व के कुछ प्रमुख संसाधन (यथा : खनिज तेल एवं प्राकृतिक गैस) तथा गैर परम्परागत ऊर्जा संसाधन (यथा : ज्वारीय ऊर्जा, तरंग ऊर्जा तथा वायोमास ऊर्जा) भी प्रदान करते हैं। महासागरों के सामाजिक पक्षों के अध्ययन को **सामरिक समुद्र विज्ञान** (strategic oceanography) कहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत महासागरों के सामरिक पक्षों एवं अन्तर्राष्ट्रीय नियमों एवं कानूनों का अध्ययन किया जाता है।

पर्यावरण समुद्र विज्ञान
(Environmental Oceanography)

पर्यावरण समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत मनुष्य एवं सागरीय पर्यावरण के बीच अन्तर्क्रियाओं तथा उनसे उत्पन्न सागरीय प्रदूषण तथा उनके निवारण के उपायों का अध्ययन किया जाता है। विभिन्न आर्थिक उद्देश्यों को लेकर मनुष्य की सागरों में उपस्थिति दिनों-दिन बढ़ती जा रही है, जिस कारण अनेक प्रकार की पर्यावरणीय समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं। सागरीय संसाधनों (खनिजीय एवं जीवीय दोनों) के विदोहन के लिए विभिन्न राष्ट्रों, व्यापारिक संगठनों एवं व्यक्तियों में होड़ लगी है जिस कारण सागरीय पारिस्थितिकीय असन्तुलन हो रहा है। स्पष्ट है कि वर्तमान समय में पर्यावरण समुद्र विज्ञान का महत्व बढ़ता जा रहा है।

1.7 समुद्र विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

समुद्र विज्ञान एक व्यावहारिक विज्ञान है जिसके अन्तर्गत विज्ञान की विभिन्न शाखाओं जैसे भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र तथा गणित, जीवविज्ञान, भूगर्भशास्त्र तथा अन्तर्विषयी विज्ञानों जैसे भूभौतिकी (geophysics), भूरासायनिकी (geochemistry), जैव भौतिकी (biophysics), जैवरासायनिकी (biochemistry) तथा भूगोल के मूलाधारों को सम्मिलित किया जाता है।

समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत **तरल जलमण्डल** (महासागरीय जल), **ठोस जलमण्डल** (महासागरीय द्रोणियों की क्रस्ट या तली) तथा **जीवीय जलमण्डल** (सागरीय जीव) का अध्ययन किया जाता है। चूँकि महासागरीय जल महासागरीय क्रस्ट पर टिका है अत: महासागरीय बेसिन की उत्पत्ति एवं विकास, संरचना एवं संघटन, महासागरीय तली पर स्थित सागरीय अवसादों, सागरीय नितल पर घटने वाली ज्वालामुखी एवं भूकम्पीय घटनाओं का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार समुद्र विज्ञान के इन पक्षों के अध्ययन हेतु **भूगर्भशास्त्र** (geology) का ज्ञान आवश्यक हो जाता है।

महासागरीय नितल के उच्चावचों एवं तटीय स्थलाकृतियों के भ्वाकृतिक उद्भव को समझने के लिए भ्वाकृति विज्ञान के नियमों की आवश्यकता होती है।

उल्लेखनीय है कि समुद्र विज्ञान भौतिक भूगोल, जो भूगोल की प्रमुख शाखा है, का ही एक भाग है। भूगोल विभिन्न सागरीय विचरों (attributes), जैसे सागरीय जल का तापमान एवं घनत्व, सागरीय लवणता, सागरीय निक्षेप आदि के मापन, वितरण एवं उनकी सीमाओं के निर्धारण में सहायक होता है। वास्तव में भूगोल सागरीय विचरों के अवस्थितिक पक्षों (locational aspects) के अध्ययन में मदद करता है।

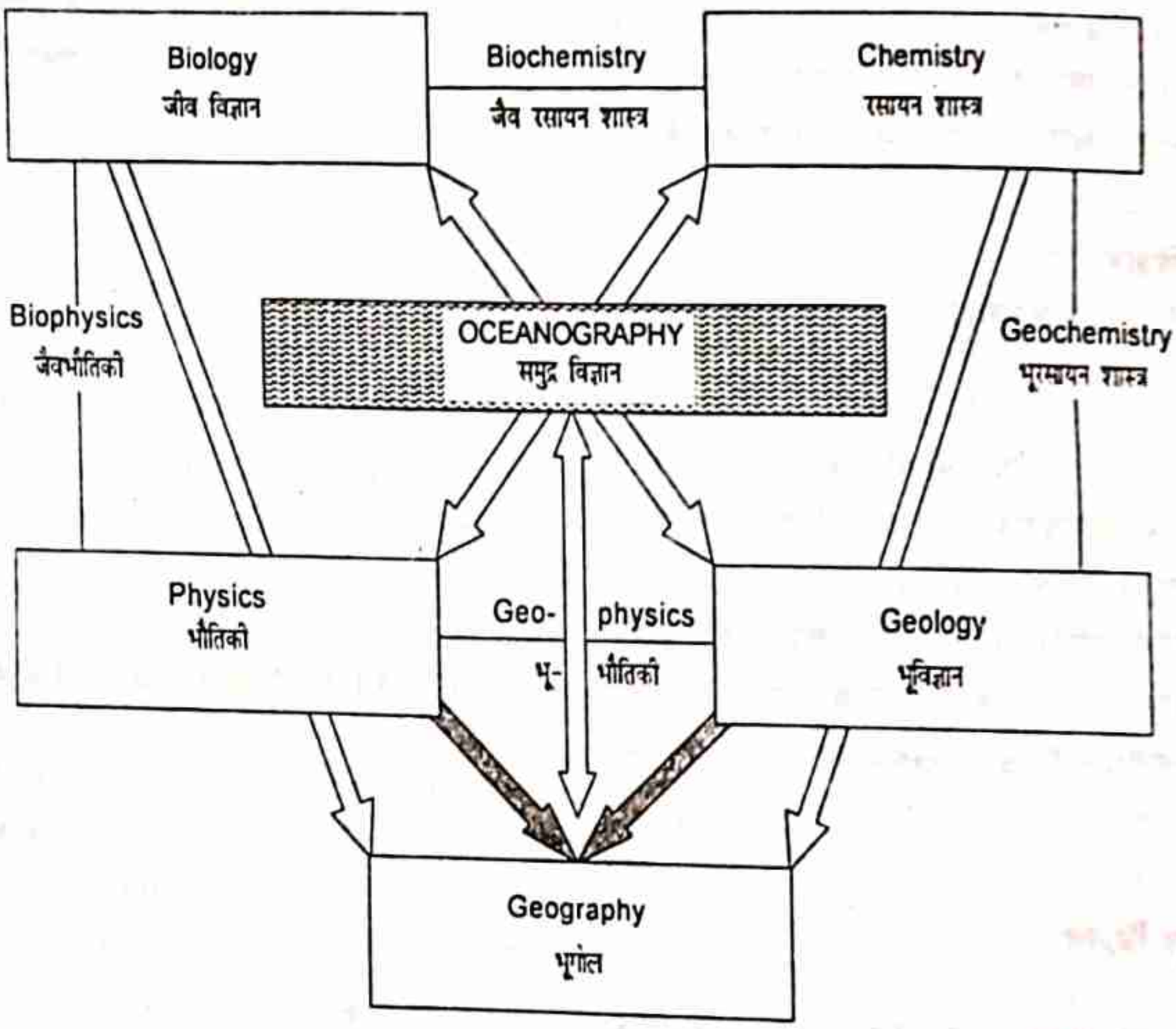

चित्र 1.2 : समुद्रविज्ञान एवं अन्य विज्ञानों के मध्य सम्बन्धों का प्रदर्शन।

भौतिक शास्त्र के ऊष्मागतिकी (thermodynamics) के नियमों के आधार पर महासागरीय जल की गतियों, जैसे सागरीय तरंग, महासागरीय धारा, ज्वारीय धारा, सुनामी, तूफान तरंग आदि के विभिन्न पक्षों के अध्ययन में सहायता मिलती है।

रसायन शास्त्र से महासागरीय जल के रासायनिक गुणों (यथा : सागरीय लवणता) को समझने में सहायता मिलती है।

भूभौतिकी (geophysics) का ज्ञान प्लेट विवर्तनिकी (plate tectonics) के विभिन्न पक्षों के अध्ययन में सहायक होता है। ज्ञातव्य है कि प्लेट विवर्तनिकी, सागर नितल प्रसरण, विभिन्न प्रकार के भ्रंशों के निर्माण, अन्त: सागरीय भूकम्प एवं ज्वालामुखी की क्रियाओं, अन्त: सागरीय भूमिस्खलन आदि की सुस्पष्ट व्याख्या करती है।

सागरीय जीव, जीव विज्ञान से निकटतम रूप से सम्बन्धित हैं। जीवों के उद्भव एवं विकास की प्रक्रियाओं, जैविक अनुक्रम (biotic succession), जैवभूरसायन चक्र, पारिस्थितिकीय उत्पादकता तथा ऊर्जा के स्थानान्तरण आदि की प्रक्रियाओं के आधार पर सागरीय जीवों (पौधों, जन्तुओं तथा सूक्ष्म जीवों) की विशेषताओं को समझने में आसानी होती है।

इनके अलावा अन्य विषयों, यथा : सागरीय ऋतुविज्ञान (marine meteorology), सागरीय अभियांत्रिकी (ocean

engineering), सागरीय पुरातत्वशास्त्र (marine archaeology), आपदा प्रबन्धन, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, हिम भूगोल (cryogeography) आदि से भी महासागरों के अध्ययन में सहायता मिलती है।

1.8 समुद्र विज्ञान का ऐतिहासिक विकास

समुद्र विज्ञान का विकास जलपोतों (vessels) के बनाने, तथा नौसंचालन (navigation) करने से सम्बन्धित ज्ञान एवं कौशल, विभिन्न महासागरों, सागरों एवं द्वीपों की खोज एवं अन्वेषण से घनिष्टता से सम्बन्धित है। सागरों एवं महासागरों से सम्बन्धित विषय का अध्ययन कई रूपों में किया जा सकता है:

समुद्र विज्ञान का विकास

- व्यक्तिगत उपागम की अवस्था
- अंधयुग
- क्रमबद्ध उपागम की अवस्था
- अन्तर्राष्ट्रीय उपागम की अवस्था

या

समुद्र विज्ञान का विकास

- प्राचीन या क्लासिकल युग
- मध्य युग या अंधयुग
- आधुनिक युग या खोज एवं अन्वेषण का युग

या

समुद्र विज्ञान का विकास

- प्रारम्भिक काल
- मध्य काल
- आधुनिक काल

1. प्राचीन काल

समुद्र विज्ञान के विकासीय इतिहास को आरम्भिक काल या व्यक्तिगत उपागम काल भी कहते हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत आरम्भिक नाविकों के प्रयासों को सम्मिलित किया जाता है। इस काल को क्लासिकल काल भी कहते हैं। इस काल में एकाकी नाविकों, इतिहासज्ञों, दार्शनिकों तथा शैलानियों के समुद्रों तथा द्वीपों से सम्बन्धित पर्यवेक्षणों, विवरणों तथा रपटों से समुद्र विज्ञान का सम्वर्द्धन होता रहा। इस काल का विस्तार ईशापूर्व काल (4000 B C) से दूसरी सदी (A. D.) तक फैला था। इस वृहद् काल (4200 वर्ष) को 3 उपकालों में विभाजित किया जाता है:

- आरम्भिक काल: होमर (4000 B C) से हेकाटियस (500 B C) काल तक की अवधि,
- मापन का काल: 500 B C से स्ट्रैबो (54 B C-25 A D) तक की अवधि, तथा
- महासागरों के मानचित्रण का काल: प्रथम सदी ई० से दूसरी सदी ई० तक की अवधि।

प्राचीन काल के उपर्युक्त 3 उपकालों के 4200 वर्षों की लम्बी अवधि के दौरान महासागरों, सागरों तथा नौसंचालन से सम्बन्धित ज्ञान के विकास के निम्न प्रमुख उपलक्षक है:

(1) आरम्भिक काल (early period): इस काल की कुल समयावधि 3500 वर्षों (4000 ई० पू० से 500 ई० पू०) की रही है। इस काल में एकाकी नाविकों ने प्रशान्त महासागर तथा रूम सागर के कई हिस्सों का नौसंचालन (navigation) किया। इस तरह महासागरों एवं सागरों के नौसंचालन की आरम्भिक अवस्था एकाकी समुद्री यात्राओं (voyages) पर आधारित थी। यह तो ठीक से ज्ञात नहीं है कि किसने सर्वप्रथम नौसंचालन की कला विकसित की थी परन्तु यह समझा जाता है कि मिश्रवासियों ने 4000ई० पू० में जलपोत बनाने तथा तटीय सागरीय क्षेत्रों में नौसंचालन की कला विकसित कर ली थी। इस काल में जलपोत बनाने तथा नौसंचालन करने से सम्बन्धित ज्ञान के विकास के प्रमुख अपलक्षक निम्न प्रकार है:

- मिश्रवासियों ने 4000 ई० पू० में नौसंचालन के जलपोतों के निर्माण की कला विकासित कर ली थी तथा रूमसागर के तटीय क्षेत्रों नौसंचालन प्रारम्भ कर दिया था।
- यह विश्वास किया जाता है कि प्रशान्त महासागर के द्वीपों के निवासी वहां के मूलनिवासी नहीं थे वरन् अन्य क्षेत्रों से आये थे।
- मध्य प्रशान्तमहासागर के अधिकांश द्वीपों पर पेलीनेसियन द्वारा 2000 ई० पू० से 500 ई० पू० के बीच बसाव हो गया था। प्रशान्त महासागर के द्वीपों को निम्न 3 प्रकारों में विभाजित किया जाता है:
  - माइक्रोनेसिया (माइक्रो = छोटे nesia= द्वीप) वर्ग के अन्तर्गत विपुवत् रेखा से कर्क रेखा के मध्य तथा

125° पूर्वी से 180° पूर्वी देशान्तरों के मध्य स्थित छोटे द्वीपों को सम्मिलित किया जाता है।

- मेलेनेसिया (melan=काला , nesia=द्वीप, अर्थात् काले रंग के चमड़ी वाले लोगों से आवासित द्वीप) वर्ग के द्वीपों की माइक्रोनेसिया के दक्षिण में विषुवत रेखा एवं 30° द० अक्षांश तथा 125°—180° पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थिति पायी जाती है। महत्वपूर्ण द्वीपों के अन्तर्गत न्यू आयरलैण्ड, बोर्नियो, पपुआ न्यू गायना, न्नुनुई, सेलबीज, न्यू हेब्राइड्स आदि द्वीपों को सम्मिलित किया जाता है।
- पोलीनेसिया (poly=कई, nesia=द्वीप, कई द्वीपों का समूह) समूह के अन्तर्गत मध्य एवं पूर्वी प्रशान्त महासागर के द्वीपों को सम्मिलित किया जाता है। हवाई द्वीप, मार्क्वेसास द्वीप, समोआ, टौगा, ईस्टर द्वीप आदि इस समूह के प्रमुख द्वीप है।

➤ सम्भवत: फोनेसियन युरोप के प्रथम नौसंचालक (navigators) थे। ज्ञातव्य है कि रूम सागर के पूर्वी तटीय क्षेत्रों, जो वर्तमान सीरिया, लेबनान तथा इजरायल को सम्मिलित करते थे, के रहने वाले लोगों को फोनेसियन कहा जाता था। फोनेसियन ने नौसंचालन की कला विकसित की तथा समग्र रूमसागर, लाल सागर तथा हिन्द महासागर के कुछ भागों की 1000 ई० पू०—600 ई० पू० के मध्य खोज की।

➤ विश्वास किया जाता है कि सर्वप्रथम फोनेसियन ने 590 ई० पू० में अफ्रीका का नौपरिसंचालन (circumnavigation) किया था।

➤ फोनेसियन ने अटलाण्टिक महासागर में भी यात्रायें कीं तथा इंगलैण्ड के कार्नवाल तक अपनी उपस्थिति दर्ज की।

➤ आरम्भिक नौसंचालकों ने अपने जलपोतों का तटवर्ती स्थल चिन्हों तथा तारों की सहायता से संचालन किया, अत: ये गहरे सागरीय भागों में शायद ही पहुंच पायें हों।

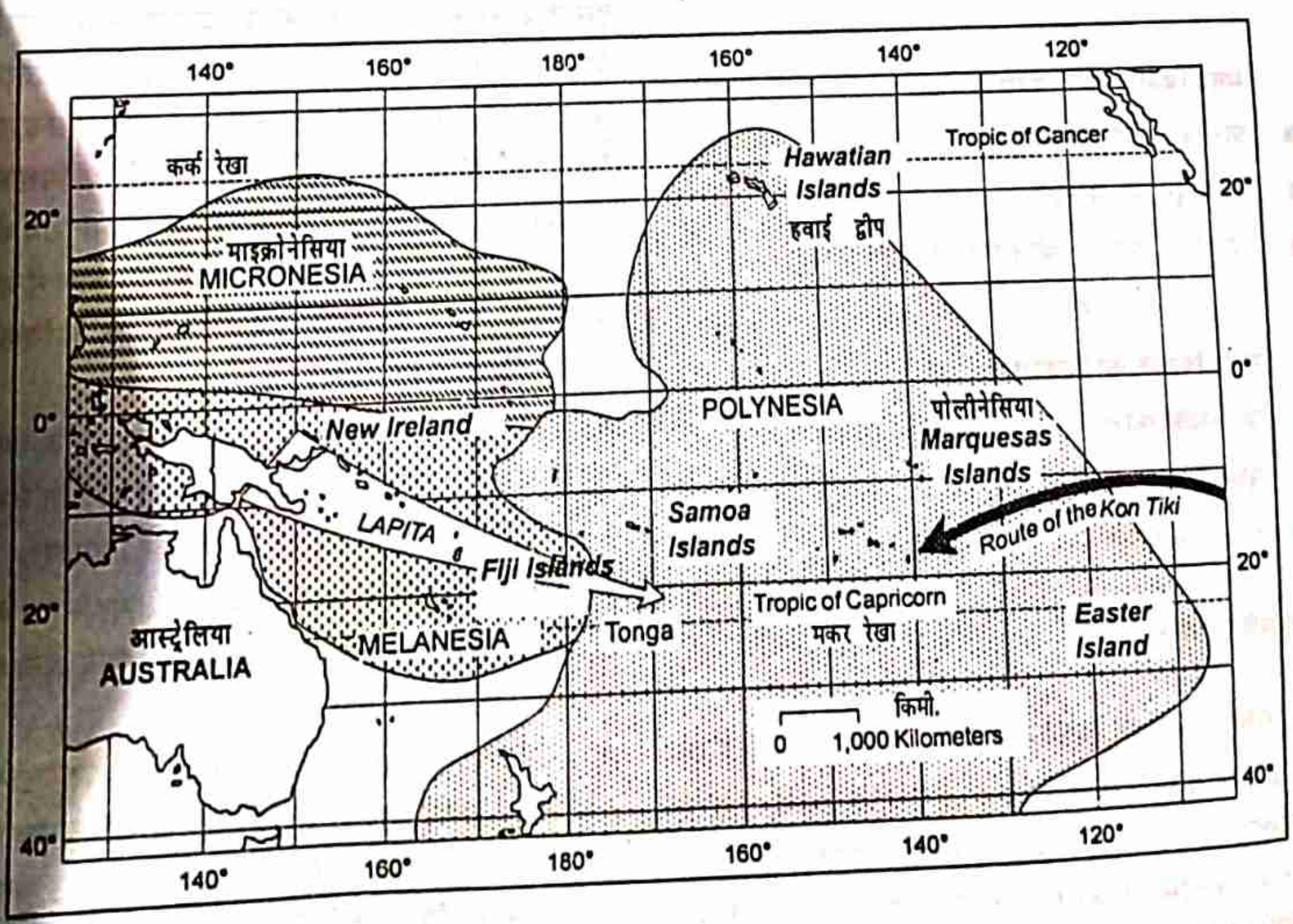

चित्र 1.3 : प्रशान्त महासागर के द्वीपों की खोज।

महासागरीय गतिकी (dynamics—महासागरीय धारायें तथा ज्वार, सागरीय लहर) आदि, के विषय में व्यापक आंकड़ों एवं सूचनाओं के संग्रह करने का पूरा श्रेय दिया जाता है। कुक ने तटरेखाओं के चार्ट की भी रचना की। कुक ने नये खोजे गये स्थानों के मूलनिवासियों के रीति-रिवाजों तथा आचार-विचार का विवरण भी प्रस्तुत किया। कुक प्रथम अन्वेषक थे जिसने महासागरों के भौतिक पक्ष के अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। कुक ने पहली बार दोनों गोलार्द्धों के ध्रुवीय सागरों में नौसंचालन में सफलता हासिल की। यह कार्य उन्होंने आर्कटिक तथा अण्टार्कटिक वृत्तों को पार करके सम्पादित किया। कुक ने अपनी समुद्री यात्रा 3 अवस्थाओं में सम्पन्न की।

प्रथम अवस्था

ज्ञातव्य है कि कैप्टन जेम्स कुक अग्रेंज नाविक थे। उन्होंने अपनी पहली प्रमुख समुद्री यात्रा HMS Endevour जहाज पर सवार होकर सन् 1768 में प्रारम्भ की। कुक टेरा आस्ट्रालिस, जिसे उस समय 'सदर्न लैण्ड' (आज का अण्टार्कटिका) समझा जाता था, की खोज करने के लिए रवाना हुआ था। उसने न्यूजीलैण्ड की खोज की तथा उसकी तटरेखा का विशद् चार्ट तैयार किया। उसने व्यक्त किया कि न्यूजीलैण्ड टेरा आस्ट्रालिस का भाग नहीं था। उसका विश्वास था कि टेरा आस्ट्रालिस का अस्तित्व नहीं है, और यदि है भी तो ध्रुवीय हिम क्षेत्र के बाद होगा। इसके बाद पश्चिम की ओर चलकर आस्ट्रेलिया के पूवी तट पर पहुंचा। ग्रेट बैरियर रीफ को पार करते समय उसके बेड़े का एक जहाज नष्ट हो गया। उसने आस्ट्रेलिया की पूर्वी तटरेखा का मानचित्रण किया तथा उनका विशद् चार्ट तैयार किया।

द्वितीय अवस्था

कैप्टन कुक ने HMS Adventure तथा HMS Resolution नामक जलपोतों के साथ अपनी दूसरी समुद्री यात्रा सन् 1772—1775 में पूरी की। उसने उत्तमाशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) की परिक्रमा करने तथा ग्लोब का नौपरिसंचालन (circumnavigation) करने के लिए पश्चिम दिशा में जहाज को चलाने लगा परन्तु प्लावी हिम (icebergs) से बचने के लिए 60° दक्षिणी अक्षांश का अनुसरण किया।

तीसरी अवस्था

कैप्टन कुक ने अपनी तीसरी समुद्री यात्रा सन् 1778 में प्रारम्भ की तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपों की खोज का कार्य प्रारम्भ किया तथा हवाई द्वीप सहित कई द्वीपों को खोजने में सफल भी हो गया। उसने बेरिंग जलडमरूमध्य तक नौसंचालन किया परन्तु 70°44' उ० अक्षांश के आगे नहीं जा सका क्योंकि पैक हिम के कारण जहाजों को आगे चलाना सम्भव नहीं हो सका। अत: वह हवाई द्वीप वापस लौट आया परन्तु वहां के मूलवासियों ने 14 फरवरी, 1779 को उसकी हत्या कर दी।

कैप्टन कुक ने नये खोजे गये क्षेत्रों की अक्षांशीय अवस्थिति के निर्धारण के लिए हैरिसन क्रोनोमीटर का भी उपयोग किया। उसने प्रवाल भित्तियों से सम्बन्धित पर्याप्त आंकड़ों का संग्रह किया। कैप्टन कुक को पहली बार अक्षांश-देशान्तरों के साथ प्रथम विश्वसनीय विश्व मानचित्र बनाने का श्रेय दिया जाता है।

5.19वीं सदी में समुद्र विज्ञान का विकास

समुद्र विज्ञान के विकास में 19वीं सदी में और तेजी आयी क्योंकि इस अवधि में समुद्रों एवं महासागरों के रहस्यों को जानने के लिए कई सागरीय खोज यात्रायें (marine expedition) प्रारम्भ की गयीं। इस काल को समुद्र विज्ञान में ज्ञान सम्वर्द्धन की 3 अवस्थाओं में विभाजित किया जाता है।

- एडवर्ड फोर्ब्स का काल (1815—1854 ई०)
- चैलेन्जर खोज अभियान काल
- चैलेन्जर उपरान्त काल

(1) एडवर्ड फोर्ब्स का काल

इस काल का समय सन् 1815 से 1854 तक था जिसमें एडवर्ड फोर्ब्स तथा उनके अनुयायिओं द्वारा समुद्र विज्ञान में किए गये योगदानों को सम्मिलित किया जाता है। इनमें प्रमुख है: नैथनियल बाउडिच, सर जान रॉस, अलेक्जैण्डर मरकेटर, चार्ल्स डारविन, सर जेम्स रॉस, सर एडवर्ड फोर्ब्स, यम० यफ० मौरी, चार्ल्स थामसन आदि।

- यन० बाउडिच ने सन् 1802 में नौसंचालन मैनुअल का प्रकाशन करके सागर नौसंचालन (sea navigation) के क्षेत्र में महान योगदान किया है।

समुद्र विज्ञान के विकास के इतिहास का सारांश

समुद्र विज्ञान के विकास के ऊपर वर्णित विशद् इतिहास के सारांश को निम्न रूप में व्यक्त किया जा रहा है:

प्राचीन काल

- समुद्र विज्ञान के विकास की प्राचीन काल की प्रारम्भिक अवस्था में आरम्भिक नाविकों द्वारा एकाकी प्रयासों एवं योगदानों को सम्मिलित किया जाता है। यह प्रवृत्ति 4000 ई० पू० से 500 ई० पू० तक चलती रही। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मिश्र के नाविकों ने 4000 ई० पू० में ही जलपोत (vessels) बनाने की कला विकसित कर ली थी।
- **फोनेसियन** युरोप के ऐसे प्रथम नाविक थे जिन्होंने 590 ई० पू० में समग्र रूमसागर, लाल सागर एवं हिन्द महासागर के कुछ भागों की खोज कर ली थी तथा अफ्रीका का नौपरिसंचालन (circumnavigation) कर लिया था।
- **पाइथस** सम्भवत: यूनान का पहला नाविक तथा अन्वेषक था जिसने चौथी सदी ई० पू० में इंगलैण्ड का नौपरिसंचालन किया तथा इंगलैण्ड की तटरेखा (coastlines) की लम्बाई

का मापन किया। उसने 325 ई० पू० में आइसलैण्ड तक की यात्रा कर डाली।

- हेराडोटस ने 450 ई० पू० में रूमसागर का मानचित्र प्रस्तुत किया।
- इरैटोस्थनीस ने पृथ्वी की परिधि का करीब-करीब सही परिकलन किया। उनके द्वारा उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुवों से होकर पृथ्वी की परिकलित 40,000 किमी० की ध्रुवीय परिधि वर्तमान समय में परिकलित सही 40,032 किमी० की ध्रुवीय परिधि से मात्र 32 किमी० कम रही।
- टालमी ने सन् 150 ई० में समग्र रोमन साम्राज्य के मानचित्र का संकलन किया।

मध्य काल

- मध्य युग, जिसे अन्ध युग के नाम से जाना जाता है, का समय दूसरी सदी ई० के अन्त से 14वीं सदी ई० तक विस्तृत था। इस दीर्घ काल का समुद्र विज्ञान के विकास में कोई खास योगदान नहीं रहा। केवल युरोप के लोगो ने कुछ छिट-पुट कार्य अवश्य किया यथा बेदे (673—735 ई०) ने बताया कि चन्द्र नियंत्रण (lunar control) महासागरीय ज्वारों का प्रमुख कारण है। स्कैण्डेनिविया के विकिंग लोगों ने आइसलैण्ड, दक्षिणी ग्रीनलैण्ड तथा बैफिन द्वीप तक समुद्री यात्रायें की तथा आइसलैण्ड में आवासित हो गये।

पुनर्जागरण काल

- समुद्र विज्ञान के विकास के इतिहास में 15वीं एवं 16वीं सदी ई० को पुनर्जागरण काल (period of renaissance) काल या खोज एवं अन्वेषण का महाकाल कहते हैं क्योंकि इस 200 वर्षों की अवधि में नये क्षेत्रों की खोज में भारी प्रयास किए गये। कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की तथा मैगेलन ने पूरे ग्लोब की परिक्रमा यानी नौपरिसंचालन (circumnavigation) किया। तटीय स्थलाकृतियों की उत्पत्ति, महासागरीय ज्वारों, महासागरीय धाराओं तथा सागरीय लहरों की उत्पत्ति के सैद्धान्तिक आधार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किए गये। समुद्र विज्ञान के विकास में लिओनार्दो दा विन्सी, क्रिस्टोफर कोलम्बस, प्रिन्स हेनरी द नैविगेटर, जुआन पाउन्स डी लिओन, वास्को नुनेज डी बलबोआ, पीटर मेटर, फर्डिनाण्ड मैगेलन, सेबास्टियन डेल कानो, जेराडस मरकेटर आदि ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

वैज्ञानिक अन्वेषण का महाकाल

→ आधुनिक विकास

- समुद्र विज्ञान के विकास के इतिहास में 17वीं से 18वीं सदी तक के 200 वर्षों के काल को 'महासागरों के वैज्ञानिक अन्वेषण का महाकाल' कहा जाता है। इस अवधि में सागरों एवं महासागरों का वैज्ञानिक एवं प्राविधिक आधारों पर अध्ययन प्रारम्भ हुआ। महासागरीय ज्वार महासागरीय अध्ययन का केन्द्र बिन्दु रहा। महासागरों की गहराई के मापन (measurement) एवं मानचित्रण, महासागरीय लवणता के क्षैतिज एवं लम्बवत् वितरण में विषमता, सागरीय जल के दाब, महासागरीय धाराओं तथा ज्वारों आदि से सम्बन्धित विशद् अध्ययन किए गये। समुद्र विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में राबर्ट बोयल (महासागरीय लवणता, सागरीय जल का तापमान, सागरीय जल का घनत्व आदि), न्यूटन (ज्वारों की उत्पत्ति), यल० मारसिग्ली (प्रादेशिक समुद्र विज्ञान), यल० आयलर (महासागरीय ज्वार), बेन्जामिन फ्रैंकलिन (गल्फस्ट्रीम), कैप्टन जेम्स कुक (द० प्रशान्त महासागर का अन्वेषण, महासागरों की भौतिक प्रकृति, दोनों गोलार्द्धों के ध्रुवीय सागरों का अन्वेषण, विश्व मानचित्र का निर्माण) आदि के योगदान सराहनीय हैं।

19वीं सदी का काल

- 19वीं सदी में समुद्र विज्ञान के विकास में और तेज गति आयी। इस अवधि में सागरों एवं महासागरों के रहस्य को जानने के लिए कई समुद्री अभियान (expedition) किये गये। निम्न का योगदान अधिक महत्वपूर्ण है:
  - सर जान रॉस—1817-1818 ई० में आर्कटिक महासागर एवं बैफिन द्वीप का अध्ययन,
  - चार्ल्स डारविन—बीगल अभियान, प्रजातियों की उत्पत्ति, प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति का सिद्धान्त,
  - सर जेम्स रॉस—गहरे सागरों के जीवों का अध्ययन,

- **सर एडवर्ड फोर्ब्स**—1815, 1854 ई०, सागरीय जन्तुओं, अटलाण्टिक महासागर के नितल के उच्चावच, एजियन सागर में सागरीय जीवों का अध्ययन, सागरीय जीवों के वितरण का मानचित्र,
- **यम० यफ० मरे**—महासागरीय धाराओं, सागरीय सतह पर वायु तथा सागरीय मौसम सम्बन्धी दशाओं के आंकड़ों का संकलन तथा विश्लेषण,
- **चार्ल्स विविले थामंसन**—सागरीय तापमान, गहरे सागरीय जीवों का अध्ययन आदि।

चैलेन्जर अभियान काल (1872—76)

➤ जहां तक महासागरों के जैविक एवं अजैविक संघटकों की खोज तथा अध्ययन का सम्बन्ध है चैलेन्जर अभियान सफलतम सामुद्रिक अभियानों में से एक है। इस अभियान के परिणामों ने महासागरीय नितल के उच्चावचों, सागरीय जल के तापमान, सागरीय अवसाद तथा निक्षेप, सागरी जीव, प्रवाल तथा प्रवाल भित्तियों आदि के विषय में महत्वपूर्ण जानकारियां सुलभ करायीं। गहरे समुद्री भागों में सागरीय जीवों के अस्तित्व के विषय में अन्तिम रूप में यह प्रतिपादित किया गया कि सागरीय जीव महासागरों एवं सागरों में सभी गहराइयों में पाये जाते हैं।

चैलेन्जर उपरान्त काल

➤ चैलेन्जर अभियान के दौरान महासागरों की खोज तथा अध्ययन का सिलसिला एवं गति चैलेन्जर उपरान्त काल में भी कायम रही। इस अवधि के दौरान लुई अगासीज़ (फ्लोरिडा तथा केस प्रवाल भित्तियों का अध्ययन), जान मुरे (विविले थामसन की अवस्थिति का निर्धारण, प्लैंकटन, सागरीय नितल के निक्षेप तथा प्रवाल भित्तियों की रचना तथा उत्पत्ति का अध्ययन), एलेक्जेण्डर अगासीज़ (1877—80) 1,60,000 किमी० लम्बे तट का सर्वेक्षण, गल्फस्ट्रीम की अवस्थिति का निर्धारण, ग्रेट बैरियर रीफ, बहामा, क्यूबा, बरमुडा तथा फ्लोरिडा के पास प्रवाल भित्तियों का अध्ययन), नानसेन (आर्कटिक सागर से होकर उत्तरी ध्रुव के निकट तक पहुंचना) आदि ने समुद्र विज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया।

20वीं सदी

➤ आधुनिकतम जलपोतों (vessels), उपकरणों तथा प्रयोगशालाओं से लैश, एवं राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर आपसी सहयोग के साथ आधुनिक समुद्र विज्ञान में शोध कार्य की 20वीं सदी के आगमन के साथ ही शुरुआत होती है।

➤ 20वीं सदी में समुद्र विज्ञान के विकास में निम्न प्रगति हुई:

- एक्सपेरिमेण्टल डिजाइन का विकास,
- अन्तर्विषयक उपागम का उपयोग,
- समुद्रों से सम्बन्धित आंकड़ा समूह को प्राप्त करने के लिए अत्याधुनिक उपकरणों तथा विधियों का उपयोग,
- सागरीय जीवों, सागरीय अवसादों एवं निक्षेपों, सागरी जल आदि के नमूनों के संकलन में समुचित उपयोगी प्रतिचयन विधियों (sampling devices) का विकास एवं उपयोग,
- महासागरीय नितल के उच्चावचों का निधारण,
- महासागरीय जल की लवणता, तापमान तथा घुली आक्सीजन का मापन,
- आधुनिकतम प्रौद्योगिकी, विधियों तथा उपयुक्त उपकरणों के उपयोग के साथ महासागरों का वृहद् स्तरीय सर्वेक्षण,
- सरकारी एजेन्सियों द्वारा आर्थिक सहायता,
- सागरीय शोध को बढ़ावा देने के लिए सागरीय संस्थाओं तथा संस्थानों की स्थापना,
- सागरीय शोधों में अन्तर्राष्ट्रीय योजनाओं तथा बहुराष्ट्रीय संगठनों एवं सहयोग की शुरुआत,
- तकनीकी स्तर पर सर्वाधिक विकसित जलयानों, उपकरणों तथा प्रशिक्षित वैज्ञानिकों के साथ कई महासागर अभियान प्रारम्भ किए गए आदि।

21वीं सदी

उल्लेखनीय है कि वर्तमान समय में समुद्र विज्ञान का अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण हो चला है क्योंकि सागरों का आर्थिक एवं सामरिक महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। अत: व्यावहारिक समुद्र विज्ञान की ओर लोगों का ध्यान अधिक

आकृष्ट हो रहा है। समुद्र विज्ञान के अन्तर्गत सागरीय पारिस्थितिक तंत्र एवं सागरीय पारिस्थितिकी अध्ययन का केन्द्र बिन्दु बन गयी हैं। बहुअन्तर्विषयक अध्ययनों, आधुनिक तकनीकों एवं प्राविधिकी के उपयोग तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से 21वीं शताब्दी में समुद्र विज्ञान का भविष्य उज्ज्वल दिखाई दे रहा है। सागर तल में वृद्धि, उष्ण कटिबन्धी चक्रवातों की आवृत्ति (frequency) तथा प्रचण्डता में वृद्धि, प्रवाल विरंजन (coral bleaching) की बढ़ती घटनायें, एल निनो परिघटना में वृद्धि, आर्कटिक सागर में हिम चादरों का पिघलाव, सन् 2004 में कातिल सुमात्रा सुनामी की भयावह घटना आदि ऐसी घटनायें हैं जिन्होंने वर्तमान सदी में सामुद्रिक शोध को अत्यधिक सार्थक एवं महत्वपूर्ण बना दिया है।

- जलवायु परिवर्तन की मानीटरिंग के लिए महासागर—वायुमण्डल अन्तर्क्रिया (ocean—atmosphere inter-actions) का अध्ययन अत्यधिक सार्थक तथा महत्वपूर्ण होता जा रहा है।
- शक्तिशाली कम्प्यूटरों से सागर वैज्ञानिकों को आंकड़ों की प्रोसेसिंग में पर्याप्त सहायता मिल रही है।

प्रश्न

महासागरीय नितल के उच्चावच

प्रश्न → (1) प्रशान्त महासागर के नितल के उच्चावच
(2) अटलांटिक महासागर के नितल के उच्चावच
(3) हिन्द महासागर के नितल के उच्चावच

3

महासागरीय आकारिकी तथा नितलीय उच्चावच

(Ocean Morphology and Bottom Reliefs)

3.1 सामान्य परिचय

ग्लोब के लगभग तीन चौथाई भाग पर जलमण्डल का विस्तार पाया जाता है। समस्त ग्लोब का क्षेत्रफल 50.995 करोड़ वर्ग किलोमीटर है, जिसके 36.106 करोड़ वर्ग किमी० क्षेत्रफल (71 प्रतिशत) पर जलमण्डल का तथा 14.889 करोड़ वर्ग किमी० (29 प्रतिशत) पर स्थलमण्डल का विस्तार पाया जाता है (इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका)। क्रुमेल के अनुसार धरातल के 70.2 प्रतिशत भाग पर जल और 29.8 प्रतिशत भाग पर स्थल का विस्तार पाया जाता है। आकार तथा स्थिति की दृष्टि से जलमण्डल को महासागर (oceans), महाद्वीपों के मध्य में स्थित सागर (seas), लघु परावृत्त सागर (small enclosed seas) तथा खाड़ियों में विभक्त किया जाता है। महासागरों में प्रमुख हैं : प्रशान्त महासागर (क्षे० 16.5 करोड़ वर्ग किमी०), आन्ध्र महासागर (क्षे० 8.2 करोड़ वर्ग किमी०) तथा हिन्द महासागर (क्षे० 7.3 वर्ग किमी०)। सागरों में आर्कटिक सागर, मलय सागर, मध्य अमेरिका सागर, रूम सागर, बेरिंग सागर, ओखोटस्क सागर, जापान सागर, पूर्वी चीन सागर, अण्डमान सागर, कैलिफोर्निया सागर, उत्तर सागर, इंगलिश चैनेल सागर, लाल सागर आदि प्रमुख हैं। स्थलमण्डल के समान ही जलमण्डल में उच्चावच्च मिलते हैं। महासागरीय तली का रूप महाद्वीपीय किनारों से लेकर अत्यधिक गहराई तक भिन्न-भिन्न होता है। महासागरों की औसत गहराई 3800 मीटर तथा स्थल की औसत ऊँचाई 840 मीटर बतायी जाती है। स्थल की ऊँचाई तथा महासागरों की गहराई को उच्चतामितीय वक्र (hypsographic/metric curve) द्वारा (चित्र 3.1) प्रदर्शित किया जाता है। इस आधार पर सागरीय नितल में चार प्रमुख उच्चावच्च मण्डल (relief zones) पाये जाते हैं। महाद्वीपीय किनारे से सागर की अतल गहराई तक ये मण्डल क्रमशः महाद्वीपीय मग्नतट, महाद्वीपीय मग्नढाल, गहरा सागरीय मैदान तथा महासागरीय गर्त होते हैं।

- महाद्वीपीय मग्नतट
- महाद्वीपीय मग्नढाल
- गहरा महासागरीय मैदान
- महासागरीय गर्त

3.2 महासागरीय आकारिकी :सागरीय प्रदेश (Marine Morphology : Marine Provinces)

महासागरीय बेसिन की विभिन्न उच्चावचों के सन्दर्भ में बनावट तथा विन्यास (configuration) को महासागर की आकारिकी कहते हैं तथा समान विशेषता वाले उच्चावच मण्डलों को महासागरीय प्रदेश कहते हैं। महासागरों के विषय में पर्याप्त जानकारी के अभाव में तथा समुद्र विज्ञान के विकास के प्रारम्भिक चरण में लोग महासागरीय बेसिन को आकारविहीन तथा उच्चावचविहीन समझते थे। इसी कारण से लोगों की महासागरीय बेसिन के विन्यास में दिलचस्पी नहीं रही। परन्तु आगे चल कर अत्याधुनिक उपकरणों, मापन की विधियों तथा विभिन्न विषयों के वैज्ञानिकों से लैश आधुनिक जहाजों के साथ महासागरों के अन्वेषण अभियान के दौरान महासागरीय नितल के उच्चावचों की विविधता का रहस्य सामने आने लगा। परिणामस्वरूप वैज्ञानिकों की महासागरीय बेसिनों के विन्यास (morphology) एवं महासागरीय नितल के उच्चावचों के अध्ययन में दिलचस्पी बढ़ने लगी।

महासागरीय बेसिन के विभिन्न गहराई मण्डलों के मापन के लिए **बैथीमिट्री** विधि विकसित की गयी। वास्तव में **साउण्डिंग तकनीक** के आधार पर महासागरीय बेसिन के विभिन्न गहराई मण्डलों के मापन एवं अध्ययन को बैथीमिट्री कहते हैं। बैथीमिट्री का विन्यास 2 शब्दों से हुआ है : (1) बैथोस (गहराई) तथा (2) मिट्री (मापन – measurement)। जबकि **हिप्सोमिट्री (हिप्सोग्रैफी)** सागर तल से ऊपर धरातलीय ऊंचाई का मापन है। इस तरह स्पष्ट है कि हिप्सोमिट्री (उच्चातामिति) सागर तल से धरातलीय सतह के उच्चावचों के मापन तथा बैथीमिट्री सागर तल से नीचे महासागरीय बेसिन की गहराइयों के मापन से सम्बन्धित है। इस तरह हिप्सोमिट्री धनात्मक उच्चावच तथा बैथीमिट्री ऋणात्मक उच्चावच की घोतक है।

यद्यपि महासागरीय गहराई का मापन 85 ई०पू० में ही रूम सागर में प्रारम्भ हो गया था परन्तु महासागरों की गहराई का बैथीमिट्री के आधार पर मापन **चैलेन्जर अभियान** के समय सन् 1872 ई० में प्रारम्भ हुआ। बैथीमिट्री का आगे चलकर **इकोसाउण्डर** के प्रयोग द्वारा संवर्द्धन हुआ। इकोसाउण्डर का सबसे पहले उपयोग **मीटियर अभियान** के दौरान उस समय किया गया जबकि दक्षिणी अटलाण्टिक महासागर में सन् 1925 ई० में अन्त: सागरीय पर्वत श्रेणी की अवस्थिति का पता चला। 1950 के दशक में **प्रीसीसन डेप्थ रिकार्डर** (PDR) के विकास के साथ बैथीमिट्री में और अधिक बारीकी आयी तथा सुधार हुआ। वर्तमान समय में अत्याधिक विकसित **मल्टीबीम इकोसाउण्डर (सीबीम)** तथा **साइड-स्कैन सोनार** की सहायता से महासागरीय नितल के उच्चावचों के मापन तथा अभिलेखन में और अधिक पैनापन आया है। अब **साइड-स्कैन सोनार सिस्टम** में अत्याधुनिक एडवान्स्ड **सी मार्क** (Sea MARC → mapping and remote characterization) तथा GLORIA (geological long range inclined accoustical instrument) की सहायता से समुद्र वैज्ञानिक महासागरीय नितल के विन्यास (configuration) के डिटेल चित्र आसानी से प्राप्त कर लेते हैं।

विभिन्न गहराई मण्डलों तथा अन्त: सागरीय आकृतियों वाले महासागरीय प्रदेशों को विभिन्न समुद्र वैज्ञानिकों तथा विद्वानों ने अलग-अलग रूपों में विभाजित किया है, यथा:

(1) महासागरीय बैथीमिट्री के आधार पर महासागरीय नितल (ocean floors) को **यच० वी० थर्मन तथा ए० पी० टुजिलों** (1999) ने निम्न 3 प्रमुख प्रदेशों (provinces) में विभाजित किया :

- **महाद्वीपीय उपान्त (continental margin)** : (महाद्वीपों से सटे छिछले सागरीय क्षेत्र, यथा: महाद्वीपीय मग्नतट तथा महाद्वीपीय ढाल)
- **गहरी महासागरीय बेसिन** : (महाद्वीपीय उपान्त से दूर गहरे सागरीय जल का मण्डल)
- **मध्य महासागरीय कटक (mid-ocean ridge)** : (महासागरों के मध्य में अपेक्षाकृत कम गहराई वाला सागरीय क्षेत्र)

उल्लेखनीय है कि महासागरीय नितल के उपर्युक्त 3 सागरीय प्रदेशों में अन्य अन्त: सागरीय उच्चावच मण्डल यथा: **महासागर गभीर** (ocean deeps) तथा महासागरीय खड्ड (ocean trenches) भी सम्मिलित हैं।

(2) महासागरीय तली (ocean floors) के गहराई मण्डलों के परम्परागत वर्गीकरण के अन्तर्गत निम्न 4 सागरीय प्रदेशों को सम्मिलित किया जाता है :

- महाद्वीपीय मग्नतट (continental shelves)
- महाद्वीपीय ढाल
- गहरे सागर मैदान
- महासागरीय खड्ड

(3) यदि थर्मन तथा ट्रुजिलों के उपर्युक्त सागरीय प्रदेशों तथा परम्परागत वर्गीकरण को आपस में मिला दिया जाय तो निम्न 5 सागरीय पदेशों का निर्धारण किया जा सकता है:

- महाद्वीपीय मग्न तट
- अन्त: सागरीय कैनिमन सहित महाद्वीपीय ढाल
- गभीर सागर मैदान
- मध्य महासागरीय कटक
- महासागरीय खड्ड

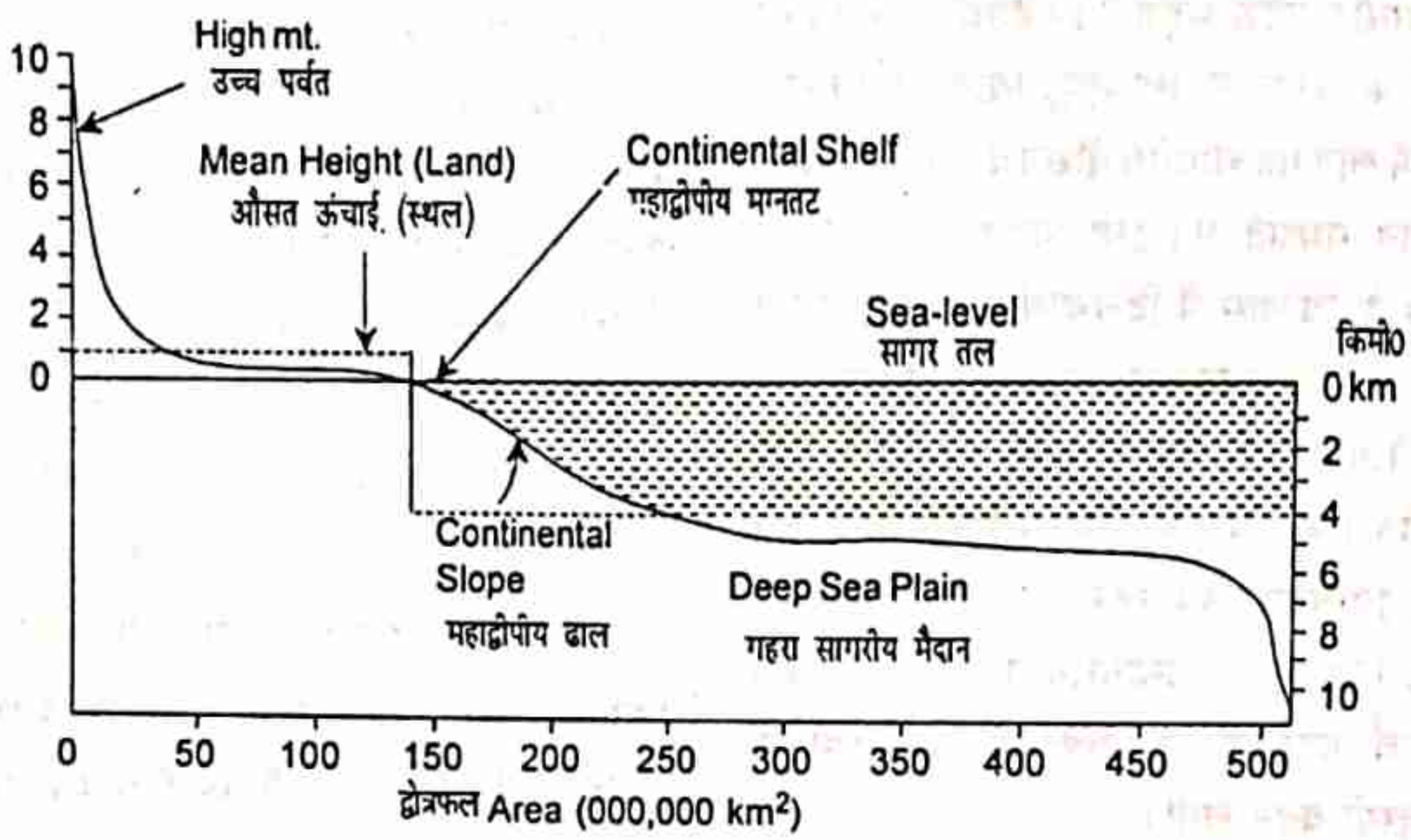

चित्र 3.1 : उच्चतामितिक वक्र (hypsometric curve) ।

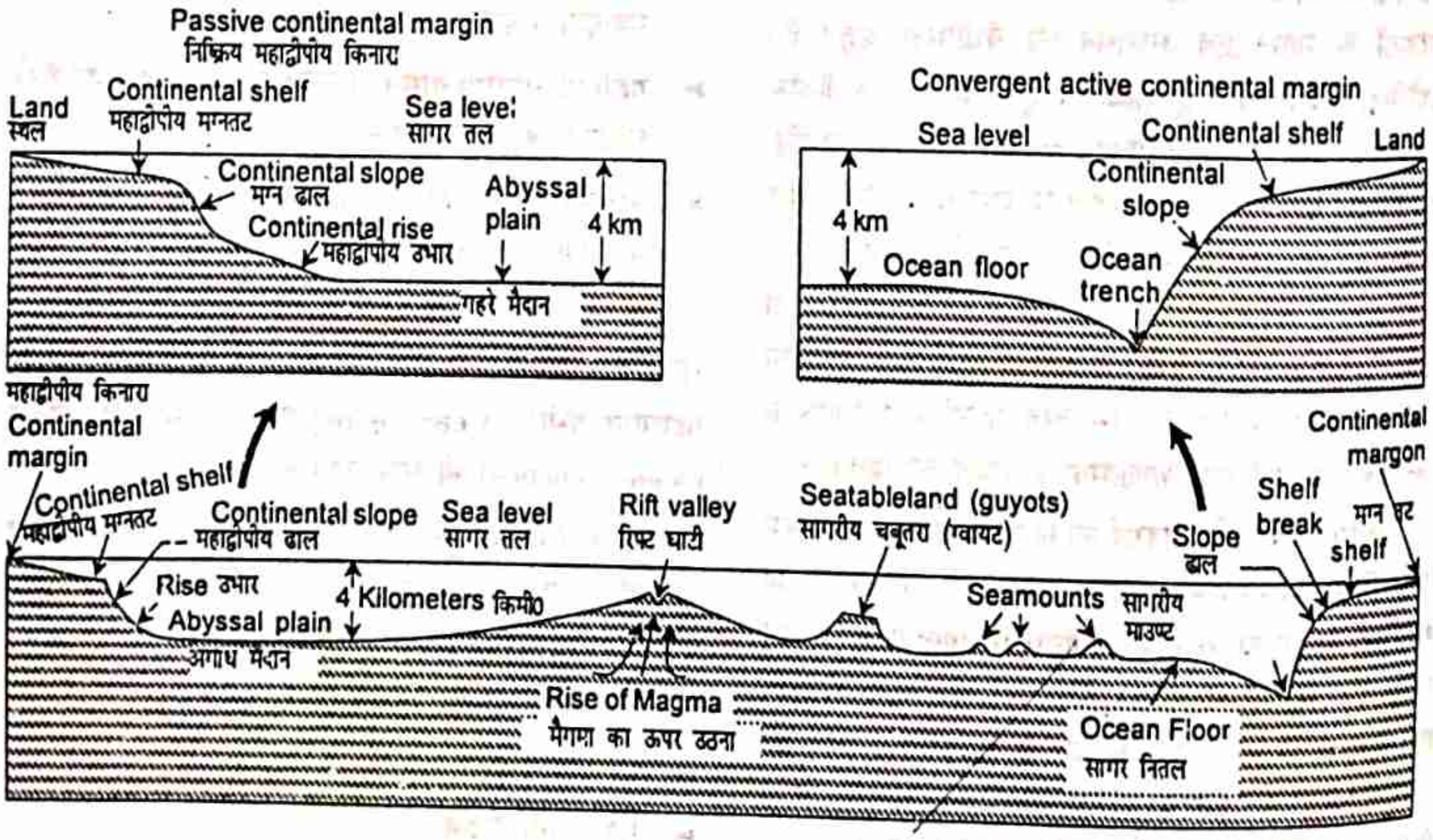

चित्र 3.2 : महासागर नितल की आकारिकी (morphology) ।

महाद्वीपीय उपान्त
(Continental Margins)

महाद्वीपीय उपान्त महाद्वीपों यानी स्थल की सागर की ओर सीमा को प्रदर्शित करता है। वास्तव में महाद्वीपीय उपान्त छिछले सागरीय प्लेट सीमा को दर्शाता है। थर्मन तथा ट्रुजिलो (1999) ने महाद्वीपीय मग्नतट, महाद्वीपीय ढाल, शेल्फ ब्रेक तथा महाद्वीपीय उभार (rise) को महाद्वीपीय उपान्त के अन्तर्गत एकल गहासागरीय प्रान्त के रूप में सम्मिलित किया है परन्तु ये तीनों आकृतियाँ एक-दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि उन्हें एक साथ एकल इकाई के रूप में नहीं लिया जा सकता। जहां तक भौमिकीय बनावट (geological formations) का सम्बन्ध है, महाद्वीपीय मग्नतट, महाद्वीपीय ढाल तथा महाद्वीपीय उभार एक इकाई ही हैं क्योंकि इन तीनों आकृतियों का निर्माण महाद्वीपीय शैलों (ग्रेनाइट) से हुआ है जबकि महासागरीय तली का निर्माण बेसाल्ट से हुआ है। इस आधार पर थर्मन तथा ट्रुजिलों द्वारा इन तीनों आकृतियों का एकल इकाई में रखा जाना सही लगता है। परन्तु महाद्वीपीय ढालों पर अन्त: सागरीय कैनियन (submarine canyons) की स्थिति के कारण महाद्वीपीय मग्न ढाल निश्चित रूप से एक स्वतंत्र सागरीय प्रान्त की हैसियत रखता है। महाद्वीपीय उपान्त को सामान्य रूप से निम्न 2 प्रकारों में विभाजित किया जाता है:

- **सक्रिय महाद्वीपीय उपान्त (active continental margins)**
  (1) रूपान्तर (transform) सक्रिय महाद्वीपीय उपान्त
  (2) अभिसरणी (convergent) महाद्वीपीय उपान्त।
- **निष्क्रिय महाद्वीपीय उपान्त (passive continental margins)**

सक्रिय महाद्वीपीय उपान्त स्थलीय या महाद्वीपीय प्लेट सीमा को प्रदर्शित करता है जिसके सहारे विवर्तनिक क्रियायें (tectonic activities) होती रहती हैं, यथा: भ्रंशन एवं वलन (faulting, folding) की क्रियायें, जिस कारण वलित पर्वतों का निर्माण होता है, ज्वालामुखी क्रियायें तथा भूकम्पीय घटनायें आदि होती रहती हैं। दूसरी तरफ **निष्क्रिय महाद्वीपीय उपान्त** के सहारे कोई खास विवर्तनिक क्रिया नहीं होती है।

महाद्वीपीय उपान्त के अन्तर्गत, अन्तिम रूप से, निम्न महासागरीय इकाइयों को सम्मिलित किया जाता है—

- महाद्वीपीय मग्नतट
- महाद्वीपीय ढाल
- शेल्फ ब्रेक
- महाद्वीपीय उभार

3.3 महाद्वीपीय मग्नतट
(Continental Shelf)

थर्मन तथा ट्रुजिलों (1999) के अनुसार "महासागरीय तट रेखा (shore line) से सागरीय सतह के नीचे उस बिन्दु तक, जहां से ढाल कोण में तेजी से वृद्धि होती है, विस्तृत शेल्फ के समान मण्डल को महाद्वीपीय मग्नतट कहते हैं। इस बिन्दु को शेल्फ ब्रेक कहते हैं। शेल्फ ब्रेक के आगे सागरवर्ती तीव्र ढाल वाले सागरीय मण्डल को महासागरीय ढाल कहते हैं।" वास्तव में महाद्वीपों के किनारे वाले उस भाग, जो महासागरीय जल में डूबा रहता है, उस पर जल की औसत गहराई 100 फैदम (एक फैदम = 6 फीट) होती है तथा ढाल 1° से 3° के बीच होता है, को महाद्वीपीय मग्नतट कहते हैं।

पी० आर० पिनेट ने महाद्वीपीय मग्नतटों को निम्न रूप से परिभाषित किया है :

'The nearly flat planis, or terraces, at the top of the sedimentary wedge beneath the downwind edges of the continents are continental shelves.'

महाद्वीपीय मग्नतट की शेल्फ ब्रेक बिन्दु पर समाप्ति हो जाती है जहाँ पर सागरीय जल की औसत गहराई 130 से 200 मीटर होती है तथा औसत ढाल 1° से 4° तक होता है (चित्र 3.4)।

मग्नतटों की चौड़ाई 60 किमी० से 1500 किमी० तक होती है। महाद्वीपीय मग्नतटों की चौड़ाई तटीय भागों के स्थानीय तथा प्रादेशिक उच्चावचों पर निर्भर करती है जैसा कि आगे व्यक्त किया जा रहा है:

- जहाँ पर तट से लगे उच्च पर्वतीय भाग होते हैं वहां पर मग्नतट संकरे होते हैं। उदाहरण के लिए, दक्षिणी अमेरिका का प्रशान्त महासागरीय मग्नतट एण्डीज पर्वत के कारण संकरा हो गया है।
- जहाँ पर स्थलीय तटवर्ती भाग मैदानी भाग है, वहाँ पर मग्नतट अधिक विस्तृत देखे गये हैं।
- नदियों के मुहानों के सामने अधिकतर मग्नतट चौड़े तथा विस्तृत होते हैं परन्तु मिसीसिपी नदी के मुहाने पर मग्नतट अपवादस्वरूप संकरा है।

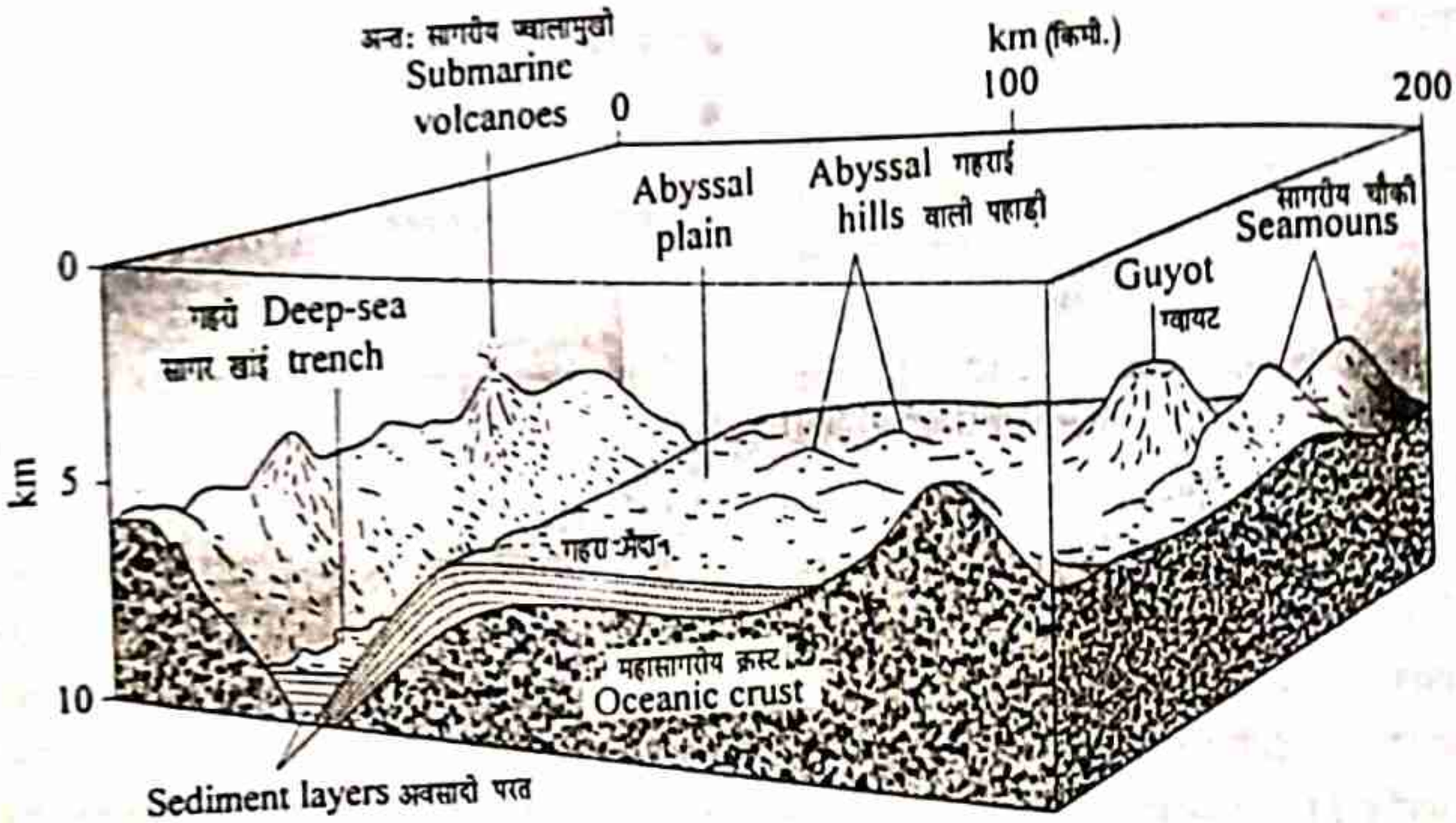

चित्र 3.3 : महासागरीय बेसिन की तली की आकारिकी।
(स्रोत : पी० आर० पिनेट, 2000)।

सामान्य रूप से मग्नतटों की औसत चौड़ाई 48 किमी० (30 मील) होती है। शेपर्ड महोदय ने मग्नतटों की औसत चौड़ाई 42 मील (67.20 किमी०) तथा गहराई 72 फैदम बतायी है। दक्षिणी अमेरिका का प्रशान्त महासागरीय मग्नतट 10 मील (16 किमी०), उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट पर 60–75 मील (96–120 किमी०), पूर्वी द्वीपसमूह में कई सौ मील, आर्कटिक सागर में 100 से 300 मील (160 से 480 किमी०) चौड़े मग्नतट मिलते हैं। इसी तरह चीन सागर, एड्रियाटिक सागर, अराफुरा सागर आदि में चौड़े मग्नतट मिलते हैं। समस्त महासागरीय नितल के क्षेत्रफल के 8.6 प्रतिशत भाग पर मग्नतट पाये जाते हैं (अटलांटिक महासागर के पूर्ण क्षे० के 13.3% भाग पर, प्रशान्त महासागर के 5.7% भाग पर तथा हिन्द महासागर के 4.2% भाग पर मग्नतट मिलते हैं)।

तालिका 3.1 महासागर बेसिन के बैथीमिट्रिक (अनुगभीर) गुण (Properties)

सागरीय प्रान्त तथा आकृतियाँ	चौड़ाई (कि०मी०)	उच्चावच	जल की गहराई
महाद्वीपीय मग्नतट	< 300	< 20 मीटर	< 150 मीटर
महाद्वीपीय ढाल	< 150	> 2 किमी०	100 ± 2000 मीटर
महाद्वीपीय उभार (rise)	< 300	< 40 मीटर	1.5 से 5.0 किमी०
अन्त: सागरीय कैनियन	1 – 15	20–2000 मीटर	20–2000 मीटर
गभीर सागरीय खड्ड	30 – 100	> 2 किमी०	5000 – 12000 मीटर
वितलीय (abyssal) पहाड़ी	100 – 1,00000 मीटर (0.1 – 100 किमी०)	1 – 1000 मीटर	भिन्न–भिन्न (Variable)

सागरीय टीला (seamounts)	2 - 100	> 1000 मीटर	भिन्न-भिन्न
वितलीय मैदान (abyssal plains)	1 - 1000	0	> 3 किमी०
मध्य महासागरीय कटक का किनारा	500-1500	< 1000 मीटर	> 3 किमी०
मध्य महासागरीय कटक का शिखर	500-1000	< 2000 मीटर	2 - 4 किमी०

स्रोत : P.R. Pinet, 2000

ज्ञातव्य है कि निष्क्रिय महाद्वीपीय उपान्त (continental margins) के साथ अपेक्षाकृत कम चौड़े मग्नतट पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी तट के मग्नतट अपेक्षाकृत कम चौड़े हैं। इसके विपरीत सक्रिय महाद्वीपीय उपान्त के मग्नतट चौड़े होते हैं। उदाहरण के लिए उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट के मग्नतट। शेल्फ ब्रेक पर महासागरीय जल की औसत गहराई सामान्य तौर पर 135 मीटर होती है परन्तु यह गहराई अण्टार्कटिका के चारों ओर 350 मीटर है। साइबेरिया तथा उ० अमेरिका के उत्तरी तट तथा अलास्का तट के मग्नतट अत्यधिक चौड़े हैं। उल्लेखनीय है कि विस्तृत एवं कम गहराई वाले मग्नतट सुनामी की प्रचण्डता को कम कर देते हैं।

पारिस्थितिकीय दृष्टि से महाद्वीपीय मग्नतट अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि ये सागरीय जीवों (सागरीय पौधे तथा जन्तु) के लिए आदर्श आवास (habitats) प्रदान करते हैं। ये अनुकूल मत्स्यन क्षेत्र (fishing grounds) भी सुलभ कराते हैं। प्रवाल भित्तियाँ तूफान तरंगों (storm surges) तथा शक्तिशाली सुनामी के लिए **अग्रिम पंक्ति प्राकृतिक बफर** (frontline natural buffers) होती है क्योंकि ये तूफान तरंगों तथा सुनामी के अधिकांश विनाशकारी बलों को अवशोषित करके उन्हें कमजोर बना देती हैं तथा तटवासी लोगों की रक्षा करती हैं। स्मरणीय रहे कि मालदीव के मग्नतटों की प्रावल भित्तियों ने 26 दिसम्बर सन् 2004 की **सुमात्रा सुनामी** के प्रहार से मालदीव के लोगों की रक्षा की थी। ज्ञात रहे कि उस समय मालदीव पर मात्र 98 लोगों की ही मृत्यु हुई थी।

छिछले मग्नतट वाले सागरीय तटों के सहारे मैंग्रूव वनों का खूब विकास होता है जो सागरीय तथा स्थलीय जन्तुओं को अनुकूल आवास प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए पश्चिम बंगाल के सुन्दरवन में **बेंगाल टाइगर**। भारत के पूर्वी तट के पिछावरम (तमिलनाडु) एवं भीतरकनिका (उड़ीसा) में समृद्ध मैंग्रूव का विकास हुआ है। इन मैंग्रूव वनों ने भी सुमात्रा सुनामी (26 दिसम्बर, 2004) से तटवासी लोगों का बचाव किया था।

भारत के मग्नतट

100 फैदम की समोच्च रेखा मग्नतट की सागर के ओर की अन्तिम सीमा निर्धारित करती है। पूर्वी तट पर मग्नतट की औसत चौड़ाई 50 किमी० है, जो कि पश्चिमी तट के मग्नतट की एक तिहाई ही है। स्पष्ट है कि पश्चिमी मग्नतट पूर्वी तट की अपेक्षा अधिक चौड़ा है। गंगा, महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों के मुहाने के सामने मग्नतट सबसे कम चौड़ा (30-35 किमी०) है, जबकि नर्मदा, तापी, माही आदि नदियों की इस्चुअरी के सामने मग्नतट सर्वाधिक चौड़ा है। पूर्वी मग्नतट का सामान्य ढाल 29° तथा प० मग्नतट का ढाल कन्याकुमारी के पास 10° तथा खम्भात की खाड़ी के पास 1° है (अहमद)।

महाद्वीपीय मग्नतटों की उत्पत्ति

मग्नतटों की बनावट, प्राकृति , विस्तार, सागरीय जल की गहराई आदि में इतनी विभिन्नता मिलती है कि एकल प्रक्रिया द्वारा इसकी उत्पत्ति की व्याख्या करना कठिन कार्य है। परिणामस्वरूप विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग कारणों तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इनमें से निम्न मतों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है :

(1) मग्नतट सागरीय अपरदन तथा जलीय निक्षेप के परिणाम हैं

महाद्वीपीय मग्नतट, महाद्वीपीय चबूतरे का सागर की ओर निकला हुआ भाग होता है। सागरीय तरंगें अपरदन द्वारा विस्तृत प्लेटफार्म का निर्माण करती हैं, जिस पर नदियों तथा तरंगों द्वारा निक्षेप होने लगता है। ये निक्षेप निरन्तर सघन तथा ठोस होते जाते हैं और अन्तत: मग्नतट का निर्माण हो जाता है। इस तरह से बने मग्नतट अधिक विस्तृत नहीं हो सकते हैं।

इस प्रकार महाद्वीपीय मग्नतटों का निर्माण निम्न 2 प्रक्रियाओं द्वारा होता है :

- सागरीय अपरदन
- जलीय निक्षेप

(2) मग्नतटों का निर्माण स्थलीय जलीय जमाव द्वारा होता है :

कुछ विद्वानों के अनुसार मग्नतटों का निर्माण मात्र नदियों द्वारा लम्बे समय तक निक्षेप होते रहने से होता है। जिस भाग में सागरीय दशायें शांत होती है, निक्षेप अबाध गति से चलता रहता है, मलवा के भार के कारण मग्नतट की तली धँसती जाती है और उस पर और अधिक मलवा जमा होता रहता है। इस तरह के निर्मित मग्नतट रचनात्मक कहे जाते हैं तथा विस्तृत होते हैं।

(3) मग्नतट महाद्वीपीय उपान्त (margin) के अवतलन के परिणाम हैं :

महाद्वीपों तथा महासागरों तली से उठने वाली संवहन तरंगें महाद्वीपों तथा महासागरों के मिलन स्थान पर मिलकर नीचे की ओर चलती हैं। इस कारण सम्पीडन होने से महाद्वीपीय किनारा अवतलित हो जाता है और मग्नतट का निर्माण होता है।

(4) मग्नतटों का निर्माण महाद्वीपीय उपान्त के भ्रंशन तथा उससे जनित अवलतन से होता है :

कभी-कभी महाद्वीपों के किनारों पर समान्तर भ्रंशन की क्रिया होती है, जिस कारण लम्बी-लम्बी दरारें पड़ जाती हैं, परिणामस्वरूप महाद्वीपीय किनारे का भाग धँसक जाता है तथा जलमग्न होकर मग्नतट का रूप धारण करता है। सोपानी भ्रंशन द्वारा भी बने मग्नतट के उदाहरण देखने को मिलते हैं। इस तरह के मग्नतटों को विर्तनिक मग्नतट कहते हैं।

(5) मग्नतटों का निर्माण हिमानी नियंत्रण तथा सागरीय अपरदन द्वारा होता है :

सागर तल में गिरावट के कारण अपरदन से बने मग्नतटों के उदाहरण अधिक मिलते हैं। डेली महोदय के अनुसार प्लीस्टोसीन युग में हिमकाल के समय सागरतल में 38 फैदम की गिरावट हो गयी, परिणामस्वरूप महाद्वीपों के किनारे के सहारे स्थल जलमुक्त हो गये, जिन पर हिमानी अपरदन के कारण विस्तृत चबूतरों का निर्माण हो गया। जब हिम चादरें पिघलने लगीं तथा हिमकाल का अवसान होने लगा तो सागर तल पुन: ऊपर उठ गया, जिस कारण स्थलीय चबूतरे जलमग्न हो गये और विस्तृत जलमग्न तटों का विकास हो गया।

(6) मग्नतटों का निर्माण क्लिफ अपरदन, क्लिफ निवर्तन (recession) तथा तरंगघर्षित प्लेटफार्म के जलमज्जन द्वारा होता है :

कुछ विद्वानों के अनुसार जहाँ पर सागरीय तरंगें अधिक वेगवती तथा सक्रिय होती हैं, वहाँ पर तटीय भाग का अपघर्षण द्वारा विधिवत् अपरदन होता है जिस कारण तट पर क्लिफ का निर्माण होता है। धीरे-धीरे क्लिफ के आधार पर अपरदन बढ़ता जाता है, जिस कारण क्लिफ के आधार पर अध:कर्तन के कारण क्लिफ पीछे हटता जाता है, परिणामस्वरूप विस्तृत प्लेटफार्म का निर्माण होता जाता है, जिस पर सागरीय जल का प्रसार होता रहता है। इस तरह मग्नतट बन जाते हैं।

(7) मग्नतटों का निर्माण झुकाव (tilting) द्वारा होता है :

कभी-कभी महाद्वीपीय भाग में सागर की ओर सामान्य झुकाव (tilting) के कारण धरातलीय भाग पर सागरीय जल के फैल जाने से भी मग्नतट बन जाते हैं।

भारतीय मग्नतटों की उत्पत्ति

भारत के मग्नतटों की उत्पत्ति विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूपों में हुई है। गंगा, गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी नदियों के मुहाने के सामने मग्नतट का निर्माण डेल्टा जमाव के कारण हुआ है। मिदिनापुर तक मग्नतट का निर्माण तलछटीय जमाव

तथा धँसाव के कारण, अण्डमान निकोबार, लकादिव, मिनिकाय, अमीनदिव, श्रीलंका तथा भारत के मध्य पाक जलडमरूमध्य तथा मनार की खाड़ी के मग्नतट प्रवाल के जमाव के कारण तथा प० मग्नतट भ्रंशन के कारण बने हैं।

3.4 महाद्वीपीय मग्न ढाल (Continental Slope)

जलमग्न तट तथा गहरे सागरीय मैदान के बीच तीव्र ढाल वाले मण्डल को 'महाद्वीपीय मग्न ढाल' कहा जाता है, जिसका ढाल विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होता है। औसत ढाल कोण 5° होता है, जबकि सेण्ट हेलना के सहारे 40°, स्पेन के पास 30°, सेण्ट पाल के निकट 62°, भारत के कालीकट तट के पास 5° से 15° कोण वाले ढाल पाये जाते हैं। मग्न ढाल पर जल की गहराई 200 से 2000 मीटर तक होती है। समस्त सागरीय क्षेत्रफल के केवल 8.5 प्रतिशत भाग पर ही मग्न ढाल पाये जाते हैं। अटलांटिक महासागर में 12.4 प्रतिशत, प्रशान्त महासागर में 7 प्रतिशत तथा हिन्द महासागर में 6.5 प्रतिशत भाग पर मग्न ढाल का विस्तार पाया जाता है। मग्न ढालों पर सागरीय निक्षेप का अभाव रहता है, क्योंकि खड़े ढाल के कारण उन पर मलवा टिक नहीं पाता है। परन्तु उनके ऊपर हल्के पदार्थों का आवरण अवश्य देखने को मिलता है।

मग्नढाल के निर्माण के विषय में कुछ लोगों का कहना है कि इनकी उत्पत्ति सागरीय तरंगों द्वारा अपरदन के कारण होती है,जबकि अन्य लोगों के अनुसार इनका निर्माण विवर्तनिक (tectonic, भ्रंशन) कारणों से होता है। भ्रंशन के समय मग्नढालों के ऊपर कुछ गहरी खांइयाँ तथा कन्दराएँ (trenches and submarine canyons) निर्मित हो जाती हैं। कुछ लोगों के अनुसार मग्न ढालों का निर्माण मग्नतट के मुड़ने तथा इन पर आगे चलकर मलवा के निक्षेप के कारण होता है, परन्तु प्रथम दो मतों की तुलना में यह अन्तिम मत तथ्यहीन लगता है।

अन्त: सागरीय कैनियन (कन्दरा) तथा खडड् (trenches) महाद्वीपीय मग्नढालों पर पाये जाने वाले महत्वपूर्ण उच्चावच हैं। ये सामान्य तौर पर महाद्वीपीय मग्नतटों (cotinental shelves) की अनुप्रस्थ (transverse) दिशा में पाये जाते हैं। चूँकि अन्त: सागरीय कैनियन मग्न ढालों के महत्वपूर्ण उच्चावच हैं अत: उनका अलग से विशद विवेचन आवश्यक है।

3.5 अन्त: सागरीय कन्दरा (Submarine Canyons)

1. सामान्य परिचय

महाद्वीपीय मग्नतट तथा मग्न ढाल पर संकरी, गहरी तथा खड़ी दीवार से युक्त घाटियों को महासागर के अन्दर होने के कारण अन्त: सागरीय कन्दराएँ या 'कैनियन' कहा जाता है। ये कन्दरायें स्थल पर निर्मित नदियों के कैनियन के समान होती हैं। निर्माणक प्रक्रम के आधार पर इनके दो प्रकार होते हैं :

- हिमानी द्वारा निर्मित कैनियन, तथा
- हिमानी के अलावा अन्य प्रक्रमों से निर्मित कैनियन।

द्वितीय प्रकार के कैनियन संख्या में अधिक मिलते हैं तथा इनका आकार गहरा किन्तु लम्बी खांई के समान होता है। अन्त: सागरीय कैनियन, कुछ अपवादों को छोड़कर प्राय: तट के लम्बवत् होते हैं तथा बड़ी-बड़ी नदियों के मुहाने के सामने पाये जाते हैं। स्थलीय तथा अन्त: सागरीय कैनियन की अनुप्रस्थ तथा अनुदैर्ध्य परिच्छेदिकाओं (longitudinal profiles) में कम ही अन्तर होता है। कैनियन के पार्श्व खड़े ढाल वाले होते हैं तथा शेपर्ड के अनुसार ये कन्दरायें स्थल पर नदी द्वारा निर्मित युवावस्था की घाटियों के समान होती हैं, परन्तु इनकी गहराई अधिक होती है। इन अन्त:सागरीय तथा स्थलीय कन्दराओं में से कुछ के पास वृक्षाकार सहायक घाटियाँ होती हैं। क्वनेन तथा क्रावेल के अनुसार अन्त:सागरीय तथा स्थलीय कन्दराओं की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिकाओं में पर्याप्त अन्तर है। प्रथम का मार्ग सीधा होता है, जबकि द्वितीय का मार्ग विसर्प (meanders) युक्त टेढ़ा-मेढ़ा होता है। शीर्ष भाग पर अन्त:सागरीय कन्दराओं की चौड़ाई कई किमी० तक हो सकती है। इनकी सागरोन्मुख लम्बाई 16 किमी० तक देखी गयी है।

यद्यपि विभिन्न कन्दराओं में ढाल भिन्न-भिन्न हुआ करता है, परन्तु उनका औसत ढाल 1.7% होता है। जो कन्दराएँ नदियों के मुहाने के सामने स्थित होती हैं, वे लम्बी होती हैं (कांगो कैनियन) परन्तु ढाल कम होता है। द्वीपों के पास स्थित कन्दरायें गहरी होती हैं तथा ढाल अधिकतम (13.8%) होता है। शेपर्ड तथा बीयर्ड ने 102 कैनियनों का अध्ययन करने के पश्चात् बताया है कि कैनियन के ऊपरी भाग में ढाल 11.62%, मध्यवर्ती भाग में 9.63% तथा निचले भाग में 4.76% होता है।

3.6 गभीर सागर पंख तथा महाद्वीपीय उभार (Deep Sea Fans and Continental Rise)

महाद्वीपीय मग्न ढालों के आधार तथा अन्त: सागरीय कन्दराओं (submarine canyons) के अग्रभाग (मुख-month) में स्थित गभीर (गहरे) सागर पंखों की आकृति (shape), पंख के आकार या लोबेट आकार या एप्रन आकार की होती है। ये अन्त: सागरीय पंख भी स्थलीय जलोढ़ पंखों के समान ही निक्षेप जनित होते हैं (चित्र 3.4)। इन अन्त: सागरीय पंखों का निर्माण अन्त: सागरीय पंक तरंगों (turbidity currents) द्वारा लाये गये अवसादों (sediments) के लगातार निक्षेप के कारण होता है। जब कई अन्त: सागरीय पंख आपस में मिल जाते हैं तो वृहदाकार निक्षेप जनित पंख को **महाद्वीपीय उभार** (continental rise) कहते हैं। कई समुद्र विज्ञानियों ने अलग-अलग अवस्थितियों में महाद्वीपीय उभारों का अध्ययन किया है। अन्त: सागरीय महाद्वीपीय उभार आन्ध्र महासागर तथा हिन्द महासागर में अधिक संख्या में मिलते हैं परन्तु प्रशान्त महासागर में इनकी संख्या बहुत कम है। इन महाद्वीपीय उभारों की औसत चौड़ाई 300 किमी० तथा ऊँचाई 40 मीटर है। इनके ऊपर सागरीय जल की गहराई 1.5 से 5.0 किमी० के बीच होती है।

जहाँ तक अन्त: सागरीय उभार की उत्पत्ति का प्रश्न है, पंक तरंगें (turbidity currents) इनकी उत्पत्ति तथा विकास की महत्वपूर्ण कारक हैं। जैसे ही पंक तरंगें अन्त: सागरीय कन्दराओं से होकर निचले ढाल की ओर चलती हैं, वे इन कन्दराओं का अपरदन करती हैं। इस तरह अपरदित अवसाद (sediments) निलम्बित होकर अन्त: सागरीय कन्दराओं के मुख भाग की ओर लाये जाते हैं। जैसे ही पंक तरंगें अन्त: सागरीय कन्दराओं के मुहाने से आगे बढ़ती हैं, ढाल में अचानक कमी आने के कारण निलम्बित अवसाद नीचे बैठने लगते हैं तथा वहीं पर जमा (निक्षेपित) हो जाते हैं। निक्षेपण में अवसादों का श्रेणीकरण (gradation) होता है। अर्थात् बड़े आकार वाले अवसाद अन्त: सागरीय कन्दराओं के अग्रभाग में जमा होते हैं तथा दूर जाने पर उसका आकार छोटा होता जाता है। इस तरह निक्षेप में ग्रेडेड संस्तर (beds) बन जाते हैं। उल्लेखनीय है कि इस तरह के निक्षेपों में अवसादों की लम्बवत् रूप में भी ग्रेडिंग होती है। अर्थात् इन निक्षेपों के ऊपरी भाग में बारीक तथा निचले भाग में मोटे (coarse) अवसादों का जमाव होता है। धीरे-धीरे इन निक्षेपों का आकार (size) बढ़ता जाता है तथा उनका पंख की आकृति में विकास होता जाता है (चित्र 3.4)।

स्मरण रहे कि गहरे सागरीय पंखों का निर्माण एवं वृद्धि एक मन्द प्रक्रिया है जिसके दौरान विभिन्न आकार (size) वाले अवसादों का विभिन्न समयों में निक्षेपण होता है। इस प्रक्रिया का विस्तरण आवश्यक है। पहली बार प्रथम सेट की पंक तरंगों द्वारा ग्रेडेड अवसादों का निक्षेपण होता है। कुछ समय अन्तराल के बाद दूसरे सेट की पंक तरंगों द्वारा पहले के निक्षेपित अवसादों के ऊपर विभिन्न आकार वाले अवसादों का दूसरा अनुक्रम (sequence of sediments) जमा होता है। यह प्रक्रिया चलती रहती है तथा विभिन्न अनुक्रम के ग्रेडेड निक्षेप का जमाव हो जाता है। इस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति (repetition) के कारण निर्मित गभीर सागर पंख में क्षैतिज तथा लम्बवत वृद्धि होती जाती है। परिणामस्वरूप कुछ मीटर से लेकर 40 मीटर ऊँचे गभीर सागरीय पंखों का निर्माण होता है। जब ऐसे कई पंख आपस में मिल जाते हैं तो **अन्त: सागरीय उभार** (submarine continental rise) का निर्माण होता है।

3.7 गभीर महासागरीय बेसिन तथा सम्बन्धित आकृतियाँ (Deep Ocean Basins and Associated Features)

गभीर महासागरीय बेसिनों की तलियों पर कई प्रकार के उच्चावच मिलते हैं जैसे कि ऊँचाई वाली गभीर पहाड़ियाँ तथा गहराई वाले अन्त: सागरीय खड्ड। इन उच्चवचों में सबसे महत्वपूर्ण गभीर सागरीय मैदान (deep sea plains) हैं परन्तु सपाट एवं समतल होने के कारण ये उच्चावचविहीन होते हैं। महासागरीय बेसिनों के नितल पर मिलने वाले निम्न प्रमुख उच्चावच हैं।

- वितलीय मैदान (abyssal plains)
- वितलीय पहाड़ी (abyssal hills)
- सागरीय चौकी या सागरीय टीला (seamounts)
- महासागरीय गर्त तथा खड्ड (ocean deeps and trenches)

1. गहरे सागरीय मैदान (Deep Sea Plains)

सागरीय मैदान महासागरीय नितल का सर्वाधिक विस्तृत मण्डल होता है, जिसकी गहराई 3,000 से 6,000 मीटर तक

होती है। समस्त महासागरीय क्षेत्रफल के लगभग 75.9% भाग पर सागरीय मैदान का विस्तार पाया जाता है परन्तु एक महासागर से दूसरे महासागर में यह प्रतिशत बदलता रहता है (प्रशान्त महासागर में 80.3%, हिन्द महासागर में 80.1% तथा अटलांटिक महासागर में 54.9% भाग पर सागरीय मैदान का विस्तार है)। अटलांटिक महासागर में सागरीय मैदान के अपेक्षाकृत कम विस्तार का प्रमुख कारण महाद्वीपीय मग्नतट का अधिक विस्तार है। महासागरीय जल के अन्तर्गत ये मैदान अत्यन्त विस्तृत होते हैं, जिनका ढाल अत्यन्त मन्द होता है, परन्तु कहीं-कहीं पर लम्बे-लम्बे तथा पतले कटक (ridges) पाये जाते हैं। ये कटक तीव्र किनारे वाले होते हैं तथा कभी-कभी सागरीय जल तक या उसके ऊपर भी दृष्टिगत हो जाते हैं। इन विस्तृत सागरीय मैदानों पर सागरीय जीवों, पौधों तथा क्षारीय पदार्थों के निक्षेप मिलते हैं, परन्तु उन पर अपरदन से प्राप्त मलवा का पूर्णतया अभाव रहता है। कहीं-कहीं पर ज्वालामुखी पदार्थ के भी जमाव मिलते हैं। 20° उत्तर से 60° दक्षिणी आक्षांशों के बीच सागरीय मैदानों का विस्तार सर्वाधिक पाया जाता है। 60° - 70° उत्तरी आक्षांशों के बीच इनका अभाव देखा गया है।

यद्यपि विस्तृत गहरे सागरीय मैदान सामान्य तौर पर आकृतिविहीन होते हैं परन्तु कुछ लम्बे, संकरे तथा कम ऊँचाई वाले कटक (ridges), ग्वायट आदि छिट-पुट रूप में अवश्य मिलते हैं। कभी-कभी अन्त: सागरीय कटक इतने ऊँचे होते हैं कि सागर तल तक पहुँच जाते हैं। इनमें से कुछ तो सागरीय सतह से ऊपर भी आ जाते हैं तथा द्वीप जैसा दिखाई देते हैं। मध्य अटलांण्टिक कटक, मध्य हिन्दमहासागर कटक तथा पूर्वी प्रशान्त महासागर उभार (rise, कटक) इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

गहरे सागरीय मैदानों का विस्तार प्लेट किनारों की प्रकृति पर निर्भर करता है। सामान्यतया निष्क्रिय प्लेट किनारों वाले महासागरों के भागों में विस्तृत गहरे सागरीय मैदान पाये जाते हैं, यथा: अटलाण्टिक एवं हिन्द महासागर में विस्तृत गहरे सागरीय मैदानों का विकास हुआ है। इसके विपरीत सक्रिय प्लेट किनारों वाले भागों में गहरे सागरीय मैदान अपेक्षाकृत कम विस्तार वाले हैं, उदाहरण: प्रशान्त महासागर। उल्लेखनीय है कि सक्रिय प्लेट किनारों के सहारे महाद्वीपीय तथा महासागरीय प्लेटों के अभिसरण (convergence) के कारण क्षेपण होने से महासागरीय खडड्ों का निर्माण होता है। स्थलीय भागों से आने वाले अवसाद इन खडड्ों में जमा हो जाते हैं। परिणामस्वरूप ये अवसाद गहरी महासागरीय बेसिन में नहीं पहुँच पाते हैं जिस कारण विस्तृत गहरे सागरीय मैदान नहीं बन पाते हैं। ऐसी स्थिति प्रशान्त महासागर में होती है। इसके विपरीत निष्क्रिय प्लेट किनारों के सहारे महासागरीय खडड्ों का निर्माण नहीं हो पाता है। इस तरह इन खडड्ों (trenches) के अभाव में अवसाद महासागरों के गहरे भागों तक पहुँच जाते हैं, जिस कारण विस्तृत गहरे सागरीय मैदानों का निर्माण हो जाता है। यही कारण है कि अटलाण्टिक एवं हिन्दमहासागरों में विस्तृत गहरे सागरीय मैदान पाये जाते हैं।

2. वितलीय पहाड़ियाँ (Abyssal Hills)

गहरे सागरीय मैदानों पर ज्वालामुखी उत्पत्ति वाली कई प्रकार की पहाड़ियाँ पायी जाती हैं। इनमें प्रमुख हैं : **ज्वालामुखी पहाड़ी, ज्वालामुखी द्वीप, सागरीय टीले** (sea mounts), **मंच टीला** (table mounts) या **निमग्न द्वीप** (guyots)।

- **ज्वालामुखी पहाड़ियां** या तो गुम्बदाकार होती हैं या विस्तृत आधार वाली लम्बी पहाड़ियाँ होती हैं।
- **ज्वालामुखी द्वीप,** जब वितलीय ज्वालामुखी पहाड़ियाँ सागर तल के ऊपर आ जाती हैं तो इन्हें ज्वालामुखी द्वीप कहते हैं।

सामान्यतया इन वितलीय पहाड़ियों की ऊँचाई सागर तली से 1000 मीटर तथा उनका आधार 0.1 किमी० से 100 किमी० चौड़ा होता है।

- कम ऊँचाई वाली वितलीय ज्वालामुखी पहाड़ियों को **वितलीय पहाड़ियां** (abyssal hills) या **सागर टेकरी** (sea knolls) कहते हैं।
- सागर तल के नीचे सदा जलमग्न रहने वाली शंकु के आकार वाली वितलीय ज्वालामुखी पहाड़ियों को **सागर टीला** (sea mounts) कहते हैं।
- चपटे शिखर वाली वितलीय ज्वालामुखी पहाड़ियों को **मंच टीला** (table mounts) या **निमग्न द्वीप** (guyot) कहते हैं।

सागर टीला (sea mounts) उद्गार रहित (extinct) अन्त: सागरीय ज्वालामुखी पहाड़ियों के अवशेष होते हैं जिनकी सागर तली से औसत ऊँचाई 1000 मीटर होती है, परन्तु ये सदा सागर तल से नीचे सागरीय जल में डूबी रहती हैं।

कभी-कभी सागर टीला सक्रिय ज्वालामुखी भी होते हैं। सागर टीला के पार्श्व तीव्र ढाल वाले होते हैं। ये सागर तली पर एकाकी या समूह में मिलते हैं।

- जब कई वितलीय पहाड़ियाँ सागर तली पर समूह में मिलती हैं तो ऐसी आकृतियों (morphological features) वाले क्षेत्र को **वितलीय पहाड़ी प्रदेश** (abyssal hills province) कहते हैं। अटलाण्टिक तथा हिन्दमहासागर के गहरे (वितलीय) सागरीय मैदानों पर समूह में मिलने वाली वितलीय ज्वालामुखी पहाड़ियों की भरमार है।

वितलीय गहरे सागरीय मैदानों की अधिकांश अन्त: सागरीय ज्वालामुखी पहाड़ियाँ प्लेटों के अपसरण (divergence) तथा सागर नितल प्रसरण (sea floor spreading) के कारण उत्पन्न ज्वालामुखी क्रियाओं की परिणाम हैं।

3. महासागरीय गर्त तथा खडड्
(Ocean Deeps and Trenches)

महासागरीय तली पर स्थित गहरी गर्तों तथा खांइयों (trenches, खडड्ों) का प्रतिनिधित्व करने वाली महासागरीय गर्त महासागरों के सबसे गहरे भाग होती हैं जो महासागरीय नितल के लगभग 7 प्रतिशत भाग पर फैली हैं। ये सामान्यतया पर्वतों से युक्त सागर तटों के समानान्तर तथा द्वीपों के सहारे विकसित हुई हैं। इनके ढाल खड़े होते हैं। आकार (size) की दृष्टि से महासागरीय गर्तों को निम्न 2 प्रकारों में विभाजित किया जाता है:

1. **महासागरीय गर्त** (ocean deeps)
2. **खडड् या खांई** (ocean trenches)

कम क्षेत्रीय विस्तार वाले किन्तु अत्यधिक गहरे खडड् को महासागरीय गर्त कहते हैं तथा अत्यधिक गहरी, लम्बी एवं संकरी गर्तों को महासागरीय खडड् (ocean trenches) कहते हैं।

विभिन्न महासागरों में कुल 57 गर्तों का पता लगाया गया है तथा उनका विधिवत् सर्वेक्षण भी किया गया है। इनमें से 32 प्रशान्तमहासागर में, 19 अटलांटिक महासागर में तथा 6 हिन्द महासागर में स्थित हैं। विश्व की सबसे गहरी गर्त मेरियाना ट्रेंच है, जो कि प० प्रशान्त महासागर में फिलीपाइन्स के पास में स्थित हैं (गइराई 11.02 किमी०)।

तालिका 3.3 : प्रमुख महासागरीय गर्त (खडड्)

गर्त का नाम	स्थिति	गहराई (मीटर में)
1. चैलेंजर (मेरियाना)	उ० प्रशान्त महासागर	11,022
2. टोंगा	मध्य द० प्रशान्त महासागर	10,882
3. स्वायर	उ० प० प्रशान्त महासागर	10,475
4. पोर्टोरिको	पश्चिमी द्वीप समूह	8,385
5. क्यूराइल	सखालीन	10,498
6. रोमशे	द० आन्ध्र महासागर	7,631
7. सुण्डा	पूर्वी हिन्द महासागर	7,450

4. मध्य महासागरीय कटक
(Mid-Ocean Ridges)

ज्वालामुखी निर्मित मध्य महासागर कटक महासागरीय बेसिन ही नहीं अपितु सम्पूर्ण ग्लोब के सर्वाधिक विस्तृत उच्चावच हैं। उल्लेखनीय है कि सभी महासागरीय कटक महासागरीय बेसिन के मध्य में स्थित नहीं हैं। मध्य अटलाण्टिक तथा मध्य हिन्द महासागर कटक मध्य में स्थित हैं परन्तु पूर्वी प्रशान्त महासागर उभार (कटक) प्रशान्त महासागर के मध्य में नहीं अवस्थित है। मध्य महासागरीय कटकों की निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं :

- मध्य महासागरीय कटक ग्लोब की सबसे लम्बी पर्वत शृंखला हैं जिनकी लम्बाई 60,000 से 65,000 किमी० तक है। इनके अन्तर्गत महासागरीय नितल का एक तिहाई क्षेत्र आता है।
- सभी महासागरीय कटकों की वितलीय महासागर बेसिन के मध्य में अवस्थिति नहीं होती है। उदाहरण के लिए पूर्वी प्रशान्त महासागर उभार (कटक, rise) प्रशान्त महासागरीय बेसिन की केन्द्रीय अक्ष (central axis), अर्थात् मध्यवर्ती अवस्थिति से बहुत दूर है।
- मध्य अटलाण्टिक कटक तथा मध्य हिन्द महासागर कटक का सबसे अधिक अध्ययन किया गया है।
- सभी मध्य महासागरीय कटक ज्वालामुखी क्रिया से निर्मित हैं तथा इनकी रचना **बेसाल्ट पिलो लावा** से हुई है।

- इनका सम्बन्ध प्लेटो के अपसरण (divergence) तथा सागर नितल प्रसरण (sea floor spreading) से होता है।
- इन मध्य महासागरीय कटकों का शीर्ष गुम्बादाकार होता है अर्थात् ऊपरी भाग गोलाकार होता है या इनके ऊपरी भाग पर सागर नितल प्रसरण के कारण निर्मित भ्रंश घाटियाँ होती हैं।
- यद्यपि मध्य महासागरीय कटकों की चौड़ाई में पर्याप्त विभिन्नतायें हैं परन्तु औसत रूप में इनकी चौड़ाई 1,000 किमी० है। वितलीय सागर मैदान (deep sea plains) की तली से इनकी औसत ऊँचाई 2,500 किमी० है।
- मध्य महासागरीय कटकों के सहारे सक्रिया ज्वालामुखी क्रियायें तथा भूकम्पीय घटनायें होती रहती हैं।
- मध्य महासागरीय कटकों के शिखरीय भ्रंश घाटी क्षेत्र में निम्न आकृतियां मिलती हैं।
  - उष्णतापजलीय छिद्र (hydrothermal vents), ये वास्तव में उष्ण सोता (hot springs) होते हैं। जब सागर नितल में प्लेट गति के कारण विपरीत दिशाओं में अपसरण होता है तो मध्य महासागरीय कटकों के ऊपरी भाग पर भ्रंश का निर्माण हो जाता है। सागरीय जल रिस कर इन भ्रशों में पहुँच जाता है तथा गर्म हो जाता है और उष्ण सोते के रूप में उसका उत्स्रवण होने लगता है। यह उष्ण जल श्वेत स्मोकर (white smoker) के रूप में प्रकट होता है, जिसका तापमान 30° से 35° सें० होता है। जब यह तापमान 35° सें० से अधिक हो जाता है तो उसे ब्लैक स्मोकर कहते हैं।
  - महासागरीय कटक (oceanic ridges), मध्य महासागरीय कटकों के उन भागों को कटक कहते हैं जिनके पार्श्व भाग तीव्र ढाल वाले होते हैं।
  - महासागरीय उभार (oceanic rise), मन्द पार्श्व ढाल वाले मध्य महासागरीय कटकों के भाग को महासागरीय उभार कहते हैं।
  - रूपान्तर भ्रंश (transform faults), मध्य महासागरीय कटकों के आर-पार निर्मित कई रूपान्तर भ्रंशों के कारण उसका क्रम भंग हो जाता है। मध्य महासागरीय कटकों के सहारे दो प्लेटों के अपसरण के फलस्वरूप सागर नितल में प्रसरण के कारण ही इन रूपान्तर भ्रंशों का निर्माण होता है। ये रूपान्तर भ्रंश सागर नितल के प्रसरण (spreading) मण्डल की अक्ष के लम्बरूप में होती हैं (चित्र 3.5)।

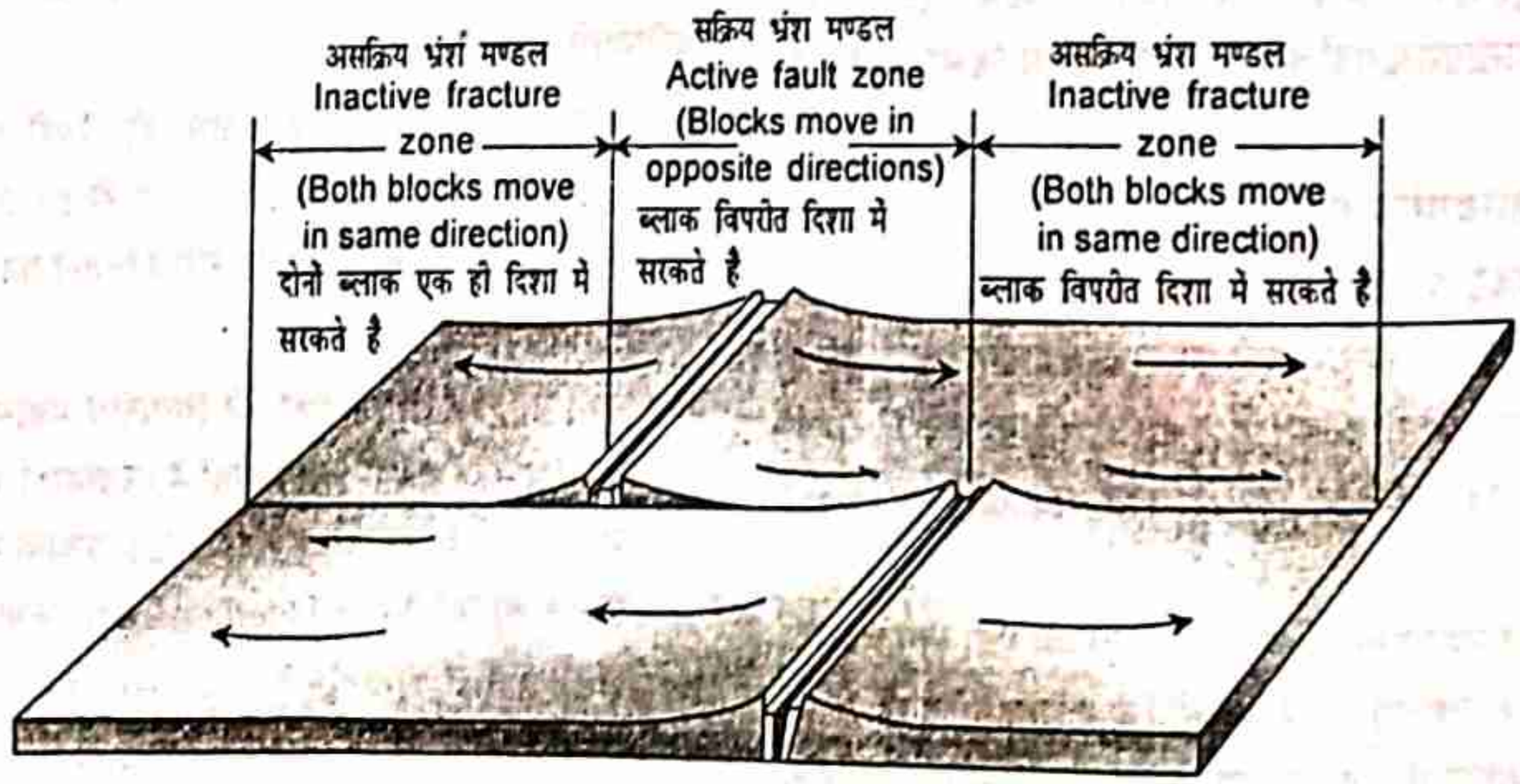

चित्र 3.5 : रूपान्तर भ्रंश तथा विभंग मण्डल (frature zone), स्रोत : W.K. Hamblin तथा E.H. Christiansen, 1995 के आधार पर।

मध्य महासागरीय कटकों का निर्माण दो महासागरीय प्लेटों के विपरीत दिशाओं में गतिशील होने (अपसरण, divergence) तथा उससे जनित सागर नितल के प्रसरण के कारण होता है। जब दो महासागरीय प्लेट टूट कर। पपरीत दिशाओं में गतिशील होते हैं, तो भ्रंश (faults) का निर्माण होता है, ऊपर स्थित दबाव कम हो जाता है, परिणामस्वरूप ऊपरी मैण्टिल की चट्टानें पिघल जाती हैं। पिघले पदार्थ मैगमा के रूप में ऊपर उठते हैं। सागरीय जल की सतह तक पहुँचने पर यह मैगमा शीतल होकर ठोस हो जाता है। इस तरह नयी बेसाल्ट क्रस्ट का निर्माण होता है। यह बेसाल्ट परत रचनात्मक प्लेट सीमा से सम्बद्ध हो जाती है। इस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति के कारण सक्रिय ज्वालामुखी क्रिया द्वारा बेसाल्ट लावा जमा होते रहने से प्रसरण मण्डल (spreading zone) के सहारे विस्तृत मध्य महासागरीय कटकों का निर्माण हो जाता है। अगले अनुभाग (3.8) में मध्य अटलाण्टिक कटक की उत्पत्ति की व्याख्या के उदाहरण द्वारा मध्य महासागरीय कटकों के निर्माण की प्रक्रिया की व्याख्या की जायेगी।

प्रश्न :-

3.8 अटलांण्टिक महासागर का नितल उच्चावच (Bottom Relief of Atlantic Ocean)

1. सामान्य परिचय

अटलाण्टिक महासागर बेसिन का विस्तृत अन्वेषण एवं सर्वेक्षण करके सबसे अधिक अध्ययन किया गया है। परिणामस्वरूप अटलाण्टिक बेसिन की आकारिकीय विशेषताओं (morphological characteristics) के विषय में विशद जानकारी सुलभ है। अटलाण्टिक महासागर के मध्य में अवस्थित मध्य अटलाण्टिक कटक ने उसके विभिन्न पक्षों के अध्ययन हेतु बड़ी संख्या में भूवैज्ञानिकों तथा जीवविज्ञानियों को आकर्षित किया। अध्ययन के दौरान मिले भौमिकीय, पुरावानस्पतिक (palaeontological) तथा पुराचुम्बकीय (palaeomagnetic) साक्ष्यों के आधार पर वैज्ञानिकों ने क्रान्तिकारी तथा ऐतिहासिक प्लेटविर्तनिक सिद्धान्त (platetectonic theory) का प्रतिपादन किया (1960 के दशक में)। महासागरीय बेसिन की महत्वपूर्ण आकृतियां, यथा महाद्वीपीय मग्नतट, मग्न ढाल, अन्त:सागरीय कैनियन, रूपान्तर भ्रंश, अन्त: सागरीय ज्वालामुखी पहाड़ी, सागर टीला (sea mounts) ग्वायट, मध्य महासागरीय कटक आदि की उत्पत्ति की विश्वसनीय व्याख्या की गयी। इन तथ्यों के सन्दर्भ में प्रत्येक महासागर की बेसिन के आकृतिक स्वरूपों की विवेचना की जायेगी।

2. अटलाण्टिक बेसिन : अवस्थिति, विशेषताएँ तथा निर्माण

पश्चिम में उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका और पूर्व में यूरोप तथा अफ्रीका के मध्य स्थित आन्ध्र महासागर 820 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में विस्तृत है, जो कि समस्त विश्व के क्षेत्रफल का 1/6 भाग तथा प्रशान्त महासागर के क्षेत्रफल का 1/2 भाग है। इसका आकार 'S' अक्षर के समान है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि प्रारम्भ में उ० तथा द० अमेरिका, यूरोप तथा अफ्रीका से मिले थे। बाद में महाद्वीपीय प्रवाह के कारण उ० तथा द० अमेरिका अलग होकर पश्चिम दिशा में प्रवाहित हो गये, जिस कारण आन्ध्र महासागर का निर्माण हुआ। आन्ध्र महासागर दक्षिण में सर्वाधिक चौड़ा है। 35° द० अक्षांश पर इसकी पू०-प० चौड़ाई 5920 किमी० (3700 मील) है। भूमध्य रेखा की ओर यह निरन्तर संकरा होता जाता है। साओराक अन्तरीप तथा लाइबेरिया तट के बीच चौड़ाई 2560 किमी० (1600 मील) ही है। उत्तर की ओर चौड़ाई पुन: बढ़ती जाती है। 40° उत्तरी आक्षांश पर यह चौड़ाई 4800 किमी० (3000 मील) हो जाती है। सुदूर उत्तर में यह पुन: संकरा हो जाता है जहाँ पर नार्वेजियन सागर, डेनमार्क जलडमरूमध्य तथा डेविस की खाड़ी द्वारा इसका सम्बन्ध आर्कटिक सागर से हो जाता है। सीमान्त सागरों तथा विस्तृत महाद्वीपीय मग्नतट के कारण आन्ध्र महासागर के समस्त क्षेत्रफल का 24% भाग 4800 मीटर से कम गहरा है। आन्ध्र महासागर के नितल में निम्न चार प्रमुख रूप देखने को मिलते हैं।

आज से लगभग 700 मिलिय वर्ष पूर्व अटलाण्टिक महासागर का सागर नितल प्रसरण (sea floor spreading) तथा युरेशिया तथा अफ्रीका प्लेट के पूर्व की ओर एवं दोनों अमेरिका के पश्चिम की ओर गतिशील होकर प्रवाहित होने से निर्माण हुआ। लगभग 300 मिलियन वर्ष पूर्व अमेरिकी तथा यूरेशियन एवं अफ्रीकी प्लेटों के अभिसरण (convergence) यानी आमने-सामने गतिशील होने के कारण अटलाण्टिक महासागर बन्द हो गया। आज से लगभग 150 मिलियन वर्ष पूर्व अटलाण्टिक बेसिन का पुन: खुलना प्रारम्भ हो गया। अटलाण्टिक महासागर नितल का फैलना आज भी जारी है। यह प्रसरण प्रतिवर्ष 4 सेण्टीमीटर की दर से हो रहा है।

3. महाद्वीपीय मग्नतट

मग्नतट आन्ध्र महासागर के दोनों तटों पर पर्याप्त विस्तृत हैं। कहीं पर इनकी चौड़ाई 80 किमी० से अधिक हो जाती है तो कहीं पर यह 2 से 4 किमी० रह जाती है। वास्तव में मग्न तट की चौड़ाई समीपी तट के उच्चावच पर आधारित होती है। जहाँ कहीं भी तट के पास पर्वत की स्थिति देखने को मिलती है, वहाँ पर मग्नतट संकुचित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, बिस्के की खाड़ी से उत्तमाशा अन्तरीप के बीच अफ्रीका का मग्नतट तथा 5° द० से 10° द० अक्षांश के बीच ब्राजील का मग्नतट संकरा हो गया है। इसके विपरीत उ० अमेरिका के उ० पू० भाग तथा उ० प० यूरोप के मग्नतट 240 से 400 किमी० (150 से 250 मील) तक चौड़े हैं। न्यूफाउण्डलैण्ड (ग्राण्ड बैंक) तथा ब्रिटिश द्वीप (डागर बैंक) के चारों ओर विस्तृत मग्नतट पाये जाते हैं। ग्रीनलैण्ड तथा आइसलैण्ड के मग्नतट भी चौड़े हैं। द० आन्ध्र महासागर में बाहियाब्लैंका तथा अण्टार्कटिक के बीच चौड़े मग्नतट पाये जाते हैं। आन्ध्र महासागर के मग्नतटों पर कई सीमान्त सागर (marginal seas) तथा असंख्य द्वीप पाये जाते हैं। मग्नतट स्थित सीमान्त सागरों में हडसन की खाड़ी, बाल्टिक सागर, उत्तरी सागर, डेविस जलडमरूमध्य, डेनमार्क जलडमरूमध्य आदि प्रमुख हैं। आन्ध्र महासागर के आन्तरिक सागरों में कैरेबियन सागर तथा रूम सागर प्रमुख हैं। मग्नतट स्थित द्वीपों में ब्रिटिश द्वीप, न्यूफाउण्डलैण्ड, पश्चिमी द्वीपसमूह चाप, आइसलैण्ड, बरमुदा, सेण्ट हेलना, ट्रिनीडाड, फाकलैण्ड, शटलैण्ड, द० अर्कनीज, जार्जिया, सैण्डविच, कनारी, केप वर्डे आदि प्रमुख हैं।

4. मध्य अटलांटिक कटक (Mid-Atlantic Ridge)

मध्य अटलांटिक कटक उत्तर में आइसलैण्ड से दक्षिण में बोवेट द्वीप तक 'S' अक्षर के आकार में 14,400 किमी० की लम्बाई में फैला है तथा कहीं भी सागर तल से 4000 मीटर से नीचे नहीं जाता है। यद्यपि यह कटक कभी प० को कभी पू० की ओर झुक जाता है, परन्तु इसकी मध्यवर्ती स्थिति सदा बनी रहती है। भूमध्यरेखा के उत्तर इस कटक को डालफिन उभार तथा दक्षिण में चैलेंजर उभार कहते हैं। आइसलैण्ड और स्काटलैण्ड के बीच इस कटक को विविल टामसन कटक कहते हैं। ग्रीनलैण्ड के दक्षिण में कटक चौड़ा हो जाता है, जिसे टेलिग्राफिक पठार कहते हैं। 50° उ० अक्षांश के पास इस कटक की शाखा न्यूफाउण्डलैण्ड उभार (rise) के नाम से न्यूफाउण्डलैण्ड तट तक चली जाती है। 40° उ० अक्षांश के द० मध्यवर्ती कटक से एक शाखा अलग होकर अजोर उभार के नाम से अजोर तट की ओर जाती है। भूमध्य रेखा पर सियरा लिओन उभार उत्तर-पूर्व की ओर तथा पारा उभार उ० प० की ओर मध्यवर्ती कटक की दो शाखाओं के रूप में चले जाते हैं। 40° द० अक्षांश के पास इस कटक की एक शाखा वालविस कटक अफ्रीका के मग्नतट की ओर तथा दूसरी शाखा रायोग्रैंडी उभार के नाम से दक्षिण अमेरिका की ओर उन्मुख हो जाती है।

मध्यवर्ती कटक का यद्यपि अधिकांश भाग जलमज्जित है तथापि कई चोटियाँ सागर को चीर करके ऊपर दृष्टिगत होती हैं। अजोर्स का पिको द्वीप सर्वोच्च है, जो सागर तल से 7000 से 8000 फीट ऊपर उठा है। मध्य अटलांटिक कटक की उत्पत्ति के विषय में पर्याप्त मतभेद है, परन्तु महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त (वेगनर-टेलर) के अनुसार इस कटक की उत्पत्ति तनाव के कारण तथा उ० एवं दक्षिण अमेरिका के पश्चिम दिशा में प्रवाह के कारण मानी जानी चाहिए।

प्लेट विवर्तनिकी सिद्धान्त के आधार पर इसका निर्माण उत्तरी अमेरिका एवं दक्षिण अमेरिका तथा यूरोप-अफ्रीका प्लेट के रचनात्मक किनारे (constructive plate margins) के अलगाव तथा नीचे से मैंगमा के ऊपर की ओर उद्वेलित होकर आगमन के कारण हुआ है।

आन्ध्र महासागर तथा मध्य अटलांटिक कटक की उत्पत्ति के लिए इस पुस्तक के अध्याय 2 (महाद्वीप एवं महासागरीय नितल की उत्पत्ति) में प्लेट विवर्तन सिद्धान्त देखिये।

अटलाण्टिक महासागर बेसिन की बेसाल्ट क्रस्ट मध्य अटलाण्टिक कटक के पास नवीनतम है परन्तु इस कटक से पूर्व तथा पश्चिम की ओर जाने पर ये प्राचीन होती जाती हैं। इस तथ्य को चित्र 3.7 में दर्शाया गया है। इससे यह साफ तौर पर स्पष्ट हो जाता है कि मध्य अटलाण्टिक कटक पर सागर नितल का मन्द गति से लगातार प्रसार हो रहा है तथा अपसारी (divergent) प्लेटों के पिछले किनारों पर नयी बेसाल्ट क्रस्ट की अभिवृद्धि (accretion) हो रही है। मध्य अटलाण्टिक कटक के शिखर पर नवीनतम बेसाल्ट क्रस्ट

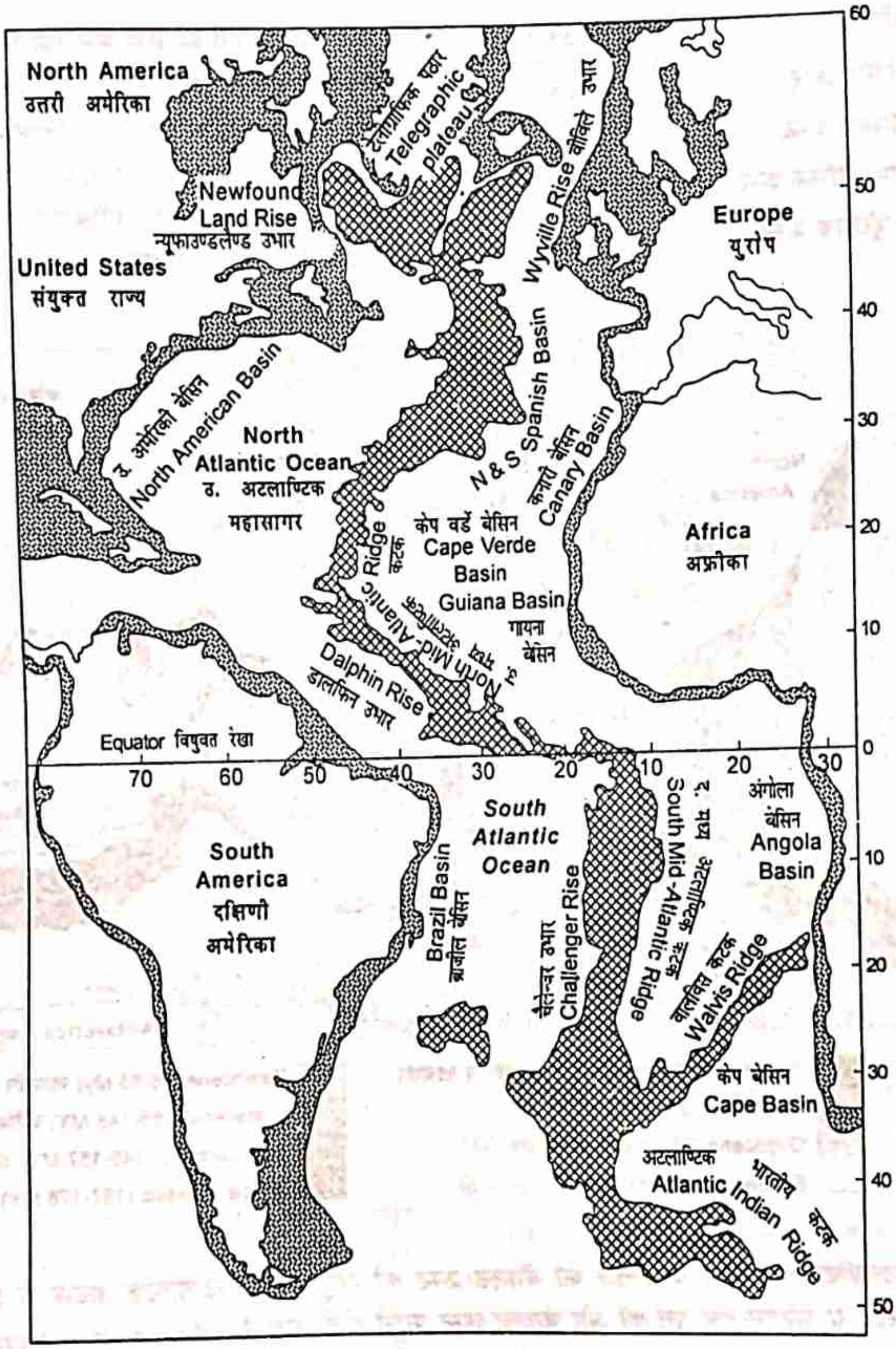

चित्र 3.6 : आन्ध्र महासागर का नितल उच्चावच्च।

अभिनव (latest) से 5 मिलियन वर्ष पुरानी है। मध्य अटलाण्टिक कटक से महाद्वीपीय किनारों तक बेसाल्ट क्रस्ट की आयु (चित्र 3.7) का अनुक्रम (sequence) निम्न प्रकार है :

बेसाल्ट क्रस्ट	आयु (मिलियन वर्ष)
(1) होलोसीन से प्लायोसीन क्रस्ट	0 - 5
(2) मायोसीन क्रस्ट	5-23
(3) ओलिगोसीन क्रस्ट	23-35

(4) इयोसीन क्रस्ट	35-56
(5) प्लायोसीन क्रस्ट	56-65
(6) क्रीटैसियस क्रस्ट	65-146
(7) अन्तिम जुरैसिक क्रस्ट	146-157
(8) मध्य जुरैसिक क्रस्ट	157-178

मध्य सागरीय कटक के पास तथा उससे दूर सागर-नितल पर मिलने वाले वालामुखी द्वीपों से भी उपर्युक्त तथ्य का सत्यापन होता है। अटलाण्टिक महासागर के ज्वालामुखी द्वीप निश्चय ही मध्य अटलाण्टिक कटक से सम्बन्धित हैं तथा जो सबसे अधिक सक्रिय हैं वे कटक के सबसे करीब पाये जाते हैं। कटक के पास नीचे से मैगमा के ऊपर आने से ज्वालामुखी द्वीपों का निर्माण

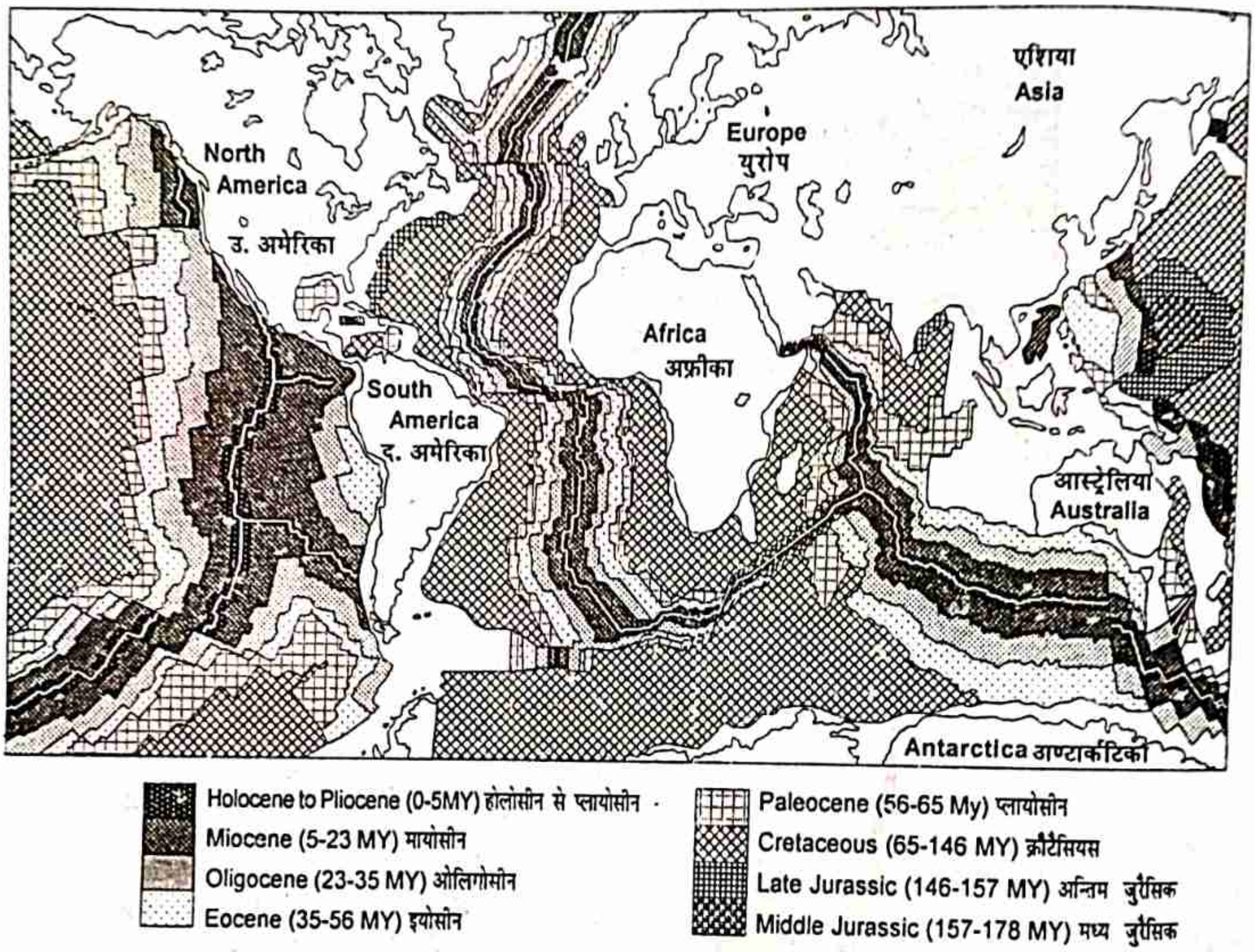

चित्र 3.7 अटलाण्टिक महासागर के नितल की बेसाल्ट क्रस्ट की आयु। मध्य अटलाण्टिक कटक के शीर्ष (नवीनतम क्रस्ट) से पश्चिम तथा पूर्व की ओर बेसाल्ट क्रस्ट पुरानी होती जाती है। (Source : W.K. Hamblin and C.H. Christiansen, 1995).

होता है और जैसे-जैसे सागर-नितल का प्रसरण होता जाता है वैसे-वैसे ये द्वीप कटक से दूर विस्थापित होते जाते हैं। इस तरह जब ये ज्वालामुखी द्वीप मैगमा के आपूर्ति स्थल (कटक के नीचे) से दूर होते जाते हैं तो इनकी मैगमा की आपूर्ति समाप्त हो जाती है। ऐसी दशा में ये द्वीप अवतलित (सागर तल, sea-level, के नीचे) होते जाते हैं जिन्हें सागरीय चौकी (sea mounts) या guyots कहते हैं। स्मरणीय है कि सभी ज्वालामुखी द्वीप सागर-तल के नीचे जलमज्जित (sub-merge) नहीं होते हैं। कई द्वीप सागर तल से 1500 से 3000 मीटर ऊपर भी रहते हैं। अटलाण्टिक महासागर स्थित

ज्वालामुखी द्वीपों के लावा के अध्ययन के आधार पर ज्ञात हुआ है कि जो द्वीप मध्य अटलाण्टिक कटक के करीब हैं उनका लावा नूतन है तथा दूरस्थ द्वीपों का लावा प्राचीन है। उदाहरण के लिए मध्य अटलाण्टिक कटक के दोनों ओर स्थित अजोर्स द्वीप का प्राचीनतम लावा 4 मिलियन वर्ष पुराना है जबकि अफ्रीका तट के पास (कटक से दूरस्थ) केप वर्डे द्वीप का प्राचीनतम लावा 120 मिलियन वर्ष पुराना है। चित्र 3.8 में सागर-नितल प्रसरण, ज्वालामुखी क्रिया, ज्वालामुखी द्वीपों का निर्माण तथा कटक से उनका दूर हटना दिखाया गया है।

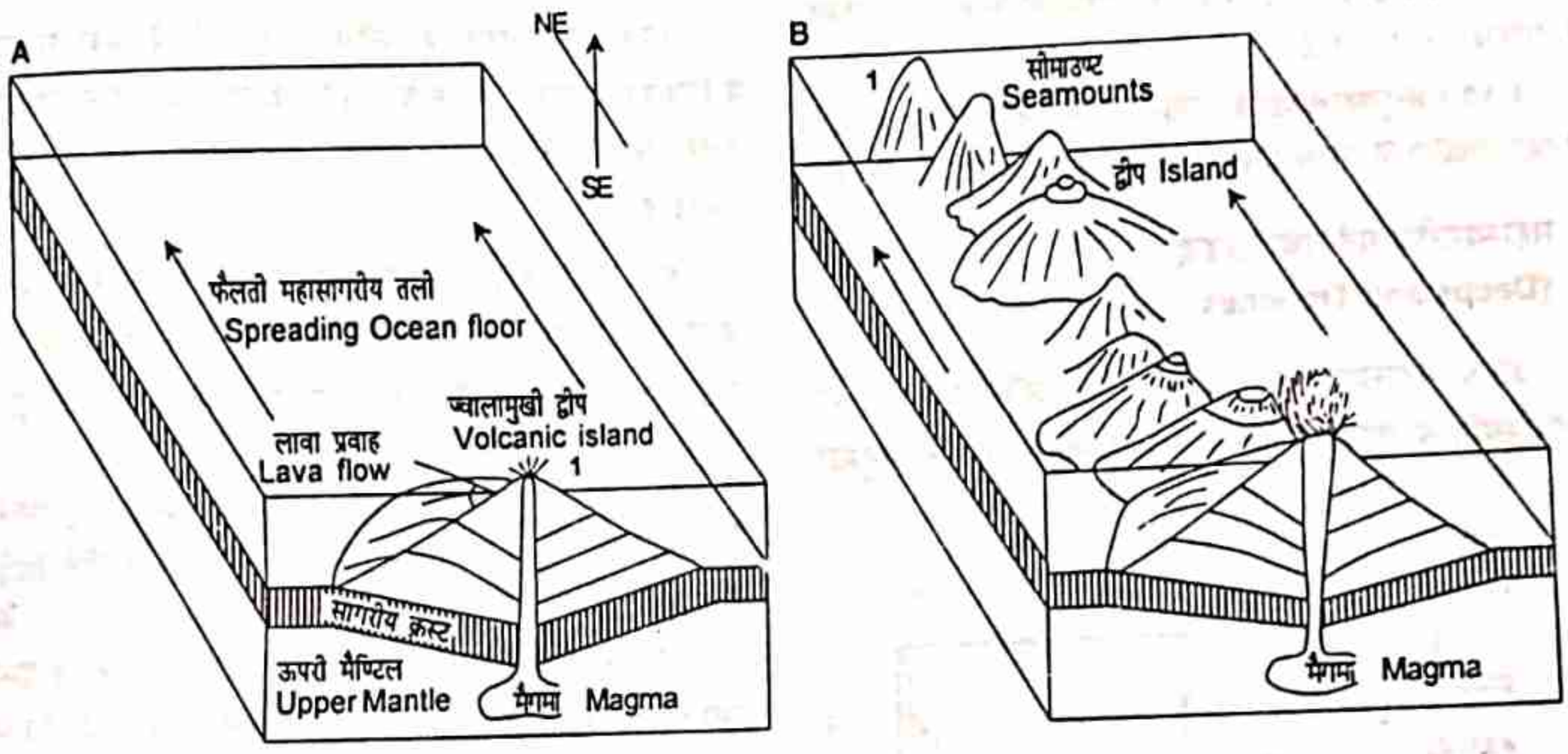

चित्र 3.8 : सागर-नितल-प्रसरण तथा ज्वालामुखी द्वीप का निर्माण। A. लगभग 70 मिलियन वर्ष पूर्व प्रथम ज्वालामुखी द्वीप का निर्माण, B. वर्तमान स्थिति। सागर-नितल प्रसरण के कारण पहले निर्मित ज्वालामुखी द्वीप मैगमा केन्द्र (मध्य महासागरीय कटक) से दूर होते गये हैं (after M. J. Bradshaw, et. al, 1978)।

5. द्रोणियां (Basins)

मध्यवर्ती अटलाण्टिक कटक द्वारा आन्ध्र महासागर दो विस्तृत द्रोणियों में विभाजित हो जाता है। इन दो बृहद द्रोणियों में पुन: कई छोटी-छोटी द्रोणियाँ भी पायी जाती हैं, जिनमें निम्न प्रमुख हैं :

(1) लेब्राडोर द्रोणी : उ० में ग्रीनलैण्ड के जलमग्न तट तथा द० में न्यूफाउण्डलैण्ड उभार के बीच 4000 मीटर की गहराई तक 40° से 50° उ० अक्षांशों के बीच फैली है।

(2) उत्तरी अमेरिका द्रोणी : उत्तरी आन्ध्र महासागर की सबसे बड़ी द्रोणी है, जिसका विस्तार 12° से 40° उ० अक्षांशों के मध्य उत्तरी अमेरिका के तट से 55° प० देशान्तर के बीच 5000 मीटर की गहराई तक पाया जाता है।

(3) ब्राजील द्रोणी : द० अटलाण्टिक महासागर में भूमध्य रेखा से 30° द० अक्षांश तथा द० अमेरिका के तट तथा पारा उभार के मध्य स्थित है।

(4) स्पेनिश द्रोणी : मध्य अटलांटिक कटक के पूर्व में आइबेरियन प्रायद्वीप के पास स्थित स्पेनिश द्रोणी का विस्तार 30° से 50° उ० आक्षांशों के बीच 5000 मीटर की गहराई तक है।

(5) उ० तथा द० कनारी बेसिन : दो वृत्ताकार द्रोणियों से मिलकर बनी है, जिसका विभाजन उच्च भाग द्वारा होता है।

(6) केपवर्ड द्रोणी : मध्य अटलाण्टिक कटक तथा अफ्रीका के मध्य 10° से 23.5° उत्तरी आक्षांशों के बीच 5000 मीटर की गहराई तक विस्तृत है।

रिक्यू	6,395

24.9 हिन्द महासागर का नितल उच्चावच्च (Bottom Reliefs of Indian Ocean)

1. सामान्य परिचय

हिन्द महासागर, क्षेत्रफल में प्रशान्त महासागर तथा आन्ध्र महासागर से छोटा है, परन्तु यह चारों ओर से महाद्वीपीय भागों (उ० में एशिया, प० में अफ्रीका, पूर्व में एशिया, द० पू० में आस्ट्रेलिया तथा द० में अण्टार्कटिका) से घिरा है। द० में अण्टार्कटिका के पास इसका सम्बन्ध प्रशान्त महासागर तथा आन्ध्र महासागर से हो जाता है। महासागर की औसत गहराई 4000 मीटर के आसपास है। हिन्द महासागर के तट का अधिकांश भाग गोंडवानालैण्ड के ब्लाक पर्वतों से निर्मित होने के कारण ठोस तथा सघन हो गया है। पूर्वी द्वीपसमूह के तट के सहारे वलित पर्वतों की शृंखलायें भी पायी जाती हैं। सीमान्त सागर अन्य दो महासागरों की अपेक्षा कम पाये जाते हैं। प्रमुख सीमान्त सागरों में मोजम्बिक चैनेल, अण्डमान सागर, लाल सागर, फारस की खाड़ी आदि का उल्लेख किया जा सकता है। द्वीप छोटे-बड़े सभी प्रकार के मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप-—मालागासी, श्रीलंका (बड़े द्वीप), सोकोत्रा, जंजीबार, कोमोरो, अण्डमान और निकोबार आदि को प्रस्तुत किया जा सकता है। उत्तर में प्रायद्वीपीय भारत हिन्द महासागर को दो भागों–बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर में विभक्त करता है। दक्षिण में हिन्द महासागर अत्यधिक चौड़ा हो गया है। जानसन महोदय ने हिन्द महासागर को प्रादेशिक विशेषताओं के आधार पर

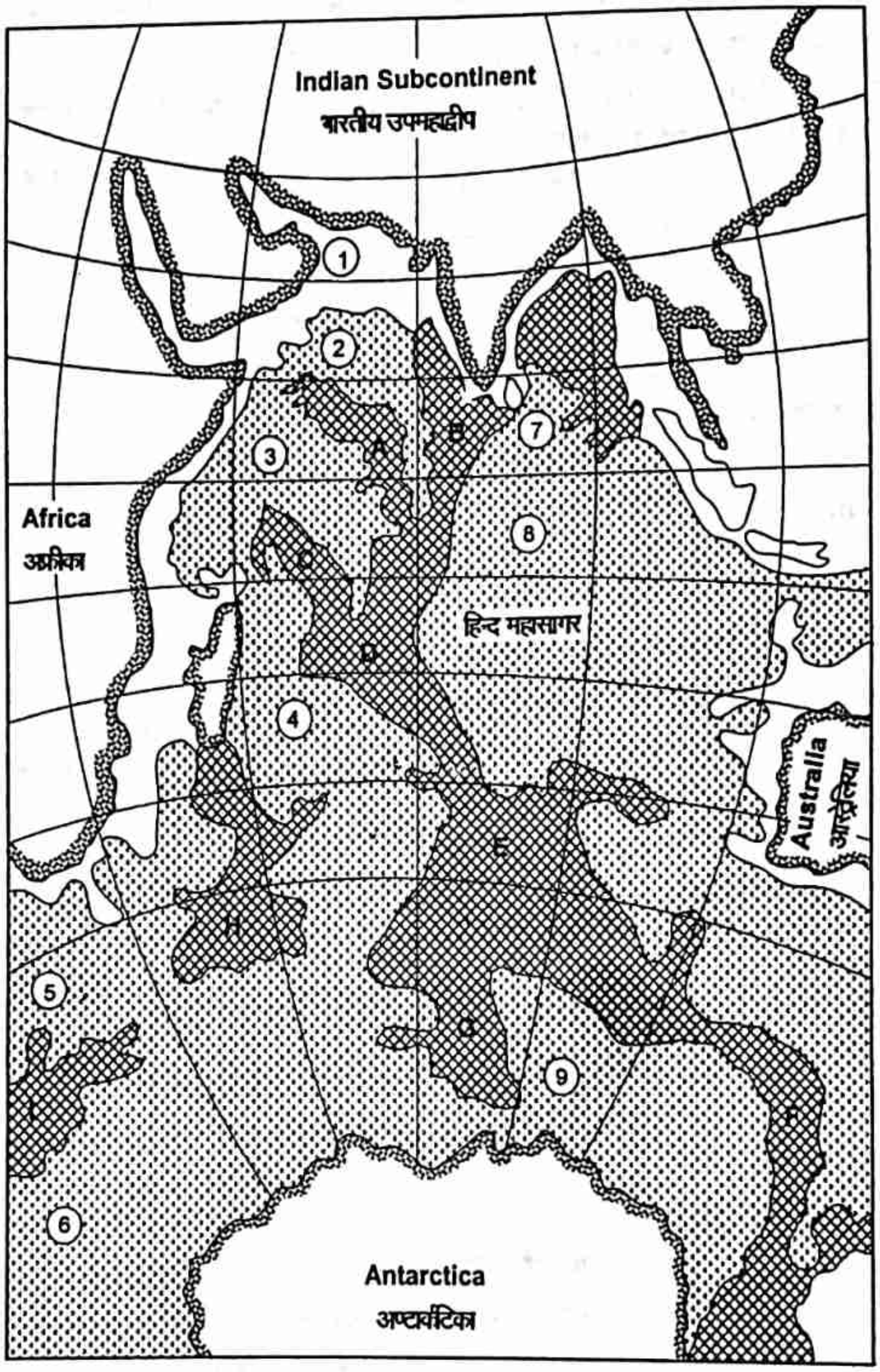

चित्र 24.7: हिन्द महासागर का नितल उच्चावच्च – 1 से 9 विभिन्न द्रोणियाँ (पाठ देखें), A, सोकोत्रा चैगोस कटक, B- चैगोस कटक, C-सेचलीस कटक, D- चैगोस सेण्ट पाल कटक, E- अमस्टरडम सेण्ट पाल कटक, F-भारत अण्टार्कटिका कटक, G-करगुलेन गासबर्ग कटक, H-मैडागास्कर कटक, I-अटलांटिक–अण्टार्कटिका कटक।

तीन खण्ड में विभक्त किया है–1. पश्चिमी भाग जो कि अफ्रीका के पास विस्तृत है। गहराई 2000 फैदम (12000 फीट) से कम है, परन्तु कई द्वीप पाये जाते है। 2. पूर्वी भाग अत्यन्त गहरा है (3000 फैदम) तथा महाद्वीपीय मग्नतट संकरे तथा तीव्र ढाल वाले हैं, 3. मध्यवर्ती भाग उत्थित कटक के रूप में हैं, जिसके सहारे अनेक द्वीप पाये जाते हैं।

2. मग्नतट

हिन्द महासागर के मग्नतटों में चौड़ाई की दृष्टि से पर्याप्त विविधता मिलती है। बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर के सहारे चौड़े मग्नतट पाये जाते हैं। अफ्रीका के पूर्वी भाग में भी चौड़े मग्नतट मिलते हैं तथा इसका अधिकतम

विस्तार मालागासी (मैडागास्कर) के पास होता है। वास्तव में मालागासी, मग्नतट पर ही विस्तृत है। इस तरह प० में मग्नतटों की औसत चौड़ाई 640 किमी० तक पायी जाती है। पूर्व में मग्नतट संकरे हो जाते हैं, और जावा तथा सुमात्रा के पास इनकी चौड़ाई 160 किमी० ही रह जाती है। अण्टार्कटिका महाद्वीप के सहारे मग्नतट और अधिक संकरे हो जाते हैं।

3. मध्यवर्ती कटक (Central Ridge)

हिन्द महासागर में प्रायद्वीपीय भारत के दक्षिण से प्रारम्भ होकर मध्यवर्ती कटक द० में अण्टार्कटिका तक क्रमबद्ध शृंखला के रूप में उ० से द० दिशा में फैला है। कई स्थानों पर इस कटक से शाखाएं निकलकर महाद्वीपों की ओर चली जाती हैं। जहाँ कहीं भी यह कटक या उसकी शाखायें सागर तल के ऊपर प्रकट होती हैं, वहाँ पर अनेक द्वीप पाये जाते हैं।

मुख्य कटक—उत्तर में प्रायद्वीपीय भारत के मग्नतट से प्रारम्भ होता है, जहाँ पर इसकी चौड़ाई 320 किमी० हो जाती है। इस भाग को लकादीव चैगोस के नाम से जाना जाता है। इस कटक का पुन: द० की ओर विस्तार होता है तथा भूमध्यरेखा एवं 30^0 द० अक्षांश के मध्य इसका नाम चैगोस सेण्ट पाल कटक हो जाता है, जिसकी चौड़ाई भी 320 किमी० पायी जाती है। और दक्षिण जाने पर 30^0 से 50^0 द० अक्षांशों के मध्य इस कटक की चौड़ाई 1600 किमी० हो जाती हैं तथा इसे एमस्टर्डम सेण्ट पाल पठार नाम से सम्बोधित किया जाता है। 50^0 द० अक्षांश के दक्षिण में इस कटक की दो शाखाएं हो जाती है। पश्चिम में करगुलेन गासबर्ग कटक 48^0 से 63^0 द० अक्षांशों के मध्य विस्तृत है। पूर्वी शाखा इण्डियन अण्टार्कटिक कटक के नाम से विख्यात है।

मुख्य कटक की शाखाएं—स्थान-स्थान पर मुख्य कटक से शाखाएं निकलकर महाद्वीपीय तटों की ओर चली गयी हैं। इनमें से अग्रलिखित महत्वपूर्ण शाखाएँ हैं—(i) 5^0 द० अक्षांश के पास सोकोत्रा चैगोस कटक अलग होकर उ० प० दिशा में पूर्वी अफ्रीका के गुर्दाफुई अन्तरीप तक चला गया है। (ii) 18^0 द० अक्षांश के पास सेचलीस कटक मध्यवर्ती कटक से अलग होकर सोकोत्रा चैगोस कटक के समानान्तर पूर्वी अफ्रीका की ओर अग्रसर हो जाता है। (iii) मालागासी मग्नतट से प्रारम्भ होकर मालागासी कटक दक्षिण दिशा की ओर फैला है तथा 48^0 द० अक्षांश के पास यह प्रिन्स एडवर्ड क्रोजेट कटक के नाम से प्रसिद्ध है। बंगाल की खाड़ी में इरावदी के मुहाने से प्रारम्भ होकर निकोबार द्वीप तक अण्डमान निकोबार कटक का विस्तार पाया जाता है। भारत तथा अफ्रीका के मध्य कार्ल्सबर्ग कटक का पता लगाया गया है।

कटक पर स्थित द्वीप—जहाँ कहीं भी ये कटक सागर से ऊपर आ गये हैं, वहाँ पर कई प्रकार के द्वीप पाये जाते हैं। मध्यवर्ती कटक के ऊपर क्रम से लकादीव, मालदीव, चैगोस, न्यू एमस्टर्डम, सेण्ट पाल, करगुलेन आदि द्वीप पाये जाते हैं। अन्य बिखरे कटकों पर स्थित द्वीपों में सेचलीस, प्रिन्स एडवर्ड, क्रोजेट आदि प्रमुख हैं।

4. महासागरीय द्रोणी (Basins)

मध्यवर्ती कटक हिन्द महासागर को पूर्वी तथा पश्चिमी दो प्रमुख द्रोणियों में विभाजित करता है। मध्यवर्ती कटक की शाखाएँ इन दो द्रोणियों को पुन: कई छोटी-छोटी द्रोणियों में विभक्त करती हैं। इनमें से निम्न द्रोणियाँ उल्लेखनीय हैं :

(1) **ओमान द्रोणी**—ओमान की खाड़ी के सामने विस्तृत मग्नतट पर 3,658 मीटर की गहराई तक फैली है।

(2) **अरेबियन द्रोणी**—चैगोस कटक तथा सोकोत्रा चैगोस कटक के मध्य वृत्ताकार रूप में अफ्रीका तथा प्रायद्वीपीय भारत के तटों के बीच 3,600 से 5,486 मीटर तक गहराई तक विस्तृत है। कार्ल्सबर्ग कटक द्वारा इसके दो भाग (पूर्वी तथा पश्चिमी) हो जाते हैं।

(3) **सोमाली द्रोणी**—सोकोत्रा, चैगोस, सेण्टपाल तथा सेचलीस कटकों के मध्य स्थित है। इसकी गहराई 3,600 मीटर है।

(4) **मारीशस द्रोणी**—जो कि एक लम्बी तथा चौड़ी द्रोणी है, मालागासी कटक तथा सेण्टपाल कटक के मध्य 10^0 द० से 50^0 द० अक्षांशों के मध्य स्थित है। गहराई 3,600 से 5,486 मीटर के मध्य है।

(5) **नैटाल द्रोणी**—मालागासी (मैडागास्कर) कटक तथा द० अफ्रीका के पूर्वी तट के मध्य 3,600 मीटर की गहराई तक पायी जाती है।

(6) **अटलाण्टिक भारतीय अण्टार्कटिक द्रोणी**—वास्तव में यह आन्ध्र महासागर की अटलांटिक-अण्टार्कटिका द्रोणी का ही विस्तृत भाग है, जो कि प्रिन्स एडवर्ड क्रोजेट कटक तथा अण्टार्कटिका महाद्वीप के मध्य 5,486 मीटर की गहराई तक फैली है।

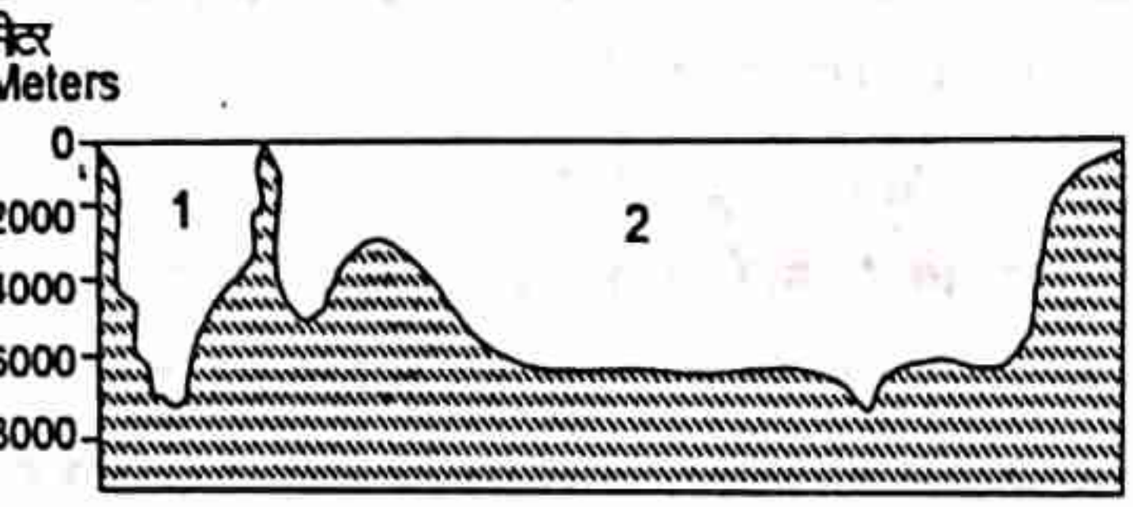

चित्र 24.8 : द० हिन्द महासागर का पार्श्व चित्र, 1. रीयूनियन द्वीप, 2. भारत आस्ट्रेलिया बेसिन।

(7) **अण्डमान द्रोणी**–बंगाल की खाड़ी में अण्डमान कटक के पूर्व में 1,800 से 3,600 मीटर तक फैली है।

(8) **भारत-आस्ट्रेलिया द्रोणी**–जो कि कोकोस कीलिंग द्रोणी के नाम से भी प्रसिद्ध है मध्यवर्ती कटक के पूर्व में स्थित सर्वाधिक विस्तृत द्रोणी है जो कि 10^0 उ० से 50^0 द० अक्षांश तक विस्तृत है। इसकी गहराई 3,600 से 5,486 मीटर के बीच है।

(9) **पूर्वी भारत-अण्टार्कटिका द्रोणी**–तीन ओर से मध्यवर्ती कटक एवं दक्षिण में अण्टार्कटिका द्वारा घिरी है।

5. महासागरीय गर्त (Deeps)

हिन्द महासागर की तली के क्षेत्रफल का लगभग 60 प्रतिशत भाग अगाध सागरीय मैदान के रूप में है, परिणामस्वरूप गर्तों की संख्या कम ही पायी जाती है। जावाद्वीप के सहारे स्थित सुण्डागर्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

प्रश्न :- महासागरीय तापमान का क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर वितरण :-

25

महासागरीय जल का तापमान एवं घनत्व

(Temperature and Density of the Oceans)

25.1 तापमान : सामान्य परिचय

धरातलीय तापमान के समान ही महासागरीय जल का तापमान वनस्पति जगत तथा जीव जगत दोनों के लिए महत्वपूर्ण होता है। महासागरीय जल का तापमान न केवल महासागरों में रहने वाले जीवों तथा वनस्पतियों को प्रभावित करता है, अपितु तटवर्ती स्थलीय भागों की जलवायु को (परिणामस्वरूप जीव तथा वनस्पति को) भी प्रभावित करता है। इसी कारण सागरीय जल के तापमान का अध्ययन महत्वपूर्ण हो चला है। सागरीय जल के तापमान का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत सूर्य है। सूर्य से लघु तरंग के रूप में महासागरों को प्राप्त होने वाली ऊर्जा को सूर्यातप (insolation) कहते हैं। सूर्य के अलावा तापमान की कुछ मात्रा सागर तली के नीचे पृथ्वी के आन्तरिक भाग तथा जल की दबाव प्रक्रिया से प्राप्त होती है, परन्तु यह मात्रा नगण्य होती है। महासागरों की ऊपरी सतह पर प्राप्त होने वाली सूर्याताप की मात्रा पर सूर्य की किरणों का सापेक्ष तिरछापन, दिन की अवधि, सूर्य से पृथ्वी की दूरी, वायुमण्डल का स्वभाव आदि का प्रभाव अधिक होता है। स्थल के विपरीत सागरीय जल के गर्म तथा शीतल होने की क्रिया में कुछ अन्तर पाया जाता है, क्योंकि सागरीय जल में क्षैतिज (लहरें, धारायें) तथा लम्बवत् गतियों (संवहन तरंग) के अलावा वाष्पीकरण की क्रियाएं भी सक्रिय होती हैं। स्थलीय भाग के समान सागरीय भाग में भी ऊष्मा संतुलन (heat balance) की स्थिति पायी जाती है।

25.2 दैनिक तापान्तर

चौबीस घण्टे के अन्दर उच्चतम एवं न्यूनतम तापमान का अन्तर ही दैनिक तापान्तर होता है। महासागरीय जल की सतह का औसत दैनिक तापान्तर नगण्य होता है (लगभग 1^0 सें०)। सामान्य रूप से महासागरीय सतह के जल का उच्चतम तापमान 2 बजे सायंकाल तथा न्यूनतम तापमान 5 बजे प्रात: अंकित किया जाता है। निम्न अक्षांशों पर दैनिक तापान्तर 0.30^0 सें० तथा उच्च अक्षांशों पर 0.2^0 से 0.3^0 सें० तक रहता है। दैनिक तापान्तर पर आकाश की दशा (मेघाच्छन्नता या खुलापन), वायु की स्थिरता तथा सागरीय सतह की प्रकृति का पर्याप्त प्रभाव होता है। सामान्य रूप में मेघरहित आकाश की स्थिति में सागरीय जल का गर्म होना तथा शीतल होना तीव्र गति से सम्पादित होता है, जिस कारण दैनिक तापान्तर अधिक होता है। इसके विपरीत तीव्र वायु संचार तथा मेघाच्छन्न आकाश के कारण दैनिक तापान्तर कम हो जाता है। जल का स्तरीकरण (stratification) भी दैनिक तापान्तर को प्रभावित करता है। यदि सागरीय सतह के जल के नीचे अधिक घनत्व वाली जलराशि है तो दैनिक तापान्तर कम होता है, क्योंकि संचालन कम होने से ऊष्मा का नीचे की ओर स्थानान्तरण नहीं हो पायेगा।

25.3 वार्षिक तापान्तर

सागरीय जल का उच्चतम वार्षिक तापमान अगस्त में तथा न्यूनतम फरवरी के महीने में अंकित किया जाता है (उ० गोलार्द्ध)। सामान्य रूप में औसत वार्षिक तापान्तर 10^0 फा० तक होता है, परन्तु प्रादेशिक स्तर पर इसमें भिन्नता पायी जाती है। इस भिन्नता को सूर्यातप से प्राप्त होने वाली मात्रा, सागर का स्वभाव, प्रचलित पवन, सागर की स्थिति आदि को प्रभावित करती है। स्थल से घिरे छोटे सागरों में वार्षिक तापान्तर अधिक होता है (रूम सागर में 20^0 फा० तथा बाल्टिक सागर में 40^0 फा०)। सागर का आकार जितना बड़ा होता जाता है, वार्षिक तापान्तर उतना ही घटता जाता है। अटलाण्टिक महासागर में प्रशांत महासागर की अपेक्षा अधिक तापान्तर पाया जाता है।

25.4 सागरीय तापमान का वितरण

महासागरीय जल के तापमान के वितरण के साथ दो तथ्यों का विशेष अध्ययन करते हैं—सतह के जल का तापमान तथा

उसकी गहराई का तापमान। चूँकि महासागर का त्रिविमीय आकार (three-dimensional shape) होता है, अत: उसके तापमान के वितरण में अक्षांशीय विस्तार के अलावा जल की गहराई को भी ध्यान में रखा जाता है। इस आधार पर सागरीय तापमान के क्षैतिज तथा लम्बवत् दोनों प्रकार के वितरण का अध्ययन करते हैं। महासागरीय जल के तापमान के वितरण को कई कारक प्रभावित करते हैं, जिनमें निम्न प्रमुख हैं :

अक्षांश

भूमध्यरेखा से उत्तर या दक्षिण अर्थात् ध्रुवों की ओर जाने पर सतहीय जल (surface water) का तापक्रम घटता जाता है, क्योंकि सूर्य की किरणें ध्रुवों की ओर तिरछी होती जाती हैं, परिणामस्वरूप सूर्यातप की मात्रा भी ध्रुवों की ओर घटती जाती है। भूमध्यरेखा से 40^0 उ० तथा द० अक्षांशों के मध्य महासागरीय जल का तापक्रम वायु के तापक्रम से कम किन्तु 40^0 से ध्रुवों के बीच अधिक रहता है।

जल एवं स्थल के वितरण में असमानता

उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की अधिकता तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की अधिकता के कारण तापक्रम के वितरण में असमानता पायी जाती है। गर्म स्थल के सम्पर्क के कारण महासागर अधिक ऊष्मा प्राप्त कर लेते हैं जिस कारण उत्तरी गोलार्द्ध में महासागरों का तापक्रम दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा अधिक रहता है। ठंडे स्थलीय भाग महासागर के तापक्रम को घटा देते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में दोनों प्रकार के स्थलखण्डों (गर्म तथा ठंडा) के कारण समताप रेखायें सुडौल नहीं पायी जाती हैं। इसके विपरीत जल के आधिक्य के कारण दक्षिणी गोलार्द्ध में समताप रेखायें अक्षांश के समान्तर पायी जाती हैं। स्थलीय भागों से घिरे (निम्न अक्षांशों में) सागरों का तापक्रम अधिक हो जाता है। उदाहरण के लिए, भूमध्य रेखा पर औसत वार्षिक तापक्रम 80^0 फा० (26.6^0 C), लाल सागर में 100^0 फा० (37.8^0C) तथा फारस की खाड़ी में 94^0 फा० (34.4^0 C) हो जाता है।

प्रचलित पवन

हवाओं की दिशा का सागरीय तापक्रम पर पर्याप्त प्रभाव होता है। जब स्थल से सागर की ओर हवायें चलती हैं तो अपने साथ तट से सागर के गर्म जल को सागर की ओर बहा ले जाती हैं। उसकी स्थानापूर्ति के लिए नीचे से ठंडा जल ऊपर आता है, जिस कारण वहाँ का तापक्रम कम हो जाता है। इसके विपरीत जहाँ पर हवाएँ तट की ओर चलती हैं, वहाँ पर तट के पास गर्म जलराशि एकत्रित हो जाती है, जिस कारण तापक्रम बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए, व्यापारिक हवाओं की पेटी में महासागरों के पूर्वी भाग में कम तापक्रम तथा पश्चिमी भागों में अधिक तापक्रम पाया जाता है। इसी तरह पछुवा हवाओं की पेटी में महासागरों का पूर्वी भाग अधिक तापक्रम अंकित करता है। उदाहरण के लिए, गल्फस्ट्रीम धारा उ० प० यूरोप के तट पर तथा क्युरोसिवो धारा एशिया के उ० पू० तट पर तापक्रम बढ़ा देती है।

महासागरीय धारायें

महासागरों की गर्म तथा ठंडी जलधारायें प्रभावित क्षेत्रों के तापक्रम को नियंत्रित करती हैं। गर्म धारायें जहाँ पर पहुँचती हैं, वहाँ का तापक्रम बढ़ा देती हैं। गल्फस्ट्रीम उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट के पास तथा उ० प० यूरोप के पास सागरीय तापक्रम को बढ़ा देती है। इसी तरह क्यूरोसिवो धारा एशिया के पूर्वी भाग से गर्म जल को अलास्का तक बहा ले जाती है तथा तापक्रम ऊँचा कर देती है। इसके विपरीत ठंडी धारायें तापक्रम को नीचा कर देती हैं। उ० अमेरिका के उ० पू० तट पर लेब्राडोर ठंडी धारा के कारण तापक्रम हिमांक के पास पहुँच जाता है, जबकि उन्हीं आक्षांशों पर उ० प० यूरोप के तट के पास सागर का तापक्रम गल्फस्ट्रीम के कारण ऊँचा रहता है। क्यूराइल की ठंडी धारा साइबेरिया के पूर्वी तट के पास तापक्रम नीचा कर देती है। यदि उ० तथा द० गोलार्द्ध में धाराओं के तुलनात्मक प्रभाव को देखा जाय तो गर्म धारायें उत्तरी गोलार्द्ध के महासागर के तापक्रम को दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा अधिक बढ़ा देती हैं। उदाहरण के लिए, 5^0 सें० की समताप रेखा उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में 70^0 अक्षांश तक पहुँच जाती है, जबकि दक्षिणी अटलाण्टिक में यही समताप रेखा केवल 50^0 अक्षांश तक ही पहुँच पाती है। स्पष्ट है कि उत्तरी भाग में गल्फस्ट्रीम का प्रभाव दक्षिणी भाग में ब्राजील की गर्म धारा की अपेक्षा अधिक है।

अन्य कारक

1. अन्त:सागरीय कटक (submarine ridges) के कारण उसके दोनों ओर तापक्रम में पर्याप्त भिन्नता होती है। 2. स्थानीय मौसम सम्बन्धी दशाएँ, जैसे तूफान, चक्रवात, हरीकेन आदि सागरीय तापक्रम को प्रभावित करते हैं। इनके द्वारा दैनिक तापक्रम अधिक प्रभावित होता है। 3. सागर की स्थिति तथा आकार का सागरीय तापक्रम के वितरण में अधिक महत्व होता है। निम्न अक्षांशों में स्थित सागरों का तापक्रम उच्च अक्षांशों में स्थित सागरों की अपेक्षा अधिक होता है। स्मरणीय है कि भूमध्यरेखीय भागों में अत्यधिक वर्षा के कारण सागरीय जल का तापक्रम उच्चतम नहीं होता है। उच्चतम तापक्रम अयन रेखाओं के समीपी भागों में अंकित किया जाता है, क्योंकि आकाश खुला रहता है तथा वर्षा नगण्य होती है। अक्षांशीय दृष्टि से विस्तृत सागरों का तापक्रम देशान्तरीय दृष्टि से विस्तृत सागरों के तापक्रम से कम होता है। रूम सागर का तापक्रम, कैलिफोर्निया की खाड़ी के तापक्रम से अधिक होता है। निचले अक्षांशों में स्थल से घिरे सागरों का तापक्रम खुले सागरों की अपेक्षा अधिक होता है (लाल सागर 32^0 C, फारस की खाड़ी 34^0 C)। उच्च अक्षांशों में इसके विपरीत स्थिति होती है। खुले

सागरों का तापक्रम बन्द सागरों की अपेक्षा अधिक होता है। (बाल्टिक सागर, 32° फा० (0°C), खुले सागर, 40° फा० (4.4° C)।

25.5 महासागरीय तापमान का क्षैतिज वितरण

सामान्य रूप से भूमध्यरेखा पर महासागरों की ऊपरी सतह का तापक्रम 26.7° C अंकित किया जाता है। इसके बाद उत्तर

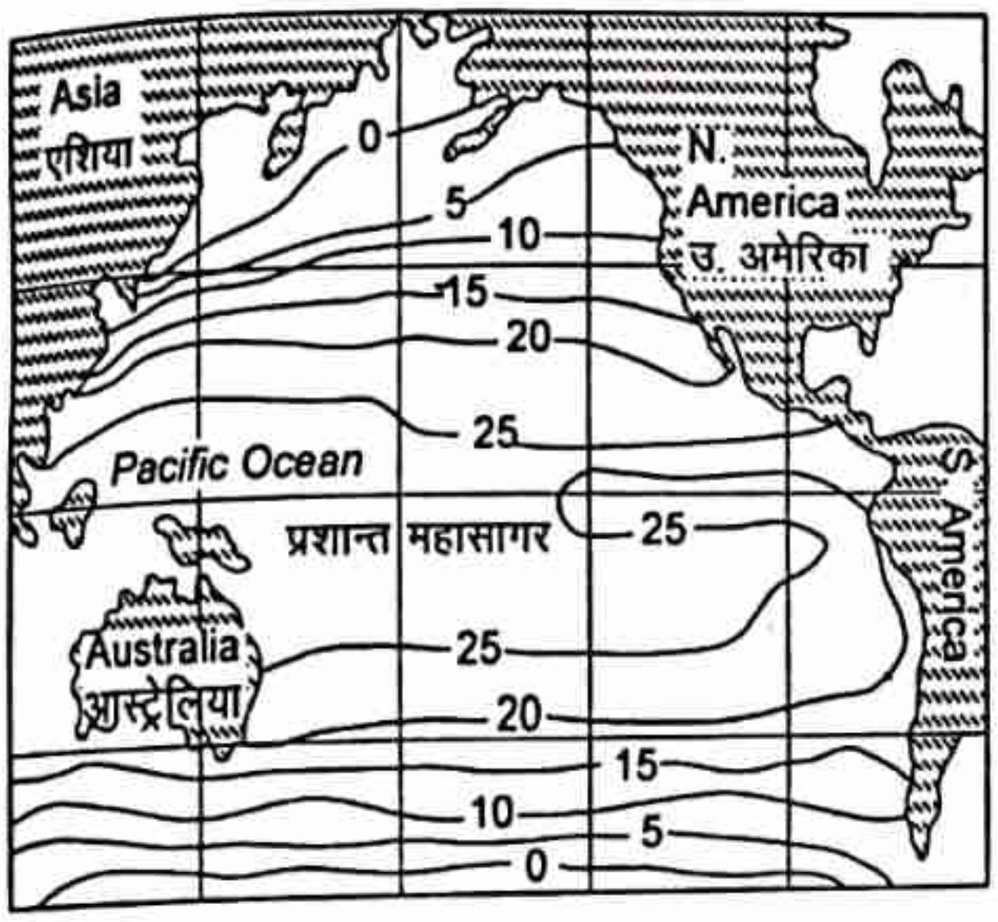

चित्र 25.1 : प्रशान्त महासागर में तापक्रम (° सें०) का क्षैतिज वितरण (फरवरी में)।

तथा दक्षिण (ध्रुवों की ओर) जाने पर तापक्रम में गिरावट होती जाती है। तापक्रम में यह गिरावट साधारणतया प्रत्येक अक्षांश आगे बढ़ने पर 0.5° फा० की दर से होती है। 20° अक्षांश के पास 73° फा० (22° C), 40° अक्षांश के पास 57° फा० (14° C) तथा 60° अक्षांश के पास 34° फा० (1°C) एवं ध्रुवों के पास 32° फा० (0° C) तापक्रम अंकित किया जाता है। कभी-कभी यह तापक्रम 28° फा० तक भी अंकित किया जाता है। दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा उत्तरी गोलार्द्ध में अधिक तापक्रम पाया जाता है। उच्चतम तापक्रम भी भूमध्य रेखा पर न होकर उससे थोड़ा उत्तर पाया जाता है। सभी महासागरों का औसत वार्षिक तापक्रम 63° फा० (17.2° C) निश्चित किया गया है। उत्तरी गोलार्द्ध का औसत वार्षिक तापक्रम 67° फा० (19.4° C) तथा दक्षिणी गोलार्द्ध का 61° फा० (16.1° C) होता है। इस असमानता का प्रमुख कारण दक्षिणी गोलार्द्ध में अत्यधिक जल के स्वतंत्र संचार होने से ऊष्मा में स्थानान्तरण को बताया जा सकता है।

उत्तरी अटलांटिक महासागर में गर्म जलधाराओं के कारण भूमध्यरेखा से उत्तर जाने पर तापक्रम में गिरावट न्यून होती है। 50° -70° उ० अक्षांशों के मध्य भी 41° फा० (5° सें०) तापक्रम अंकित किया जाता है। परन्तु द० अटलांटिक में

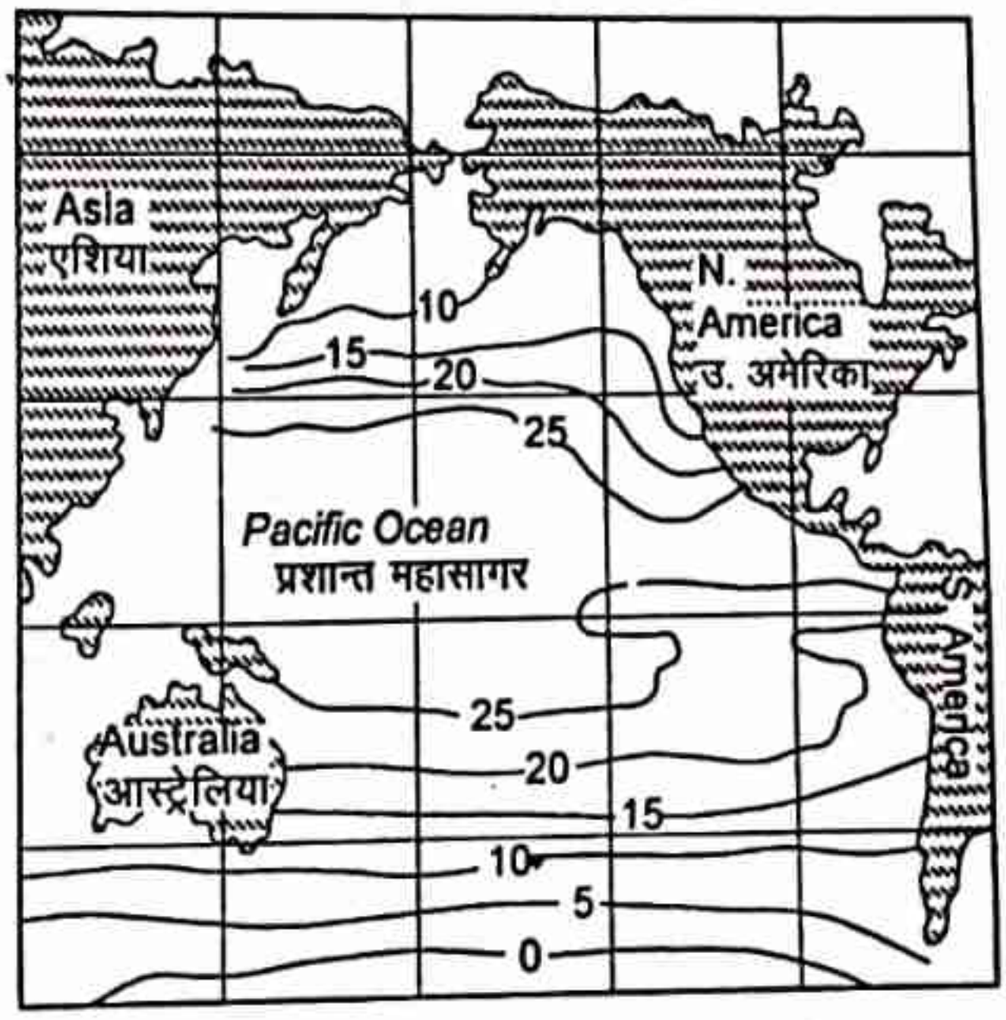

चित्र 25.2 : प्रशान्त महासागर में तापक्रम (° सें०) का क्षैतिज वितरण (अगस्त में)।

तापक्रम में ध्रुव की ओर विधिवत गिरावट होती है। क्रुमेल के अनुसार महासागरों की सतह का अधिकतम तापक्रम 5° उ० अक्षांश के पास तथा न्यूनतम तापक्रम 80° उ० अक्षांश तथा उ० ध्रुव के बीच एवं 75° द० से 80° द० अक्षांश के मध्य पाया जाता है। प्रशान्त महासागर की सतह का तापक्रम अन्य सभी

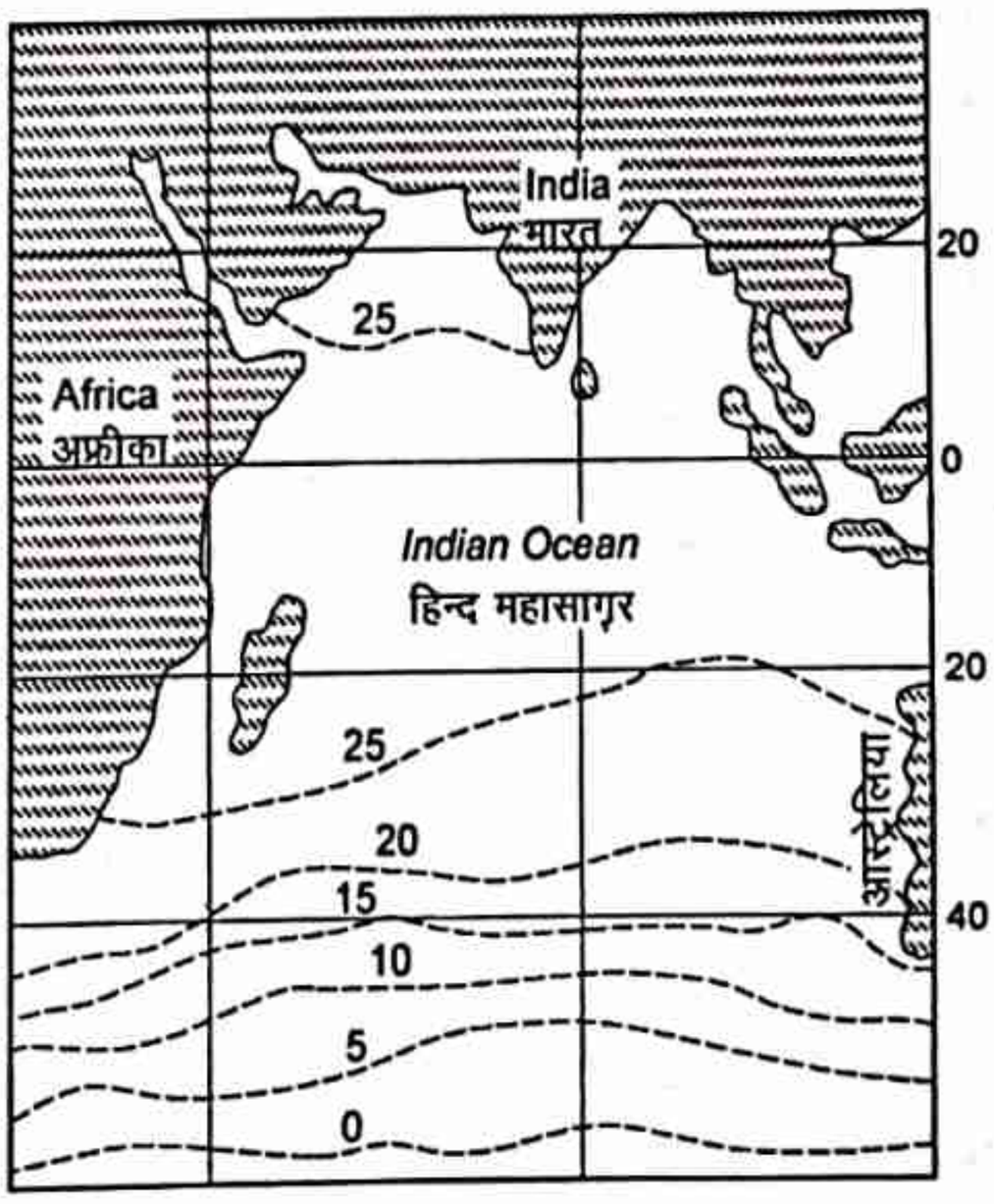

चित्र 25.3 : हिन्द महासागर में तापक्रम (° सें०) का क्षैतिज वितरण (फरवरी में)।

महासागरों से अधिक होता है (66.4° फा० या 19.1° सें०)। हिन्द महासागर का तापक्रम 60.6° फा० (17.03° सें०) तथा अटलाण्टिक महासागर का तापक्रम 60.4° फा० (16.91° सें०) रहता है। न्यू स्काटलैण्ड के पास न्यूनतम तापक्रम 35.94° फा० (3.3° सें०) तथा प० प्रशान्त महासागर में उच्चतम तापक्रम 89.96° फा० (32.2° सें०) अंकित किया गया है। हिन्द महासागर की सतह का अधिकतम तापक्रम अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी में 82.4° फा० (25° सें०) अंकित किया जाता है। परन्तु हिन्द महासागर के सीमांत एवं बन्द सागर इससे भी अधिक तापक्रम अंकित करते हैं (लाल सागर 90° फा० तथा फारस की खाड़ी 94° फा०)। महासागरों की सतह के तापक्रम के वितरण को मानचित्र पर समताप रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

इस तरह का मानचित्र सर्वप्रथम मरे महोदय ने 1852 में प्रस्तुत किया था।

तालिका 25.1 : स्वेड्रुप के अनुसार महासागरीय सतह का तापक्रम (0° सेंटीग्रेड)

अक्षांश	उ० गोलार्द्ध	उ० गोलार्द्ध	उ० गोलार्द्ध
60–70	....	5.60	....
50–60	5.74	8.66	....
40–50	9.99	13.16	....
30–40	18.62	20.40	....
20–30	23.38	24.16	26.14
10–20	26.42	25.81	27.23
0–10	27.20	26.66	27.88
अक्षांश	**प्रशान्त महासागर**	**अटलांटिक महासागर**	**हिन्द महासागर**
0–10	26.01	25.18	27.14
10–20	25.11	23.16	25.85
20–30	21.53	21.20	22.53
30–40	16.98	16.90	17.00
40–50	11.16	8.68	8.67
50–60	5.00	1.76	1.63
60–70	−1.30	−.30	−1.50
	द० गोलार्द्ध	द० गोलार्द्ध	द० गोलार्द्ध

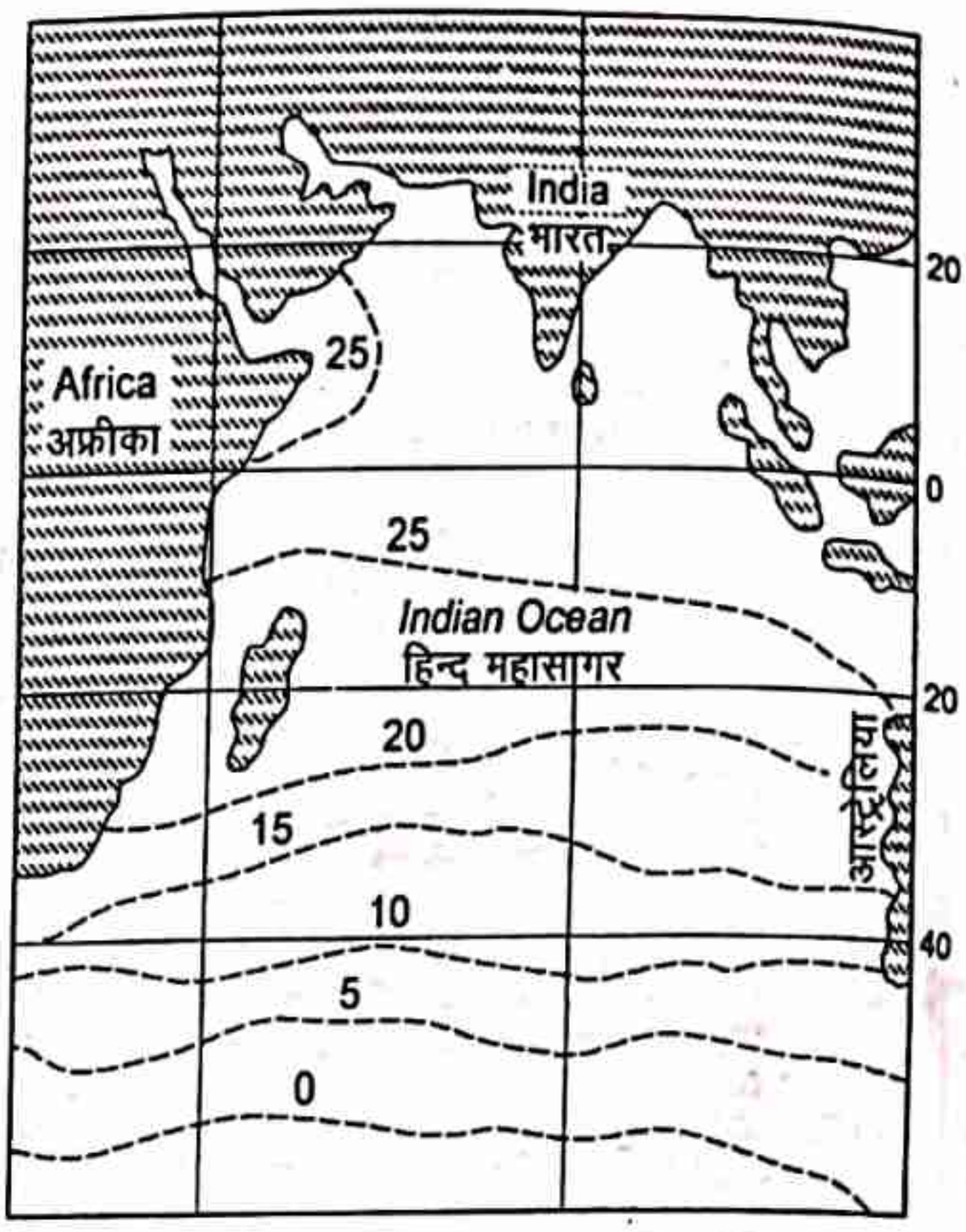

चित्र 25.4 : हिन्द महासागर में तापक्रम (° सें०) का क्षैतिज वितरण (अगस्त में)।

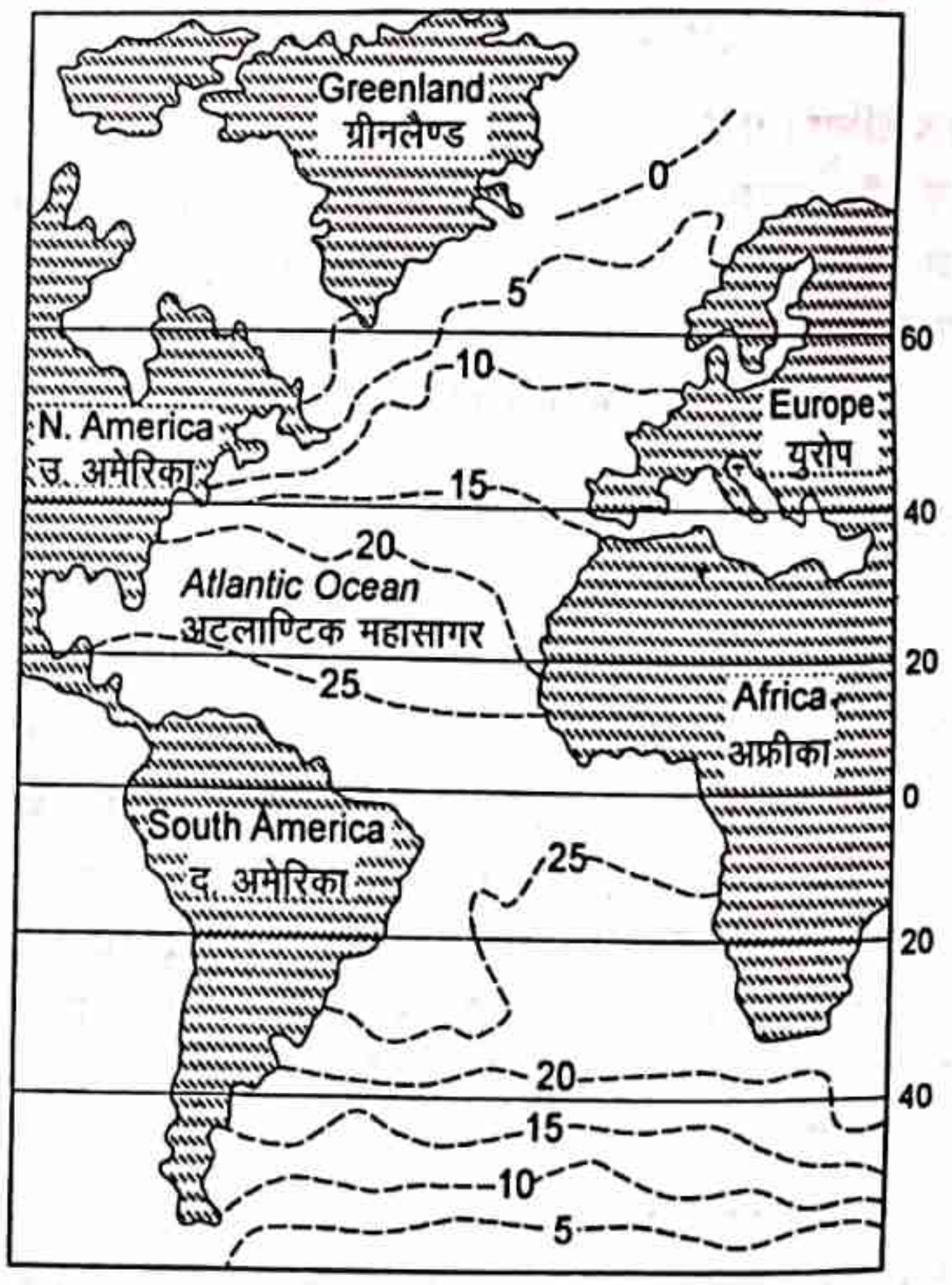

चित्र 25.5 : आन्ध्र महासागर में तापक्रम (° सें०) का क्षैतिज वितरण (फरवरी में)।

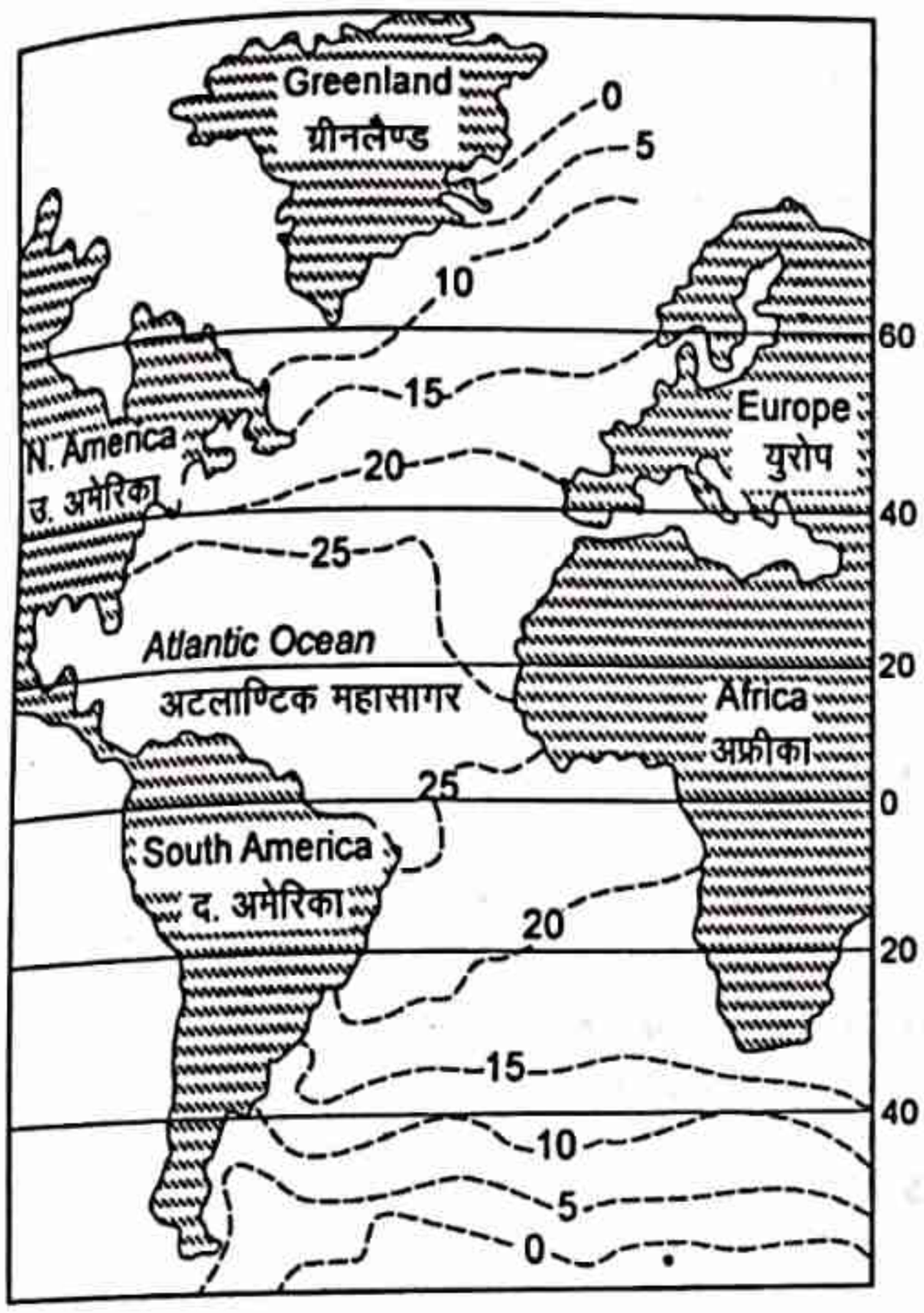

चित्र 25.6 : आन्ध्र महासागर में तापक्रम (° सें०) का क्षैतिज वितरण (अगस्त में)।

25.6 महासागरीय तापमान का लम्बवत् वितरण

महासागरों का सर्वाधिक तापक्रम संतह पर ही पाया जाता है। सूर्य की किरणें सागर के अन्दर 200 मीटर की गहराई तक प्रवेश कर सकती हैं। इससे अधिक गहरे भाग में सूर्य की किरणें प्रविष्ट नहीं हो पाती हैं। वास्तव में सूर्य की किरणें 20 मीटर की गहराई तक सागरीय जल को गर्म करने में अधिक प्रभावपूर्ण होती हैं तथा 200 मीटर के नीचे शायद ही जा पाती हैं। सतह से नीचे गहराई की ओर जाने पर तापक्रम घटता जाता है। परन्तु प्रत्येक स्थान पर तापक्रम में गहराई के साथ गिरावट समान नहीं होती है। 2000 मीटर की गहराई तक तापक्रम में गिरावट तीव्र गति से होती है। लम्बवत् वितरण की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है :

➢ ऊपरी सतह से नीचे जाने पर बढ़ती गहराई के साथ तापक्रम घटता तो है, परन्तु घटने की दर समान नहीं होती है। 2000 मीटर के नीचे तापक्रम में परिवर्तन प्राय: नहीं के बराबर होता है। मरे के चैलेन्जर अन्वेषण के आधार पर सभी महासागरों के लिए विभिन्न गहराइयों पर निम्नलिखित (तालिका 25.2) औसत तापक्रम बताया गया है।

तालिका 25.2 : तापमान का लम्बवत् वितरण

गहराई (फैदम)	तापमान (सेलसियस)	तापमान (फा०)
100	16.0	60.7
200	10.0	50.1
500	7.2	45.1
1000	2.5	36.5
1500	2.0	35.5
2200	1.8	35.2

(1 फैदम = 6 फीट)

➢ 5 फैदम की गहराई (30 फीट) पर दैनिक तापान्तर तथा 100 फैदम (600 फीट) पर वार्षिक तापान्तर नहीं पाये जाते हैं।

➢ भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर गहराई के साथ तापक्रम में गिरावट असमान दर से होती है। यद्यपि महासागरीय सतह का तापक्रम भूमध्य रेखा से ध्रुवों तक कम होता है, परन्तु सागर नितल का तापक्रम भूमध्य रेखा से ध्रुवों तक समान रहता है। परिणामस्वरूप भूमध्य रेखा पर गहराई के साथ तापक्रम में गिरावट तीव्र गति से होती है, जबकि ध्रुवों की ओर घटने की दर कम होती है। 1911 में 'जर्मन अन्वेषण' के आधार पर यह

तालिका 25.3 : सागरीय तापमान का लम्बवत् वितरण

अक्षांश	0–10	10–20	20–30	30–40	40–50	50–60	60–70
सतह का तापक्रम °C में	26.88	25.60	23.90	20.30	12.94	8.94	4.26
7.5° उ० अक्षांश पर गहराई (मीटर)	0	100	200	400	800	1000	
तापक्रम °C में	26.86	18.57	10.71	7.70	5.13	4.81	

ज्ञात हुआ कि 7.5^0 उ० अक्षांश पर 100 मीटर की गहराई पर जितना तापक्रम था, उतना ही तापक्रम 40^0 उ० अक्षांश पर महासागरीय सतह का था। इसी तरह 7.5^0 उ० अक्षांश पर 200 मीटर की गहराई का तापक्रम 50^0 उ० अक्षांश की सतह के तापक्रम तथा 700-800 मीटर की गहराई का तापक्रम 60^0 उ० अक्षांश की सतह के तापक्रम के बराबर था। इसे तालिका 20.3 से स्पष्ट किया जा सकता है।

➢ जिन क्षेत्रों से सतह का जल बहा लिया जाता है, और नीचे से जल ऊपर आता है, वहाँ पर सतह का तापक्रम कम हो जाता है, परिणामस्वरूप गहराई के साथ ताप का पतन मन्द होता है। इसके विपरीत जहाँ पर सतह पर गर्म जल का संग्रह होता है, वहाँ पर तापक्रम ऊँचा हो जाने से गहराई के साथ ताप का पतन तीव्र गति से सम्पादित होता है।

➢ भूमध्यरेखीय भाग पर वर्षा के जल के कारण लवणता (salinity) कम हो जाती है, परिणामस्वरूप सतह के नीचे उच्च तापक्रम तथा उच्च लवणता पायी जाती है, परन्तु उसके बाद पुन: तापक्रम का पतन प्रारम्भ हो जाता है।

➢ कहीं-कहीं पर सागरीय तापक्रम के वितरण में अधिक गहराई तक भी उच्च तापक्रम पाया जाता है। उदाहरण के लिए, सारगैसो सागर, लाल सागर, सुलू सागर तथा रूम सागर को प्रस्तुत किया जा सकता है। लाल सागर में 1000 फैदम (6000 फीट) की गहराई पर 76^0 फा० (24.4^0 C) तापक्रम पाया जाता है जबकि हिन्द महासागर में उसी गहराई पर 38^0 फा० (3.3^0 C) तापक्रम पाया जाता है। इस तरह की स्थिति निम्न अक्षांशों के बन्द तथा सीमान्त सागरों में पायी जाती है। परन्तु उच्च अक्षांशों के बन्द सागरों में **तापीय प्रतिलोमन** (inversion of temperature) की अवस्थायें पायी जाती हैं। अर्थात् सतह का तापक्रम गहराई में तापक्रम की अपेक्षा कम होता है।

➢ कुछ सागरीय क्षेत्रों में अधिक गहराई पर भी तापमान अधिक होता है। जैसे सारगैसो सागर, लाल सागर, भूमध्य सागर आदि।ऐसे सागरीय क्षेत्रों में गहराई पर भी अधिक तापमान का मुख्य कारण उनके जल का बाहरी सागरीय जल के साथ मिश्रण न हो पाना है।

तापमान के लम्बवत् वितरण में **स्तरीकृत तापीय संरचना** (layered thermal structure) होती है। लम्बवत् रूप में तापमान की दृष्टि से महासागरीय जल की 3 परतों का निर्धारण किया गया है:

➢ ऊपरी परत (सागरीय तल से 500 मीटर की गहराई तक

➢ थर्मोक्लाइन परत

➢ निचली परत

(1) ऊपरी परत

ऊपरी परत महासागरीय जल की सबसे ऊपरी परत होती है जिसकी सागरीय जल की सतह से गहराई 500 मीटर तक होती है। इस परत का औसत तापमान 20^0C से 25^0C तक होता है। घनत्व की दृष्टि से यह हल्की परत निचली भारी परत के ऊपर तैरती रहती है। यह परत उष्ण कटिबन्धीय महासागरों में वर्ष पर्यन्त रहती है परन्तु मध्य अक्षांशों में यह परत केवल ग्रीष्मकाल में ही विकसित हो पाती है।

(2) निचली परत

निचली परत का विस्तार 1000 मीटर से महासागरीय तली तक होता है। यह परत सर्वाधिक ठंडी तथा भारी (घनत्व की दृष्टि से) होती है।

(3) थर्मोक्लाइन परत

महासागरीय जल की ऊपरी एवं निचली परतों का अलगाव एक ऐसी संक्रमण परत (transitional layer) से होता है जिसमें गहराई के साथ तापमान में तेजी से परिवर्तन होता है। इस परत को थर्मोक्लाइन परत कहते हैं जिसका विस्तार 300 से 1000 मीटर की गहराई तक होता है।

25.7 महासागरीय जल का घनत्व

महासागरीय घनत्व : अभिप्राय एवं महत्व

घनत्व का सामान्य अर्थ होता है किसी भी तत्व के प्रति इकाई आयतन के द्रव्यमान (mass) की मात्रा। घनत्व का मापन प्राय: प्रति घन सेण्टीमीटर आयतन में ग्राम (द्रव्यमान की मात्रा) (g/cm^3) में किया जाता है। शुद्ध जल का घनत्व $1.00 g/cm^3$ होता है (4^0 सेण्टीग्रेड तापमान पर)। अन्य तत्वों के घनत्व के मापन के लिए शुद्ध जल के घनत्व को मानक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। चूंकि सागरीय जल में कई तत्व घुले रहते हैं (जैसे कि नमक), अत: इसका घनत्व शुद्ध जल के घनत्व से अधिक होता है। वास्तव में महासागरीय जल का औसत घनत्व $1.0278 g/cm^3$ ($1.02677 g/cm^3$) होता है जो कि शुद्ध जल के घनत्व से 2 से 3 प्रतिशत अधिक है (4^0C तापमान पर)। सागरीय जल के घनत्व में सामान्यत: सागरीय जल के तापमान में कमी होने पर वृद्धि होती है। -1.3^0 सेण्टीग्रेड तापमान पर सर्वाधिक घनत्व होता है।

घनत्व सागरीय जल का अति महत्वपूर्ण भौतिक गुण (property) है क्योंकि यह महासागरीय गतियों को निर्धारित एवं नियंत्रित करता है। सागरीय जल का अधोगमन (sinking and subsidence) (लम्बवत गति) तथा उसका तैरना (क्षैतिज गति) सागरीय जल के घनत्व पर ही निर्भर करता है। सामान्य नियमानुसार अपेक्षाकृत कम घनत्व वाला हल्का सागरीय जल तैरता है तथा उसमें क्षैतिज गति होती है, जबकि अधिक घनत्व वाला भारी सागरीय जल नीचे की ओर जाता है

(downwelling या सिंकिंग) तथा उसमें लम्बवत गति होती है।

सागरीय जल के घनत्व के नियंत्रक कारक

महासगरीय जल का घनत्व किसी न किसी रूप में निम्न 3 कारकों से सम्बन्धित है :

- तापमान → तापीय प्रसार (thermal expansion)
- दबाव → सम्पीडनात्मक (compressive) प्रभाव
- लवणता → घुले तत्वों का योग (addition)

(1) तापमान

तापमान सागरीय जल के घनत्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नियंत्रक (controlling) कारक है। तापमान तथा घनत्व में सामान्यतया विलोम सम्बन्ध होता है, अर्थात् अधिक तापमान होने पर कम घनत्व तथा कम.तापमान होने पर अधिक घनत्व होता है। जब सागरीय जल की सतह को अधिक सूर्यातप मिलता है तो सागरीय जल गरम होता है, अत: सागरीय जल फैलता है। इसे सागरीय जल का **तापीय प्रसार** (thermal expansion) कहते हैं। इस प्रक्रिया के कारण सागरीय जल के घनत्व में कमी होती है। इसके विपरीत कम सूर्यातप मिलने पर सागरीय जल ठंडा होकर सिकुड़ता है। इस प्रक्रिया को **तापीय संकुचन** (thermal contraction) कहते हैं। इस प्रक्रिया के कारण सागरीय जल का घनत्व बढ़ता है। इस प्रकार गर्म जल का आयतन अधिक होता है परन्तु कम घनत्व के कारण वह ठंडे परन्तु भारी जल के ऊपर आसानी से तैरता है।

उल्लेखनीय है कि सागरीय जल के घनत्व पर तापमान का प्रभाव मध्य एवं उच्च अक्षांशों की तुलना में निम्न अक्षांशों (उष्ण कटिबन्ध) में अधिक होता है। इस तरह सागरीय जल के घनत्व पर तापमान का प्रभाव ध्रुवों की ओर कम होता जाता है।

ज्ञातव्य है कि हिमांक के नीचे सागरीय जल का तापमान उसके घनत्व को और अधिक नहीं बढ़ा पाता है क्योंकि 0^0C तापमान पर सागरीय जल जमने लगता है जिस कारण हिम कण बनने लगते हैं जो जल के कणों को विलग करके दूर कर देते हैं। इस कारण सागरीय जल के प्रति इकाई आयतन में जल के बहुत कम अणु (molecules) रहते हैं। परिणामस्वरूप सागरीय जल का घनत्व कम हो जाता है। यही कारण है कि हिम सागरीय जल में तैरता है। वास्तव में सागरीय जल के शीतलन का सागरीय घनत्व पर प्रभाव 4^0C तापमान तक ही रहता है।

(2) लवणता

सागरीय जल की लवणता (salinity) एवं घनत्व में सीधा सम्बन्ध होता है। सामान्यतया अधिक लवणता होने पर सागरीय जल का घनत्व बढ़ता है, तथा कम होने पर घटता है। इसका प्रमुख कारण है कि जल में घुला नमक शुद्ध जल की अपेक्षा भारी होता है। कभी-कभी तापमान कारक के सामने लवणता कारक नगण्य हो जाता है। इसी तरह कभी-कभी लवणता कारक तापीय कारक पर भारी पड़ जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अधिक लवणता वाला जल कम लवणता वाले जल की परत के ऊपर होता है। यह तभी सम्भव होता है जबकि ऊपरी अधिक खारे जल की परत का तापमान नीचे स्थित कम खारे ठंडे जल की परत के तापमान से अधिक होता है। यह स्थिति उष्ण कटिबन्धीय सागरों में होती है जहां अत्यधिक वाष्पीकरण के कारण ऊपरी जल की लवणता बढ़ जाती है।

तालिका 25.4 : तापमान एवं सागरीय जल के घनत्व में सम्बन्ध।

तापमान (सेण्टीग्रेड)	घनत्व (ग्राम/घन सेण्टीमीटर)
0	1.0281
10	1.0270
20	1.0248
25	1.0234
30	1.0217

(3) दबाव

दबाव तथा सागरीय जल के घनत्व में सीधा धनात्मक सम्बन्ध होता है। सामान्यतया बढ़ते दबाव के साथ घनत्व में वृद्धि होती जाती है तथा दबाव के घटने पर जल का घनत्व भी कम होता जाता है। ज्ञातव्य है कि हवा की तरह जल सम्पीडन योग्य (compressible) नहीं होता है, बल्कि इसका कम्प्रेसन होता ही नहीं है। अत: दबाव का सागरीय जल के घनत्व पर प्रभाव नगण्य होता है। मोटी जलराशि के दबाव का घनत्व पर प्रभाव केवल गहरे सागरों में ही दिखाई पड़ता है। उल्लेखनीय है कि सागरीय खड्डों की तली में सागरीय जल का घनत्व सागरीय ऊपरी सतह के घनत्व से मात्र 5 प्रतिशत ही अधिक होता है।

घनत्व, तापमान एवं लवणता में अन्तर्सम्बन्ध

जैसा कि पहले व्यक्त किया गया है, सागरीय जल के घनत्व एवं तापमान में विपरीत सम्बन्ध होता है। अर्थात् यदि सागरीय जल के तापमान में वृद्धि होती है तो जल के घनत्व में कमी होती है तथा तापमान में कमी होने पर घनत्व बढ़ता है। चित्र 20.7 से स्पष्ट है कि सागरीय जल के तापमान में 300 मीटर से 1000 मीटर की गहराई तक उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धीय सागरों में तेजी से कमी होती है परन्तु 1000 मीटर से आगे तापमान जल की गहराई में वृद्धि के साथ तापमान में परिवर्तन नहीं होता है। दूसरी तरफ उच्च अक्षांशों में महासागरीय जल के तापमान में गहराई के साथ कोई परिवर्तन नहीं होता है। 200

मीटर से 1000 मीटर की गहराई वाले सागरीय मण्डल, जिसमें तापमान में तेजी से परिवर्तन होता है, को **थर्मोक्लाइन** कहते हैं।

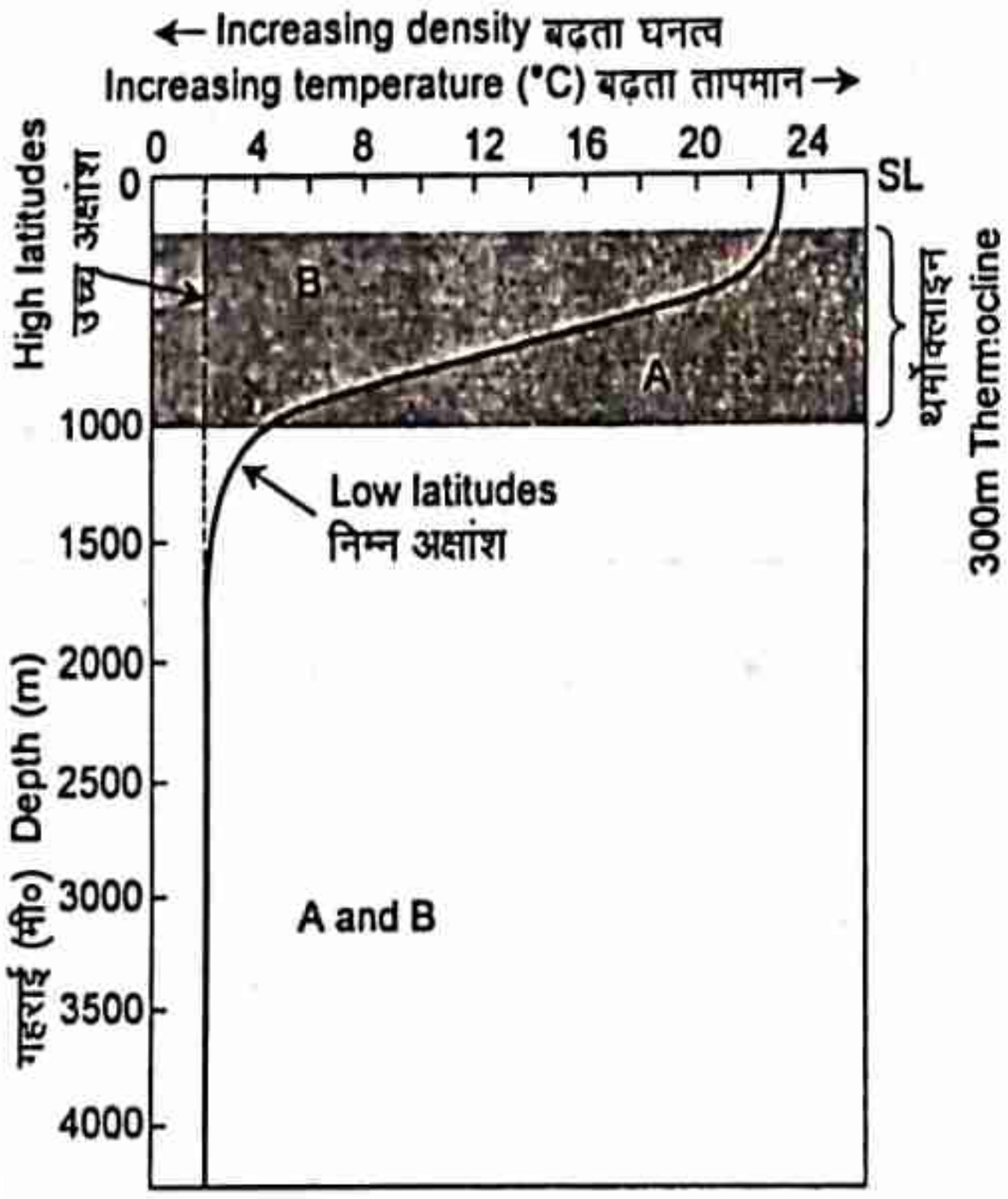

चित्र 25.7 : उच्च एवं निम्न अक्षांशों में महासागरीय जल के तापमान में बढ़ती गहराई के साथ परिवर्तन। स्रोत : थर्मन एवं ट्रिजिलो, 1999.

सागरीय जल के तापमान के विपरीत निम्न अक्षांशों (उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्ध) में महासागरीय जल के घनत्व में 300 से 1000 मीटर की गहराई वाले मण्डल में तीव्र वृद्धि होती है (चित्र 20.8) परन्तु उच्च अक्षांशों में घनत्व में कोई परिवर्तन नहीं होता है। 300 से 1000 मीटर गहराई वाले भाग, जिसमें सागरीय जल के घनत्व में तीव्र परिवर्तन होता है, को **पाइक्नोक्लाइन** कहते हैं। चित्र 20.7 व 20.8 से स्पष्ट हो जाता है कि उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धीय महासागरीय जल के तापमान एवं घनत्व में विपरीत सम्बन्ध होता है। इस तरह स्पष्ट है कि थर्मोक्लाइन तथा पाइक्नोक्लाइन मण्डलों का विकास उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धीय महासागरों में 300 से 1000 मीटर की गहराई में हुआ है।

उल्लेखनीय है कि **थर्मोक्लाइन** तथा **पाइक्नोक्लाइन** संयोग- वश एक ही गहराई मण्डल (300 मी०-1000 मी०) में पाये जाते हैं। इससे सागरीय जल के तापमान एवं घनत्व में गहरे सम्बन्ध का बोध होता है, जो चित्र 20.9 से साफ स्पष्ट होता है, जिसमें A वक्र सागरीय जल के गहराई के साथ तापमान में ह्रास परन्तु घनत्व में वृद्धि को दर्शाता है।

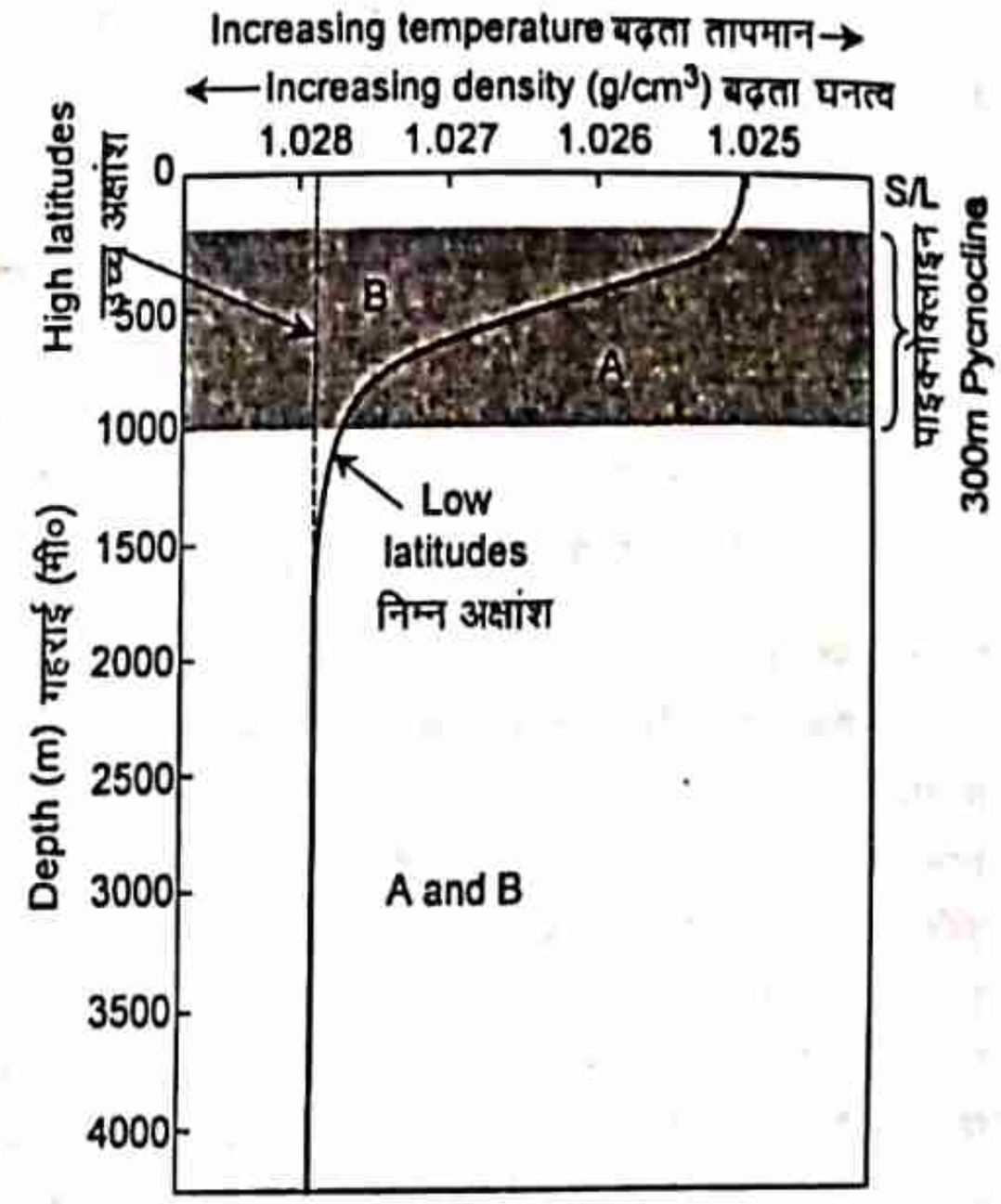

चित्र 25.8 : उच्च एवं निम्न अक्षांशों में महासागरीय जल के घनत्व में बढ़ती गहराई के साथ परिवर्तन। स्रोत: थर्मन एवं ट्रिजिलो, 1999.

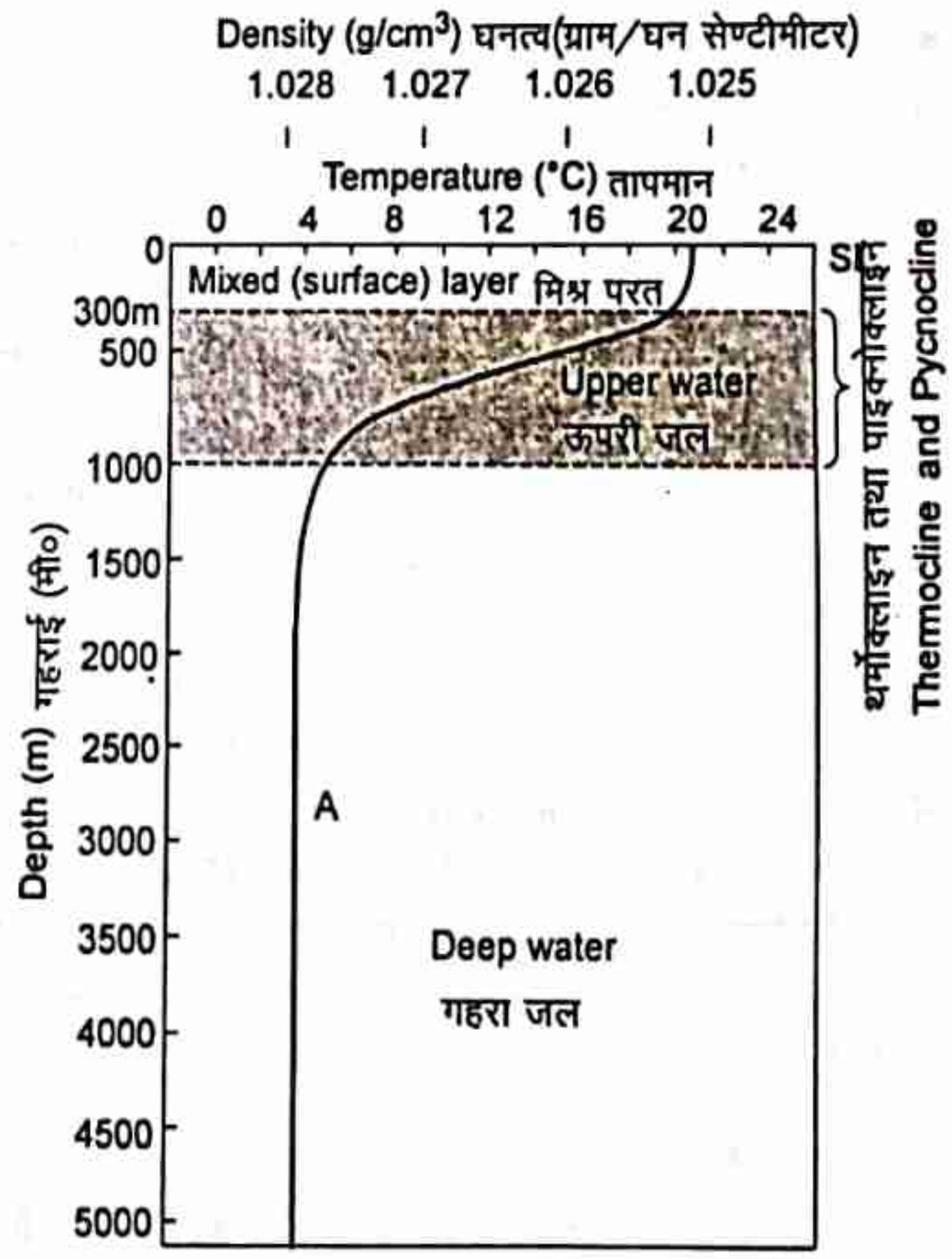

चित्र 25.9 : सागरीय जल के तापमान एवं घनत्व में गहरे सम्बन्ध का प्रदर्शन। स्रोत: थर्मन एवं ट्रिजिलो, 1999.

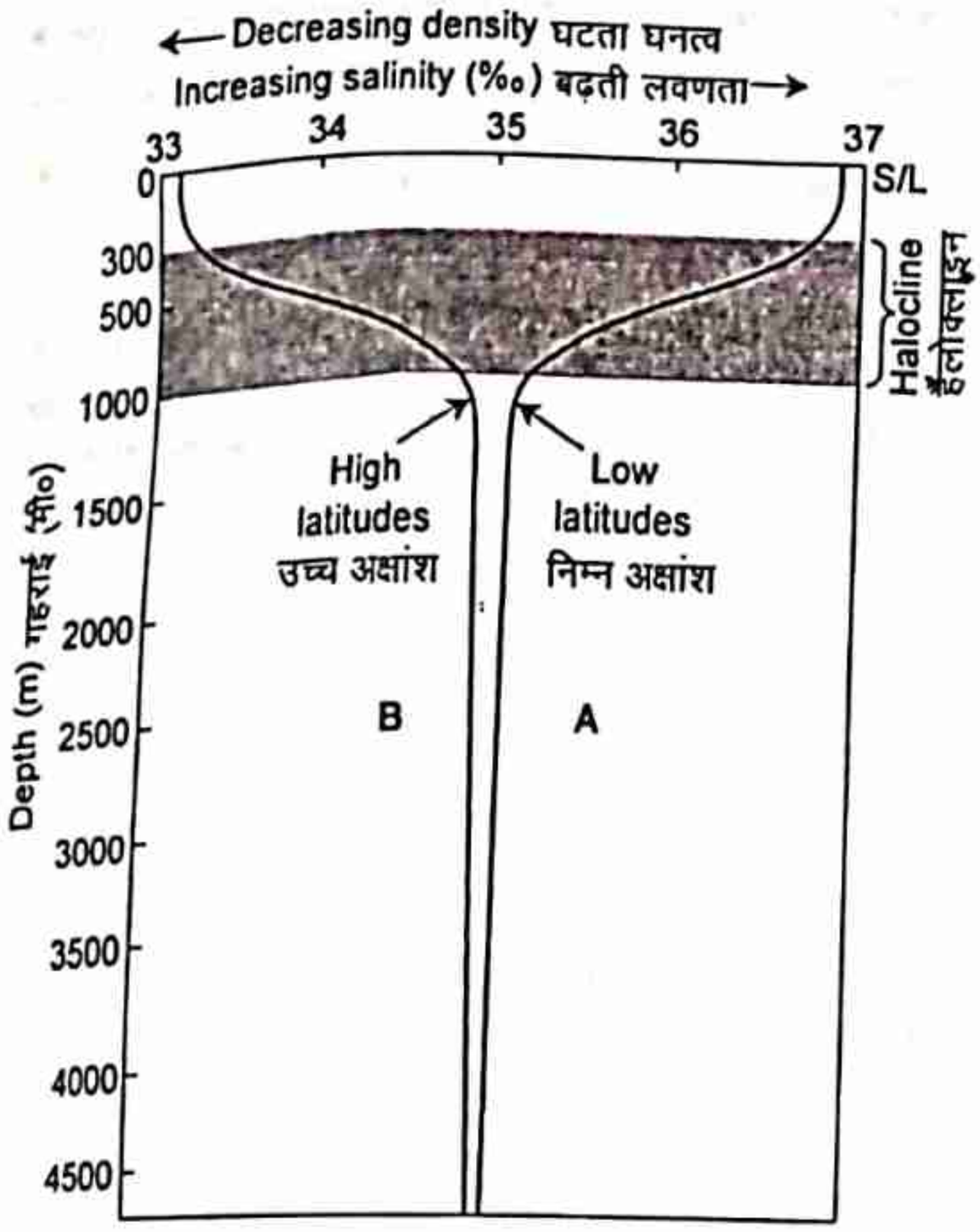

चित्र 25.10 : सागरीय जल के घनत्व एवं सागरीय जल की लवणता का गहराई के साथ सम्बन्ध। स्रोत : थर्मन एवं ट्रिजिलो, 1999.

निम्न अक्षांशों में सागरीय जल की लवणता में 300 मीटर–1000 मीटर की गहराई वाले मण्डल में बढ़ती गहराई के साथ ह्रास होता है जबकि उच्च अक्षांशों में वृद्धि होती है। उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धीय महासागरों के 300 मी०–1000 मी० की गहराई वाले भाग, जिसमें सागरीय जल की लवणता में तेजी से परिवर्तन (ह्रास) होता है, को **हैलोक्लाइन** कहते हैं। यदि हम चित्र 20.7, 20.8, 20.9 तथा 20.10 की तुलना करें तो यह स्पष्ट होता है कि कम से कम उष्ण एवं उपोष्ण महासागरों में सागरीय जल के घनत्व पर लवणता का प्रभाव अधिक नहीं होता है। इस तरह सागरीय जल का तापमान सागरीय जल के घनत्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नियंत्रक कारक प्रमाणित होता है।

25.8 महासागरीय जल के घनत्व का स्तरीकरण

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो गया है कि महासागरीय जल में घनत्व की दृष्टि से ऊपरी सतह से तली तक जल की 3 परतें या स्तर (strata) होते हैं :

- न्यूनतम घनत्व की ऊपरी परत,
- तीव्र घनत्व परिवर्तन या तीव्र घनत्व प्रवणता (gradient) की मध्यवर्ती **पाइक्नोक्लाइन** परत, तथा
- अधिकतम किन्तु समान घनत्व वाली निचली परत।

(1) ऊपरी परत (surface layer) : ऊपरी परत महासागरीय जल की सतह से 100 से 200 मीटर गहराई वाले भाग को प्रदर्शित करती है। इस परत को **प्रकाशित मण्डल** (photic zone) भी कहते हैं जिसके अन्तर्गत सूर्य की प्रकाश तरंगें सीधे प्रविष्ट हो जाती हैं। इस परत में समस्त महासागरीय जल के कुल आयतन का मात्र 2 प्रतिशत भाग ही आता है। उष्ण कटिबन्धीय महासागरीय भागों में अधिक सूर्यातप के कारण जल की ऊपरी सतह गर्म होकर फैलती है जिस कारण सागरीय जल का घनत्व न्यूनतम हो जाता है, परन्तु उपोष्ण कटिबन्धीय महासागरीय भागों में अधिक वाष्पीकरण के फलस्वरूप सागरीय जल का घनत्व कुछ अधिक हो जाता है। इस परत में घनत्व में मौसमी परिवर्तन होता रहता है।

यह ऊपरी परत सागरीय पौधों (फाइटोप्लैंकटन) के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है क्योंकि इसी प्रकाशित परत में फाइटोप्लैंकटन प्रकाशसंश्लेषण (photosynthesis) द्वारा अपना भोजन तैयार करते हैं। इन्हीं फाइटोप्लैंकटन पर जन्तु प्लैंकटन तथा उन पर सागरीय जीवों का जीवन निर्भर करता है।

ध्रुवीय क्षेत्रों में न्यूनतम सूर्यातप तथा न्यूनतम तापमान के कारण इस परत के जल का घनत्व अधिक हो जाता है। परिणामस्वरूप ध्रुवीय सागरीय भागों में अधिक घनत्व वाला भारी जल नीचे बैठता (sink) है। इसी कारण से ध्रुवीय भागों में 200 से 1000 मीटर की गहराई वाले भागों में सागरीय जल के घनत्व में तीव्र परिवर्तन नहीं होता है, अत: पाइक्नोक्लाइन परत अनुपस्थित रहती है।

(2) पाइक्नोक्लाइन परत : मध्यवर्ती परत (300 मीटर–1000 मीटर) या पाइक्नोक्लाइन परत महासागरीय जल के उस गहराई मण्डल को प्रदर्शित करती है जो कम घनत्व वाली ऊपरी परत तथा अधिक घनत्व वाली निचली परत के मध्य संक्रमण परत (transitional layer) होती है, जिसमें सागरीय जल के घनत्व में तीव्र परिवर्तन होता है। इस परत का विस्तार 300 से 1000 मीटर तक होता है। जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है, थर्मोक्लाइन, पाइक्नोक्लाइन तथा हैलोक्लाइन लगभग एक ही गहराई मण्डल (300–1000 मीटर) में अवस्थित होती हैं।

पाइक्नोलाइन परत में समस्त महासागरीय जल के कुल आयतन का 18 प्रतिशत भाग समाहित है। इस परत में उच्च गुरुत्वाकर्षण स्थित होता है, परिणामस्वरूप इस परत के ऊपर स्थित जलराशि एवं निचली परत की जलराशि में लम्बवत मिश्रण नहीं हो पाता है। उल्लेखनीय है कि ध्रुवीय क्षेत्रों में महासागरीय जल में पाइक्नोक्लाइन तथा थर्मोक्लाइन परतें

अदृश्य रहती हैं, अर्थात् ये नहीं पायी जाती हैं क्योंकि न्यूनतम सूर्यातप के कारण सागरीय जल का ऊष्मन (heating) नहीं हो पाता है।

(3) **निचली गहरी परत :** में उच्च घनत्व वाला सागरीय जल होता है। इसका विस्तार 1000 मीटर से महासागरीय तली तक पाया जाता है। इस मण्डल में समस्त महासागरीय जल के कुल आयतन का 80 प्रतिशत भाग होता है। ध्रुवीय क्षेत्रों में अत्यधिक कम तापमान के कारण सागरीय जल में संकुचन होने से सागरीय जल के घनत्व में वृद्धि होती है। इस कारण ध्रुवीय सागरीय जल की अधिक घनत्व वाली जलराशि नीचे बैठती है (sinking or downwelling) तथा अधिक गहराई वाले जल के घनत्व में वृद्धि करती है। इस तरह उच्च अक्षांशों में अधिक घनत्व वाली जलराशि के नीचे बैठने पर उच्च घनत्व वाली जलराशि का निम्न अक्षांशों की ओर अन्त: सागरीय संचलन (undersea flow या movement) प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार उच्च अक्षांशों की अधिक घनत्व वाली जलराशि निम्न अक्षांशीय (उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धीय) सागरों में पहुंच जाती है।

प्रश्न :- महासागरीय लवणता का क्षैतिज और उच्चधिर वितरण ⇒

26 लवणता (Salinity)

26.1 लवणतः तात्पर्य तथा महत्व

सामान्य रूप में *''सागरीय जल के भार एवं उसमें घुले हुए पदार्थों के भार के अनुपात को सागरीय लवणता कहते हैं।''* ''एक किलोग्राम सागरीय जल में घुले हुए ठोस पदार्थों की कुल मात्रा को भी 'लवणता' कहते हैं।'' सामान्य रूप में सागरीय लवणता को प्रति हजार ग्राम जल में स्थित लवण की मात्रा ($^0/_{00}$) के रूप में दर्शाया जाता है, जैसे $30^0/_{00}$ या 30, अर्थात् 1000 ग्राम सागरीय जल में 30 ग्राम लवण की मात्रा है। इसे प्रतिशत नहीं समझना चाहिए, बल्कि यह मात्रा होती है। महासागरों में लवणता का प्रभाव न केवल उसमें रहने वाले जीवों और वनस्पतियों पर ही होता है वरन् महासागरों की भौतिक विशेषताएँ, तापक्रम, घनत्व, धारायें, दबाव आदि भी उससे प्रभावित होती हैं। सागर का हिमांक (freezing point) लवणता पर आधारित होता है। अर्थात् अधिक लवणयुक्त सागर देर में जमता है। इसी तरह सागर का क्वथनांक या उबाल बिन्दु (boiling point) सामान्य जल से ऊँचा रहता है। वाष्पीकरण की मात्रा सागरीय लवणता से नियंत्रित होती है। लवणता अधिक है तो वाष्पीकरण न्यून होता है। सागरीय लवणता के कारण जल का घनत्व भी बढ़ता जाता है। इसी तरह सागर में लहर एवं धारायें, मछली, सागरीय जीव, प्लैंकटन आदि लवणता से नियंत्रित होते हैं।

26.2 सागरीय जल का संघटन

सागरीय जल एक सक्रिय घोलक होता है, जिस कारण उसमें कई प्रकार के खनिज घुली अवस्था में मिले रहते हैं। चूँकि प्रतिवर्ष सागरों में लवण लाया जाता है, अतः उसकी कुल मात्रा में निरन्तर वृद्धि हो रही है। कई लोगों ने सागर स्थित कुल लवण की मात्रा ज्ञात करने का प्रयास किया है। जोली के अनुसार यह मात्रा 50 अरब टन, मरे के अनुसार 5 अरब टन तथा क्लार्क के अनुसार 2.7 अरब टन है। जोली के अनुसार यदि समस्त सागरीय लवण को निकाल कर ग्लोब पर फैला दिया जाय तो उसकी मोटाई 150 फीट (45.7 मी०) हो जायेगी, और यदि उसे केवल धरातल पर बिछाया जाय तो मोटाई 500 फीट (152.4 मीटर) हो जायेगी। यदि सागर से सभी लवण हटा लिया जाय तो सागर तल में 100 फीट (30.48 मीटर) की गिरावट आ जायेगी। 1884 में चैलेन्जर अन्वेषण के समय डिटमार ने सागरों में 27 प्रकार के लवणों का पता लगाया, जिनमें से 7 प्रकार के लवण सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। स्मरणीय है कि विभिन्न सागरों में लवण की कुल मात्रा में अन्तर हो सकता है, परन्तु उनकी संरचना के अनुपात में सर्वत्र समानता होती है। विभिन्न सागरों में लवण की मात्रा $33^0/_{00}$ से $37^0/_{00}$ के बीच रहती है।

लवण के प्रकार	कुल मात्रा $^0/_{00}$ (प्रति 1000 ग्राम में)	प्रतिशत
सोडियम क्लोराइड	27.213	77.8
मैग्नेशियम क्लोराइड	3.807	10.9
मैग्नेशियम सल्फेट	1.658	4.7
कैलशियम सल्फेट	1.260	3.6
पोटैशियम सल्फेट	0.863	2.5
कैलशियम कार्बोनेट	0.123	0.3
मैग्नेशियम ब्रोमाइड	0.076	0.2
योग	35.00	100

26.3 सागरीय लवण के स्रोत

सागरीय लवणता का मुख्य स्रोत पृथ्वी ही है। प्रारम्भ में जब पृथ्वी की उत्पत्ति हुई तथा प्रथम ठोस पपड़ी का निर्माण

हुआ उस समय पपड़ी (crust) में लवण की मात्रा अधिक थी। पपड़ी के विघटन तथा वियोजन के कारण अपरदन के कारकों द्वारा लवण सागर में पहुँचाये जाने लगे, जिस कारण सागर में लवण की मात्रा में वृद्धि होने लगी। नदियाँ सागर तक लवण पहुँचाने वाले कारकों में सर्वप्रमुख थीं। इसके अलावा पवन द्वारा भी नमक का स्थल से सागर में स्थानान्तरण होता रहा। वर्तमान समय में भी नदियाँ सागर में लवण का निक्षेप करती हैं। परन्तु यदि सागरीय लवण तथा नदियों के लवण के संगठन पर दृष्टिपात किया जाय तो दोनों में अत्यधिक विभिन्नता पायी जाती है। यदि नदियों द्वारा लाये गये लवण में कैलशियम की मात्रा 60 प्रतिशत होती है तो सागरीय जल में सोडियम क्लोराइड का प्रतिशत 77 होता है। नदियों के लवण में सोडियम क्लोराइड का प्रतिशत केवल 2 ही होता है। इसी आधार पर कहा जाता है कि नदियाँ सागरीय लवणता की प्रमुख स्रोत नहीं हैं। नदियों द्वारा लाये गये कैलशियम की अधिकांश मात्रा का सागरीय जीव तथा वनस्पतियाँ उपभोग कर लेती हैं। वास्तव में नदियों द्वारा लाया गया लवण सागर में मिलने पर कुछ परिवर्तित हो जाता है। इसके अलावा ज्वालामुखी से निस्सृत राखों से भी कुछ लवण प्राप्त होता है।

26.4 सागरीय लवणता के नियंत्रक कारक

एक महासागर से दूसरे महासागर में लवण की मात्रा में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इतना ही नहीं, एक ही महासागर के विभिन्न भागों में लवण की मात्रा में अन्तर पाया जाता है। महासागरों, सागरों तथा झीलों में लवण की मात्रा को प्रभावित करने वाले कारकों को 'नियंत्रक कारक' (controlling factors) कहते हैं। इन कारकों में वाष्पीकरण, वर्षा, नदी के जल का आगमन, पवन, सागरीय धारायें तथा लहरें आदि प्रमुख हैं।

(1) वाष्पीकरण—वाष्पीकरण तथा लवण की मात्रा में सीधा सम्बन्ध होता है, अर्थात् जितना ही वाष्पीकरण तीव्र तथा अधिक होता है, लवणता उतनी ही बढ़ती जाती है। वाष्पीकरण के साथ पवन में आर्द्रता की न्यूनता का होना अनिवार्य होता है। जहाँ पर तापक्रम ऊँचा रहता है, और वाष्पीकरण अधिक होता है, वहाँ पर लवणता अधिक होती है, जैसे कि कर्क तथा मकर रेखाओं के पास। भूमध्यरेखीय भागों में उच्च तापक्रम तथा अधिक वाष्पीकरण के होते हुए भी अत्यधिक आर्द्रता के कारण लवणता उतनी अधिक नहीं हो पाती है, जितनी कि अयनवर्ती भागों में क्योंकि प्रतिदिन अधिक जलवृष्टि के कारण सागरों में जल की वापसी होती रहती है।

ऊस्ट महोदय के अनुसार अटलाण्टिक महासागर में वार्षिक वाष्पीकरण की दर 40^0 उ० अक्षांश पर 94 सेण्टीमीटर, 20^0 उ० अक्षांश पर 149 सेमी० (लवणता, $37^0/_{00}$) तथा 5^0 उ० अक्षांश (तापीय भूमध्य रेखा) पर 105 सेंमी० (लवणता, $34.68^0/_{00}$) है।

(2) वर्षा द्वारा जल की आपूर्ति—स्वच्छ जल की अधिक मात्रा के कारण लवणता कम हो जाती है। जिन भागों में अत्यधिक जल वर्षा होती है, वहाँ पर लवणता कम हो जाती है। भूमध्यरेखीय प्रदेशों में उच्च तापक्रम के होते हुए भी घनघोर वृष्टि के कारण लवणता कम पायी जाती है, जबकि अयनवर्ती भागों में न्यून वर्षा के कारण अधिक लवणता पायी जाती है। ध्रुवीय तथा उपध्रुवीय भागों में अत्यधिक हिम वर्षा के कारण निर्मित हिमानी सागरों में हिम पहुँचाते रहते हैं, जो कि शीतोष्ण प्रदेशों में पहुँचने पर पिघलकर सागर की लवणता को कम कर देते हैं। परिणामस्वरूप ध्रुवों के चतुर्दिक कम लवणता की मेखला पायी जाती है।

(3) नदी के जल का आगमन—यद्यपि नदियाँ सागर में अपने साथ लवण लाती हैं, तथापि उनके साथ स्वच्छ जल की मात्रा इतनी अधिक होती है कि उनके मुहाने के पास लवणता में कमी आ जाती है। उदाहरण के लिए गंगा, कांगो, नाइजर, अमेजन, सेण्ट लारेन्स आदि नदियों के मुहानेवाले भागों में कम लवणता पायी जाती है। बन्द सागरों में यह प्रभाव अत्यधिक स्पष्टता के साथ परिलक्षित होता है। कृष्ण सागर में डैन्यूब, नीपर, नीस्टर आदि नदियों के गिरने के कारण लवणता मात्र $18^0/_{00}$ पायी जाती है। स्मरणीय है कि जहाँ पर वाष्पीकरण की मात्रा स्वच्छ जल की आपूर्ति से अधिक होती है, वहाँ पर लवणता बढ़ती जाती है। उदाहरण के लिए रूम सागर में लवणता $40^0/_{00}$ पायी जाती है।

(4) वायुदाब तथा वायु दिशा—प्रति चक्रवातीय दशाएँ, स्थिर पवन, उच्च तापक्रम के साथ लवणता में वृद्धि करती हैं। अयनवर्ती भागों में उपर्युक्त दशाएँ पायी जाती हैं, परिणामस्वरूप उच्च लवणता पायी जाती है। हवाएँ लवणता के पुनर्वितरण में भी सहायता करती हैं। ये हवाएँ अपने साथ खारे पानी को दूसरे स्थान पर पहुँचा देती हैं जिस कारण वहाँ की लवणता बढ़ जाती है, परन्तु जहाँ से जल हटाया जाता है वहाँ पर उसके स्थान की पूर्ति के लिए नीचे से जल ऊपर आता है, परिणामस्वरूप लवणता कम हो जाती है। उदाहरण के लिए व्यापारिक हवाएँ महाद्वीपों के पश्चिमी किनारे (महासागरों के पूर्वी किनारे) से खारे जल को महाद्वीपों के पूर्वी किनारे पर लाकर वहाँ की लवणता बढ़ा देती हैं। इसी कारण से मेक्सिको की खाड़ी में लवणता $30^0/_{00}$ से $37^0/_{00}$ पायी जाती है, जब कि कैलिफोर्निया तट पर लवणता कम पायी जाती है। पछुवाँ हवाएँ महाद्वीपों के पूर्वी तट पर लवणता को कम कर देती हैं परन्तु पश्चिमी तटों पर बढ़ा देती हैं। कभी-कभी इन हवाओं के कारण लवणता घट भी जाती है, क्योंकि इन हवाओं के कारण कम खारे तथा अधिक खारे जल में मिश्रण हो जाता है।

(5) सागरीय गतियाँ—सागरीय धाराओं का प्रमुख कार्य सागरीय जल में मिश्रण करना है। अत: इनके द्वारा लवणता के वितरण पर भी प्रभाव पड़ता है। सागरीय धाराएँ निश्चय ही

लवणता को बढ़ाने तथा घटाने का कार्य करती हैं। भूमध्यरेखीय गर्म धाराएं महाद्वीपों के पश्चिमी भागों से लवण को पूर्वी तटीय भागों में पहुँचा कर वहाँ की लवणता बढ़ा देती हैं। मेक्सिको की खाड़ी में इसी कारण से उच्च लवणता पायी जाती है। गल्फस्ट्रीम की गर्म धारा यूरोप के उ० प० तट पर लवणता को बढ़ा देती है। लेब्राडोर की ठण्डी धारा के कारण उत्तरी अमेरिका के उ० पू० तटीय भाग में लवणता घट जाती है। बन्द सागरों में इन धाराओं का प्रभाव नगण्य होता है। परन्तु वे सीमान्त सागर, जो कि सागर से चौड़े प्रवेश द्वार (inlet) द्वारा मिले होते हैं, इन धाराओं से प्रभावित होते हैं। नार्वे तथा उत्तरी सागर में गल्फस्ट्रीम के कारण अपेक्षाकृत अधिक लवणता मिलती है।

उस्ट महोदय ने बताया कि सागरीय लवणता पर मुख्य रूप से तीन कारकों का प्रभाव होता है—(i) वर्षा के कारण लवणता में कमी होती है, (ii) वाष्पीकरण के कारण लवणता में वृद्धि होती है तथा (iii) मिश्रण की प्रक्रिया के कारण लवणता में परिवर्तन होता है। सागरों में लवणता में सामयिक परिवर्तन भी होता है। उत्तरी गोलार्द्ध में जून में अधिकतम लवणता तथा दिसम्बर में न्यूनतम लवणता (वाष्पीकरण का प्रभाव) पायी जाती है।

महासागरीय लवणता को नियंत्रित करने वाले कारकों को निम्न रूपों में संक्षेप में व्यक्त किया जाता है:

- वर्षा के कारण लवणता घटती है।
- बड़ी नदियों के जल के महासागरों में आने पर तटीय जल की लवणता कम होती है।
- सागरीय हिम के पिघलने पर लवणता में ह्रास होता है।
- वाष्पीकरण के फलस्वरूप सागरीय लवणता में वृद्धि होती है।
- उच्च वायुमण्डलीय वायुदाब तथा प्रतिचक्रवातीय दशाओं के कारण सागरीय लवणता बढ़ती है।
- उच्च अक्षांशों (ध्रुवीय क्षेत्रों) में सागरीय जल के जमने तथा हिम के निर्माण के कारण सागरीय लवणता में मामूली वृद्धि होती है परन्तु हिम के पिघलने पर लवणता में कमी होती है।
- विभिन्न विशेषता वाली विभिन्न जलराशियों के मिश्रण के कारण सागरीय जल की लवणता में विषमता होती है।
- प्रचलित हवाओं एवं महासागरीय धाराओं के कारण सागरीय लवणता में क्षेत्रिय विभिन्नता होती है।

26.5 सागरीय लवणता का वितरण

महासागरों की औसत लवणता 35‰ है, परन्तु प्रत्येक महासागर, सागर, झील आदि में लवण की मात्रा में अन्तर पाया जाता है। लवणता में अन्तर क्षैतिज तथा लम्बवत् दोनों रूपों में होता है। इसी तरह बन्द, अंशत: बन्द एवं खुले सागरों में भी लवणता में अन्तर पाया जाता है। इस आधार पर सागरीय लवणता के वितरण का अध्ययन दो रूपों में किया जायेगा—(1) क्षैतिज वितरण तथा (2) लम्बवत् वितरण।

1. क्षैतिज वितरण

सागरों में लवणता के क्षैतिज वितरण को समलवण रेखा (isohaline) के माध्यम से दर्शाया जाता है। सागरों में समान लवण वाले स्थानों को मिलाने वाली रेखा को समलवण रेखा कहते हैं। क्षैतिज वितरण में मुख्य रूप से अक्षांशों का सहारा लिया जाता है। इसके अलावा प्रादेशिक वितरण पर भी ध्यान दिया जाता है। प्रादेशिक वितरण के अन्तर्गत प्रत्येक महासागर की लवणता का अलग-अलग वितरण देखा जाता है। इसी तरह सीमान्त सागरों—खुले, बन्द तथा आंशिक रूप से बन्द सागरों की लवणता के वितरण पर भी दृष्टिपात किया जाता है।

तालिका 26.1 : लवणता का क्षैतिज वितरण

अक्षांश मण्डल	लवणता ‰
70^0 -50^0 N	31-31
50^0-40^0 N	33-34
40^0-15^0 N	35-36
15^0 -N-10^0 S	34.5-35
10^0-30^0 S	35-36
30^0-50^0 S	34-35
50^0-70^0 S	33-34

(1) अक्षांशीय वितरण—सागरीय लवण की मात्रा तथा वितरण पर अक्षांशों का अधिक नियंत्रण होता है। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर सामान्य रूप में लवणता में कमी आती जाती है। स्मरणीय है कि भूमध्यरेखा पर उच्चतम लवणता नहीं पायी जाती है, यद्यपि यहाँ पर उच्च तापक्रम तथा उच्च वाष्पीकरण होता है, क्योंकि यहाँ पर वर्षा का जल लवणता को कम कर देता है। भूमध्यरेखा पर लवणता की मात्रा 34‰ रहती है। उच्चतम लवणता 20^0-40^0 उत्तरी अक्षांशों में पायी जाती है, जहाँ पर उसकी मात्रा 36‰ रहती है, क्योंकि इन भागों में उच्च तापक्रम तथा उच्च वाष्पीकरण के साथ आर्द्रता न्यून होती है।

दक्षिणी गोलार्द्ध में 10^0-30^0 अक्षांशों के मध्य 35‰ की लवणता पायी जाती है। दोनों गोलार्द्धों में 40^0-60^0 अक्षांशों के मध्य लवणता में कमी आ जाती है, परिणामस्वरूप वह घटकर उ० गो० में 31‰ हो जाती है तथा द० गोलार्द्ध में 33‰ पायी जाती है। ध्रुवों के पास हिम के पिघलने से प्राप्त जल की आपूर्ति के कारण लवणता में और अधिक कमी आ जाती है। समस्त

उत्तरी गोलार्द्ध में औसत लवणता 34‰ पायी जाती है तथा द० गोलार्द्ध में 35‰ रहती है। इस तरह अक्षांशीय वितरण के आधार पर महासागरों में लवणता के चार मण्डल बताए जाते हैं—1. भूमध्य रेखीय क्षेत्र का अपेक्षाकृत कम लवणता का मण्डल, 2. अयनवर्ती अधिकतम लवणता का मण्डल, 3. शीतोष्ण कटिबन्धीय कम लवणता का मण्डल तथा 4. ध्रुवीय तथा उपध्रुवीय न्यूनतम लवणता का मण्डल।

(2) प्रादेशिक वितरण—प्रादेशिक वितरण के अन्तर्गत महासागरों में लवणता का वितरण या तो अलग-अलग रूपों में लिया जाता है, या विभिन्न लवण मण्डलों के अन्तर्गत लिया जाता है। **जेनकिन्स** ने लवणता के आधार पर सागरों को तीन प्रदेशों में विभक्त किया है।

प्रशान्त महासागर में लवणता का वितरण

प्रशान्त महासागर के आकार तथा वृहद् क्षेत्रफल के कारण उसके विभिन्न भागों में लवणता में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

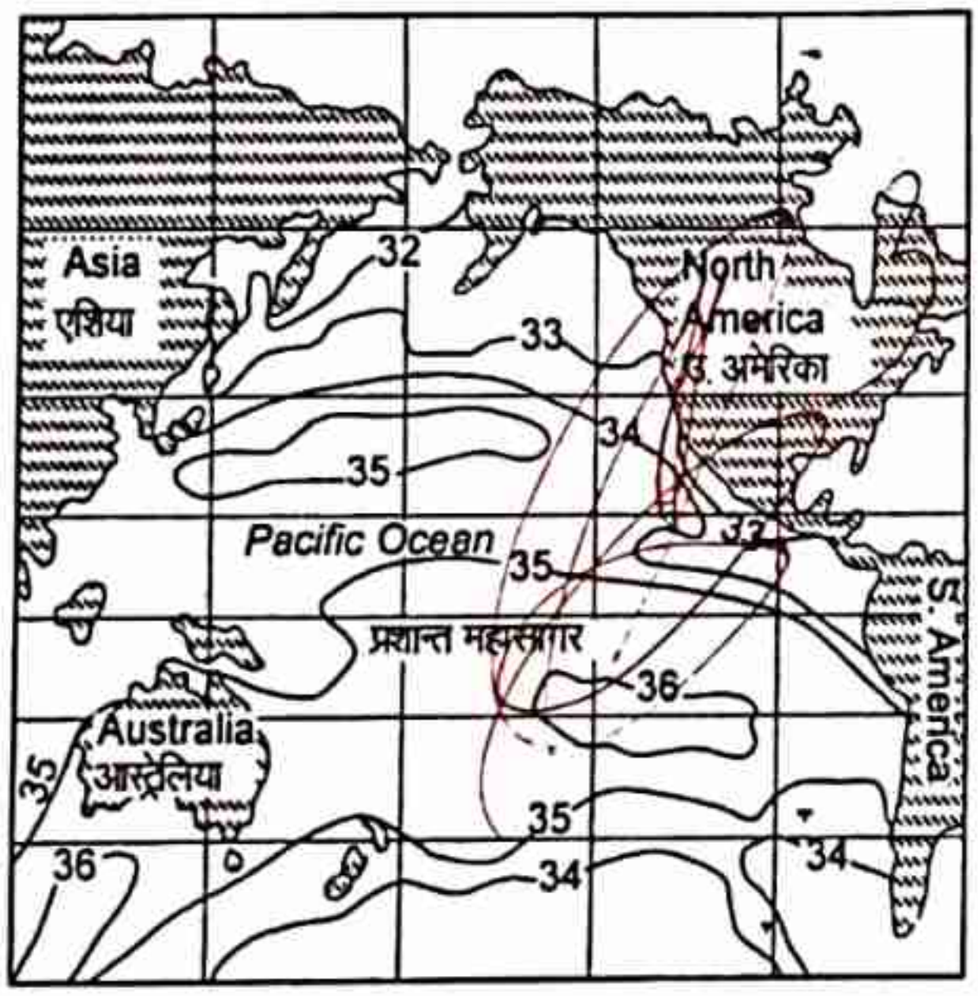

चित्र 26.1 : प्रशान्त महासागर में लवणता के क्षैतिज वितरण (‰) का समलवण रेखा द्वारा प्रदर्शन।

भूमध्यरेखा के पास लवणता 34.85‰ रहती है। उत्तरी गोलार्द्ध में 15°–20° अक्षांशों के मध्य उच्च लवणता (35‰) पायी जाती है। द० प्रशान्त महासागर में इन्हीं अक्षांशों में लवणता 36‰ पायी जाती है। उ० प्रशान्त महासागर में इन अक्षांशों के उत्तर में महासागर के पश्चिमी भाग में ओखोटस्क तथा मंचूरिया के पास ठण्डी धारा के कारण हिम के पिघलने से प्राप्त जल की आपूर्ति के कारण यह घटकर 31‰ हो जाती है। मध्य अमेरिका, कैलिफोर्निया तथा पीरू तट के पास जल के स्थानान्तरण तथा नीचे से जल के ऊपर आने के कारण लवणता कम पायी जाती है। कोलम्बिया तट के पास 28‰ तथा चिली तट के पास 33‰ की लवणता पायी जाती है। नदियों के मुहाने के पास कम लवणता (यलो नदी 30‰ तथा यांगटिसीक्यांग 33‰) पायी जाती है।

(अ) सामान्य से अधिक लवणतावाले प्रदेश (37‰ से 41‰)

1. लालसागर (37–41‰)
2. फारस की खाड़ी (37–38‰)
3. रूम सागर (37–39‰)

(ब) सामान्य लवणतावाले प्रदेश (32–36‰)

1. कैरेबियन सागर (35–36‰)
2. बास जलडमरूमध्य (35.5‰)
3. कैलिफोर्निया की खाड़ी (35.5‰)

(स) सामान्य से कम लवणतावाले प्रदेश (20–35‰)

1. आर्कटिक सागर
2. उ० आस्ट्रेलिया सागर
3. बेरिंग सागर
4. ओखोटस्क सागर
5. जापान सागर
6. चीन सागर
7. अण्डमान सागर
8. उत्तरी सागर
9. इंगलिश चैनेल
10. सेंट लारेन्स की खाड़ी
11. बाल्टिक सागर
12. हडसन की खाड़ी

अटलाण्टिक महासागर में लवणता का वितरण

अटलाण्टिक महासागर की औसत लवणता 35.67‰ है। भूमध्यरेखा पर उच्चतम लवणता न मिलकर 15°–20° अक्षांशों के मध्य पायी जाती है। 5° उ० अक्षांश के पास 34.68‰, 15° उ० अक्षांश तक 36‰ तथा 15° द० अक्षांश तक 37.77‰ की लवणता पायी जाती है। द० अटलाण्टिक में 10° से 30° अक्षांशों के मध्य महासागर के पश्चिमी भागों में लवणता अधिक तथा पूर्वी भाग में कम पायी जाती है। नदियों के मुहाने के पास कम लवणता पायी जाती है (सेण्टलारेन्स के मुहाने पर 31‰, अमेजन के मुहाने के पास 15‰ कांगों के सामने 34‰, नाइजर के सामने 20‰ तथा राइन के मुहाने के पास 32‰)।

अटलांटिक महासागर के आंशिक बन्द सागर—आंशिक रूप से बन्द सीमान्त सागरों में लवणता के वितरण का भिन्न प्रारूप देखने को मिलता है। उच्च अक्षांशों में कम लवणता होते हुए भी उत्तरी सागर में उच्च लवणता (34‰) पायी जाती है, क्योंकि इसमें गल्फस्ट्रीम के कारण लवण का समावेश कर दिया जाता है। इसके विपरीत बाल्टिक सागर में न्यून लवणता पायी

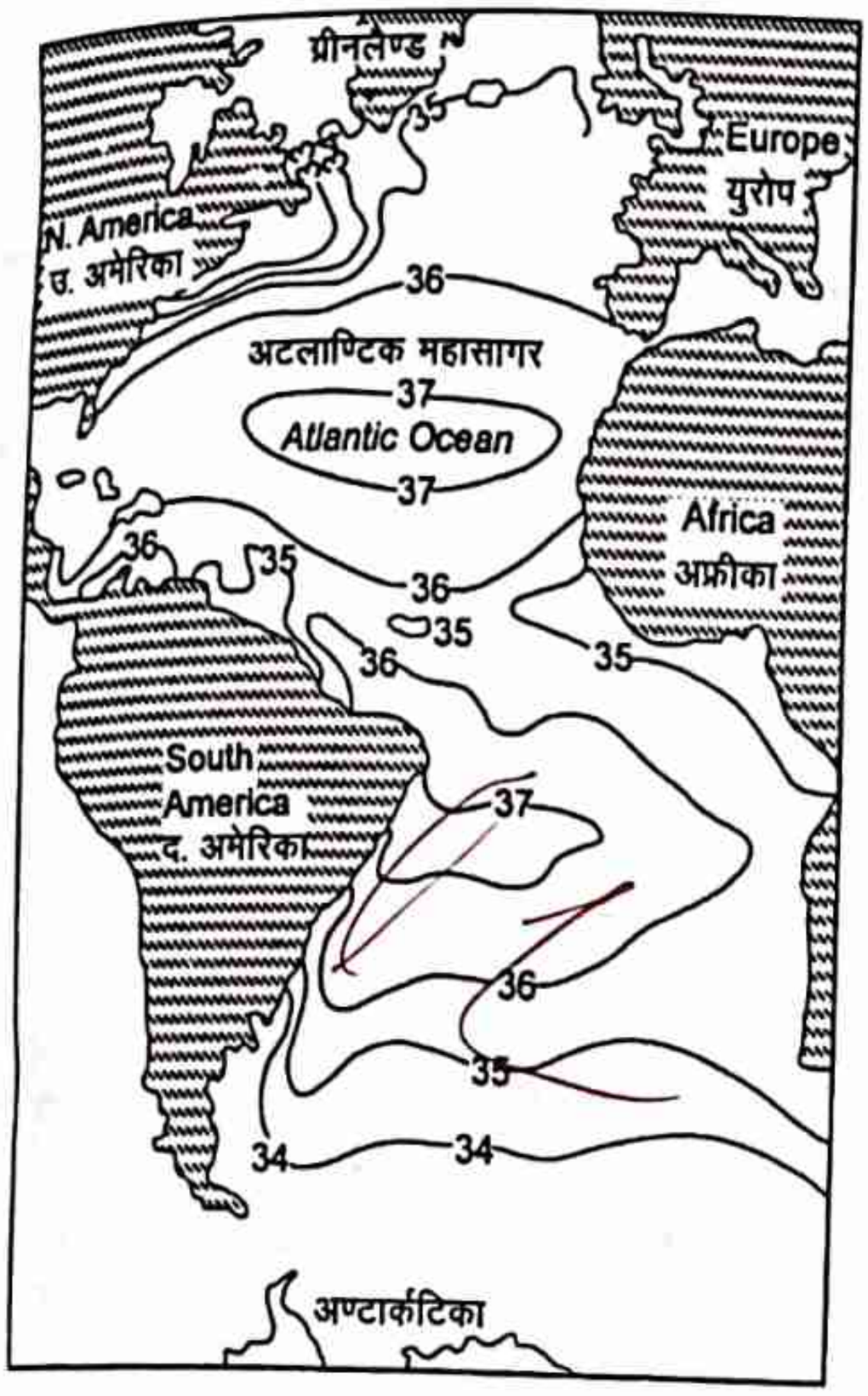

चित्र 26.2 : अटलांटिक महासागर में लवणता के क्षैतिज वितरण (‰) का समलवण रेखा द्वारा प्रदर्शन।

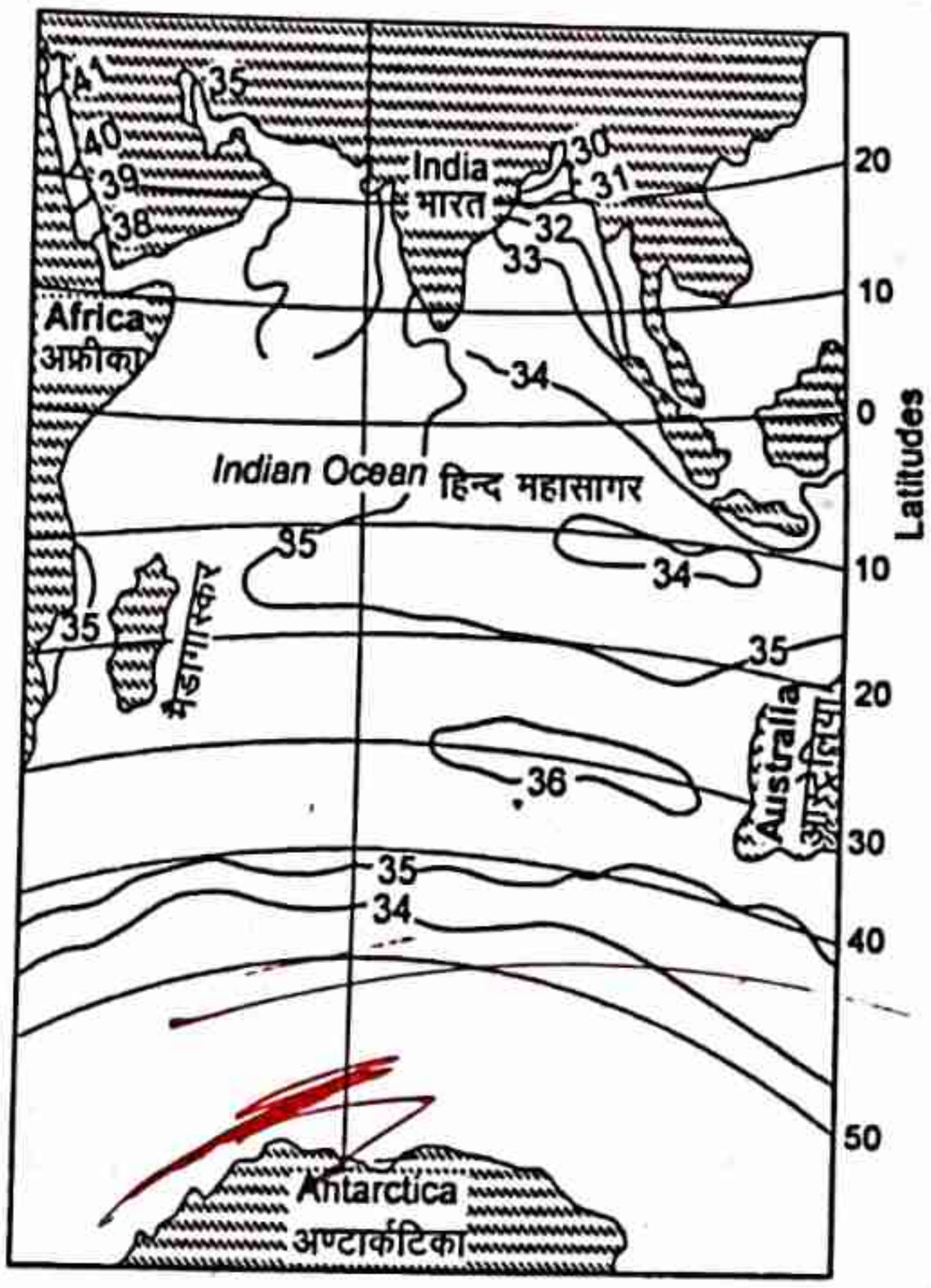

चित्र 26.3 :- हिन्द महासागर में लवणता के क्षैतिज वितरण (‰) का समलवण रेखा द्वारा प्रदर्शन।

जाती है, क्योंकि इसमें नदियों तथा वर्षा के स्वच्छ जल की आपूर्ति होती रहती है। और उत्तर जाने पर लवणता घटती जाती है। रूजेन द्वीप के पास लवणता 7 से 8‰ तथा बोथनिया की खाड़ी में मात्रा 2‰ पायी जाती है। द० स्वीडन के पूर्व में लवणता केऊव के पास 11‰ तथा बोर्नहोम के पास 8‰ रहती है। रूमसागर में अत्यधिक वाष्पीकरण तथा अटलाण्टिक महासागर के साथ कम सम्पर्क के कारण लवणता अधिक पायी जाती है। पश्चिमी भाग में 36.5‰ तथा पूर्वी भाग में 39‰ लवणता पायी जाती है। कृष्ण सागर में नदियों द्वारा जल की आपूर्ति के कारण लवणता घटकर 17–18‰ ही रह जाती है। कैरेबियन सागर में 30‰ लवणता पाय़ी जाती है, उत्तरी भूमध्यरेखीय गर्म धारा के कारण इसमें खारा जल लाया जाता है।

हिन्द महासागर में लवणता का वितरण

उत्तरी हिन्द महासागर में 0^0 –10^0 अक्षांशों के मध्य 35.14‰ लवणता पायी जाती है, परन्तु बंगाल की खाड़ी में यह घटकर 30‰ हो जाती है, क्योंकि गंगा नदी के कारण स्वच्छ जल की अपार राशि खारेपन को कम कर देती है। अरब सागर में 36‰ लवणता पायी जाती है, क्योंकि यहाँ पर अपेक्षाकृत शुष्क मौसम के कारण वाष्पीकरण अधिक होता है तथा नदियों द्वारा लाये गये जल की मात्रा भी कम होती है। दक्षिणी हिन्द महासागर में आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट के पास अधिकतम लवणता पायी जाती है, क्योंकि यहाँ पर शुष्क पर्यावरण पाया जाता है।

हिन्द महासागर के आंशिक बन्द सागर —फारस की खाड़ी के अग्र भाग में लवणता 37‰ तथा आन्तरिक भाग में 40‰ पायी जाती है। लालसागर में लवणता 36‰ से 41‰ तक पायी जाती है, क्योंकि उच्च तापक्रम के कारण वाष्पीकरण अधिक होता है तथा वर्षा कम होती है।

महासागरों तथा सागरों में लवणता के क्षैतिज वितरण को **समलवण रेखा** (isohaline) द्वारा प्रदर्शित करते हैं। समलवण रेखाएं वे रेखाएं होती हैं, जो कि सागरों की सतह पर समान लवणता वाले क्षेत्रों को (मानचित्र पर) मिलाती हैं।

अन्तर्देशीय सागरों तथा झीलों में लवणता

महाद्वीपों के भीतर पाये जाने वाले सागरों तथा झीलों में लवणता के वितरण पर वाष्पीकरण, उच्च तापक्रम तथा नदियों द्वारा जल की आपूर्ति के अलावा उनसे निकलने वाली नदियों का भी प्रभाव होता है। जिस आन्तरिक सागर या झील से नदी

निकलती है, उसकी लवणता कम हो जाती है, क्योंकि नदी अपने साथ लवण ले जाती है। कैस्पियन सागर के उत्तरी भाग में लवणता 14‰ पायी जाती है, क्योंकि वोल्गा, यूराल आदि नदियों द्वारा स्वच्छ जल की आपूर्ति होती रहती है। दक्षिणी भाग में काराबुगास की खाड़ी में लवणता 17‰ पायी जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका की ग्रेट साल्ट लेक (Great Salt Lake) में 220‰, मृत सागर में 238‰ तथा टर्की की वान झील में 330‰ लवणता पायी जाती है।

2. लम्बवत् (गहराई के साथ) वितरण

महासागरों में लम्बवत् वितरण के विषय में किसी निश्चित नियम का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि कहीं पर लवणता गहराई के साथ घटती जाती है तो कहीं पर बढ़ती है। उदाहरण के लिए द० अटलांटिक के द० छोर पर सतह की लवणता 33‰ रहती है, परन्तु 200 फैदम (1200 फीट) की गहराई पर यह बढ़कर 34.5‰ तथा 600 फैदम (3600 फीट) की गहराई पर 34.75‰ हो जाती है। 20° द० अक्षांश के पास सतह की लवणता 37‰ रहती है, जबकि तली में घटकर 35‰ हो जाती है। पुनः भूमध्यरेखा पर सतह की लवणता 34‰ होती है, जो नीचे जाने पर बढ़कर 35‰ हो जाती है। इसके होते हुए भी सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि उच्च अक्षांशों में गहराई के साथ लवणता बढ़ती है, मध्य अक्षांशों में 200 फैदम तक लवणता बढ़ती है, परन्तु पुनः घटने लगती है और भूमध्यरेखा पर लवणता बढ़ती जाती है, परन्तु पुनः गहराई में जाने पर घटने लगती है। महासागरीय भागों में जल की ऊपरी सतह में सर्वाधिक लवणता पायी जाती है। इससे नीचे जाने पर लवणता में अन्तर आता है। ऊपरी सतह की उच्चतम लवणता तथा निचले कम लवणता मण्डल का अलगाव एक संक्रमण मण्डल (transitional zone) द्वारा होता है जिसे **तापप्रवणता मण्डल** (thermochine zone) कहते हैं। इस मण्डल के ऊपर अधिक लवणता तथा नीचे अपेक्षाकृत कम लवणता पायी जाती है परन्तु यह सामान्य नियम नहीं है क्योंकि सागरीय लवणता का लम्बवत् वितरण अत्यधिक जटिल है।

सागरीय लवणता के लम्बवत वितरण की प्रवृत्तियों का विवरण निम्नवत है:

- शीत कटिबन्धीय महासागरों में 300 से 1000 मीटर की गहराई तक लवणता में वृद्धि होती है परन्तु 1000 मीटर गहराई के नीचे लवणता लगभग स्थिर रहती है।
- निम्न अक्षांशों, अर्थात् उष्ण कटिबन्धीय सागरों में लवणता में 300 मीटर से 1000 मीटर गहराई तक ह्रास होता है परन्तु 1000 मीटर की गहराई से आगे लवणता स्थिर रहती है।
- इस तरह स्पष्ट है कि 300 मीटर से 1000 मीटर की गहराई में लवणता में तीव्र परिवर्तन होता है। इस परत को **हैलोक्लाइन** कहते हैं।
- महासागरीय जल की सबसे ऊपरी सतह में अधिकतम लवणता होती है।
- गहराई के साथ लवणता में कमी होती जाती है।

Unit - IV

Topic :- ⇒ **ज्वार-भाटा**

(Tides)

28.1 ज्वार : तात्पर्य

महासागरीय गतियों में लहरें, तरंगें, धाराएं तथा ज्वार-भाटा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इनमें ज्वार-भाटा का महत्व सर्वाधिक होता है, क्योंकि इसके कारण सागरतल से सागरतली तक का जल प्रभावित होता है। सूर्य तथा चन्द्रमा की आकर्षण शक्तियों के कारण सागरीय जल के ऊपर उठने तथा गिरने को ज्वार-भाटा कहा जाता है। इससे उत्पन्न तरंगों को 'ज्वारीय तरंग' कहते हैं। सागरीय जल के ऊपर उठकर आगे (तट की

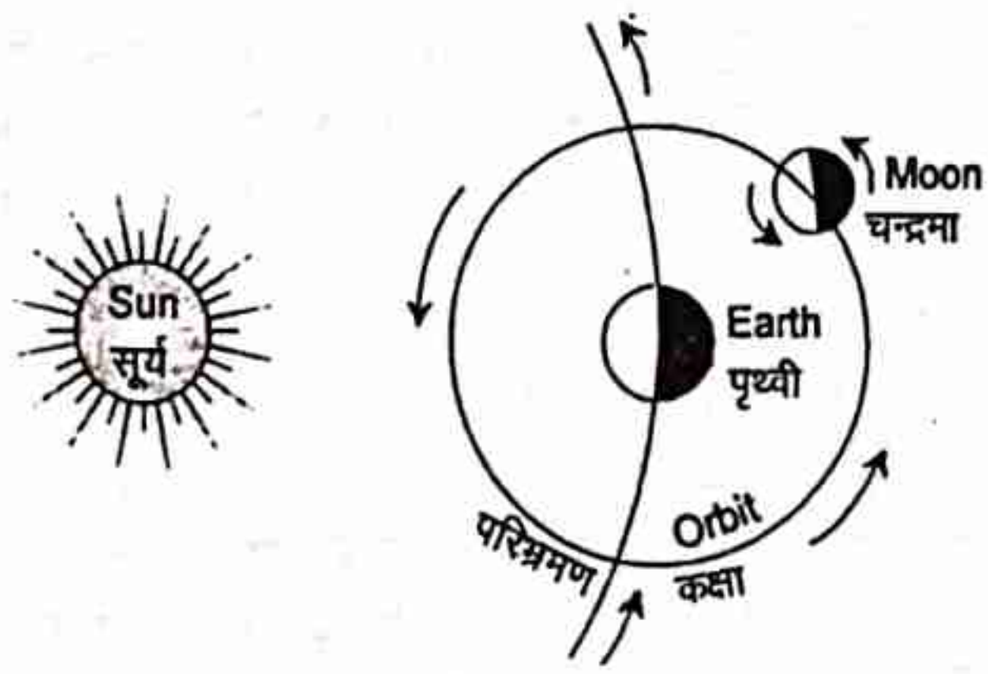

चित्र 28.1 : चन्द्रमा तथा पृथ्वी की परिभ्रमण दिशा (एक ही दिशा)।

ओर) बढ़ने को 'ज्वार' (tide) तथा उस समय निर्मित उच्च जलतल को **उच्च ज्वार** (high tide) तथा सागरीय जल के नीचे गिरकर (सागर की ओर) पीछे लौटने को भाटा (ebb) तथा उससे निर्मित निम्न जल को **निम्न ज्वार** (low tide) कहते हैं। औसत सागर तल (mean sea level) इन दो तलों के बीच रहता है। विभिन्न स्थानों पर ज्वार-भाटा की ऊंचाई में पर्याप्त भिन्नता होती है। यह भिन्नता सागर में जल की गहराई, सागरीय तट की रूपरेखा तथा सागर के खुले होने या बन्द होने पर आधारित होती है।

28.2 ज्वार की उत्पत्ति

पृथ्वी के महासागरीय जल के ज्वार की उत्पत्ति चन्द्रमा तथा सूर्य के आकर्षण बलों द्वारा होती है। पृथ्वी की व्यास 12,800 किमी० (8,000 मील) है, परिणामस्वरूप पृथ्वी की सतह केन्द्र की अपेक्षा चन्द्रमा से 6,400 किमी० (4000 मील) नजदीक है। चन्द्रमा का केन्द्र पृथ्वी के केन्द्र से 3,84,800 किमी० (2,40,000 मील) दूर है तथा पृथ्वी की सतह चन्द्रमा की सतह से 3,77,600 किमी० (2,36,000 मील) दूर है। स्पष्ट है कि चन्द्रमा के सामने पृथ्वी की सतह वाले भाग के पीछे स्थित भाग चन्द्रमा की सतह से 3,90,400 किमी० दूर स्थित होगा। अतः चन्द्रमा के सामने स्थित भाग (पृथ्वी का सबसे नजदीक स्थित भाग) पर चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति का सर्वाधिक प्रभाव होता है तथा उसके पीछे स्थित भाग पर न्यूनतम। परिणामस्वरूप चन्द्रमा के सामने स्थित पृथ्वी का जल

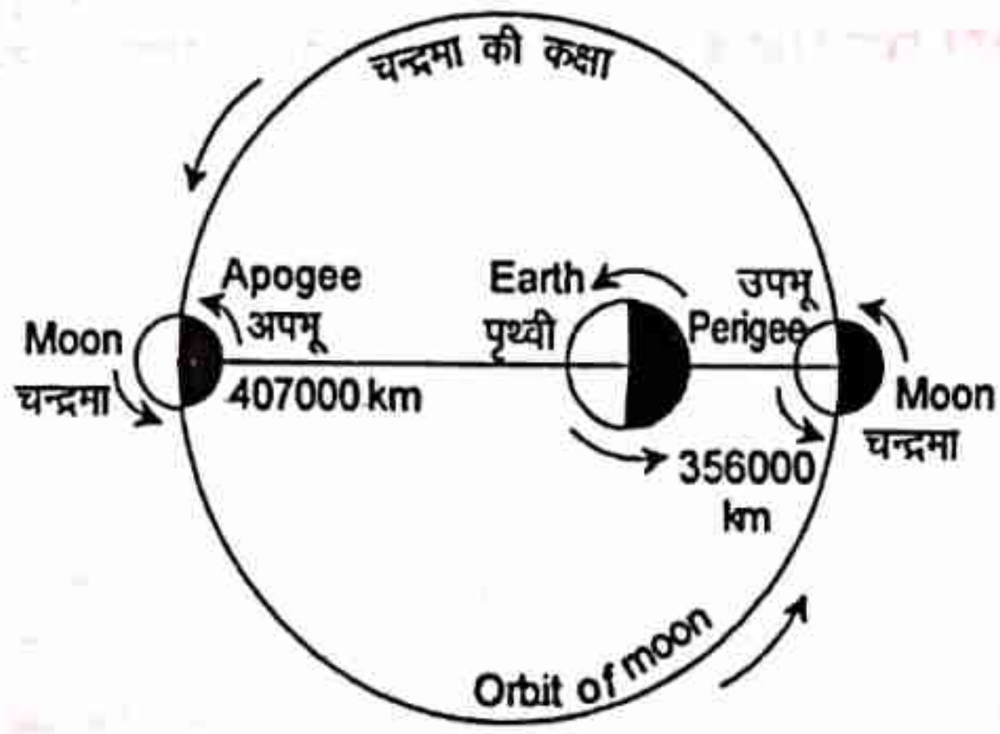

चित्र 28.2 : चन्द्रमा का अण्डाकार परिभ्रमण कक्ष। चित्र में वृत्ताकार कक्ष बनी है परन्तु यह वास्तव में अण्डाकार है।

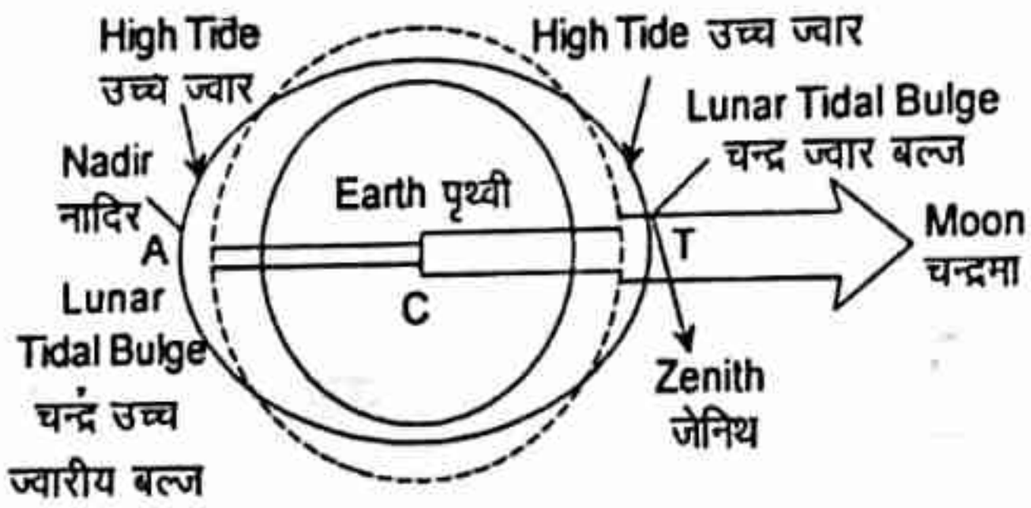

चित्र 28.3 : गुरुत्वाकर्षण बल, एक ज्वार उत्पादक बल।

ऊपर खिंच जाता है, जिस कारण उच्च ज्वार अनुभव किया जाता है। इस स्थान के ठीक पीछे भी निम्न ज्वार का अनुभव किया जाता है, क्योंकि चन्द्रमा के केन्द्रोन्मुख (centrepetal) गुरुत्वाकर्षण बल की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न केन्द्रापसारित (centrifugal) बल के कारण जल का बाहर की ओर उभार हो जाता है। इस कारण 24 घण्टे में प्रत्येक स्थान पर दो बार ज्वार तथा दो बार भाटा आता है। जब सूर्य तथा चन्द्रमा एक सीधी रेखा में होते हैं, तो दोनों की आकर्षण शक्ति मिलकर एक साथ कार्य करती है तथा उच्च ज्वार अनुभव किया जाता है। यह स्थिति पूर्णमांसी तथा अमावस्या को होती है। इसके विपरीत जब सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा मिलकर समकोण बनाते हैं तो सूर्य तथा चन्द्रमा के आकर्षण बल एक दूसरे के विपरीत कार्य करते हैं, जिस कारण निम्न ज्वार अनुभव किया जाता है। यह स्थिति प्रत्येक महीने के कृष्ण पक्ष एवं शुक्ल पक्ष की अष्टमी को होती है।

28.3 ज्वार का समय

प्रत्येक स्थान पर सामान्य तौर पर दिन में दो बार ज्वार आता है। चूँकि पृथ्वी अपनी धुरी पर लगभग 24 घण्टे में एक पूर्ण चक्कर लगा लेती है, अत: प्रत्येक स्थान पर 12 घण्टे के बाद

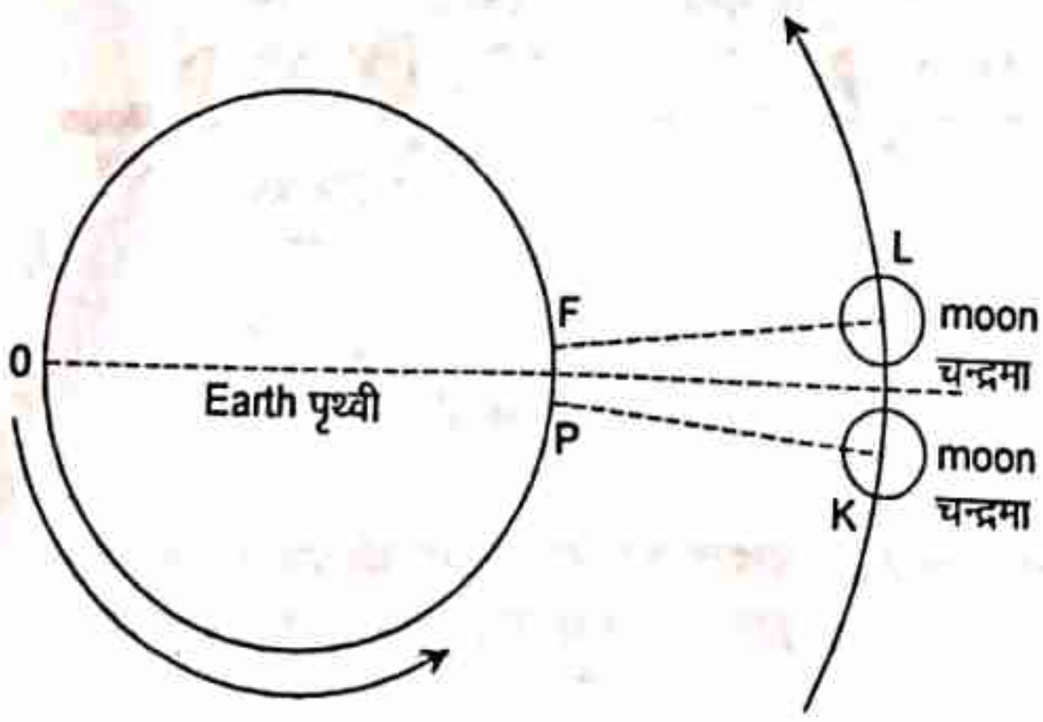

चित्र 28.4 : ज्वार का समय।

ज्वार आना चाहिए अर्थात् प्रत्येक दिन ज्वार एक ही समय पर आना चाहिए, परन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है। प्रति दिन ज्वार लगभग 26 मिनट देर से आता है। इसका प्रमुख कारण चन्द्रमा का भी अपनी धुरी पर चक्कर लगाते हुए पृथ्वी की परिक्रमा करना है। पृथ्वी प० से पू० दिशा में चक्कर लगाती है, परिणामस्वरूप ज्वार केन्द्र पू० से प० दिशा की ओर अग्रसर होते हैं। ज्वार केन्द्र जब अपना एक पूरा चक्कर लगा लेता है, तो चन्द्रमा उसके कुछ आगे निकल गया रहता है, क्योंकि वह भी पृथ्वी की परिक्रमा करता है, परिणामस्वरूप ज्वार केन्द्र को चन्द्रमा के नीचे पहुँचने के लिए लगभग 52 मिनट की और यात्रा करनी पड़ती है। इस तरह एक ज्वार केन्द्र को चन्द्रमा के सामने आने में 24 घण्टे 52 मिनट खर्च करने पड़ते हैं, परन्तु इसी समय ज्वार केन्द्र के विपरीत स्थित भाग में ज्वार 26 मिनट देरी (12 घण्टे 26 मिनट) से आयेगा। इस तरह यदि 'प' (चित्र 28.4) स्थान पर प्रथम ज्वार 4 बजे सायंकाल आता है तो दूसरा ज्वार 4 बजकर 26 मिनट प्रात: आयेगा और फिर अगला ज्वार सायंकाल 4 बजकर 52 मिनट पर आयेगा। चित्र 28.4 में चन्द्रमा की स्थिति 'क' स्थान पर उसके नीचे स्थित 'प' स्थान 24 घण्टे में पूरा चक्कर लगा कर पुन: अपनी पहली स्थिति पर आ जाता है, परन्तु इस बीच चन्द्रमा आगे बढ़कर 'ख' स्थान पर पहुँच जाता है, जिसके नीचे 'फ' स्थान है। अब 'प' स्थान को 'प-फ' की अतिरिक्त दूरी तय करके 'ख' के नीचे पहुँचना होगा ताकि 'प' पर दुबारा ज्वार आये। 'प-फ' की दूरी तय करने में पृथ्वी का 52 मिनट लग जाता है। चन्द्रमा पृथ्वी का 27 दिन, 7 घण्टे, 43 मिनट तथा 17.5 सेकेण्ड (लगभग 27.5 दिन) में एक चक्कर लगाता है, अत: 'प-फ' भाग चन्द्रमा के परिक्रमा वृत्त का 2/55 भाग है, 'प' स्थान को इस 2/55 भाग को पूरा करने में 24 × 60 × 2/55 = 52 मिनट लगेगा। अत: 'प' स्थान पर दुबारा ज्वार 4 बजकर 52 मिनट (सायंकाल) पर आयेगा। इस तरह प्रत्येक स्थान पर प्रतिदिन 12 घण्टे 26 मिनट बाद ज्वार तथा ज्वार के बाद 6 1/4 घण्टे (6 घन्टा, 13 मिनट) बाद भाटा आता है।

28.4 ज्वार के प्रकार

पृथ्वी पर सागरीय जल में ज्वार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध चन्द्रमा तथा सूर्य की आकर्षण शक्ति से है। चन्द्रमा अपनी धुरी पर चक्कर लगाता हुआ (प० से पू० दिशा में) पृथ्वी की परिक्रमा करता है, जब कि पृथ्वी अपनी धुरी पर चक्कर लगाती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है। इस दौरान पृथ्वी, सूर्य तथा चन्द्रमा के बीच कई प्रकार की स्थितियाँ हो जाती हैं, जिस कारण ज्वारोत्पादक बलों में अन्तर आ जाने से ज्वार को कई प्रकारों में विभक्त किया जाता है। ज्वार के कुछ प्रमुख प्रकार निम्न हैं:

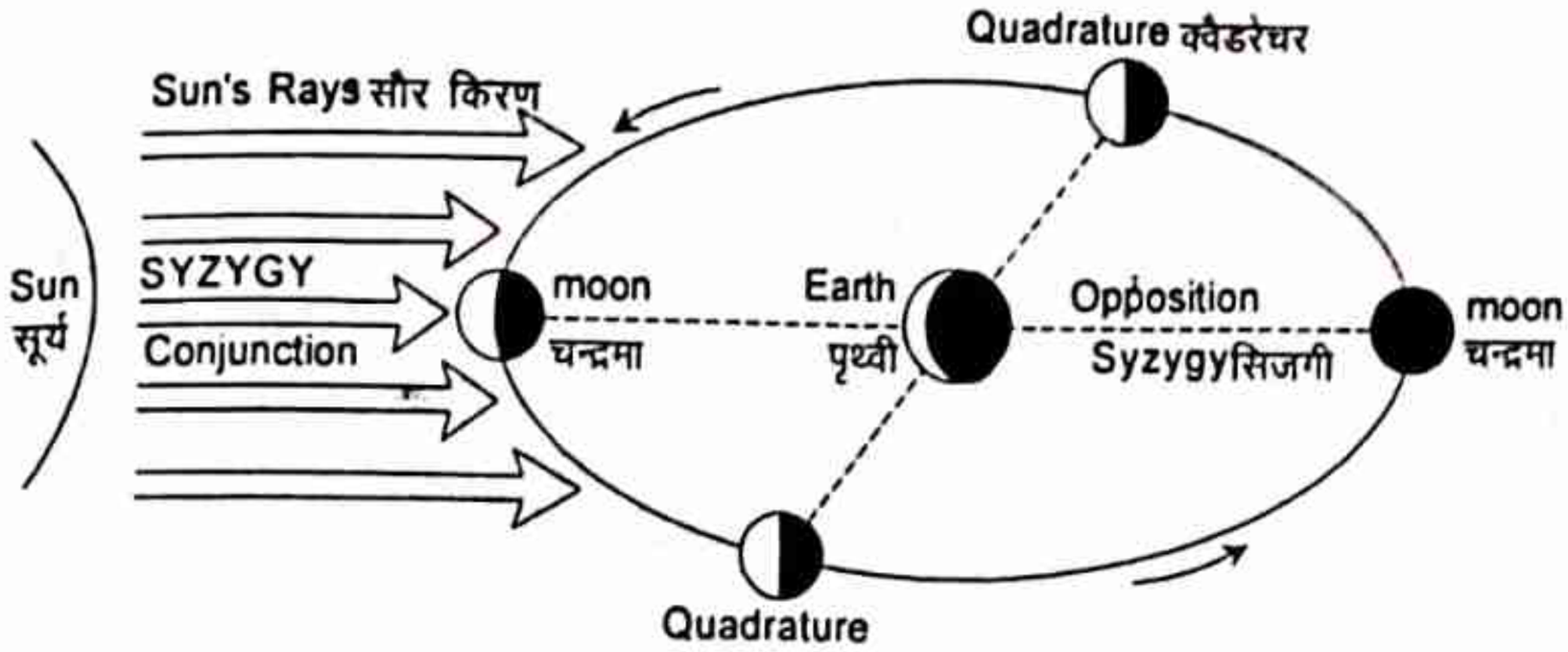

चित्र 28. 5 : सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा के सम्बन्ध (युति, वियुति तथा समकोणिक स्थितियां)।

1. पूर्ण अथवा दीर्घ ज्वार (Spring Tide)

सूर्य तथा चन्द्रमा की सापेक्ष स्थितियों में परिवर्तन होता रहता है। जब सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा एक सरल रेखा में होते हैं तो इस स्थिति को **युति-वियुति या सिजिगी** (syzygy) कहते हैं। इनमें से जब सूर्य, चन्द्रमा तथा पृथ्वी क्रम से एक सीध में होते हैं, अर्थात् जब सूर्य तथा चन्द्रमा दोनों पृथ्वी के एक ओर होते हैं, तो उसे **युति** (conjunction, सूर्यग्रहण की स्थिति) कहते हैं और जब सूर्य तथा चन्द्रमा के बीच पृथ्वी की स्थिति होती है तो उसे **वियुति** (opposition) कहते हैं। इसके विपरीत जब सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा समकोण की स्थिति में होते हैं, तो उसे **समकोणिक स्थिति** (quadrature) कहते हैं। युति की स्थिति अमावस्या (new moon) तथा वियुति की स्थिति पूर्णमासी

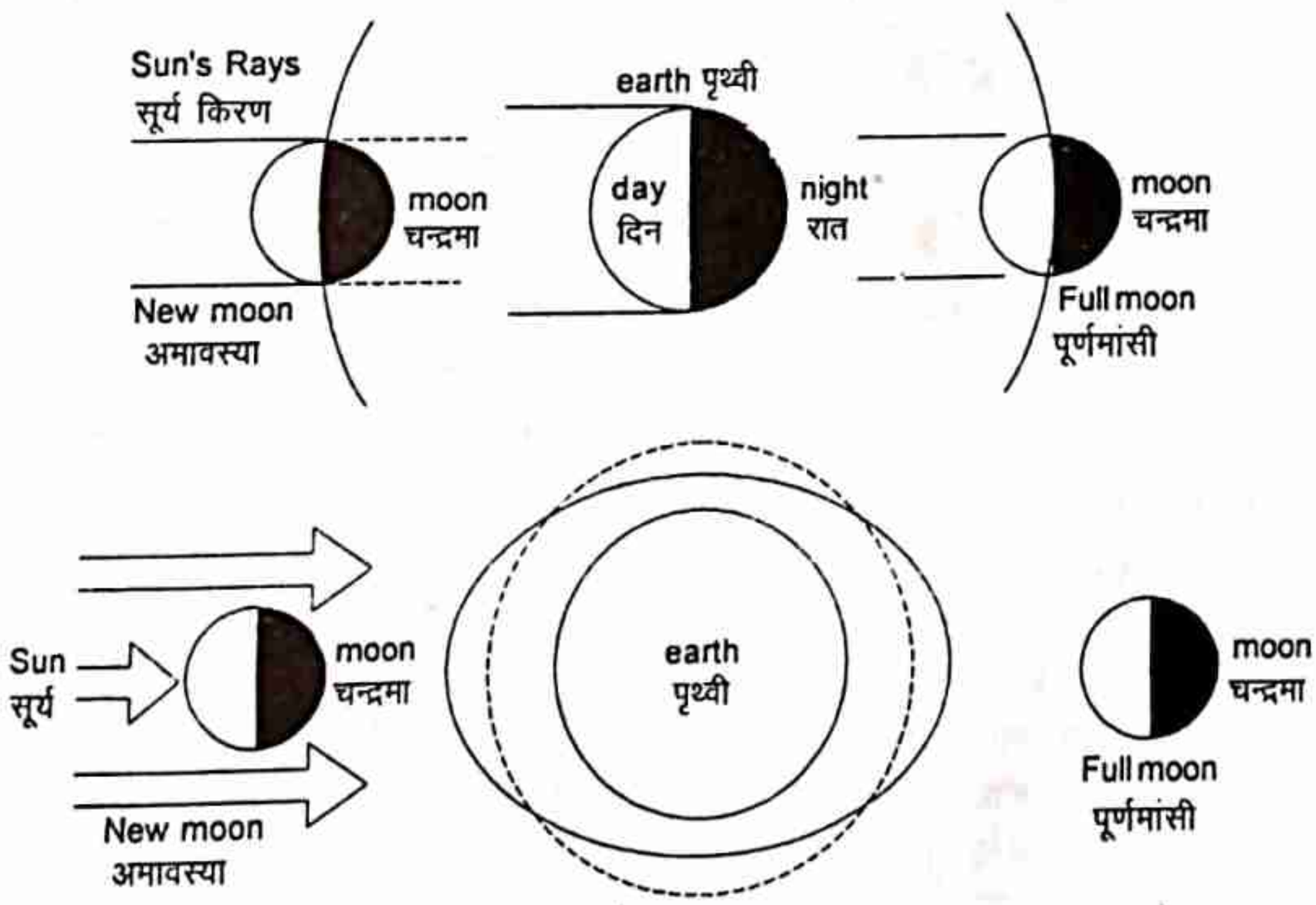

चित्र 28. 6 : पूर्णमासी तथा अमावस्या की दशाएँ तथा दीर्घ ज्वार।

(full moon) को होती है। इन दो स्थितियों में सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा की एक सीधी रेखा में स्थिति के कारण चन्द्रमा तथा सूर्य के आकर्षण बल साथ मिलकर कार्य करते हैं, जिस कारण उच्च ज्वार अनुभव किया जाता है। इस ज्वार की ऊँचाई सामान्य ज्वार से 20 प्रतिशत अधिक होती है। इस तरह के दीर्घ ज्वार महीने में दो बार (अमावस्या तथा पूर्णमांसी को) आते हैं तथा इनका समय निश्चित होता है। दीर्घ ज्वार के समय भाटा की निचाई सर्वाधिक होती है।

2. लघु ज्वार (Neap Tide)

प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष तथा कृष्णपक्ष की सप्तमी और अष्टमी को सूर्य, पृथ्वी तथा चन्द्रमा समकोणिक स्थिति (quadrature) में होते हैं, अर्थात् ये मिलकर समकोण बनाते हैं (चित्र 28.7), परिणामस्वरूप सूर्य तथा चन्द्रमा के ज्वारोत्पादक बल एक दूसरे के विपरीत कार्य करते हैं, जिस कारण सामान्य ज्वार से भी नीचा ज्वार आता है। इसे लघु ज्वार कहा जाता है। यह सामान्य ज्वार से 20 प्रतिशत नीचा होता है। इस समय भाटा की निचाई सामान्य भाटा से कम होती है, परिणामस्वरूप ज्वार तथा भाटे की जल की ऊँचाई का अन्तर बहुत कम रहता है।

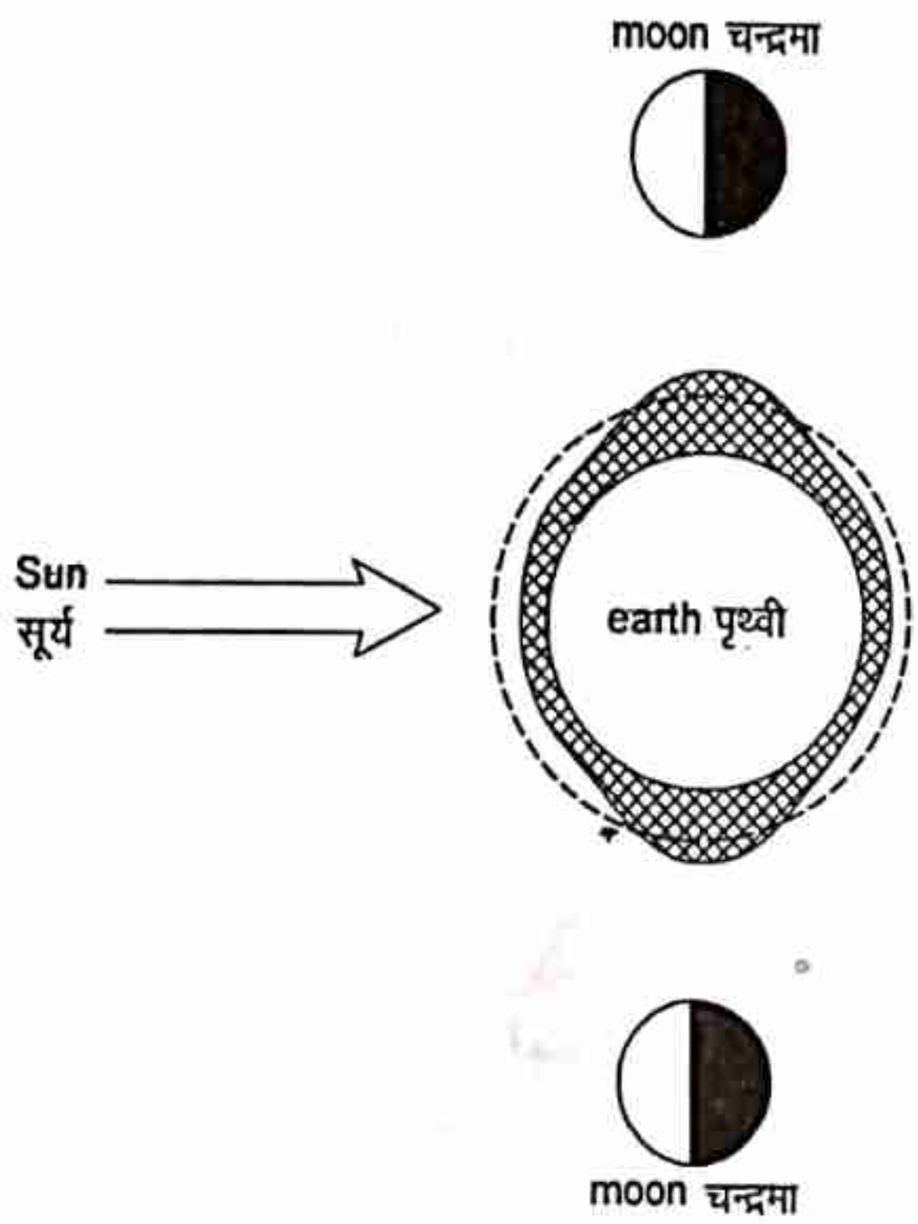

चित्र 28.7 : लघु ज्वार।

3. अयन वृत्तीय तथा भूमध्यरेखीय ज्वार

सूर्य के समान चन्द्रमा की भूमध्यरेखा के संदर्भ में उत्तरायण तथा दक्षिणायन स्थितियाँ होती हैं। यदि सूर्य की ये स्थितियाँ एक वर्ष में पूर्ण होती हैं, तो चन्द्रमा इसे 27.5 दिन के संयुति मास (synodic month) में पूरा कर लेता है। जब चन्द्रमा का उत्तर की ओर अधिकतम (दूरतम) झुकाव होता है, तो चन्द्रमा की किरणें ज्वार केन्द्र पर (कर्क रेखा के पास) लम्बवत् पड़ती हैं, जिस कारण उच्च ज्वार आता है तथा वह कर्क रेखा के सहारे पश्चिम दिशा की ओर अग्रसर होता है। कर्क रेखा के ज्वार केन्द्र के विपरीत स्थित मकर रेखा के सहारे भी उच्च ज्वार आता है। इस प्रकार कर्क तथा मकर रेखाओं के समीप आनेवाला क्रमिक ज्वार तथा भाटा (successive high and low tide waters) असमान ऊँचाई वाले होते हैं। इस तरह के ज्वार-भाटे सामान्य ज्वार-भाटे से क्रमशः अधिक ऊँचे तथा नीचे होते हैं। परन्तु दूसरे दिन के ज्वार में अन्तर नहीं होता है। इस तरह की ज्वार की घटना को दैनिक असमानता (diurnal inequality) कहते हैं। यह स्थिति महीने में दो बार होती है, जब कि चन्द्रमा का अधिकतम झुकाव (उत्तरायण—कर्क रेखा के पास तथा दक्षिणायन—मकर रेखा के पास की स्थितियों के समय) होता है। इन स्थितियों में कर्क तथा मकर रेखाओं के पास आने वाले ज्वार को अयनवृत्तीय ज्वार (tropical tides) कहते हैं। प्रत्येक महीने में चन्द्रमा भूमध्यरेखा पर लम्बवत् होता है, जिस कारण दैनिक असमानता लुप्त हो जाती है, क्योंकि दो उच्च ज्वारों की ऊँचाई तथा दो निम्न ज्वारों की ऊँचाई समान होती है। इसे **भूमध्यरेखीय ज्वार** (equatorial tide) कहते हैं।

4. अपभू तथा उपभूज्वार (Apogean & Perigean Tides)

चन्द्रमा अपने अण्डाकार कक्ष के सहारे पृथ्वी की परिक्रमा करता है। जब चन्द्रमा पृथ्वी के निकटतम (पृथ्वी के केन्द्र से चन्द्रमा के केन्द्र की दूरी 3,56,000 किमी० या 2,21,500 मील) होता है, तो उसे चन्द्रमा की **उपभू स्थिति** (perigee) कहते हैं। इस स्थिति में चन्द्रमा का ज्वारोत्पादक बल सर्वाधिक होता है, जिस कारण उच्च ज्वार उत्पन्न होता है, जो कि सामान्य ज्वार से 15 से 20 प्रतिशत तक बड़ा होता है। इसे **उपभू या भूमि नीच ज्वार** (perigean tide) कहते हैं। इसके विपरीत जब चन्द्रमा पृथ्वी से अधिकतम दूरी (पृथ्वी के केन्द्र से चन्द्रमा के केन्द्र के बीच की दूरी 4,07,000 किमी० या 2,53,000 मील होती है) पर स्थित होता है तो उसे **अपभू स्थिति** (apogee) कहते हैं। इस समय चन्द्रमा का ज्वारोत्पादक बल न्यूनतम होता है, जिस कारण लघु ज्वार उत्पन्न होता है, जो कि सामान्य ज्वार से 20 प्रतिशत छोटा होता है। इसे **अपभू या भूमि उच्च ज्वार** (apogean tide) कहते हैं। जब कभी भी दीर्घ ज्वार (spring tide) तथा उपभू ज्वार एक साथ आते हैं, तो ज्वार की ऊँचाई असामान्य हो जाती है। इसी तरह जब लघु ज्वार (neap tide) तथा उपभू ज्वार एक साथ आते हैं तो ज्वार तथा भाटा का जल-तल अत्यन्त कम हो जाता है।

5. दैनिक ज्वार (Daily Tide)

किसी स्थान पर एक दिन में आनेवाले एक ज्वार तथा एक भाटा को 'दैनिक ज्वार-भाटा' कहते हैं। यह ज्वार प्रतिदिन 52 मिनट की देरी से आता है। इस तरह का ज्वार चन्द्रमा के झुकाव के कारण आता है।

6. अर्द्धदैनिक ज्वार (Semi-daily Tide)

किसी स्थान पर प्रत्येक दिन दो बार आने वाले ज्वार को अर्द्ध दैनिक ज्वार कहते हैं। प्रत्येक ज्वार 12 घण्टे 26 मिनट बाद आता है। यह ज्वार, ज्वार के दो केन्द्रों के कारण आता है। दोनों ज्वारों की ऊँचाई तथा दोनों भाटा की निचाई समान होती है।

7. मिश्रित ज्वार (Mixed Tide)

किसी स्थान में आने वाले असमान अर्द्धदैनिक ज्वार को 'मिश्रित ज्वार' कहते हैं। अर्थात् दिन में दो ज्वार तो आते हैं, परन्तु एक ज्वार की ऊँचाई दूसरे ज्वार की अपेक्षा कम तथा एक भाटा की निचाई दूसरे की अपेक्षा कम होती है।

सिद्धान्त

28.5 ज्वार-भाटा की उत्पत्ति की परिकल्पनाएँ

सामान्य परिचय

ज्वार-भाटा की उत्पत्ति से सम्बन्धित समय-समय पर कई परिकल्पनाएँ प्रतिपादित की गयी हैं, इनमें प्रथम प्रयास सर आइजक न्यूटन का है, जिन्होंने 1687 ई० में गुरुत्वाकर्षण बल को अपने सिद्धान्त का आधार बनाया। आगे चलकर इसकी कटु आलोचना तो अवश्य हुई, परन्तु न्यूटन ने आगे आने वाले विद्वानों के लिए इस दिशा में मार्ग दर्शन किया। 1755 में लाप्लास ने **गतिक सिद्धान्त.** (dynamical theory) का प्रतिपादन किया। ह्वेवेल (William Whewell) ने 1833 तथा जी० बी० एयरी ने 1842 में **प्रगामी तरंग सिद्धान्त** (progressive wave theory) का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के विरोध में आर० ए० हैरिस ने **स्थैतिक तरंग सिद्धान्त** (stationary wave theory) का प्रतिपादन किया। इन सिद्धान्तों का संक्षिप्त आलोचनात्मक विश्लेषण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. संतुलन सिद्धान्त (Equilibrium Theory)

1687 में न्यूटन ने अपने 'गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया, जिसमें बताया गया कि ब्रह्माण्ड में प्रत्येक वस्तु में आकर्षण बल होता है, जिस कारण वे एक दूसरे को अपनी ओर खींचते रहते हैं। इन वस्तुओं के सम्मिलित गुरुत्वाकर्षण बल में सदैव संतुलन की व्यवस्था रहती है। इसी आधार पर सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा आदि आपसी आकर्षण के कारण ब्रह्माण्ड में समस्थिति में टिके हैं। यद्यपि सूर्य का आकर्षण बल चन्द्रमा की अपेक्षा बहुत अधिक है, परन्तु पृथ्वी के अत्यधिक करीब होने के कारण चन्द्रमा के आकर्षण बल का प्रभाव पृथ्वी की सतह पर सूर्य की अपेक्षा अधिक होता है। पृथ्वी तथा चन्द्रमा एक ही आकर्षण केन्द्र के चारों ओर चक्कर लगाते हैं जिस कारण इनमें दो तरह के बल उत्पन्न होते हैं—(i) **केन्द्रापसारित बल** (centrifugal force), जो कि केन्द्र से बाहर की ओर कार्य करता है, तथा (ii) **अभिकेन्द्री बल** (centripetal or gravitational force) जो कि केन्द्र की ओर कार्य करता है। पृथ्वी पर चारों ओर केन्द्रापसारित या बर्हिमुखी बल समान होता है, परन्तु उस पर चन्द्रमा का आकर्षण बल असमान होता है। चन्द्रमा के ठीक सामने स्थित पृथ्वी का भाग उसके केन्द्र से 4000 मील (6, 400 किमी०) नजदीक होता है, परिणामस्वरूप वहाँ पर आकर्षण बल केन्द्रापसारित बल से अधिक होता है। चूँकि पृथ्वी ठोस तथा द्रव पदार्थों (जल) से बनी है, अत: इस आकर्षण बल के बारण पृथ्वी का जल खिंच जाता है, जिस कारण ज्वार आ जाता है। दोनों ध्रुवों को मिलाने वाली रेखा पर दोनों बल समान होते हैं, परन्तु विपरीत स्थान पर केन्द्रापसारित बल अभिकेन्द्री बल (आकर्षण बल) से अधिक होता है, जिस कारण वहाँ पर भी ज्वार अनुभव किया जाता है। यहाँ पर केन्द्रापसारित बल के कारण जल पीछे खिंच जाता है (बाहर की ओर) और ज्वार आ जाता है। इस तरह पृथ्वी पर एक समय में दो स्थानों पर ज्वार आता है। एक ज्वार आकर्षण बल के बहिर्मुखी बल से अधिक होने तथा दूसरा ज्वार बहिर्मुखी बल के आकर्षण बल से अधिक होने के कारण आता है, ताकि उनमें संतुलन बना रहे।

आलोचना : इस सिद्धान्त के विरोध में बताया गया है कि चूँकि पृथ्वी पर जल तथा स्थल दोनों पाये जाते हैं अत: चन्द्रमा के आकर्षण बल का प्रभाव उतना सक्रिय नहीं हो सकता जितना कि केवल जल पर। ज्वार के समय जल का ऊपर उठना बिना किसी क्षैतिज गति के सम्भव नहीं हो सकता है। इस कमी को दूर करने के लिए आगे चलकर इस सिद्धान्त में संशोधन करके यह बताया गया कि ज्वार के समय जल में लहरें उठती हैं, जो कि पश्चिम दिशा की ओर अग्रसर होती हैं। इसके आधार पर प्रत्येक देशान्तर पर ज्वार का समय एक ही होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्वारीय लहरों को पृथ्वी का एक पूरा चक्कर लगाने के लिए वांछित परिकलित समय से अधिक लग जाता है, क्योंकि सभी महासागरों के तटों की रचना, उनकी गहराई आदि में पर्याप्त अन्तर मिलता है और सागरीय जल पूर्ण तरल नहीं हो पाता है, बल्कि उसे (गति) रगड़ (friction) का सामना करना पड़ता है। यदि समस्त पृथ्वी की रचना केवल जल से ही हुई रहती तो ज्वारी तरंगें स्वतंत्रतापूर्वक भ्रमण कर सकती हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि उन्हें महाद्वीपीय अवरोधों का सामना करना पड़ता है। इसी आधार पर सर जार्ज एयरी ने बताया कि गुरुत्वाकर्षण बल के आधार पर पृथ्वी पर ज्वार-भाटा की उत्पत्ति की व्याख्या करना त्रुटिपूर्ण है।

2. प्रगामी तरंग सिद्धान्त (Progressive Wave Theory)

विभिन्न स्थानों पर ज्वार की सक्रियता में अन्तर तथा एक ही देशान्तर पर ज्वार के समय में अन्तर आदि के आधार पर विलियम ह्वेवेल ने 1833 में प्रगामी तरंग सिद्धान्त तथा एयरी ने 1842 में **नहर सिद्धान्त** (canal theory) का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्वार लहर के रूप में होते हैं, जिनका श्रृंग या शिखर ज्वार होता है तथा द्रोणी भाटा होती हैं। ये ज्वारीय तरंगें चन्द्रमा से प्रेरित होकर उत्पन्न होती हैं तथा पूर्व से पश्चिम दिशा में भ्रमण करती हैं। इनकी गति तथा लम्बाई पर महासागरों की गहराई का सर्वाधिक प्रभाव होता है। यदि पृथ्वी पर सर्वत्र जल ही जल होता तो ये ज्वारीय तरंगें अबाध गति से पू० से प० दिशा में भ्रमण करतीं, परन्तु पृथ्वी पर महाद्वीपों के कारण इनकी भ्रमण दिशा तथा गति में व्यवधान हो जाता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में द० ध्रुव सागर में स्थल के अभाव के कारण चन्द्रमा से प्रेरित होकर ज्वारीय तरंगें निर्मित होती हैं। इन तरंगों को प्राथमिक तरंगें (primary waves) कहते हैं, जो चन्द्रमा के कारण पूर्व से पश्चिमी दिशा की ओर अग्रसर होती हैं। इसी समय स्थलखण्डों के अवरोध के कारण इनकी स्थिति उत्तर की ओर होती जाती है। इस स्थलीय अवरोध के कारण

दूसरी तरंगों का निर्माण होता है, जिन्हें द्वितीयक या गौण तरंगें (secondary waves) कहते हैं। ये तरंगें भी पूर्व से पश्चिमी दिशा की ओर भ्रमण करती हैं। इसी बीच इनसे अन्य गौण तरंगें भी बन जाती हैं जो उत्तर की ओर खिसकती जाती हैं। इस तरह दक्षिण में उत्पन्न होकर ये ज्वारीय तरंगें निरन्तर उत्तर की ओर सरकती जाती हैं, यद्यपि इनकी सक्रियता में कमी होती जाती है। परन्तु ये सर्वत्र ज्वार उत्पन्न करती हैं। स्मरणीय है कि प्राथमिक तरंगें चन्द्रमा से प्रभावित होती हैं, परन्तु गौण लहरें स्वतंत्र रूप से भ्रमण करती हैं। दक्षिण में उत्पन्न लहर के उत्तर पहुँचने में निरन्तर देरी होती है, जिस कारण एक ही देशान्तर पर स्थित विभिन्न स्थानों पर ज्वार के समय में अन्तर होता जाता है। ये ज्वारीय तरंगें उतरी ध्रुव के पास पहुंचकर निष्क्रिय हो जाती हैं। जब इन तरंगों का शिखर तट के पास पहुँचता है तो ज्वार आता है, और जब तरंग की द्रोणी (trough) आती है तो भाटा होता है। इस प्रकार हिन्द महासागर, आन्ध्र महासागर, तथा प्रशान्त महासागर ज्वार की दृष्टि से दक्षिणी सागर में खाड़ी के समान हैं। द० सागर में ज्वारीय तरंगें निर्मित होकर इन महासागरों में निरन्तर उत्तर की ओर बढ़ती जाती हैं। इसी कारण से इन्हें प्रगामी तरंग कहा जाता है। ज्वार के स्वभाव, समय तथा प्रकार महासागरों की गहराई एवं तट की बनावट से निर्धारित होते हैं।

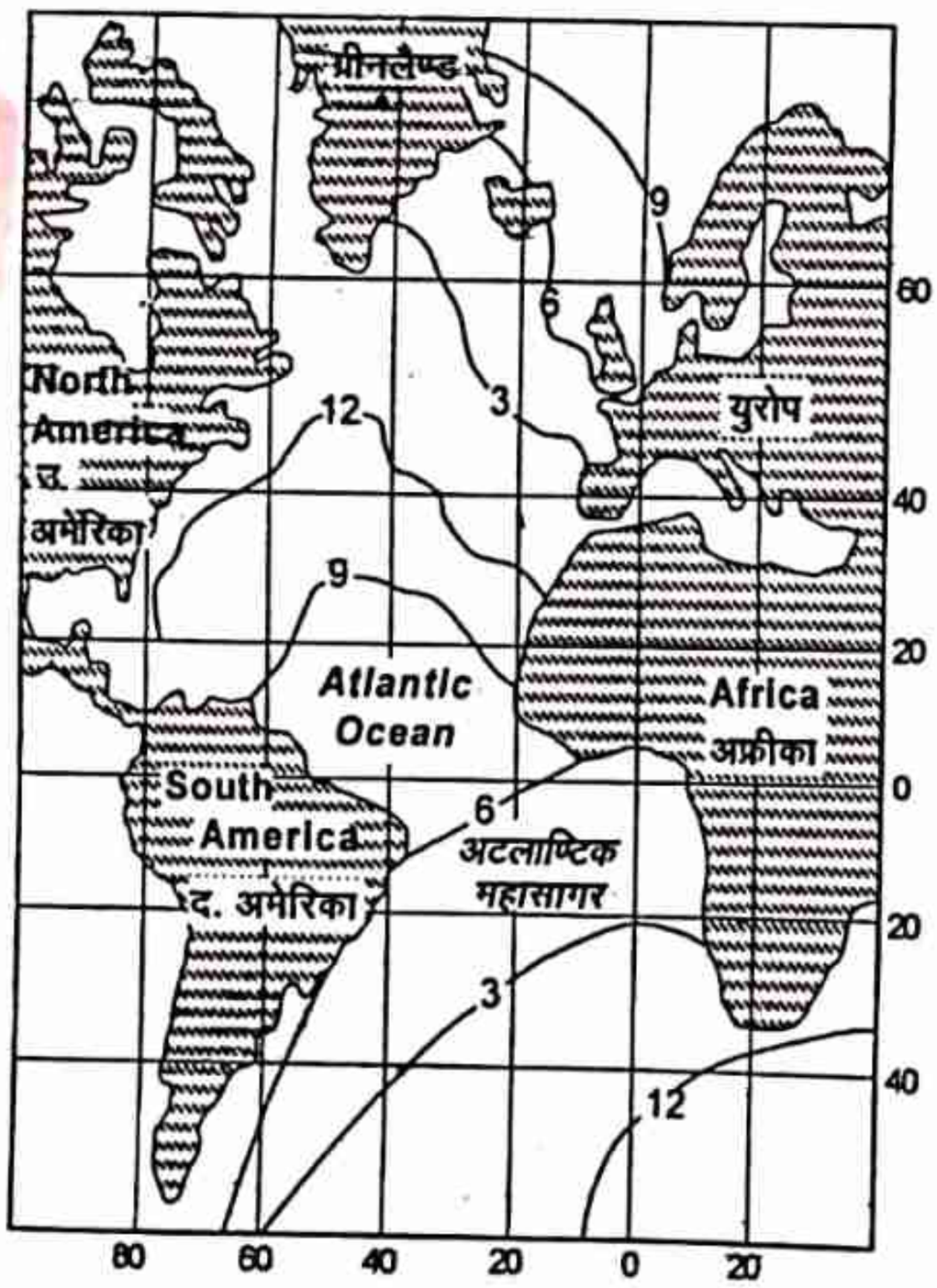

चित्र 28.8 : अटलाण्टिक महासागर में प्रगामी तरंग सिद्धान्त के आधार पर समज्वारीय रेखाएँ (co-tidal lines)।

मूल्यांकन : इस सिद्धान्त के आधार पर ज्वार की आयु दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ती जाती है, अर्थात् किसी देशान्तर पर दक्षिण में ज्वार उत्पन्न होता है, वह उत्तर में देर से पहुँचता है, परन्तु अब तक जो आंकड़े प्राप्त हैं, उनके आधार पर बताया जाता है कि आन्ध्र महासागर में हार्न अन्तरीप से लेकर ग्रीनलैण्ड तक दीर्घ ज्वार का समय लगभग समान होता है। सामान्य रूप में ज्वार स्थानीय तत्व होते हैं। इनकी उत्पत्ति को दक्षिण सागर में मान लेना तथा उनका पुनः उत्तर की ओर अग्रसर होना न्यायोचित नहीं है। कई महासागरों में एक ही अक्षांश पर दैनिक तथा अर्द्ध दैनिक दोनों प्रकार के ज्वार-भाटा देखे गये हैं। ज्वार-भाटा की यह विभिन्नता प्रगामी तरंग सिद्धान्त की प्रामाणिकता को संदिग्ध कर देती है।

3. स्थैतिक तरंग सिद्धान्त (Stationary Wave Theory)

अमेरिकी विद्वान हैरिस ने प्रगामी तरंग सिद्धान्त के विरोध में स्थैतिक तरंग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार

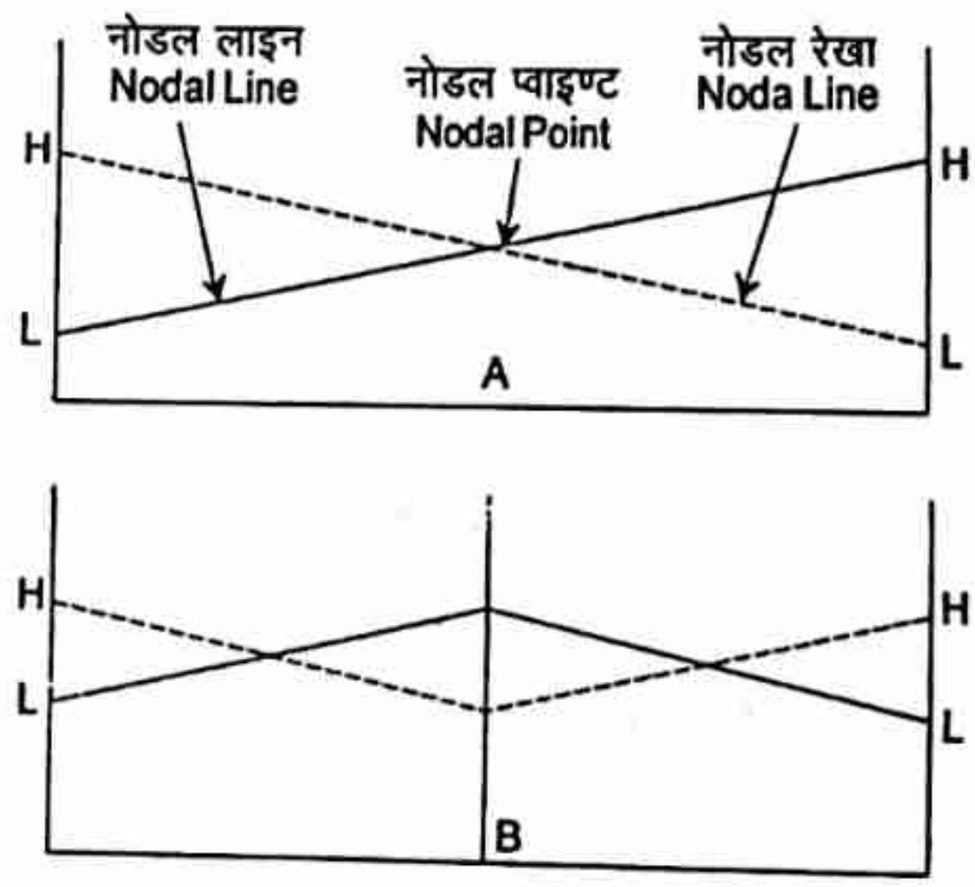

चित्र 28.9 : (अ) समकेन्द्री (uninodal) तथा (ब) द्विकेन्द्रीय (binodal) दोलन (oscillation) प्रणाली।

पृथ्वी पर ज्वार-भाटा की क्रिया दक्षिण महासागर में उठने वाली प्रगामी तरंगों के कारण नहीं होती है, वरन् प्रत्येक महासागर में स्वतंत्र रूप में सम्पादित होती है। हैरिस ने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के पहले एक छोटा सा प्रयोग किया। यदि एक आयताकार बरतन लिया जाय तथा उसमें जल भरकर एक किनारे को हिलाया जाय या एक झटका दिया जाय तो बरतन में एक किनारे पर जल की सतह ऊपर उठ जायेगी तथा दूसरे किनारे पर जल की सतह नीची हो जायेगी। इस कारण जल में दोलन (oscillation) प्रारम्भ हो जायेगा। इसे स्थायी तरंग कहते हैं। बरतन के बीच में एक ऐसा केन्द्र होगा, जहाँ पर जल तल में कोई अन्तर नहीं आयेगा। इस बिन्दु को केन्द्रीय बिन्दु (nodal point) कहते हैं। बरतन में जल-तल में परिवर्तन एक सीधी

रेखा के सहारे होता है। इस रेखा को निस्पन्द रेखा (nodal line) कहते हैं। बरतन में जल का दोलन काल (period of oscillation हिलने का समय) बरतन की लम्बाई, गहराई तथा उसमें लगाये जाने वाले झटके के बल पर आधारित होता है।

उपर्युक्त प्रयोग के आधार पर हैरिस ने बताया कि पृथ्वी पर विभिन्न महासागर जलपूर्ण बरतन के समान होते हैं। चन्द्रमा के ज्वारीय बल के कारण महासागरीय जल में दोलन (oscillation) प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कारण यह दोलन एक सीधी रेखा के सहारे न होकर एक केन्द्र के चारों ओर होता है, जिस कारण कई भंवर बिन्दु (amphidromic points) बन जाते हैं। इस बिन्दु पर महासागरीय जल-तल समान तथा शान्त रहता है। इस बिन्दु के चारों ओर जल-तल असमान रहता है तथा इसके चारों ओर तरंगें घड़ी की सुइयों की विपरीत दिशा में चक्कर लगाती हैं। इस तरह की क्रिया सभी महासागरों में होती है तथा उसके संयुक्त रूप को दोलन प्रणाली (oscillation system) कहते हैं। भंवर बिन्दु से कई स्थायी तरंगें उठती हैं। प्रत्येक तरंग के दोलन का एक निश्चित समय होता है। इस दोलन क्रिया पर महासागरों की तली की रचना, गहराई, लम्बाई एवं पृथ्वी की परिभ्रमण गति का प्रभाव पड़ता है। भंवर बिन्दु से उत्पन्न तरंगें तट की ओर अग्रसर होती हैं। इनके आगे बढ़ने में महाद्वीपों के प्रायद्वीपीय भाग, खाड़ियों तथा द्वीपों से अवरोध उत्पन्न होता है। जब ये तरंगें तट पर पहुँचती हैं, तो इनके श्रृंग (crest) के कारण ज्वार तथा द्रोणी (trough) के कारण भाटा आता है। महासागरों की गहराई जितनी अधिक होती है, स्थैतिक तरगों की ऊंचाई उतनी ही अधिक होती है तथा उच्च या दीर्घ ज्वार आता है। छिछले महासागरों में स्थैतिक तरंग की कम ऊँचाई के कारण लघु ज्वार आते हैं। एक समय में आने वाले ज्वार स्थानों को रेखाओं (मानचित्र पर) से मिलाकर **सम ज्वार रेखा मानचित्र** (co-tidal line map) तैयार किया जा सकता है।

29

Topic :- **महासागरीय धाराएं**

(Ocean Currents)

29.1 सागरीय तरंग : तात्पर्य तथा संघटक

सागरीय जल का कार्य कई कारकों द्वारा सम्पन्न होता है। उदाहरण के लिये सागरीय लहर, धारायें, ज्वारीय तरंग तथा सुनामिस। यद्यपि सागर तटीय दृश्यावली के सृजन में सागरीय लहरों का सर्वाधिक महत्व होता है, परन्तु सभी कारकों का सामान्य परिचय आवश्यक है। सागरीय लहरें सागर तटीय भाग पर अपरदनात्मक कार्य में सबसे अधिक सहयोग प्रदान करती हैं। सागर या झीलों में लहरों का आविर्भाव कई कारणों से होता है, परन्तु इनमें पवन सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती है। पवन सागरीय जल की सतह पर रगड़ द्वारा लहरों का सृजन करती है। इतना ही नहीं, पवन द्वारा उत्पन्न लहरों में गति का भी संचार होता है। लहरें सागरीय जल की सतह के समानान्तर नहीं होती हैं वरन् उनका कुछ भाग ऊपर उठ जाता है तथा कुछ भाग नीचा हो जाता है। इस तरह लहरों का सबसे ऊंचा उठा हुआ भाग **शीर्ष** (crest) कहलाता है तथा सबसे नीचे का दबा भाग **गर्त** (trough) कहा जाता है। दो शीर्षों के बीच या दो गर्तों के बीच की क्षैतिज दूरी को लहर की लम्बाई कहते हैं। लहर के आगे बढ़ने की गति को लहरवेग तथा दो क्रमबद्ध शीर्षों या गर्तों (two consecutive crests or troughs) के गुजरने के समय को लहर अवधि कहते हैं। लहर की लम्बाई, ऊंचाई आदि जल की गहराई, पवन वेग, जल विस्तार आदि तथ्यों पर आधारित होती है। यद्यपि पवन वेग द्वारा लहरों का आकार निर्धारित होता है, परन्तु अधिक गहरे जल में लहरों का आकार सर्वाधिक होता है। 16 मीटर तक की ऊंचाई वाली लहरों का अध्ययन किया गया है। विशेष परिस्थितियों में इससे ऊँची भी लहरें हो सकती हैं। सागरीय जल के विस्तार द्वारा भी लहरों का आकार निश्चित होता है। जिस जल स्तर पर होकर लहरें अग्रसर होती हैं उसे **फेच** कहते हैं। अधिक विस्तृतं फेच पर विस्तृत आकार वाली लहरों का आविर्भव होता है। प्रयोगशाला में किये गये प्रयोग के अनुसार यदि 1500 किलोमीटर की दूरी तक विस्तृत फेच पर पवन का प्रवाह 105 किलोमीटर प्रति घण्टे के हिसाब से 50 घण्टे तक है तो 20 मीटर ऊंची लहर का सृजन (सैद्धान्तिक रूप में) हो सकता है।

29.2 सागरीय लहरों का जनन

सागरीय तरंगों की उत्पत्ति की वास्तविक प्रक्रिया को आज तक भली भांति समझा नहीं जा सका है। परन्तु इस तथ्य पर आम सहमति है कि सागरों में लहरों का जनन किसी न किसी प्रकार की ऊर्जा के द्वारा ही होता है। सागरीय लहरों की उत्पत्ति के निम्न सम्भावित कारण हैं :

- वायुमण्डलीय परिसंचरण (circulation) एवं हवायें,
- विभिन्न घनत्व वाली दो विपरीत स्वभाव वाली राशियों (वायु तथा जल) का संचलन,
- महासागरों में विभिन्न घनत्व वाली जलराशियों का संचलन,
- सागर तटीय क्षेत्रों के जल में तटीय भाग को भूस्खलन द्वारा शैल राशियों का गिरना (तटीय भागों में भूमिस्खलन),
- सागरीय तली में विवर्तनिक घटनायें, यथा: भ्रंशन, क्षेपण (thrusting) आदि,
- सागरीय तली में अन्त: सागरीय भूकम्पों (सुनामी उत्पन्न करने वाले भूकम्प) का आना। इनसे उत्पन्न लहरों को **सुनामी** कहते हैं,
- सागरीय तली में अन्त: सागरीय ज्वालामुखियों का उद्भेदन,
- चन्द्रमा एवं सूर्य के गुरुत्वाकर्षण बल, इनसे ज्वारीय तरंगें उत्पन्न होती है,

- वायुमण्डलीय तूफान, जैसे उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात, इनसे उत्पन्न लहरों को **तूफान तरंग** (storm waves) कहते हैं,
- मानवजनित क्रियायें, जैसे बड़ी-बड़ी व्यापारिक जहाजों का परिचालन, आणविक (परमाणु) परीक्षण, परमाणु विस्फोट आदि।

इस तथ्य पर आम सहमति है कि हवा सागरीय लहरों की उत्पत्ति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक हैं। तेज गति से चलने वाली हवा सागरीय सतह पर रगड़ (friction) द्वारा लहरों को जन्म देती है। चूंकि हवा का चलना एक नियमित प्रक्रिया है (यद्यपि हवा की गति में परिवर्तन होता रहता है), अत: वायु द्वारा उत्पन्न लहरों में आकार (size), गति तथा दिशा सम्बन्धी विभिन्नतायें होती हैं। वायु-जनित तरंगों का आकार, गति तथा उनकी दिशा निम्न कारकों से नियंत्रित होती हैं:

- वायु की गति,
- एक दिशा में वायु के प्रवाहित होने की अवधि,
- फेच का विस्तार (सागरीय सतह का वह भाग जिस पर वायु प्रवाहित होती है),
- सागरीय दशा, आदि।

वायुजनित सागरीय तरंगों का एक जीवन चक्र होता है जिसके अन्तर्गत निम्न क्रमिक अवस्थाओं को सम्मिलित करते हैं:

लघु एवं तरुण तरंग का जनन → तरंगलम्बाई (wave-length), तरंग ऊंचाई एवं गति के सन्दर्भ में तरंग का विकास → अन्तत: उसकी समाप्ति, जब तरंग या तो खुले सागर में या प्रतोड़न रेखा पर टूट जाती हैं तथा उसकी ऊर्जा निर्मुक्त हो जाती है।

29.3 सागरीय तरंगों के प्रकार

सागरीय तरंगों को विभिन्न आधारों पर निम्न प्रकार से विभिन्न प्रकारों में विभाजित करते हैं:

1. तरंग उत्पन्न करने वाले बल के आधार पर

(1) वायु-जनित सागरीय तरंग, सबसे अधिक कामन तरंग होती है

(2) अन्त: सागरीय भूमिस्खलन द्वारा जनित तरंग

(3) विवर्तनिक कारणों से जनित तरंग

(4) सुनामीजनिक अन्त: सागरीय भूकम्पों द्वारा जनित सुनामी तरंग

(5) **ज्वारीय तरंग**, चन्द्रमा एवं सूर्य के गुरुत्वाकर्षण बलों द्वारा जनित तरंग

(6) **तूफान तरंग**, उष्ण कटिबन्धी तूफानों (चक्रवातों) द्वारा जनित तरंग

(7) अन्त: सागरीय ज्वालामुखी के उद्भेदन से उत्पन्न तरंग

2. सागरीय जल की गहराई के आधार पर

(1) गहरे जल की तरंग या **दोलन तरंग** (oscillatory waves)

(2) छिछले जल की तरंग या **स्थानान्तरणी तरंग** (translatory wave)

(3) संक्रमणीय (transitional) तरंग

3. भूआकृतिक महत्व के आधार पर

(1) रचनात्मक (constructive) तरंग

(2) विनाशी (destructive) तरंग

4. तरंगों के टूटने के आधार पर

(1) स्पिलिंग ब्रेकर (ब्रेकर का अर्थ है ब्रेकर तरंग)

(2) प्लंजिंग ब्रेकर तरंग

(3) सर्जिंग ब्रेकर तरंग

(4) कोलैप्सिंग ब्रेकर तरंग

5. बहु कारकों के आधार पर

(1) स्वेल तरंग (वायुजनित)

(2) रोग तरंग, सुपर तरंग या मांस्टरस तरंग (कई तरंगों के ओवरलैपिंग के कारण जनित)

(3) सर्फ तरंग

दोलन तरंग (oscillatory waves)/गहरे जल की तरंग

दोलन या दोलायमान (waves of oscillation) लहरों का सृजन अधिक गहरे जल वाले क्षेत्र में होता है। इस प्रकार की लहरों में जल की प्रत्येक बूंद वृत्ताकार रूप में गतिशील होती है। इस लहर में जल की गति लहर श्रृंग पर आगे की ओर, अग्र भाग में ऊपर की ओर, लहर गर्त में पीछे की ओर तथा पृष्ठ भाग में नीचे की ओर होती है। सैद्धान्तिक रूप में दोलन लहरें स्थिर होती हैं, परन्तु वास्तव में इनमें भी आगे की ओर कुछ गति अवश्य होती है। पवन वेग के साथ पवन दिशा में ये लहरें निश्चय ही आगे की ओर बढ़ती हैं।

स्थानान्तरणी तरंग (wave of translation)/छिछले सागर की तरंग

इसे **एकश्रृंगी तरंग** (solitary wave) भी कहा जाता है। यह दोलन तरंग से कई माने में भिन्न होती है। इस तरंग में जलगति तरंग संचरण दिशा (wave propagation) में होती है। इस तरंग के अन्तर्गत ऊपरी सतह से लेकर सागर तली तक समस्त जल एक ही दिशा (तरंग संचरण दिशा) में गतिशील होता है। इस कारण स्थानानतराणी तरंगें दोलन तरंगों से अपरदनात्मक कार्य में अधिक महत्वपूर्ण होती हैं।

संक्रमणीय तरंग (transitional waves)

उपर्युक्त दो प्रकार की सागरीय तरंगों, अर्थात् गहरे जल की तरंगों (दोलन तरंगों) एवं छिछले जल की तरंगों (स्थानान्तरणी तरंगों) के मध्य उत्पन्न होने वाली सागरीय लहरों को संक्रमणीय या मध्यवर्ती तरंग कहते हैं। इस तरह की तरंगों से जल की गहराई या तरंग आधार (wave base) छिछले जल की तरंगों की तरंगदैर्ध्य (wavelength) के 1/20वां भाग से अधिक परन्तु गहरे जल की तरंगों की तरंगदैर्ध्य के 1/2 भाग से कम होती है।

दोलन तरंगों, स्थानान्तरणी तरंगों तथा संक्रमणीय तरंगों की गति में जल की गहराई एवं तरंगदैर्ध्य के सम्बन्ध में विभिन्नता होती है:

- छिछले सागर की तरंगों (स्थानान्तरणी तरंगों) की गति जल की गहराई पर निर्भर करती है, अर्थात् जल की गहराई अधिक होने पर तरंग की गति बढ़ती है।
- गहरे जल की तरंगों (दोलन तरंगों) की गति उनकी तरंगदैर्ध्य से निर्धारित होती है, अर्थात् तरंगदैर्ध्य जितनी ही बड़ी होगी, तरंग गति भी उतनी ही अधिक होगी। तरंग दैर्ध्य कम होने पर तरंग गति कम होती है।
- जल की गहराई तथा तरंगदैर्ध्य, दोनों संक्रमणीय तरंगों की गति को निर्धारित करती हैं।

दैत्याकार या रोग तरंग (monstrous या rogue waves)

कभी-कभी अचानक अत्यधिक ऊँची-ऊँची प्रचण्ड तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी अनियमित सागरीय तरंगों को रोग तरंग इसलिए कहते हैं क्योंकि ये अत्यधिक प्रचण्ड एवं विध्वंशकारी होती हैं। इन तरंगों को सुपर तरंग भी कहते हैं। रोग तरंगों की उत्पत्ति की वास्तविक प्रक्रिया का ठीक से पता नहीं चल पाया है, परन्तु सैद्धान्तिक रूप में यह माना जाता है कि जब कई क्रमिक तरंगों की ओवरलैपिंग हो जाती है तो रोग तरंगों की उत्पत्ति होती है।

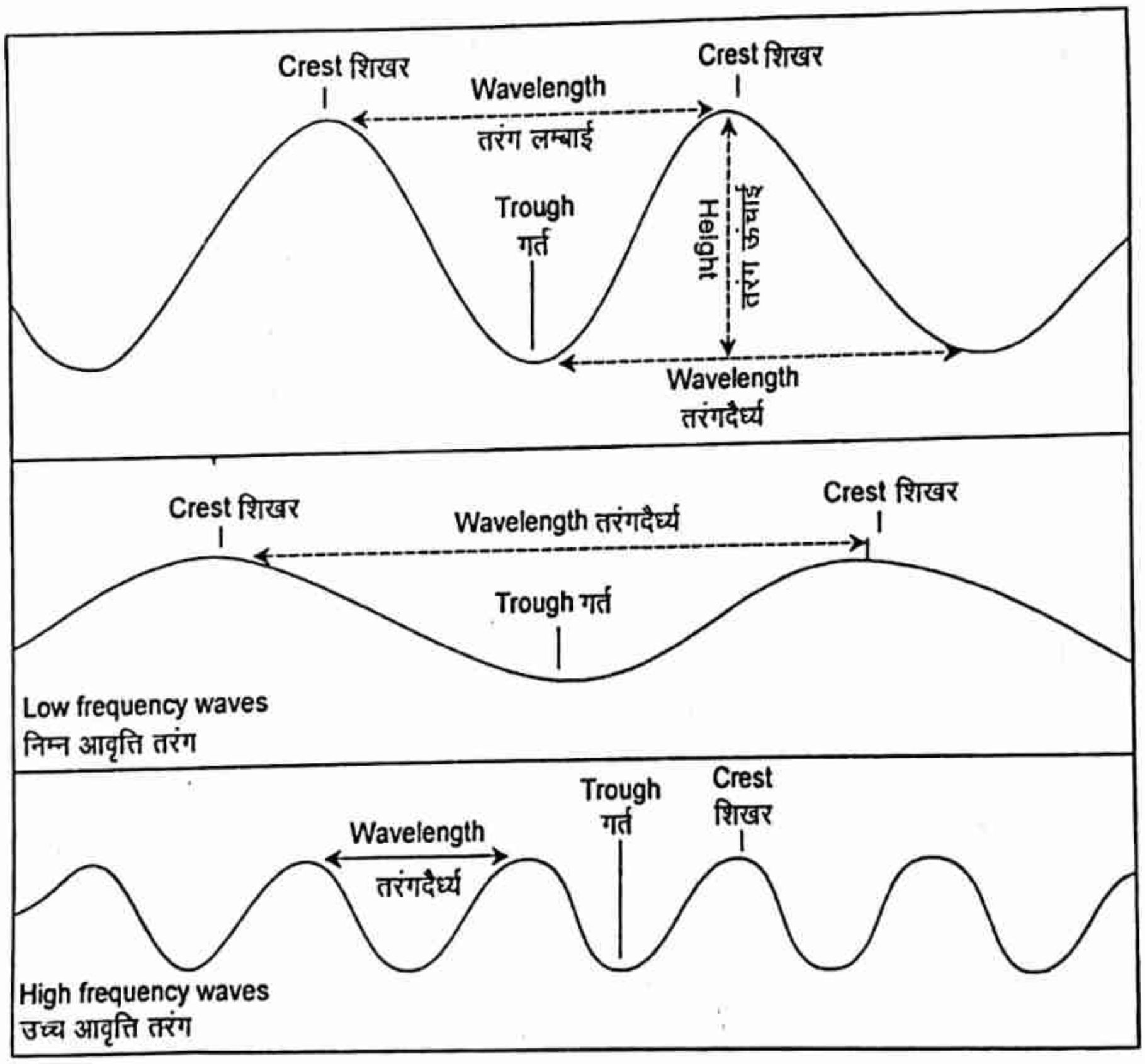

चित्र 29.1 : सागरीय तरंग के सामान्य रूप।

रचनात्मक (constructive) एवं विनाशी (destructive) तरंग

भूआकृतिक दृष्टि से सागरीय तरंगों को निम्न दो प्रकारों में विभक्त किया जाता है:

- रचनात्मक सागरीय तरंग
- विनाशी सागरीय तरंग

दीर्घ तरंगदैर्ध्य (long wavelength) एवं निम्न आवृत्ति (low frequency) वाली सागरीय तरंगें रचनात्मक स्वभाव वाली होती है क्योंकि जब ये शीघ्रता से सागरीय पुलिनों (beaches) पर अग्रसर होती हैं तो इनके आयतन एवं ऊर्जा में तेजी से क्षय होता है क्योंकि जल पुलिन के मोटे पदार्थों में रिस जाता है। इस कारण तरंगों का बैकवाश कमजोर पड़ जाता है। इस प्रकार दीर्घ तरंगदैर्ध्य एवं निम्न आवृत्ति वाली तरंगों द्वारा पुलिनों का सम्बर्द्धन एवं निर्माण होता है।

दूसरी तरफ छोटी तरंगदैर्ध्य, ऊंचे शिखर एवं उच्च आवृत्ति वाली सागरीय तरंगें विध्वंशक होती हैं क्योंकि जब ये तीव्र ढाल वाले सागरीय तटों से टकराती हैं तो अपरदन करती हैं एवं पुलिनों का विनाश करती हैं।

चित्र 29.1 में सागरीय तरंगों की तरंगदैर्ध्य (wave length), तरंग ऊंचाई wave height or crest), तरंग शिखर (crest), तरंग गति (trough), तरंग आवृत्ति (wave frequency) आदि को दर्शाया गया है।

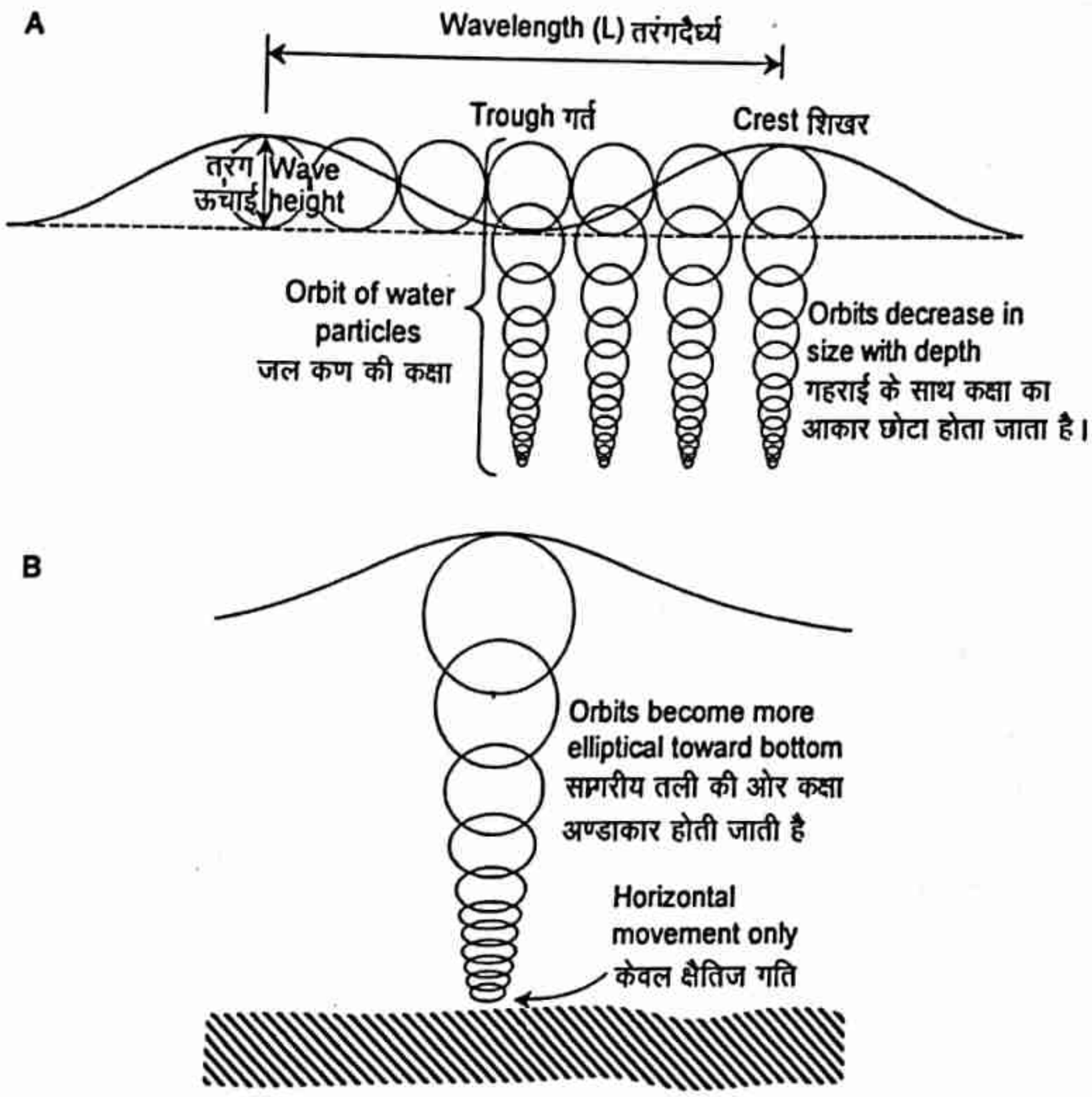

चित्र 29.2 : (अ) जलकणों की कक्षीय गति द्वारा तरंग रूप (wave form) का जनन। प्रत्येक जल कण एक ही स्थिति के चतुर्दिक परिक्रमा करता है जबकि तरंग का रूप आगे बढ़ता जाता है। (ब) जलकण की परिक्रमा की कक्षा का आकार जल सतह से नीचे की ओर छोटा एवं अण्डाकार होता जाता है। तली पर जल की गति क्षैतिज हो जाती है तथा जल आगे एवं पीछे की ओर गतिशील होता है।

चित्र 29.2 में तरंग रूप (wave from) के जनन की प्रक्रिया को प्रदर्शित किया गया है।

सर्फ मण्डल (surf zone) एवं ब्रेकर

सागरीय तरंगें प्राय: सागरीय तट की ओर अग्रसर होती हैं। जैसे-जैसे ये तट के निकट होती जाती हैं, जल की गहराई कम होती जाती है। इस कारण निचले जल में तरंग का निचला भाग तली से रगड़ खाकर आगे चलता है, परन्तु इस अग्रिम गति में रगड़ के कारण रुकावट होती है। इस कारण लहरों की ऊँचाई अधिक तथा लम्बाई कम होने लगती है। तरंग श्रृंग की ऊँचाई अधिक हो जाने से वह टूट कर आगे गिरता है तथा तट की ओर चलता है। इस टूटी हुई जल की तरंग को सर्फ, ब्रेकर या स्वाश

कहते हैं। तट से टकरा कर जल पीछे की ओर लौटता है, परन्तु यह जल तट की ओर जाने वाली तरंग के नीचे होकर पीछे लौटता है। इस तरंग प्रवाह को **अध: प्रवाह** (undertow or back wash) कहते हैं, क्योंकि इसमें जल पीछे की ओर लौटता है। यह अध: प्रवाह तटीय भाग पर अपरदन द्वारा उत्पन्न कंकड़-पत्थर आदि पदार्थों को अपने साथ बहाकर सागर की ओर लाता है। इस तरह **अध: प्रवाह** तरंग के निक्षेपण कार्य में बाधक होता है। तट से जिस दूरी पर समान ऊंचाई वाली तरंगों के श्रृंग टूटते हैं तथा सर्फ के रूप में बदलते हैं, उस दूरी से यदि तट के समानान्तर रेखा खींची जाय तो उसे **प्रतोड़न रेखा** (plunge line) कहते हैं। इस तरह की प्रतोड़न रेखा पर पहुँच कर तरंगें सर्फ का रूप धारण कर लेती हैं। सर्फ द्वारा ही तटीय भाग में काट-छांट का कार्य होता है।

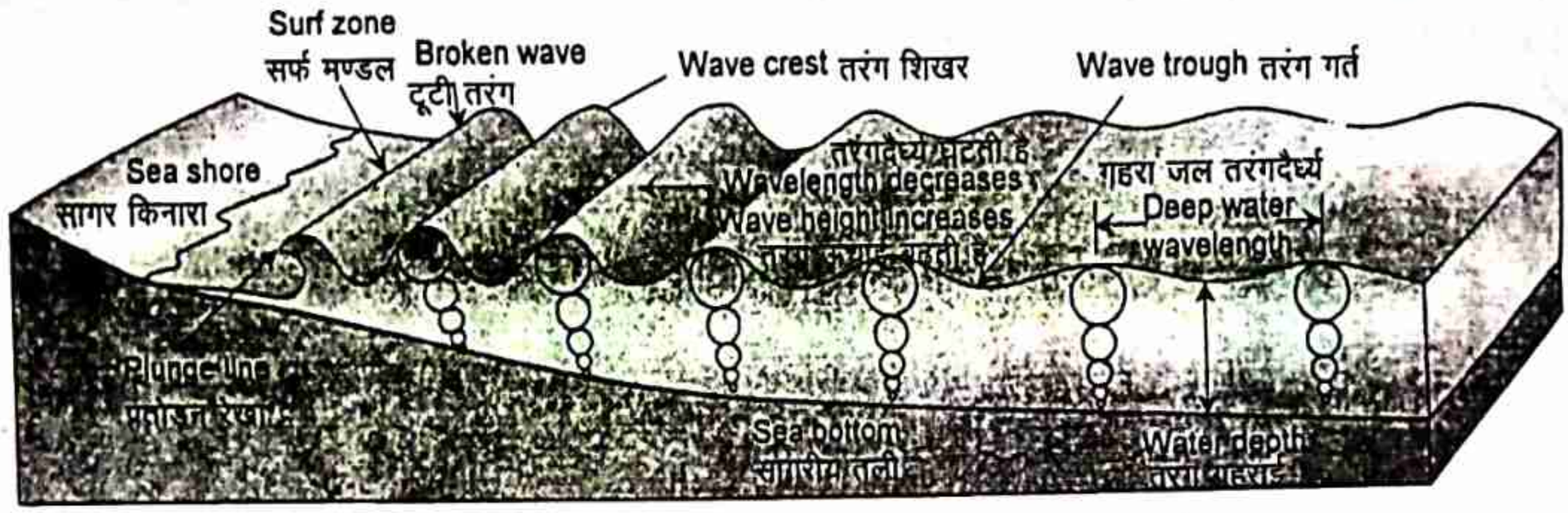

चित्र 29.3 : तरंगों का टूटना, प्रतोड़न रेखा (plunge line) तथा सर्फ मण्डल।

ब्रेकर 3 प्रकार के होते हैं:

- स्पिलिंग ब्रेकर
- प्लन्जिंग ब्रेकर
- सर्जिंग ब्रेकर

स्पिलिंग ब्रेकर में जल लम्बवत रूप में नीचे नहीं गिरता है, वरन् धीरे-धीरे स्पिल करता है। इसके द्वारा तट के फास झाग (foam) उत्पन्न होता है। जिस कारण सागरीय जल सफेद झाग से आच्छादित हो जाता है। **प्लंजिंग ब्रेकर** में तरंग शीर्ष पर जल टूट कर सीधा लम्बवत रूप में नीचे गिरता है तथा तेजी से झागयुक्त सागरीय जल तट की ओर झपटता है। **सर्जिंग ब्रेकर** में जल तेजी से तट की ओर गतिशील होता है।

वेलांचली धारा (littoral currents/waves)

वेलांचली धारा तट के समानान्तर प्रवाहित होती है तथा अपरदित पदार्थों के पविहन में अत्यधिक सहायता करती है। इसकी उत्पत्ति दो रूपों में होती है—(i) जब पवन वेग से प्रवाहित होकर जल, तट से टक्कर खाता है तो वह मुड़कर तट के समानान्तर वेलांचली धारा के रूप में प्रवाहित होने लगता है। (ii) पवन वेग के कारण जब सागरीय तरंगें तट से तिरछे रूप में टकराती हैं तो अधिकांश जल तट के समानान्तर वेलांचली धारा के रूप में प्रवाहित होने लगता है।

तरंगिका (rip currents)

प्रतोड़न रेखा के बाद सागरीय लहर का जल जब सर्फ के रूप में तट से टकराता है तो उसका जल कई रूपों में बंट जाता है, कुछ जल वेलांचली धारा के रूप में प्रवाहित हो जाता है, कुछ जल अध: प्रवाह (undertow) के रूप में चलता है तथा कुछ जल तट से लौटकर जल की सतह पर तरंग के रूप में सागर की ओर लौट जाता है। इस तरंग को तरंगिका कहते हैं। **ज्वारीय तरंगें** (tidal waves) तथा सागरीय भागों में उत्पन्न होने वाले भूकम्पों की सुनामिस तरंगों द्वारा भी तटीय दृश्यावली में विकास या ह्रास होता है।

29.4 महासागरीय धारायें : तात्पर्य तथा प्रकार

सागरों में जल के एक निश्चित दिशा में प्रवाहित होने की गति को 'धाराएँ' कहते हैं। धाराएं धरातलीय भाग पर प्रवाहित होने वाली नदियों के समान ही होती हैं। सागरीय गतियों में धाराएं सर्वाधिक शक्तिशाली होती हैं, क्योंकि इनके द्वारा सागरीय जल हजारों किलोमीटर तक बहा लिया जाता है। महासागरीय धाराओं के अनेक आर्थिक लाभ होते हैं। इनके सहारे महासागरीय परिवहन मार्ग निश्चित किये जाते हैं। उत्तम बन्दरगाहों की स्थितियाँ निर्धारित होती हैं। इनके अलावा ये धारायें पृथ्वी पर तापमान के संतुलन में पर्याप्त सहयोग प्रदान करती हैं। तापमान के आधार पर महासागरीय धाराएं दो प्रकार की होती हैं—उष्ण धारा (warm current) तथा ठण्डी धारा (cold current)। धाराओं की गति, आकार तथा दिशा में पर्याप्त अन्तर होता है। इस आधार पर धाराओं के कई उप प्रकार किये जाते हैं।

प्रवाह (drift)

जब पवन वेग से प्रेरित होकर सागर की सतह का जल आगे की ओर अग्रसर होता है तो उसे प्रवाह कहते हैं। इसकी गति तथा सीमा निश्चित नहीं होती है। गति मन्द होती है तथा केवल ऊपरी जल ही गतिशील होता है। इसके प्रमुख उदाहरण उत्तरी अटलांटिक प्रवाह, द० अटलांटिक प्रवाह आदि हैं।

धारा (current)

जब सागर का जल एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत निश्चित दिशा की ओर तीव्र गति से अग्रसर होता है तो उसे धारा कहते हैं। इसकी गति प्रवाह से अधिक होती है।

विशाल धारा (stream)

जब सागर का अत्यधिक जल भूतल की नदियों के समान एक निश्चित दिशा में गतिशील होता है तो उसे विशाल धारा कहते हैं। इसकी गति प्रवाह तथा धारा से अधिक होती है। खाड़ी की धारा या गल्फस्ट्रीम इसका प्रमुख उदाहरण है।

जल के तापमान के आधार पर महासागरीय धाराओं को निम्न प्रकार में विभाजित किया जाता है:

ठंडी धारायें

उदाहरण : लेब्राडोर धारा, क्यूराइल धारा, कैलिफोर्निया धारा, कनारी धारा, पेरू धारा, बेंगुला धारा आदि।

गर्म धारायें

उदाहरण : गल्फस्ट्रीम, उत्तरी अटलाण्टिक ड्रिफ्ट, क्युरोशिवो धारा, ब्राजील धारा आदि।

29.5 महासागरीय धाराओं की उत्पत्ति

महासागरों में धाराओं की उत्पत्ति कई कारकों के सम्मिलित प्रयास के फलस्वरूप सम्भव होती है। इनमें से कुछ कारक महासागरीय जल की विभिन्न विशेषताओं से सम्बन्धित हैं, कुछ कारक पृथ्वी की परिभ्रमण क्रिया तथा उसके गुरुत्वाकर्षण बल से सम्बन्धित हैं तथा कुछ वाह्य कारक हैं। इनके अलावा कुछ ऐसे कारक भी हैं जो धाराओं में परिवर्तन लाते हैं। इन्हें रूप परिवर्तन कारक (modifying factors) कहते हैं।

महासागरीय धाराओं के कारकों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है:

- धाराओं की उत्पत्ति के कारक
- धाराओं की दिशा को प्रभावित करने वाले कारक

धाराओं की उत्पत्ति के कारकों को 3 वृहद् वर्गों में रखा जाता है:

1. पृथ्वी के परिभ्रमण से सम्बन्धित कारक

- कोरियालिस बल
- एकमैन स्पाइरल

2. महासागरों से सम्बन्धित कारक

- तापमान में भिन्नता
- लवणता में भिन्नता
- घनत्व में भिन्नता

3. वाह्य महासागरीय कारक

- वायुदाब तथा हवायें
- वाष्पीकरण तथा वर्षा

1. पृथ्वी के परिभ्रमण से सम्बन्धित कारक

पृथ्वी पश्चिम से पूर्व दिशा में अपनी अक्ष रेखा के सहारे परिक्रमा करती है। इस गति के कारण जल स्थल का साथ नहीं दे पाता है, जिस कारण वह पीछे छूट जाता है, परिणामस्वरूप जल में पूर्व से पश्चिम दिशा में गति उत्पन्न हो जाती है। इस तरह विषुवत रेखीय धाराओं की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी कुछ जल पृथ्वी की परिभ्रमण दिशा की ओर भी अग्रसर हो जाता है, जिस कारण प्रति विषुवतरेखीय धारा (counter equatorial current) की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी की परिक्रमा का धाराओं की दिशा पर भी प्रभाव होता है। उत्तरी गोलार्द्ध में विषुवत रेखा से ध्रुव की ओर तथा ध्रुव से विषुवत रेखा की ओर चलने वाली धाराएं अपनी दाहिनी ओर झुक जाती हैं। इसी तरह द० गोलार्द्ध में धाराएं अपनी बायीं ओर झुक (मुड़) जाती हैं।

2. सागर से सम्बन्धित कारक

सागरीय जल के तापमान, लवणता, घनत्व आदि में स्थानीय परिवर्तन होते हैं जिस कारण धाराओं की उत्पत्ति होती है।

(1) **तापमान में भिन्नता**—पृथ्वी पर सूर्यातप के वितरण में पर्याप्त असमानता पायी जाती है। विषुवतरेखीय भागों में सूर्य की किरणें वर्ष भर लम्बवत् चमकती हैं, जिस कारण अत्यधिक सूर्याताप के कारण जल का तापमान ऊँचा हो जाता है। परिणामस्वरूप जल का घनत्व अत्यधिक कम हो जाता है और विषुवतरेखीय जल धारा के रूप में गतिशील हो जाता है। इस तरह विषुवतरेखा पर जल की आपूर्ति के लिए ध्रुवों की ओर से विषुवत् रेखा की ओर अध: प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है।

(2) **लवणता में भिन्नता**—सागरीय लवणता से सागरीय जल का घनत्व प्रभावित होता है तथा घनत्व में अन्तर के कारण धाराएं उत्पन्न होती हैं। यदि दो क्षेत्रों का तापमान समान है, परन्तु दोनों क्षेत्रों की लवणता में अन्तर है तो अधिक लवणता वाले भाग में जल का घनत्व अधिक हो जायेगा, जिस कारण जल

नीचे बैठता है, जबकि कम लवणता वाले भाग में जल का घनत्व अपेक्षाकृत कम होगा, जिस कारण कम खारे भाग से जल अधिक खारे भाग की ओर गतिशील हो जाता है। ऊपरी सतह के नीचे अधिक खारे भाग का जल कम खारे भाग की ओर अध: प्रवाह के रूप में चलने लगता है। इस तरह की धाराएं खुले तथा बन्द सागरों के मध्य चला करती हैं। अटलांटिक महासागर (अपेक्षाकृत कम खारा) से जिब्राल्टर जलडमरूमध्य से होकर रूम सागर की ओर धारा चलने का यही कारण है। रूम सागर की सतह के नीचे का जल अध: प्रवाह के रूप में अटलांटिक महासागर की ओर चलने लगता है। इस तरह की धाराएं लाल सागर (अधिक खारा) तथा अरब सागर के बीच में चलती हैं। बाल्टिक सागर से उत्तरी सागर की ओर तथा उत्तरी सागर से बाल्टिक सागर की ओर अध: प्रवाह निश्चय ही लवणता में विभिन्नता के कारण उत्पन्न होता है।

(3) **घनत्व में भिन्नता**—ऊपर तापमान तथा लवणता के कारण उत्पन्न घनत्व में भिन्नता के कारण धाराओं की उत्पत्ति की विवेचना की जा चुकी है। इनके अलावा कई और भी ऐसे कारक हैं, जिस कारण सागरीय जल के घनत्व में अन्तर हो जाता है, और धाराओं की उत्पत्ति हो जाती है। ध्रुवीय भागों में न्यून सूर्यताप के फलस्वरूप कम तापमान के कारण उच्च घनत्व पाया जाता है, परन्तु हिम के पिघलने के कारण लवणता कम हो जाती है, जिस कारण घनत्व कम हो जाता है। परिणामस्वरूप ध्रुवों से ठंडे जल की धाराएं विषुवतरेखा की ओर चलने लगती हैं। दबाव से भी घनत्व में अन्तर आता है। सागरों में ऊपर से नीचे जाने पर दबाव बढ़ता जाता है, जिस कारण घनत्व भी अधिक हो जाता है। इस तरह सागरों के ऊपरी भाग में हल्का जल तथा गहराई में भारी जल मिलता है, जिस कारण जल में लम्बवत् गति उत्पन्न हो जाती है।

3. बाह्य सागरीय कारक

महासागरीय जल पर वायुमण्डलीय दशाओं का पर्याप्त प्रभाव होता है। इनमें वायुमण्डलीय दबाव तथा उनमें भिन्नता, वायु दिशा, वर्षा, वाष्पीकरण आदि धाराओं की उत्पत्ति में सहायक होते हैं।

(1) **वायुदाब तथा हवाएं**—वायुमण्डलीय दबाव का भी सागरीय जल पर प्रभाव होता है। जहाँ पर वायुदाब अधिक होता है, वहाँ पर जल के आयतन में कमी के कारण जल तल नीचा हो जाता है। इसके विपरीत कम वायुदाब वाले क्षेत्रों में जल तल ऊँचा हो जाता है, जिस कारण उच्च जल तल से (कम वायु दाब के क्षेत्रों से) निम्न जल तल (उच्च वायुदाब क्षेत्र) की ओर जल गतिशील हो जाता है। परिणामस्वरूप धारा की उत्पत्ति हो जाती है।

प्रचलित अथवा सनातनी हवाएं धाराओं की उत्पत्ति में महत्वपर्णू भूमिका अदा करती हैं। जब सागरीय जल के ऊपर से होकर हवा चलती है तो वह अपनी रगड़ के कारण जल को भी अपनी ओर बहा ले जाती है। यदि मानचित्र पर धाराओं तथा सनातनी हवाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश धाराएं सनातनी हवाओं का ही अनुसरण करती हैं। उदाहरण के लिए व्यापारिक हवाओं से प्रेरित होकर विषुवत रेखीय धाराएं पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर चलती हैं। अटलांटिक महासागर में गल्फस्ट्रीम तथा प्रशान्त महासागर में किरोसिवो धारा पछुवा हवा की दिशा का ही अनुसरण करती हैं। हिन्द महासागर में मानसून हवाओं की दिशा में वर्ष में दो बार परिवर्तन के कारण धाराओं की दिशा में 6 महीने के बाद परिवर्तन हो जाता है। कार्ल जोपरिज तथा स्वेडरुप ने क्रमश: हवाओं तथा धाराओं की दिशा के बीच तथा हवाओं एवं धाराओं की गति के बीच निश्चित अनुपात बताया है तथा उसका परिकलन गणित के आधार पर किया है। उदाहरण के लिए यदि हवा की गति 50 किमी० प्रति घण्टा है तो धारा 3/4 किमी० प्रति घण्टे की दर से गतिशील होगी। कार्ल जोपरिज ने बताया कि हवाएं सागरीय जल को तली तक आलोडित करती हैं, अर्थात् हवाओं से उत्पन्न धाराओं में सतह से लेकर तली तक का जल सामूहिक रूप से आगे बढ़ता है। परन्तु प्रयोगों के आधार पर फिण्डले ने बताया कि सागरीय जल को हवाएं 30-36 फीट की गहराई तक ही आलोडित कर पाती हैं। गहराई के बढ़ते जाने के साथ जल का घनत्व भी बढ़ता जाता है, परिणामस्वरूप वायु भारी जल को गतिशील नहीं कर पाती है।

स्मरणीय है कि हवा की दिशा तथा उससे उत्पन्न धारा की दिशा में पूर्ण सामंजस्य नहीं होता है। पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कारण धारा की दिशा में झुकाव (deflection) हो जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध में यह झुकाव दाहिने हाथ की ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बायें हाथ की ओर हो जाता है। इस तथ्य का अवलोकन सबसे पहले **नानसेन** ने किया था, जिसे आगे चलकर **एकमेन** ने गणितीय आधार पर प्रमाणित कर दिया। उत्तरी गोलार्द्ध में हवा से उत्पन्न धारा उसकी दिशा (हवा) से दाहिनी ओर 45^0 के कोण पर झुक जायेगी। दक्षिणी गोलार्द्ध में 45^0 का झुकाव बायीं ओर होगा। सतह से नीचे जाने पर हवा तथा धारा की दिशा के बीच झुकाव का कोण बढ़ता जाता है तथा तली पर जाने पर हवा के प्रभाव के शून्य हो जाने के कारण यह झुकाव इतना अधिक होता है कि हवा की दिशा के विपरीत धारा प्रवाहित होने लगती है। हवाओं से प्रेरित धाराएँ महाद्वीपीय किनारे पर पहुँचती हैं तो वहाँ जल की मात्रा अधिक हो जाने से जल का तल ऊँचा हो जाता है, जिस कारण नयी धाराओं की उत्पत्ति होती है। विषुवतरेखीय धारा इसी तरह मेक्सिको की खाड़ी में अत्यधिक जल का संचय कर देती है, जिस कारण गल्फस्ट्रीम का आविर्भाव होता है। इस तरह स्पष्ट है कि हवाएं सागरीय भागों में धाराओं को जन्म तो देती ही हैं, साथ ही साथ उनकी दिशा तथा गति को भी निर्धारित करती हैं।

2. वाष्पीकरण तथा वर्षा—जिन भागों में वर्षा अधिक होती है तथा वाष्पीकरण कम होता है, वहाँ पर अत्यधिक जलराशि के कारण जल का तल ऊँचा हो जाता है। इसके विपरीत जहां पर वर्षा तो कम होती है, परन्तु वाष्पीकरण अधिक होता है, वहाँ पर जल का तल नीचा हो जाता है। वास्तव में वर्षा तथा वाष्पीकरण का सागरीय लवणता एवं घनत्व से भी सम्बन्ध होता है। कम वाष्पीकरण के साथ उच्च वर्षा के कारण लवणता कम हो जाती है और सागरीय जल का घनत्व कम हो जाता है, परिणामस्वरूप जल का तल ऊँचा हो जाता है। इसके विपरीत अत्यधिक वाष्पीकरण के साथ न्यून वर्षा के कारण लवणता तथा घनत्व में वृद्धि हो जाती है, जिस कारण जल का तल नीचा हो जाता है। इस तरह उच्च जल तल से निम्न जलतल की ओर धाराएं चलने लगती हैं। विषुवतरेखा पर उच्च वर्षा एवं न्यून वाष्पीकरण के कारण उच्च जलतल होने से उच्च अक्षांशों की ओर धाराएं चलने लगती हैं। इसी तरह ध्रुवीय भागों में कम वाष्पीकरण किन्तु हिम के पिघलने से प्राप्त जल की अधिकता के कारण धाराएं मध्य अक्षांशों की ओर चलने लगती हैं, रूम सागर में उच्च तापमान के कारण अपेक्षाकृत अधिक वाष्पीकरण के कारण सागरीय लवणता में वृद्धि हो जाती है, परिणामस्वरूप घनत्व बढ़ जाता है तथा अटलांटिक महासागर से रूम सागर की ओर धारा चलने लगती है।

24.6 धाराओं की दिशा में परिवर्तन लाने वाले कारक

धाराओं की दिशा में प्रचलित पवन तथा पृथ्वी की परिभ्रमण गति का पर्याप्त प्रभाव होता है। इन प्रभावों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके अलावा महाद्वीपों के तटों की आकृति तथा बनावट एवं महासागरीय तली की रूपरेखा का धाराओं की दिशा के निर्धारण में अधिक महत्व होता है।

1. तट की दिशा तथा आकार—जब महाद्वीपीय भाग सागरीय धाराओं की दिशा में लम्बवत् रूप से पाये जाते हैं, तो धाराओं के मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है तथा धाराएं महाद्वीपीय तट के समानान्तर चलने लगती हैं। विषुवत् रेखीय धारा ब्राजील तट से टकराने पर दो भागों में विभक्त हो जाती है। उत्तरी शाखा खाड़ी की धारा के नाम से संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वी तट के सहारे चलने लगती है तथा दक्षिणी शाखा ब्राजील की धारा के नाम से ब्राजील तट के सहारे दक्षिण की ओर चलने लगती है। हिन्द महासागर में मानसून धाराएं भारतीय तट के अनुरूप ही प्रवाहित होती हैं।

2. तलीय आकृतियाँ—महासागरीय तली की असमानताएं धाराओं के मार्ग को प्रभावित करती हैं। जब इन धाराओं के मार्ग में अन्त:सागरीय कटक (submarine ridges) होते हैं तो धाराएं कुछ दाहिनी ओर मुड़ जाती हैं। उदाहरण के लिए गल्फ स्ट्रीम स्काटलैण्ड के पास जब विविलटामसन कटक को पार करती है तो वह दाहिनी ओर मुड़ जाती है। इसी तरह उत्तरीय विषुवत् रेखीय धारा मध्य अटलांटिक कटक को पार करते समय दाहिनी ओर मुड़ जाती है।

3. मौसमी परिवर्तन—कई स्थानों पर बदलते मौसम के साथ धाराओं की दिशा में भी परिवर्तन हो जाता है। मानसूनी हवाओं का मौसमी दिक् परिवर्तन हिन्द महासागर की धाराओं में दिशा परिवर्तन करता है। शरद कालीन उ० पू० मानसून के समय मानसूनी धाराओं के तट के सहारे दिशा पूर्व से पश्चिम होती है, जब कि ग्रीष्मकालीन द० प० मानसून के समय धाराओं की दिशा बदलकर उ० पू० हो जाती है।

4. पृथ्वी का परिभ्रमण—पृथ्वी के पश्चिम से पूर्व दिशा में घूर्णन के कारण धाराओं का मार्ग प्राय: गोलाकार हो जाता है। पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण धाराएं उ० गो० में अपने दायीं ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर मुड़ जाती हैं।

29.7 आन्ध्र महासागर की धाराएँ

1. उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा

सामान्य रूप से उ० विषुवत् रेखीय धारा 0^0 से 10^0 उ० अक्षांशों के मध्य विकसित होती है। अफ्रीका के पश्चिमी तट से, जहाँ पर कनारी ठंडी धारा का जल इसे धकेलता है, यह धारा प्रारम्भ होकर व्यापारिक हवाओं के प्रभाव में पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित होती है। यह एक गर्म जलधारा है जिसका जल खारा होता है। जैसे ही यह धारा 15^0 उ० अक्षांश के उत्तर में मध्य अटलांटिक कटक के पास पहुँचती है, इसकी दिशा उत्तर की ओर हो जाती है तथा उसे पार करने के बाद द० की ओर मुड़ जाती है। द० अमेरिका के पूर्वी तट के अवरोध के कारण इसका दो शाखाओं में विभाजन हो जाता है। पहली शाखा एण्टीलीज धारा के नाम से जानी जाती है तथा पश्चिमी द्वीप समूह के पूर्व में प्रवाहित होती है। दूसरी शाखा कैरीबियन सागर में प्रविष्ट हो जाती है तथा यूकाटन चैनेल तक पहुँचती है।

2. द० विषुवत् रेखीय धारा

यह धारा भी पश्चिमी अफ्रीका तथा पूर्वी दक्षिणी अमेरिका के तटों के मध्य 0^0 से 20^0 द० अक्षांशों के मध्य प्रवाहित होती है। यह धारा उ० विषुवत् रेखीय धारा से अधिक स्थायी तथा प्रबल होती है। वास्तव में यह धारा बेगुला धारा का ही अग्रभाग है। ब्राजील तट के पास यह धारा दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है। प्रथम शाखा उ० प० शाखा के रूप में उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा से ट्रिनीडाड के पास मिल जाती है। दूसरी शाखा दक्षिण की ओर मुड़ जाती है तथा ब्राजील धारा को जन्म देती है। यह धारा भी व्यापारिक पवन से प्रेरित होकर पूर्व से पश्चिम दिशा में अग्रसर होती है।

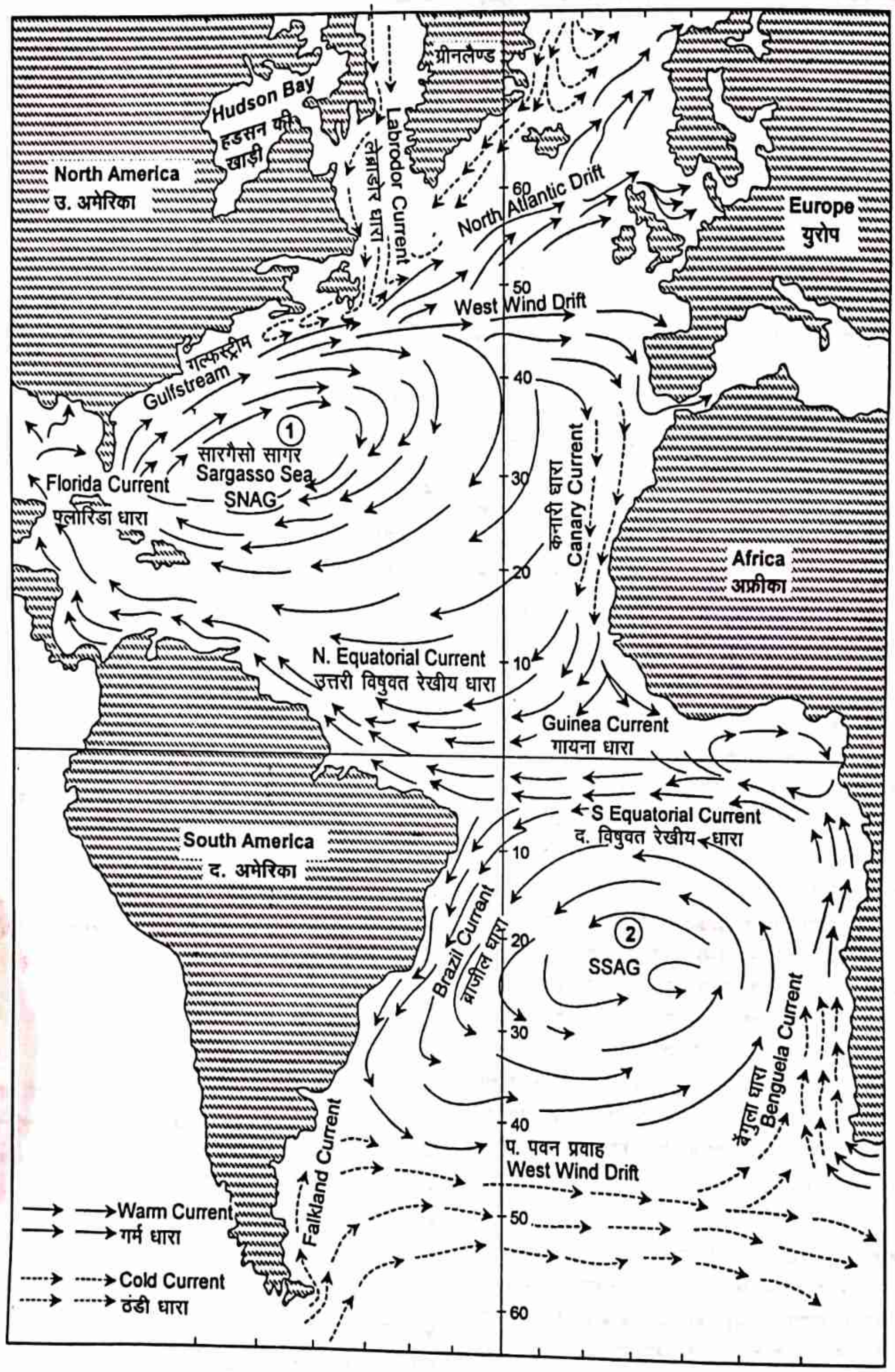

चित्र 29.4 : अटलांटिक महासागर की धाराएं।

3. प्रतिविषुवत् रेखीय धारा (counter equatorial current)

प्रति विषुवत् रेखीय धारा भूमध्य रेखीय भाग में प० से पू० दिशा में चलती है। इसकी स्थिति उ० तथा द० विषुवत् रेखीय धाराओं के मध्य है। पूर्व में गिनी तट तक इसका अस्तित्व रहता है। इसे **गिनी धारा** के नाम से भी जाना जाता है। पश्चिमी भाग में यह लुप्त हो जाती है, परन्तू पूर्वी भाग में इसका अस्तित्व बना रहता है। दोनों विषुवत् रेखीय धाराओं की तुलना में इसका तापमान अधिक तथा घनत्व कम होता है। 47^0 प० देशान्तर के पास स्थित अपेक्षाकृत ठंडे जल के ऊपर से चलने वाली हवाएं कुहरा उत्पन्न करती हैं, जिस कारण जलयानों का संचालन कठिन हो जाता है। इस धारा की उत्पत्ति के विषय में कई मत प्रचलित हैं। कुछ लोगों के अनुसार द० प० मानसून (ग्रीष्म काल) हवाएँ इसे उत्पन्न करती हैं, परन्तु यह धारा तो साल भर प्रवाहित होती है जबकि शीतकाल में **शान्त मण्डल** (zone of calm) से शरदकालीन मानसून अदृश्य हो जाती है। अत: यह मत मान्य नहीं है। वास्तव में ब्राजील तट के पास उ० तथा द० विषुवत् रेखीय धाराओं के अभिसरण (convergence) के कारण इतनी अधिक जलराशि एकत्रित हो जाती है कि प० से पू० की ओर सामान्य ढाल बन जाता है। अत: अफ्रीका तट के पास कम जलराशि की पूर्ति के लिए **क्षतिपूर्ति धारा** (compensation current) के रूप में प्रति विषुवत् रेखीय धारा का आविर्भाव हो जाता है।

4. गल्फ स्ट्रीम या खाड़ी की धारा

यह धारा 20^0 उत्तरी अक्षांश के पास मेक्सिको की खाड़ी से उत्पन्न होकर उ० पू० दिशा की ओर 70^0 उ० अक्षांश तक पश्चिमी यूरोप के प० तट तक प्रवाहित होती है। मेक्सिको की खाड़ी में उत्पन्न होने के कारण इसे खाड़ी की धारा (Gulf Stream) के नाम से जाना जाता है। स्पष्ट है कि गल्फस्ट्रीम एक विस्तृत **धारा क्रम** है जो कि विस्तृत भागों की जलवायु को प्रभावित करती है। इस क्रम में तीन धाराओं को सम्मिलित किया जाता है :

(i) **फ्लोरिडा धारा,** फ्लोरिडा जलडमरूमध्य से हेटरस अन्तरीप के बीच।

(ii) **गल्फस्ट्रीम,** हेटरस अन्तरीप से ग्राण्ड बैंक के बीच।

(iii) **उत्तरी अटलाण्टिक धारा,** ग्राण्डबैंक के पूर्व तथा प० यूरोपियन तट तक।

(i) **फ्लोरिडा धारा**—फ्लोरिडा धारा उ० भूमध्य रेखीय धारा का उत्तरीय विस्तृत भाग है, जो कि यूकाटन चैनेल से होकर मेक्सिको की खाड़ी में पहुँचती है, और वहाँ से फ्लोरिडा जलडमरूमध्य से होकर 30^0 उत्तरी अक्षांश तक पहुँचती है। इस तरह फ्लोरिडा धारा में विषुवतरेखीय जल की प्राय: सभी विशेषताएँ वर्तमान होती हैं। इस धारा में जल का तापमान (सतह पर) 75^0 फा० (24^0 सें०) तथा लवणता $36^0/_{00}$ रहती है। 30^0 उत्तरी अक्षांश का तापमान कभी भी 43.7^0 फा० (6.5^0 सेंग्रे०) से कम नहीं होने पाता है। जब यह धारा फ्लोरिडा जलडमरूमध्य से होकर गुजरती है तो इसकी चौड़ाई कम हो जाती है, परन्तु इसे पार करते ही इस धारा की चौड़ाई पुन: बढ़ जाती है तथा वह तट से होकर आगे चलती है। सेण्ट आगस्टाइन के पास यह धारा तट से 30 नौटिकल मील दूर और इस स्थान से 15^0 और उत्तर जाने पर यह तट से 85 मील दूर हो जाती है, परन्तु हेटरस अन्तरीप के पास इसकी तट से दूरी 10-20 मील हो जाती है। फ्लोरिडा धारा की चौड़ाई में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। फ्लोरिडा जलडमरूमध्य में इसकी चौड़ाई 30 मील, कैन, वरल अन्तरीप के पास 60 मील तथा चार्ल्सटन के पास चौड़ाई 120 से 150 मील हो जाती है। 30^0 उत्तरी अक्षांश के पास एण्टीलीस धारा फ्लोरिडा धारा से मिल जाती है। फ्लोरिडा धारा की उत्पत्ति के विषय में व्यापारिक हवाओं की पूर्व से पश्चिम दिशा में गति सर्वाधिक महत्वपूर्ण बतायी जाती है। इस धारा की औसत गति 25 नौटिकल मील प्रतिदिन है।

(ii) **गल्फस्ट्रीम**—गल्फस्ट्रीम की खोज सर्वप्रथम पोंस डी लिओन द्वारा 1513 में की गई। फ्लोरिडा की धारा जब एण्टलीस धारा का जल समाविष्ट कर हेटरस अन्तरीप के आगे बढ़ती है तो वह गल्फस्ट्रीम के नाम से जानी जाती है। यह एक चौड़ी तथा गर्मजल वाली धारा है। अपने दाहिनी ओर यह धारा **सारगैसो सागर** तथा बायीं ओर **ठंडी दीवाल** (cold wall) (तट के पास अपेक्षाकृत ठंडे जल की राशि) से अलग-अलग ही रहती है। तट के पास जल का तापक्रम 4^0 से 10^0 सेंग्रे० तथा लवणता न्यून होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वी तट के पास इस **ठण्डी जलराशि** की मौजूदगी के विषय में बताया जाता है कि सेण्ट लारेन्स की खाड़ी का ठंडा जल दक्षिण की ओर मुड़कर चला जाता है। कुछ लोगों के अनुसार पछुवा हवाओं के कारण गर्म जल तट से दूर (पूर्व की ओर) हटा लिया जाता है, परिणामस्वरूप लेब्राडोर ठण्डी धारा का जल हेटरस अन्तरीप तक चला जाता है। जो भी हो, गल्फ स्ट्रीम अपने साथ गर्म जल लेकर आगे बढ़ती है तथा समीपवर्ती भागों के मौसम को प्रभावित भी करती है।

गल्फस्ट्रीम तटरेखा का अनुसरण करती हुई चलती है, परन्तु 40^0 उ० अक्षांश के पास इसकी दिशा में पछुआ हवाओं एवं पृथ्वी के विक्षेप बल (deflective force) के कारण अचानक परिवर्तन होता है और एकदम पूर्व की ओर मुड़ जाती हैं। आगे चलकर इस धारा की कई शाखाएं हो जाती हैं। यहाँ पर गल्फस्ट्रीम के इस भाग को **गल्फस्ट्रीम का डेल्टा** कहते हैं। इसकी प्रमुख शाखा अब '**गल्फस्ट्रीम**' के नाम से जानी जाती है।

गल्फस्ट्रीम की गति में पर्याप्त भिन्नता होती है। खुले सागर में यह 10-15 मील प्रतिदिन की गति से आगे बढ़ती है। न्यूयार्क के पास गति 72 मील प्रतिदिन तथा पूर्व जाने पर 30 मील प्रतिदिन हो जाती है।

40^0 उत्तरी अक्षांश के पास **लेब्राडोर ठंडी धारा** गल्फ स्ट्रीम से मिलती है, जो कि गल्फस्ट्रीम की सामान्य विशेषताओं, खासकर तापमान तथा गति, में पर्याप्त अन्तर लाने में समर्थ हो जाती है। इस तरह गर्म तथा ठंण्डी धाराओं के सम्मिलन के कारण उत्पन्न ताप व्यतिक्रमण (inversion of temperature) के कारण न्यूफाउण्डलैण्ड के पास घना कुहरा पड़ता है जो कि जलयानों के संचालन में अवरोध उपस्थित करता है। गल्फस्ट्रीम के कारण संयुक्त राजय अमेरिका के पूर्वी तट के पास सागर तल ऊपर उठ जाता है।

(iii) **उत्तरी अटलांटिक धारा**—45^0 उत्तरी अक्षांश तथा 45^0 प० देशान्तर के पास गल्फस्ट्रीम कई शाखाओं में विभक्त हो जाती है जिन्हें सम्मिलित रूप से उ० अटलांटिक धारा कहते हैं।

प्रथम, **उत्तरी शाखा** उ० पू० दिशा में अग्रसर होती है, जिसके पश्चिम तरफ (45 उ० अक्षांश) लेब्राडोर ठंडी धारा का जल होता है, परिणामस्वरूप ठंडे-गर्म जलों के सम्मिश्रण के कारण उ० अटलाण्टिक धारा में पर्याप्त अन्तर आ जाता है—तापमान तथा लवणता घट जाती है। इसके होते हुए भी यह धारा अब भी एक गर्म धारा होती है, परन्तु गति कम हो जाती है। आगे चलकर यह उत्तरी शाखा कई उपशाखाओं में बंट जाती है—(अ) एक शाखा नार्वे तट से होकर नार्वे सागर में चली जाती है। (ब) दूसरी शाखा **इरमिंगर धारा** के नाम से आइसलैण्ड के दक्षिण तक चली जाती है। (स) तीसरी शाखा ग्रीनलैण्ड के पूर्व तक जाती है तथा **ग्रीनलैण्ड धारा** से मिल जाती है।

दूसरी, **पूर्वी शाखा**, उत्तरी शाखा की अपेक्षा अधिक गर्म होती है तथा पूर्व दिशा में चलकर फ्रांस तथा स्पेन तट तक पहुँचती है। इसकी भी कई उपशाखाएं होती हैं। (अ) एक शाखा रूम सागर में प्रविष्ट हो जाती है। (ब) दूसरी शाखा **रेनेल धारा** के नाम से बिस्के की खाड़ी तक जाती है, जो कि स्पेन तथा फ्रांस के उत्तरी तटों तक प्रवाहित होती है। आगे चलकर इसकी कई उपशाखाएं हो जाती हैं—(i) एक उपशाखा इंगलिश चैनल में चली जाती है, (ii) दूसरी उपशाखा आयरलैण्ड के दक्षिण होकर उ० अटलाण्टिक धारा से मिल जाती है। (स) तीसरी प्रमुख शाखा स्पेन के प० तट, अजोर्स आदि से होकर अफ्रीका तट तक पहुँचती है, जहाँ पर कनारी ठंडी धारा से मिल जाती है।

गल्फस्ट्रीम उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट तथा उ० प० यूरोप के तटीय भागों में जलवायु पर पर्याप्त प्रभाव डालती है। इन भागों का तापमान अपने अक्षांशों के औसत तापक्रम से 4^0 फा० अधिक हो जाता है। गल्फस्ट्रीम के कारण ही प० यूरोप तुल्य जलवायु का आविर्भाव होता है। ग्रीष्मकाल में गल्फस्ट्रीम द्वारा द० पू० तथा पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका का तापमान बहुत अधिक हो जाता है, परन्तु शीतकाल में संयुक्त राज्य का पूर्वी तट गल्फस्ट्रीम से अधिक लाभ नहीं उठा पाता है, क्योंकि इस समय हवाएँ स्थल से जल की ओर चलती हैं।

5. कनारी धारा

कनारी धारा एक ठण्डी धारा है, जो उत्तरी अफ्रीका के पश्चिम तट के सहारे मडेरिया तथा केपवर्ड के बीच में प्रवाहित होती है। वास्तव में कनारी धारा उ० अटलांटिक धारा का ही बढ़ा हुआ दक्षिणी भाग है, जो स्पेन तट से मुड़कर दक्षिण की ओर कनारी द्वीप से होकर उत्तरी अफ्रीका के पश्चिमी तट के सहारे अग्रसर होती है। इसकी गति 8 से 30 मील प्रतिदिन होती है। यह धारा विषुवत् रेखीय धारा से मिल जाती है। इस धारा की उत्पत्ति में व्यापारिक पवनों का हाथ बताया जाता है। व्यापारिक पवनों के कारण उत्तरी अफ्रीका के पश्चिमी तट के पास से जल पश्चिम दिशा की ओर हटा लिया जाता है और यह एक ठंडी धारा का रूप धारण कर लेता है।

6. लेब्राडोर धारा

लेब्राडोर धारा एक ठंडी धारा है जो कि बैफिन की खाड़ी तथा डेविस जलडमरूमध्य से प्रारम्भ होकर न्यूफाउण्डलैण्ड तट से होती हुई ग्राण्ड बैंक के पूर्व से गुजरने के बाद 50^0 प० देशान्तर के पूर्व में गल्फस्ट्रीम से मिल जाती है। सम्मिलन स्थल पर लेब्राडोर धारा के कम घनत्व तथा न्यून लवणता तथा तापमान को गल्फस्ट्रीम के अधिक घनत्व एवं उच्च लवणता तथा तापमान से अलग किया जा सकता है। लेब्राडोर धारा के साथ बर्फ के बड़े-बड़े खण्ड (प्लावीहिम, icebergs) न्यूफाउण्डलैण्ड तक लाये जाते हैं, जिस कारण जलयानों को अपार क्षति उठानी पड़ती है। लेब्राडोर तथा गल्फस्ट्रीम के सम्मिलन के कारण न्यूफाउण्डलैण्ड के पास घना कुहरा पड़ता है जो सागरीय यातायात में बाधा उत्पन्न करता है।

7. ब्राजील धारा

ब्राजील धारा उच्च तापमान तथा उच्च लवणता वाली गर्म धारा है। इसका आविर्भाव दक्षिण विषुवत् रेखीय धारा के सनरॉक के पास ब्राजील तट से टकराकर द्विशाखन के कारण होता है। एक शाखा उत्तर की ओर मुड़कर उत्तरी विषुवतरेखीय धारा में मिल जाती है, जबकि दक्षिणी शाखा 'ब्राजील धारा' के नाम से द० अमेरिकी तट के समानान्तर 40^0 द० अक्षांश तक प्रवाहित होती है। इसके बाद पृथ्वी के परिभ्रमण के फलस्वरूप विक्षेप बल (deflective force) के कारण तथा पछुवा हवा से प्रभावित होकर पूर्व दिशा में मुड़ जाती है। यहीं पर द० से आने वाली फाकलैण्ड ठंडी धारा ब्राजील धारा से मिलती है।

8. फाकलैण्ड धारा

अण्टार्कटिक सागर का ठंडा जल फाकलैण्ड धारा के रूप में दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी तट पर अर्जेनटाइना तक प्रवाहित

होता है। इसका अधिकतम विस्तार 30° द० अक्षांश तक पाया जाता है। इस धारा के द्वारा भी अण्टार्कटिका क्षेत्र से हिमखण्ड द० अमेरिका तट तक लाये जाते हैं।

9. द० अटलांटिक धारा

जब ब्राजील धारा पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण विक्षेप बल द्वारा पूर्व दिशा की ओर मुड़ती तो स्थल के अभाव में पछुवा हवाओं द्वारा प्रेरित होकर तीव्र गति से प्रवाहित होती है। इसे द० अटलांटिक प्रवाह, पछुवा पवन प्रवाह, अण्टार्कटिक प्रवाह आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। यह एक ठंडे जल की धारा है।

10. बेंगुला धारा

यह ठंडी धारा है जो द० अफ्रीका के पश्चिमी तट के सहारे उत्तर दिशा में प्रवाहित होती है। द० अटलांटिक धारा अफ्रीका के दक्षिणी सिरे से टकराने के बाद उत्तर की ओर मुड़ जाती है। आगे चलकर यह धारा द० विषुवत् रेखीय धारा में विलीन हो जाती है।

29.8 सारगैसो सागर (Sargasso Sea)

सामान्य परिचय—उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा, गल्फस्ट्रीम तथा कनारी धारा द्वारा एक प्रतिचक्रवातीय प्रवाह क्रम पाया जाता है। इस चक्र के अन्तर्गत शान्त एवं गतिहीन जल पाया जाता है, जिसमें **सारगैसम** घास फैली रहती है। इस भाग को सारगैसो सागर कहा जाता है। सारगैसो पोर्चुगीज भाषा के सारगैसम (sargassum) शब्द से लिया गया है, जिसका तात्पर्य होता है-सागरीय घास।

सारगैसो का विस्तार—सारगैसो का विस्तार सागरीय घास के विस्तार तथा धाराओं की चक्रगति (gyral) के आधार पर निश्चित किया जाता है। मार्मर के अनुसार सारगैसो का विस्तार 20° तथा 40° उत्तरी अक्षांशों तथा 35° -75° प० देशान्तरों के मध्य में पाया जाता है।

सारगैसो की उत्पत्ति—सारगैसो की उत्पत्ति के कई कारक होते हैं :

(i) उत्तरी अटलाण्टिक महासागर की धाराओं की चक्राकार गति के कारण चक्र के बीच स्थित जल का सम्पर्क महासागर के शेष जल से नहीं हो पाता है तथा जल शान्त एवं गतिहीन हो जाता है। (ii) सारगैसो मण्डल पछुआ तथा व्यापारिक हवाओं के आवान्तर मण्डल (संक्रमण मण्डल) (transitional zone) के मध्य स्थित है, जहाँ पर प्रतिचक्रवातीय पवन संचार के कारण क्षीण हवाएं मन्द गति से चलती हैं, जिस कारण इस जल का अन्य जल के साथ मिश्रण नहीं हो पाता है। (iii) उत्तरी अटलांण्टिक महासागर का उन्हीं अक्षांशों में अन्य महासागरों की अपेक्षा कम विस्तृत तथा संकरा भाग तथा (iv) उत्तरी विषुवत् रेखीय एवं गल्फस्ट्रीम की तीव्र गति के कारण बीच का जल शान्त पड़ जाता है।

सारगैसो की विशेषताएँ—सारगैसो सागर के जल में अटलाण्टिक महासागर की सर्वाधिक लवणता ($37^0/_{00}$) पायी जाती है। इसका प्रमुख कारण उच्च तापमान तथा अत्यधिक वाष्पीकरण है। सारगैसो सागर के जल का शेष जल से मिश्रण न हो पाना भी लवणता को बढ़ा देता है। इसका औसत वार्षिक तापमान 26° सेंग्रे० रहता है। इसमें जड़ विहीन सागरीय घासें (seaweeds) बहुतायत में मिलती हैं, जिनके कारण सागरीय यातायात में बाधा उपस्थित हो जाती है। इस घास की उत्पत्ति के विषय में कई परस्पर विरोधी मत प्रस्तुत किये गये हैं, परन्तु सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि पौधे जड़ विहीन होते हैं तथा स्वत: उत्पन्न होते हैं।

29.9 प्रशान्त महासागर की धाराएं

1. उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा

यह धारा मेक्सिको तट से प्रारम्भ होकर पश्चिम दिशा में प्रवाहित होती हुई 7500 सागरीय मील की दूरी तय करने के बाद फिलीपाइन तट तक पहुँचती है। पूर्व में (महासागर के) कैलिफोर्निया धारा तथा द० पू० मानसून हवाओं के योग से इस धारा का आविर्भाव होता है। जैसे-जैसे धारा पश्चिम की ओर अग्रसर होती है, इसमें दाहिनी ओर से उपशाखाएं मिलती जाती हैं और इसके जल का आयतन बढ़ता जाता है। बीच-बीच में इसकी कई उपशाखाएं उत्तर तथा दक्षिण दिशा की ओर मुड़ जाती हैं। फार्मूसा (तैवान) के पास इसकी एक शाख उत्तर की ओर मुड़ जाती है तथा क्यूरोशिवो धारा से मिल जाती है। दक्षिणी शाखा पूर्व की ओर मुड़कर प्रतिविषुवत् रेखीय धारा का निर्माण करती है। उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा एक अविच्छिन्न श्रृंखला के रूप में प्रवाहित होती है। इसकी उत्तरी तथा दक्षिणी सीमा में मौसमी परिवर्तन देखने को मिलता है। इसकी दक्षिणी सीमा गर्मियों में 10° उ० अक्षांश तथा सर्दियों में 5° उ० अक्षांश तक रहती है। इस तरह उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा सदैव विषुवत् रेखा के उत्तर में ही प्रवाहित होती है।

2. दक्षिणी विषुवत् रेखीय धारा

व्यापारिक हवाओं के प्रभाव से उत्पन्न होकर यह धारा पूर्व से पश्चिम दिशा में प्रवाहित होती है। यह धारा उत्तरी विषुवत्-रेखीय धारा से प्रबल होती है। इसकी औसत गति 20 मील प्रतिदिन तथा अधिकतम गति 100 मील प्रतिदिन होती है। आगे बढ़ने पर बांयी ओर कई शाखाएं इसमें आकर मिल जाती हैं, जिस कारण इसके जल का आयतन निरन्तर बढ़ता जाता है। न्यू गायना के पास इसकी दो शाखाएं हो जाती हैं। उत्तरी शाखा उत्तरी न्यूगायना के उत्तर से होकर प्रति विषुवत् रेखीय धारा को जन्म देती है। दक्षिणी शाखा आस्ट्रेलिया के उत्तरी तथा उ० पू० तट की ओर उन्मुख हो जाती है।

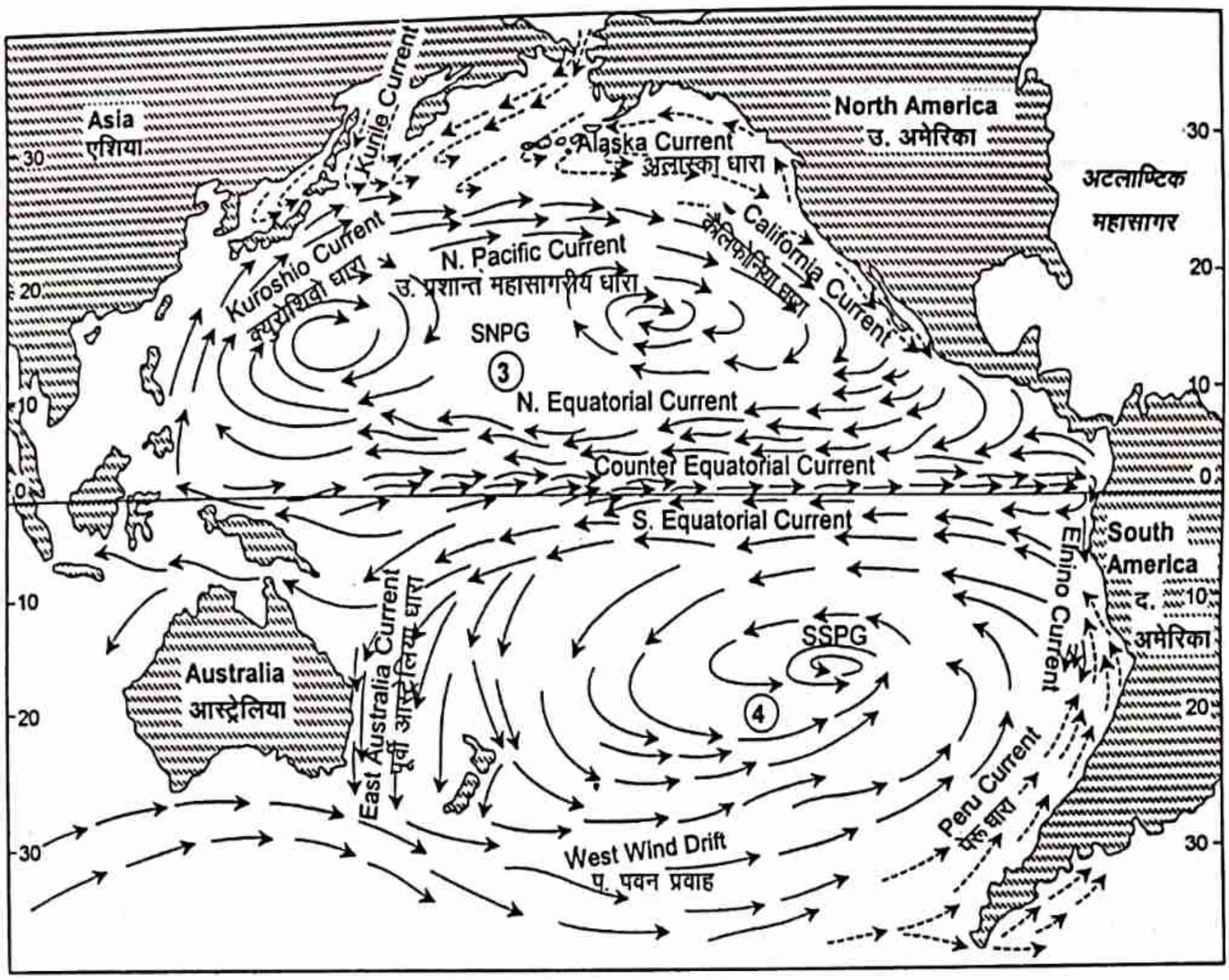

चित्र 29.5 : प्रशान्त महासागर की धाराएं।

3. प्रतिविषुवत् रेखीय धारा (counter equatorial current)

उत्तरी तथा दक्षिणी विषुवत् रेखीय धाराओं के मध्य पश्चिम से पूर्व दिशा में प्रवाहित होने वाली धारा को प्रति विषुवत् रेखीय धारा कहा जाता है। व्यापारिक पवनों के कारण महासागर के पश्चिमी भाग में जल का संचयन होने से पश्चिम से पूर्व दिशा की ओर एक सामान्य ढाल प्रवणता (slope gradient-जल में) का निर्माण हो जाता है, जिस कारण जल एक धारा के रूप में ढाल के सहारे पूर्व दिशा की ओर प्रवाहित होने लगता है। प्रशान्त महासागर में प्रति विषुवत् रेखीय धारा सर्वाधिक विकसित है। यह धारा पश्चिम में मिण्डनाओ से पूर्व में पनामा की खाड़ी तक प्रवाहित होती है, जहाँ पर इसकी उपशाखाएँ दक्षिण की ओर मुड़कर पनामा की खाड़ी में चली जाती हैं।

4. क्यूरोशिवो तन्त्र (Kuroshio System)

अटलाण्टिक महासागर में गल्फस्ट्रीम तंत्र के समान ही प्रशान्त महासागर में भी क्यूरोशिवो तंत्र का पूर्ण विकास हुआ है। यह क्रम कई धाराओं से मिलकर बना है तथा इसका प्रवाह क्रम फार्मूसा से बेरिंग जलडमरूमध्य तक पाया जाता है। इसके अन्तर्गत निम्न धाराएं सम्मिलित की जाती हैं :

(i) **क्यूरोशिवो धारा**—उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा फिलीपाइन्स के पास दाहिनी ओर मुड़कर उत्तर दिशा की ओर उन्मुख होकर क्यूरोशिवो धारा को जन्म देती है जो कि फार्मूसा के रिक्यू तक प्रवाहित होती है। यह धारा अटलाण्टिक महासागर की फ्लोरिडा धारा से समता रखती है। इसका तापमान 8^0 सेंग्रे० तथा लवणता $35.0^0/_{00}$ होती है।

(ii) **क्यूरोशिवो प्रसार** (Kuroshio extension)—35^0 उ० अक्षांश के पास क्यूरोशिवो धारा पछुवा हवा के कारण जापान तट छोड़कर पूर्व की ओर मुड़ जाती है तथा दो शाखाओं में बंट जाती है—(अ) एक शाखा पूर्व दिशा की ओर अग्रसर होती है तथा (ब) दूसरी शाखा उ० पू० दिशा में। 35^0 उ० अक्षांश के पास दूसरी शाखा भी पूर्व की ओर मुड़ जाती है। यह धारा अटलाण्टिक महासागर की गल्फ स्ट्रीम के समान होती है। आगे चलकर क्यूरोशिवो के साथ उत्तर से आने वाली ठंडी ओयाशिवो धारा से मिल जाती है।

(iii) **उत्तरी प्रशान्त महासागरीय प्रवाह**—पछुवा हवा के प्रभाव में क्यूरोशिवो पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ती जाती है तथा उ० अमेरिका के पश्चिमी तट तक पहुँचती है। 150^0 प० देशान्तर के पहले ही इस धारा का प्रमुख भाग दक्षिण की ओर मुड़ जाता है और थोड़ा भाग ही अमेरिकी तट तथा हवाई द्वीप

के बीच प्रविष्ट हो पाता है। आगे चलने पर इसका पुनः द्विशाखन (bifurcation) हो जाता है। उत्तरी शाखा **अल्यूशियन धारा** के रूप में प्रवाहित होती है, जबकि दक्षिणी शाखा कैलिफोर्निया धारा को जन्म देती है। अल्यूशियन धारा की पुनः दो शाखाएं हो जाती हैं—(अ) एक शाखा उत्तर की ओर बेरिंग सागर तक चली जाती है जबकि (ब) दूसरी शाखा अलास्का की खाड़ी में चली जाती है।

(iv) **सुशिमा धारा** (Tsushima current)—30^0 उत्तरी अक्षांश के पास क्यूरोशिवो से एक शाखा अलग होकर जापान सागर में चली जाती है, जो पश्चिमी जापान तट से होकर प्रवाहित होती है। अपने उच्च तापमान तथा लवणता के कारण सुशिमा धारा तटीय भागों की जलवायु को काफी प्रभावित करती है।

(v) **प्रतिक्यूरोशिवो धारा** (Counter Kuroshio Current) —हवाई द्वीप तथा अमेरिकी तट के मध्य क्यूरोशिवो में चक्राकार रूप बन जाता है, जिस कारण इसकी दिशा पश्चिमी हो जाती है। इसे 'प्रतिक्यूरोशिवो' धारा कहते हैं।

5. ओयाशिवो धारा (Oyashio current)

इसे '**क्यूराइल ठंडी धारा**' भी कहा जाता है। यह धारा बेरिंग जलडमरूमध्य से होकर दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है, जिसके द्वारा आर्कटिक सागर का ठंडा जल प्रशान्त महासागर में लाया जाता है। 50^0 उत्तरी अक्षांश के पास इसकी एक शाखा पूर्व की ओर मुड़ जाती है तथा अल्यूशियन एवं क्यूरोशिवो धाराओं से मिल जाती है। दूसरी शाखा दक्षिण की ओर जापान के पूर्वी तट तक प्रवाहित होती है। इसकी तुलना अटलाण्टिक महासागर की लेब्राडोर धारा से की जा सकती है। जहाँ पर ओयाशिवो धारा क्यूरोशिवो धारा से मिलती है, वहाँ पर कुहरा पड़ता है जो जलयानों के लिए क्षतिकारक होता है।

6. कैलिफोर्निया धारा

यह एक ठंडी धारा है जो अटलाण्टिक महासागर की कनारी धारा के समान है। वास्तव में यह धारा उत्तरी प्रशान्त महासागरीय धारा का ही बढ़ा हुआ भाग है। जब व्यापारिक हवाओं के प्रभाव से अमेरिकी तट से जल हट कर उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा के रूप में पश्चिम की ओर प्रवाहित होने लगता है, तो तट के पास जलाभाव की आपूर्ति के लिए उत्तर से दक्षिण दिशा में कैलिफोर्निया धारा चलने लगती है। दक्षिण में पहुँचने पर व्यापारिक हवाओं के कारण यह पश्चिम दिशा की ओर मुड़कर उत्तरी विषुवत् रेखीय धारा से मिल जाती है।

7. पीरू धारा

दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट के सहारे द० से उ० दिशा में प्रवाहित होने वाली ठंडी धारा को पीरू धारा या **हम्बोल्ट धारा** कहते हैं। तट के पास इसे **पीरू तटीय धारा** तथा तट से दूर **पीरू महासागरीय धारा** कहते हैं, क्योंकि इस धारा की चौड़ाई में विस्तार बहुत अधिक (लगभग 100 मील) है। इसका तापमान तथा लवणता दोनों कम हैं। वेग 15 नौटिकल मील (27 किमी०) प्रतिदिन रहता है। तट से सागर की ओर जाने पर तापक्रम बढ़ता जाता है।

8. एल निनो तथा ला निना धारा

एल निनो धारा (El Nino) को विपरीत धारा (counter current) के नाम से भी जाना जाता है, जो दक्षिणी अमेरिका के पेरू तट के पश्चिम में तट से 180 किमी० की दूरी पर उत्तर से दक्षिण दिशा में प्रवाहित होती है। इसका विस्तार 3^0 द० से 18^0 द० अक्षांश तक रहता है। कुछ खास वर्षों में इसका विस्तार दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट के सुदूर दक्षिणी छोर तक हो जाता है। ज्ञातव्य है कि पेरू तट के पास पेरू की ठंडी जलधारा दक्षिण से उत्तर दिशा में चलती है तथा पेरू का सागर तटीय भाग (shore area) रेगिस्तानी है। शरदकाल (उ० गो०) में विषुवतरेखीय विपरीत धारा दक्षिण की ओर खिसक जाती है तथा एल निनो को जन्म देती है। इस धारा के कारण पेरू तट का तापमान सामान्य से अधिक हो जाता है। एल निनो गर्म जलधारा है जिसके आगमन पर सागरीय जल का तापमान सामान्य से 3-4^0 सें० बढ़ जाता है।

वर्तमान समय में एलनिनो को एक **मौसमी घटना** (weather event or phenomenon) के रूप में लिया जाता है। एल निनो को **येशु शिशु** (Christ Child) तथा **ला निना** (La Nina) को एल निनो की छोटी बहन के रूप में मान्यता दी जाती है। एलनिनो का सम्बन्ध पूर्वी प्रशान्त महासागरीय जल के तापमान में वृद्धि तथा ला निनो का पश्चिमी प्रशान्त महासागर के ऊष्मन (warming of the western Pacific Ocean) से जोड़ा जाता है। एल निनो के प्रबल होने पर पेरू तट पर सामान्य से बहुत अधिक वर्षा होती है जिस कारण सागर तटीय भाग हरे भरे हो जाते हैं। इस धारा के सक्रिय होने पर पेरू तट के पास ठंडी जलराशि गर्म हो जाती है तथा वर्ष के प्रथमार्द्ध के प्रारम्भिक महीनों (जनवरी से मार्च तक) अत्यधिक वृष्टि हो जाती है। प्रारम्भ में कम वर्षा की स्थिति में पेरू के लोग आसमान की तरफ देखते हुए प्रार्थना करते थे, 'हे ईश्वर, हमें वर्षा दीजिए तथा सूखे को भगाइये', परन्तु जब उन्हें पता चल गया कि एल निनो के प्रबल होने से अति वृष्टि होने से सागरीय जीवों का विनाश हो जाता है, खासकर प्लैंकटन के अदृश्य हो जाने से मछलियां मर जाया करती हैं तथा मत्स्य उद्योग को भारी क्षति उठानी पड़ती है तो आज वे प्रार्थना करते हैं, 'हे ईश्वर, हमें वर्षा दीजिए परन्तु एल निनो को भगाइये' (Ye God, give us rain, keep El Nino way)।

एल निनो के कारण पेरू तट के स्थलीय भागों तथा सागरीय भागों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अत्यधिक वृष्टि के कारण तटीय रेगिस्तानी स्थलीय भाग हरे-भरे हो जाते हैं। कपास,

नारियल तथा केला की खेती होने लगती है। परन्तु सागरीय भाग का **जैविक सर्वनाश** (oceanic biological disaster) हो जाता है। ज्ञातव्य है कि पेरू का तटवर्ती महासागरीय जल सागरीय जीवों के लिए विश्व में सर्वाधिक उत्पादक है क्योंकि यहाँ पर सागर के नितल से पोषक तत्वों से युक्त ठंडी जलराशि का ऊपर की तरफ आगमन (upwelling of nutrient-rich cold waters) होता रहता है जो प्लैंकटन (जो मछलियों का भोजन है) की वृद्धि में सहायक होता है। एल निनो के सक्रिय होने पर यह प्रक्रिया बन्द हो जाती है जिस कारण पोषक तत्वों के अभाव के कारण प्राथमिक उत्पादन (हरे पौधों का उत्पादन, यथा—प्लैंकटन) के अत्यधिक कम हो जाने के कारण सागरीय आहार श्रृंखला (food chain) भंग हो जाती है, परिणामस्वरूप सागरीय जीव, खासकर मछलियाँ, या तो मर जाती हैं या अन्यत्र पलायन कर जाती हैं।

ज्ञातव्य है कि जिस वर्ष एल निनो प्रबल होती है उस साल पूर्वी प्रशान्त महासागर के पूर्वी उष्ण कटिबंधी भाग में जलवृष्टि में औसत से चार-छ गुनी वृद्धि हो जाती है जबकि पश्चिमी प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र में सूखे की स्थिति हो जाती है जिस कारण इण्डोनेशिया, भारत, बांगलादेश आदि सूखे की चपेट में आ जाते हैं। 1997-98 में इण्डोनेशिया के वनों में लगी भीषण आग की घटना को एल निनो के कारण जनित सूखे का प्रतिफल बताया गया है। **ला निना** भी एक प्रतिसागरीय धारा (counter ocean current) है। इसका आविर्भाव पश्चिमी प्रशान्त महासागर में उस समय होता है जबकि पूर्वी प्रशान्त महासागर में एल निनो का प्रभाव समाप्त हो जाता है। वैज्ञानिकों का मानना है कि पश्चिमी प्रशान्त महासागर में एल निनो द्वारा जनित अति सूखे की स्थिति को ला निना बदल देती है तथा आर्द्र मौसम को जन्म देती है। ला निना के आविर्भाव के साथ पश्चिमी प्रशान्त महासागर के उष्ण कटिबंधी भाग में तापमान में वृद्धि होने से वाष्पीकरण अधिक होने से इण्डोनेशिया एवं समीपवर्ती भागों में सामान्य से अधिक जलवर्षा होती है। भारत में भी ग्रीष्मकालीन मानसून अधिक सक्रिय हो जाता है। 1998 में ला निना के अधिक सक्रिय होने के कारण सामान्य से बहुत अधिक जलवर्षा के प्राप्त होने से चीन, भारत तथा बांगलादेश में प्रचण्ड बाढ़ की स्थिति पैदा हो गयी थी।

एल निनो तथा **दक्षिणी दोलन** (southern oscillation) एक दूसरे से सम्बन्धित बताये जाते हैं, अत: इन्हें सम्मिलित रूप से **इन्सो** (ENSO) कहा जाता है। जलवायुविज्ञानी इन्सो को **भूमण्डलीय प्राकृतिक प्रकोप तथा विनाश** (global natural disaster) का पर्याय मानते हैं। वास्तव में एल निनो एवं ला निना के बीच चक्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत सागर तल पर वायुमण्डलीय दाब में होने वाले परिवर्तनों (oscillation in sea level atmospheric pressure) के लिए दक्षिणी दोलन नामावली का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में दक्षिणी दोलन सागरीय गति (तरंग) एवं पवन के मध्य पारस्परिक क्रिया का द्योतक है। 1972-73, 1976-77, 1982-83 तथा 1997-98 के वर्षों में एल निनो का प्रभाव प्रबलतम रहा है। एल निनो के कारण दक्षिणी प्रशान्त महासागर में धाराओं के क्रम में उल्टा क्रम प्रारम्भ हो जाता है। वाकर संचरण, एलनिनो तथा दक्षिणी दोलन की अध्याय 7 में भी व्याख्या की गयी है।

9. पूर्वी आस्ट्रेलिया धारा

द० विषुवत् रेखीय धारा जब आस्ट्रेलिया के तट के पास पहुँच कर विभाजित हो जाती है तो उसकी दक्षिणी शाखा आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट के सहारे द० दिशा में बहने लगती है, जिस कारण न्यूजीलैण्ड इस धारा द्वारा घिर जाता है। 40^0 द० अक्षांश के बाद पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कारण विक्षेप (deflection) तथा पछुवा हवा के कारण यह धारा मुड़कर पूर्व दिशा की ओर प्रवाहित होने लगती है। यह एक स्थायी एवं गर्म धारा है जिससे पूर्वी आस्ट्रेलिया तट का काफी दक्षिण तक तापमान ऊँचा बना रहता है।

10. पछुवा पवन प्रवाह (West Wind Drift)

अटलांटिक महासागर के समान ही प्रशान्त महासागर में भी पछुवा हवा के प्रभाव से 40^0 -45^0 द० अक्षांश के पास एक प्रबल धारा पश्चिम से पूर्व दिशा में तस्मानिया तथा द० अमेरिका तट के मध्य प्रवाहित होती है। अत्यधिक जल विस्तार तथा **गरजती चालीसा** (roaring forties) के कारण यह एक प्रबल धारा है जो तीव्र गति से आगे बढ़ती है। सुदूर पूर्व में जाने पर 45^0 द० अक्षांश के पास इसकी दो शाखाएं हो जाती हैं—(अ) एक शाखा हार्न अन्तरीप से होकर अटलांटिक महासागर में चली जाती है और (ब) दूसरी शाखा उत्तर की ओर मुड़कर पीरू धारा से मिल जाती है।

29.10 हिन्द महासागर की धाराएं

प्रशान्त महासागर एवं अटलांटिक महासागर के समान सागरीय धाराओं का क्रम हिन्द महासागर में कुछ परिवर्तन के साथ पाया जाता है। हिन्द महासागर की धाराओं पर स्थलमण्डल तथा मानसूनी हवाओं का पर्याप्त प्रभाव होता है। हिन्द महासागर उत्तर में भारतीय उपमहाद्वीप, प० में अफ्रीका तथा द० में आस्ट्रेलिया से घिरा होने के कारण धाराओं के स्थायी क्रम को जन्म नहीं दे पाता है। उत्तरी हिन्द महासागर में उ० पू० तथा द० प० मानसूनी हवाओं के कारण धाराओं की दिशाओं में साल में दो बार परिवर्तन हो जाया करता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हिन्द महासागर में निम्न धाराओं का निर्धारण किया जा सकता है।

1. उत्तरी पूर्वी मानसून धारा

शरद काल (उ० गो०) में उ० पू० मानसून हवाएं स्थल से जल की ओर चलती हैं, जिस कारण उत्तरी हिन्द महासागर

में अण्डमान तथा सोमाली के बीच पश्चिम दिशा में प्रवाहित होने वाली उ० पू० मानसून धारा का जन्म होता है। यह धारा 5° उ० अक्षांश के दक्षिण से होकर प्रवाहित होती है। इसके अलावा बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर में स्वतंत्र धाराओं का आविर्भाव हो जाता है जो द० प० दिशा की ओर चलती हैं।

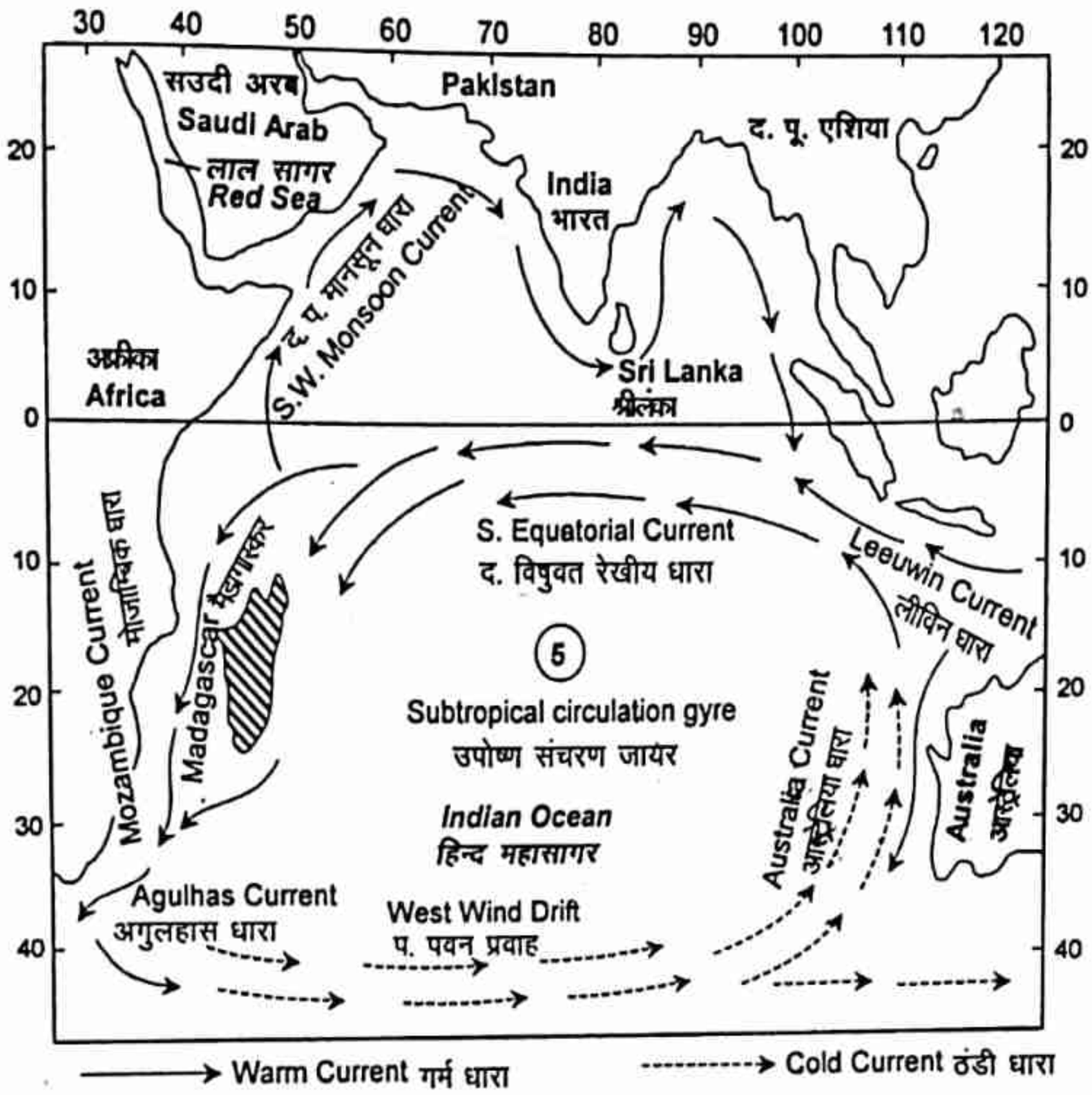

चित्र 29.6 : हिन्द महासागर की धाराएं (ग्रीष्मकाल)।

2. विपरीत धारा

उ० पू० मानसून (शरद काल) के समय ही एक विपरीत धारा (counter current) का निर्माण होता है, जो 2° से 8° द० अक्षांशों के मध्य जंजीबार तथा सुमात्रा के बीच प्रवाहित होती है।

3. द० प० मानसून धारा

ग्रीष्मकाल (उ० गो०) में मानसूनी हवाओं की दिशाएं उल्टी होकर द० प० हो जाती हैं, जिस कारण उत्तरी हिन्द महासागर का धारा क्रम भी उल्टा हो जाता है। उत्तरी-पूर्वी मानसून धारा लुप्त हो जाती है और उसकी जगह पर द० प० मानसून धारा का जन्म होता है। यह धारा द० प० से उ० पू० दिशा की ओर प्रवाहित होती है, जिसकी कई उपशाखाएं अरब सागर एवं बंगाल की खाड़ी की ओर मुड़ जाती हैं। इस धारा के कारण (शरदकालीम) विपरीत धारा भी लुप्त हो जाती है।

4. विषुवत् रेखीय धारा

द० हिन्द महासागर में मानसूनी हवाओं के मौसमी परिवर्तन का प्रभाव धाराओं पर अत्यन्त कम होता है। अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के तटों के मध्य 10° से 15° द० अक्षांशों के बीच पू० से प० दिशा में प्रवाहित होने वाली धारा को द० विषुवत् रेखीय धारा कहा जाता है। जब यह धारा 10° अक्षांश के पास मैडागास्कर से टकराती है तो इसकी कई शाखाएं हो जाती हैं। एक शाखा द० की ओर अघुलहास धारा के नाम से प्रवाहित होती है, जबकि दूसरी शाखा उत्तर की ओर चली जाती है।

5. मोजम्बिक तथा अगुलहास धारा

द० विषुवत् रेखीय धारा की एक शाखा मोजम्बिक चैनेल से होकर द० की ओर प्रवाहित होती है। इसे मोजम्बिक धारा कहते हैं और द० (30° द०) में जाने पर द० विषुवत् रेखीय धारा की शाखा मोजम्बिक धारा से मिल जाती है। इस धारा को

अगुलहास धारा कहते हैं, जो अफ्रीका के दक्षिणी छोर तक प्रवाहित होती है। अगुलहास धारा एक संकरी धारा है जो तट से 50 मील (80 किमी०) की दूरी पर चलती है।

6. पछुवा पवन प्रवाह (West Wind Drift)

अन्य महासागरों के समान हिन्द महासागर में भी 40° द० अक्षांश के पास पछुवा हवा (गरजती चालीसा) के प्रभाव में पश्चिम से पूर्व दिशा में धारा चलती है, जिसे पछुवा पवन प्रवाह कहा जाता है। 110° पूर्वी देशान्तर के पास इसकी दो शाखाएं हो जाती हैं। एक शाखा उत्तर की ओर मुड़ जाती है तथा आस्ट्रेलिया तट के सहारे पश्चिमी आस्ट्रेलिया ठंडी धारा के नाम से प्रवाहित होती है। मकर रेखा के पास यह धारा (प० आस्ट्रेलिया धारा) प० तथा उ० प० की ओर मुड़ जाती है और 100° पू० देशानतर के पास द० विषुवत् रेखीय धारा से मिल जाती है। पछुवा पवन प्रवाह की दूसरी शाखा दक्षिण की ओर मुड़कर आस्ट्रेलिया तट के सहारे प्रवाहित होती है।

29.11 महासागरीय धाराओं का प्रभाव

तटीय भागों की जलवायु में परिमार्जन

महासागरीय धाराएं जिन तटीय भागों से होकर गुजरती हैं, वहाँ की मौसम सम्बन्धी दशाओं में पर्याप्त संशोधन करती हैं। इनका प्रभाव सबसे अधिक तटीय भागों के तापक्रम पर होता है। यह प्रभाव लाभप्रद तथा हानिकर दोनों प्रकार का हो सकता है। गर्म धाराएं जब ठंडे भागों में पहुँचती हैं तो वहाँ का तापमान कम नहीं होने देती हैं तथा सर्दियों में उन्हें अपेक्षाकृत गर्म रखती हैं। उ० प० यूरोप के तटीय देशों की आदर्श जलवायु का राज

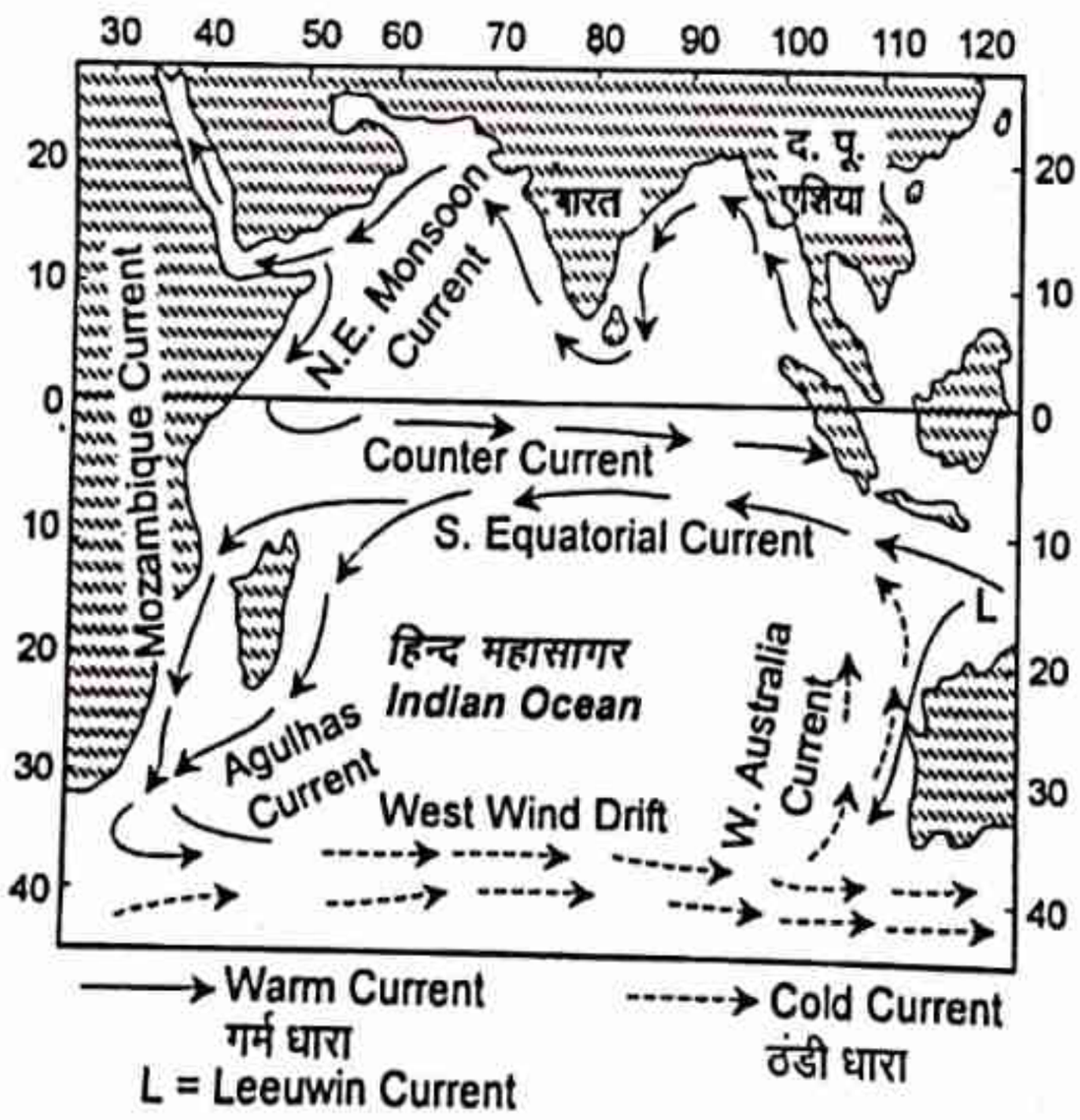

चित्र 29.7 : हिन्द महासागर की धाराएं (शीतकाल)।

गल्फस्ट्रीम का बढ़ा भाग उत्तरी अटलांटिक धारा ही है। सर्दियों में इन तटीय देशों (ग्रेट ब्रिटेन, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हालैण्ड आदि) का तापमान अपेक्षाकृत अधिक रहता है। परन्तु यही गर्म धारा (गल्फस्ट्रीम) संयुक्त राज्य अमेरिका के तटीय भागों में ग्रीष्म काल में गर्म लहर (heat waves) को जन्म देकर तापमान को अचानक ऊँचा कर देती है, जिस कारण मौसम कष्टप्रद हो जाता है। शरदकाल में भी पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका इस धारा से लाभ नहीं उठा पाता है, क्योंकि इस समय हवाएँ स्थल से जल की ओर चलती हैं।

गर्म धाराएं उष्ण कटिबंधीय उच्च तापमान को उच्च अक्षांशों की ओर ले जाकर तापमान के वितरण में समानता लाने का प्रयास करती हैं। इस तरह पृथ्वी के क्षैतिज ऊष्मा संतुलन (horizontal heat balance) को स्थापित करने में गर्म धाराएं पर्याप्त मदद करती हैं, क्योंकि निम्न अक्षांशों की अतिरिक्त ऊष्मा को उच्च अक्षांशों की ओर स्थानान्तरित करती हैं।

इसके विपरीत ठंडी धाराएं जहाँ से गुजरती हैं, वहाँ का तापमान अत्यन्त नीचा कर देती हैं, जिस कारण हिमपात की स्थिति आ जाती है। क्यूराइल, लेब्राडोर, फाकलैण्ड की ठंडी धाराएं प्रभावित क्षेत्रों में भारी हिमपात के लिए पूर्णतया जिम्मेदार हैं।

गर्म धाराओं के ऊपर चलने वाली हवाएं नमी धारण कर लेती हैं तथा प्रभावित क्षेत्रों को वर्षा प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए उ० प० यूरोप के तटीय भागों में उत्तरी अटलाण्टिक धारा तथा जापान के पूर्वी भाग में क्यूरोशिवो धारा के कारण वर्षा होती है। उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट की वर्षा कुछ अंश तक गर्म जलधारा के कारण होती है। इसके विपरीत ठण्डी धाराएं वर्षा रोकती हैं। उदाहरण के लिए द० अफ्रीका के पश्चिम तट पर कालाहारी तथा द० अमेरिका के पश्चिमी तट पर अटाकामा मरुस्थलों के आविर्भाव में क्रमशः बेंगुला तथा पीरू की ठंडी धाराओं का पर्याप्त हाथ है।

गर्म तथा ठण्डी धाराओं के मिलन स्थल पर कुहरा पड़ता है, जो कि जलयानों के लिए हानिकारक होता है। न्यूफाउण्डलैण्ड के पास लेब्राडोर ठण्डी धारा तथा गल्फस्ट्रीम गर्म धारा के मिलने से तापव्यतिक्रम (inversion of temperature) होने से घना कुहरा पड़ता है। इसी तरह जापान के पास क्यूराइल ठण्डी धारा तथा क्यूरोशिवो गर्म धारा के मिलने से भी कुहरा पड़ता है। पेरू तट के पास तथा समीपवर्ती भागों में एल निनो के प्रबल होने पर सामान्य से 4 से 6 गुनी अधिक वर्षा होती है परन्तु पश्चिमी प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र में सूखे की स्थिति उत्पन्न हो जाती है (यथा : इण्डोनेशिया, भारत, बांगलादेश आदि)। ला निना के प्रबल होने पर पश्चिमी प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र में सामान्य से अधिक वर्षा होती है।

मत्स्य उद्योग पर प्रभाव

धाराएं मछलियों के जीवित रहने के लिए आवश्यक तत्व, आक्सीजन तथा भोजन को वितरित करने का कार्य करती हैं। धाराओं द्वारा प्लैंकटन नामक घास का लाया जाना मछलियों के लिए आदर्श स्थिति पैदा करता है। गल्फस्ट्रीम द्वारा यह प्लैंकटन न्यूफाउण्डलैण्ड तथा उ० प० यूरोपीय तट पर पहुँचाया जाता है, जिस कारण वहाँ पर मत्स्य उद्योग अत्यधिक विकसित हो गया है। परन्तु पीरू तट पर एलनिनो धारा के कारण प्लैंकटन के अदृश्य हो जाने पर मछलियाँ मर जाती हैं और मत्स्य उद्योग को क्षति उठानी पड़ती है। शीत क्षेत्रों में पैदा होने वाली खाद्य मछलियाँ ठंडी धाराओं के साथ गर्म प्रदेशों में आ जाती हैं। गर्म और ठण्डी धाराएं भी मिलकर विभिन्न प्रकार की मछलियों को जन्म देती हैं।

व्यापार पर प्रभाव

महासागरीय धाराएं जलमार्गों को निश्चित करती हैं, जिसके सहारे व्यापारिक जलयानों का परिवहन किया जाता है। परन्तु धाराओं का यह प्रभाव प्राचीन काल में ही अधिक था, क्योंकि वर्तमान समय में शक्तिचालित जहाज हवा तथा धाराओं की दिशा की परवाह नहीं करते हैं। जहाँ पर गर्म एवं ठण्डी धाराएं मिलती हैं, वहाँ पर कुहरा पड़ता है जो कि सामुद्रिक जहाजों के परिवहन में बाधा उपस्थित करता है (न्यूफाउण्डलैण्ड तथा जापान तट के पास इसी तरह के कुहरे के कारण जलयानों को अपार क्षति उठानी पड़ती है)। ठण्डी धाराओं द्वारा बड़ी-बड़ी हिम शिलाएं निम्न अक्षांशों की ओर लायी जाती हैं जिनके टकराने के कारण जलयान क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। गर्म धाराओं के कारण ठण्डे स्थानों के बन्दरगाह साल भर खुले रहते हैं।

30

Topic ⇒ **प्रवाल एवं प्रवाल भित्तियाँ**

(Corals and Coral Reefs)

30.1 सामान्य परिचय

अन्त: सागरीय रूपों में प्रवाल भित्तियाँ तथा एटॉल अपना अलग ही महत्व रखते हैं। इनका निर्माण सागरीय जीव मूंगे या कोरल पालिप (coral polyps) के अस्थिपंजरों के समेकन तथा संयोजन द्वारा होता है। कोरल उष्ण कटिबन्धीय महासागरों में पाये जाते हैं तथा चूने पर निर्वाह करते हैं। एक स्थान पर असंख्य मूंगे एक साथ समूह में रहते हैं तथा अपने चारों ओर चूने की खोल बनाते हैं। मूंगा मर जाता है तो उसकी खोल के ऊपर दूसरा मूंगा अपनी खोल बनाने लग जाता है। इस क्रिया के कारण एक लम्बे समय के अन्दर एक विस्तृत भित्ति (reef) बन जाती है, जिसे प्रवाल भित्ति (coral reef) कहते हैं। प्रवाल भित्ति का निर्माण 25^0 उ० से 25^0 द० अक्षांशों के मध्य किसी द्वीप या तट के सहारे या यथोचित गहराई पर स्थित अन्त: सागरीय चबूतरों पर होता है। प्रवाल (मूंगा) जल के बाहर जीवित नहीं रह सकता है, अत: प्रवाल भित्ति सदैव या तो सागर तल के नीचे या सागर तल तक ही पायी जाती है।

उल्लेखनीय है कि प्रवाल में उष्ण कटिबंधीय सदाबहार वर्षा वनों की तुलना में अधिक विविधता पायी जाती है क्योंकि प्रवालों की 1,000,000 प्रजातियाँ हैं, जिनमें से केवल 10 प्रतिशत प्रजातियों का ही अध्ययन किया जा सका है। प्रवालों को **सामुद्रिक वर्षावन** (rainforest of the oceans) कहा जाता है।

30.2 प्रवाल जन्तु

जन्तु प्रवाल, जिसे पालिप कहते हैं, अपने द्वारा बनायी गयी चूने की खोल में रहता है। इसके शरीर के बाहरी तन्तुओं में एक प्रकार की पादप शैवाल रहती है जिसे **जुक्सान्थलाई अलगी** (zooxanthallae algae) कहते हैं। यह शैवाल प्रकाश संश्लेषण विधि से भोजन बनाती है जिससे अपना विकास करती है तथा सम्बन्धित प्रवाल, जिसके शरीर में वह वासित है, की सकल भोजन मांग के 60 प्रतिशत भाग की आपूर्ति करती है। प्रवाल शेष 40 प्रतिशत आहार की अपने मुंह के टेण्टिकिल्स द्वारा छोटे-छोटे जनतुप्लैंकटन का शिकार करके आपूर्ति करते हैं। जब सागरीय तापमान में वृद्धि हो जाती है तो प्रवाल इन शैवालों को अपने शरीर से निष्कासित कर देते हैं, परिणामस्वरूप प्रवालों को आहार नहीं मिल पाता है तथा वे मर जाते हैं। शैवाल के निकल जाने के कारण प्रवाल श्वेत रंग के हो जाते हैं। इसे **प्रवाल विरंजन** (coral bleaching) कहते हैं।

30.3 प्रवाल के विकास की दशाएं

➢ प्रवाल मुख्य रूप से उष्ण कटिबन्धीय महासागरों में पाये जाते हैं, क्योंकि इनको जीवित रहने के लिए उच्च तापक्रम (20^0–21^0 C) आवश्यक होता है। परन्तु स्मरणीय है कि प्रवाल न तो अति उष्ण जल और न अति ठंडे जल में पनप पाते हैं।

➢ प्रवाल कम गहराई तक पाये जाते हैं। 200 से 250 फीट (60–77 मीटर) से अधिक गहराई में प्रवाल मर जाते हैं, क्योंकि इसके बाद सूर्य प्रकाश प्रविष्ट नहीं हो पाता है और प्रवाल के लिए यथोचित आक्सीजन नहीं मिल पाती है। एम० एस० लैंड तथा जे० ई० हॉफमीस्टर के अनुसार प्रवाल 200 से 300 फीट (60–91 मीटर) गहराई तक पाये जाते हैं। गार्डिनर ने 150 से 170 फैदम (213–310 मीटर) की गहराई तक प्रवालों को जीवित पाया है।

➢ प्रवाल के विकास के लिए स्वच्छ जल (अवसाद मुक्त) होना चाहिए, क्योंकि अवसादों के कारण प्रवाल का मुख बन्द हो जाता है और वह मर जाते हैं। समरणीय है कि जहाँ पर अवसाद का जल के साथ मिश्रण नियमित रूप में होता रहता

है, वहाँ पर प्रवाल का विकास हो सकता है, परन्तु जहाँ पर अचानक अवसाद लाया जाता है और जल गंदला हो जाता है, वहाँ पर प्रवाल मर जाते हैं।

➢ अत्यधिक सागरीय लवणता (salinity) प्रवाल के विकास के लिए हानिकर होती है, क्योंकि इसमें चूने के कार्बोनेट की कमी होती है, जबकि चूना प्रवाल का प्रमुख भोजन है। प्रवाल के समुचित विकास के लिए औसत सागरीय लवणता $27^0/_{00}$ से $30^0/_{00}$ होनी चाहिए।

➢ पूर्ण स्वच्छ जल भी प्रवाल के लिए हानिकर होता है। यही कारण है कि नदियों के मुहानों के पास प्रवाल कम पाये जाते हैं क्योंकि स्वच्छ जल में पोषक तत्वों की कमी होती है।

➢ सागरीय तरंगें तथा धाराएं प्रवालों के लिए लाभदायक होती हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्रवालों के लिए भोजन लाया जाता है। यही कारण है कि बन्द सागरों में कम प्रवाल पाये जाते हैं। लैगून में (स्थल तथा प्रवाल भित्ति के बीच) जीवित प्रवाल नहीं मिलते हैं, परन्तु सागर की ओर इनका विकास तेजी से होता है। तरंगें तथा धाराएं प्रवाल भित्तियों के आकार निर्धारण में भी सहयोग करती हैं। इनके द्वारा गोलाकार प्रवाल भित्तियों का निर्माण होता है जबकि प्रवाल भित्ति तथा स्थल के बीच स्थित गतिहीन सागरीय भाग में इनका आकार बाहर की ओर निकली लम्बी-लम्बी शाखाओं के रूप में होता है।

➢ प्रवाल के विकास के लिए अन्त:सागरीय चबूतरों की आवश्यकता होती है, जिनके ऊपर प्रवाल अपना घरौंदा बनाते हैं। इन अन्त:सागरीय चबूतरों की स्थिति सागर तल से ऊपर 50 फैदम (300 फीट) तक होनी चाहिए। इन चबूतरों पर प्रवाल का विकास दो रूपों में होता है। प्रवाल ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं तथा यह विकास तब स्थगित होता है, जबकि प्रवाल सागर तल के ऊपर हो जाते हैं। दूसरे रूप में प्रवाल बाहर की ओर विकसित होते हैं।

➢ **मानवीय आर्थिक क्रियाकलापों,** यथा : नगरीकरण, औद्योगिक विकास, वन विनाश आदि, द्वारा भूमण्डलीय तापमान में वृद्धि (global warming) होती है जिसका प्रवालों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। दीर्घकालिक जलवायु परिवर्तन का प्रवालों पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि प्रवाल जलवायु परिवर्तन के साथ अपना अनुकूलन तथा समायोजन नहीं कर पाने के कारण मर जाते हैं। प्रवालों को सामान्यतया **महासागरीय वर्षा वन** (rainforests of the oceans) कहते हैं। प्रवाल चरम तापमान वाले पर्यावरण में जीवित नहीं रह सकते। विज्ञानियों का दावा है कि मानव जनित भूमण्डलीय ताप में वृद्धि के कारण अब तक 10 प्रतिशत प्रवाल मर चुके हैं। 'डाउन टू अर्थ' पत्रिका (अगस्त 15, 1999) में प्रकाशित एक रपट (report) के अनुसार विश्व के प्रवालों के 30 प्रतिशत प्रवाल नाजुक स्थिति (critical condition) तथा 30 प्रतिशत प्रवाल विषम पर्यावरणीय दशाओं के कारण खतरे की स्थिति में हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा गठित 'जलवायु परिवर्तन के अन्तर्शासकीय पैनल' (intergovernmental panel on climate change, IPCC) की एक रपट के अनुसार यदि भविष्य में होने वाले जलवायु परिवर्तन को नहीं रोका गया तो आगामी 30 वर्षों में प्रवालों का अस्तित्व ही संदिग्ध हो जायेगा। प्रवालों के नष्ट होने की स्थिति में सागरीय आहार शृंखला (food chain) ही विक्षुब्ध हो जायेगी तथा सागरीय जीवों का विनाश (marine life disaster) हो जायेगा।

सागरीय तापमान में वृद्धि होने से **प्रवाल विरंजन** (coral bleaching) की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है जिस कारण प्रवाल मर जाते हैं। वास्तव में सागरीय जल के तापमान में वृद्धि होने से प्रवालों के मुख्य भोजन वाले हरे रंग के शैवालों (algae), जो प्रवालों के शरीरों में वास करते हैं, के बाहर निकल जाने के कारण आहार न मिलने के कारण प्रवाल मर जाते हैं तथा उनका रंग श्वेत हो जाता है। इसे विरंजन (bleaching) कहते हैं। ज्ञातव्य है कि पौधों (शैवाल भी पौधा ही है) का हरा रंग ही **प्रकाश संश्लेषण** (photosynthesis) में सहायक होता है। शैवाल का विरंजन (श्वेत रंग) हो जाने से प्रकाशसंश्लेषण नहीं हो पाता है जिस कारण शैवाल, जो प्रवालों को आहार प्रदान करता है, समाप्त हो जाते हैं। परिणामस्वरूप भोजन की आपूर्ति के अभाव में प्रवाल मर जाते हैं। इस प्रक्रिया को **प्रवाल विरंजन** कहते हैं। 'ग्लोबल कोरल रीफ मानीटरिंग नेटवर्क' के क्लाइव विलकिंसन के अनुसार 1998 में हिन्द महासागर में पश्चिमी एशिया, पूर्वी अफ्रीका, दक्षिणी, द० पू० तथा पूर्वी एशिया के तटों के पास, पूर्वी प्रशान्त महासागर, कैरेबियन सागर तथा अटलाण्टिक महासागर में ग्लोबल वार्मिंग के कारण प्रवाल विरंजन होने से प्रवालों की व्यापक स्तर पर मृत्यु हो गयी। हिन्द महासागर के प्रवालों पर सबसे अधिक बुरा प्रभाव पड़ा है क्योंकि केनिया, मालदीव, लच्छद्वीप तथा अण्डमान के पास 70 प्रतिशत प्रवाल नष्ट हो गये। अध्ययनों से पता चला है कि जब महासागरीय जल का तापमान सामान्य से 1^0 सें० अधिक हो जाता है तो प्रवाल विरंजन प्रारम्भ हो जाता है। 1998 में हिन्द महासागर का तापमान औसत से 2^0 सें० अधिक हो गया था। **एल निनो घटना** को भी प्रवाल विरंजन का प्रमुख कारण बताया गया है। 1997-98 में एल निनो का प्रभाव बहुत अधिक हो गया था जिस कारण प्रवालों का विरंजन बड़े पैमाने पर हो गया।

➢ **भूण्डलीय तापवृद्धि** के अलावा मानव द्वारा स्थानीय स्तर से प्रादेशिक स्तर पर महासागरीय जल में किए जा रहे प्रदूषण द्वारा भी प्रवाल मर रहे हैं। यथा : स्थलीय भागों से अत्यधिक मात्रा में अवसादों (वन विनाश के कारण मृदा क्षरण के कारण अधिकाधिक मात्रा में अवसाद नदियों द्वारा सागरों में लाये जाते हैं) का सागरों में पहुँचना; औद्योगिक क्षेत्रों के कचरों एवं अपशिष्ट जल (effluents), नगरों से निकले कचरों तथा

मलजल का सागरों में विसर्जन, आवश्यकता से अधिक मछलियों का पकड़ना; सागरीय वनों का सफाया तथा निम्न तर क्षेत्रों (wet lands) का भराव; प्रवाल शैलों का खनन; प्रवाल की दुर्लभ प्रजातियों का संग्रह किया जाना आदि प्रवालों की मृत्यु के कारण बनते जा रहे हैं। अभिनव अध्ययनों से पता चला है कि वर्तमान समय में विश्व के 58 प्रतिशत प्रवाल संकटापन्न स्थिति (threatened condition) में हैं (Down to Earth, 1999)।

30.4 प्रवाल भित्ति के प्रकार

महासागरों में मिलने वाली प्रवाल भित्तियों को दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है और आकृति के आधार पर इन्हें तीन वर्गों में रखा जाता है: (i) तटीय प्रवाल भित्ति, (ii) अवरोधक प्रवाल भित्ति तथा (iii) वलयाकार प्रवाल भित्ति या एटॉल। स्थिति के आधार पर प्रवाल भित्तियों को दो भागों में रखा जाता है— (i) उष्ण कटिबंधीय प्रवाल भित्तियाँ तथा (ii) सीमान्त प्रदेशीय प्रवाल भित्तियाँ।

1. तटीय प्रवाल भित्ति (Fringing Reef)

महाद्वीपीय किनारे या द्वीप के किनारे निर्मित होने वाली प्रवाल भित्ति को तटीय प्रवाल भित्ति कहते हैं। इसका सागरवर्ती भाग खड़ा एवं तीव्र ढाल वाला होता है, जबकि स्थलोन्मुख भाग मन्द ढाल वाला होता है। ऊपरी सतह असमान तथा ऊबड़-खाबड़ होती है। भित्तियाँ यद्यपि स्थलीय भाग से सटी रहती हैं, परन्तु कभी-कभी इनके तथा स्थलभाग के बीच अन्तराल हो जाने के कारण उनमें छोटी लैगून का निर्माण हो जाता है, जिन्हें **बोट चैनेल** कहा जाता है। प्रवाल भित्तियाँ प्राय: कम चौड़ी तथा संकरी होती हैं। जहाँ कहीं भी नदी सागर में गिरती है, वहाँ पर तटीय प्रवाल भित्तियों का क्रम भंग हो जाता है। इस तरह की भित्तियाँ सकाऊ द्वीप, दक्षिणी फ्लोरिडा, मलेशिया द्वीप के सहारे पायी जाती हैं।

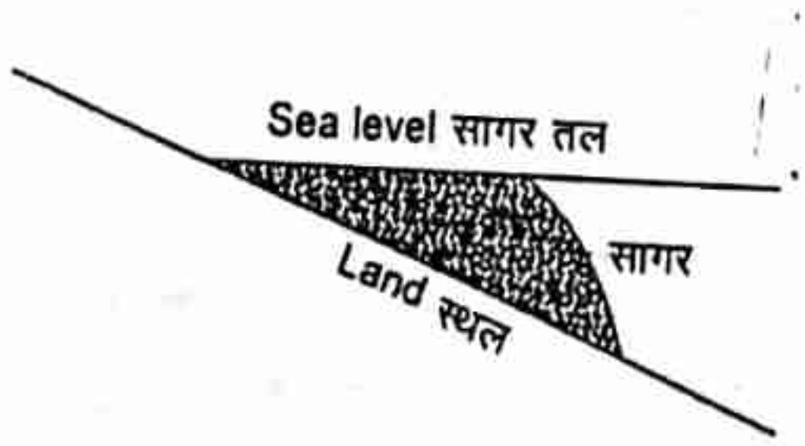

चित्र 30.1 : तटीय प्रवाल भित्ति (fringing reef)।

2. अवरोधक प्रवाल भित्ति (Barrier Reef)

सागरीय तट से कुछ दूर, किन्तु उसके समानान्तर स्थित वृहदाकार प्रवाल भित्ति को अवरोधक प्रवाल भित्ति कहा जाता है। ये सभी प्रकार की भित्तियों से लम्बी, विस्तृत, चौड़ी तथा ऊँची होती हैं। इनका ढाल 45^0 तक होता है, परन्तु कुछ ढाल $15^0 - 25^0$ तक ही होता है। तट तथा इनके बीच विस्तृत किन्तु छिछली लैगून का आविर्भाव हो जाता है। अवरोधक भित्तियाँ लगातार अविच्छिन्न रूप में नहीं मिलती हैं, वरन् स्थान-स्थान पर ये टूटी होती हैं, जिस कारण लैगून का सम्बन्ध खुले सागर से बना रहता है। इन अन्तरालों (gaps) को ज्वारीय प्रवेश मार्ग (tidal inlet) कहते हैं, जिनसे होकर जलयान भी आ जाते हैं। इन भित्तियों का आधार अधिक गहराई में मिलता है। कभी-कभी तो आधार इतना गहरा होता है कि वह प्रवाल के विकास की सीमा (300 फीट) से अधिक हो जाती है। यह गहराई अवरोधक प्रवाल भित्तियों के सामने एक विकट समस्या पैदा कर देती है। इनके समाधान के विषय में बताया जाता है कि अवरोधक प्रवाल भित्तियों के बन जाने के बाद उनके आधार में अवतलन हुआ होगा।

विश्व की सर्वप्रमुख अवरोधक प्रवाल भित्ति **ग्रेट बैरियर रीफ** है, जो आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट के सहारे 9^0 से 22^0 द० अक्षांशों के मध्य 1200 मील (1920 किमी०) की लम्बाई में पायी जाती है। इसका उत्तरी सिरा तट से 80 मील (128 किमी०) तथा दक्षिणी सिरा 7 मील (11 किमी०) दूर है। इस तरह प्रवाल भित्ति की तट से दूरी 20 से 30 मील (32 से 48 किमी०) के बीच पायी जाती है। तट तथा भित्ति के बीच स्थित लैगून की गहराई 40 फैदम (240 फीट) तथा चौड़ाई 7 से 80 मील (11 से 128 किमी०) है। जगह-जगह पर भित्ति टूटी है, जिस कारण लैगून का सम्बन्ध खुले प्रशान्त महासागर से हो जाता है।

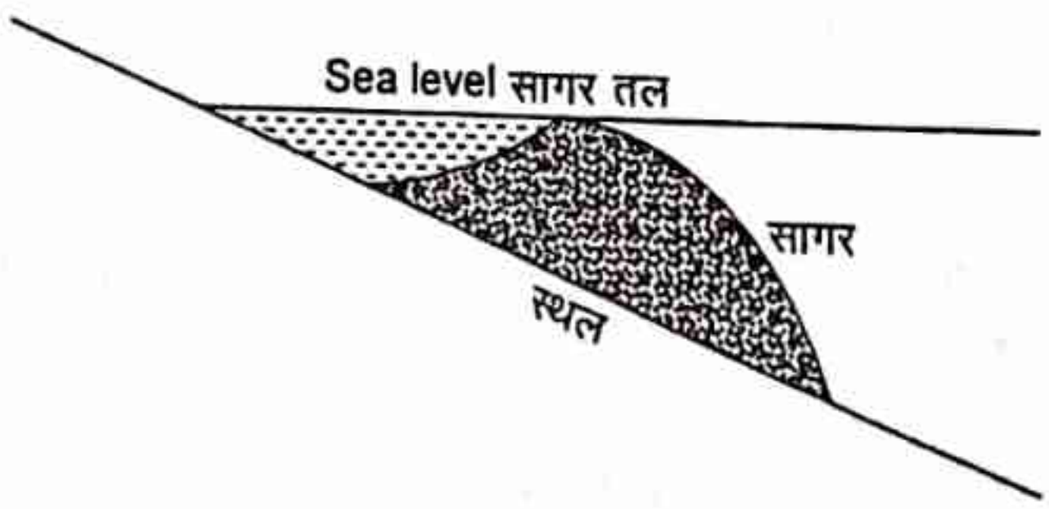

चित्र 30.2 : अवरोधक प्रवाल भित्ति (barrier reef)।

3. एटॉल (Atoll)

घोड़े की नाल या मुद्रिका के आकार वाली प्रवाल भित्ति को एटॉल कहा जाता है। इसकी स्थिति प्राय: द्वीप के चारों ओर या जलमग्न पठार के ऊपर अण्डाकार रूप में पायी जाती है, परन्तु इसका कोई न कोई भाग खुला अवश्य रहता है। इसके बीच में लैगून होती है, जिसकी गहराई 40 से 70 फैदम (240 से 420 फीट) तक होती है। इसकी ऊपरी सतह पर ताड़ के

वृक्ष पाये जाते हैं। एटॉल प्राय: तीन प्रकार के होते हैं—(i) वे एटॉल जिनके बीच में द्वीप नहीं पाया जाता है। केवल प्रवाल की बलायाकार श्रेणियाँ ही पायी जाती हैं, (ii) वे एटॉल जिनके मध्य में द्वीप पाया जाता है, तथा (iii) वे एटॉल जिनके मध्य में पहले से द्वीप तो नहीं रहता, परन्तु बाद में सागरीय तरंगों द्वारा अपरदन एवं निक्षेपण द्वारा उनके ऊपर द्वीप जैसा बन जाता है। इन्हें प्रवाल द्वीप या एटॉल द्वीप कहा जाता है। एटॉल एण्टीलीज सागर, लाल सागर, इण्डोनेशिया सागर, चीन सागर तथा आस्ट्रेलिया सागर में अधिकता से पाये जाते हैं। फुराफुटी एटॉल एक प्रसिद्ध एटॉल है।

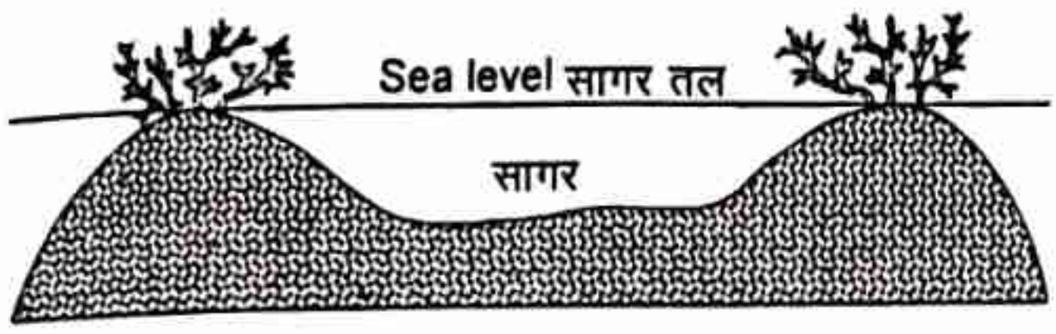

चित्र 30.3 : एटॉल (attol)।

30.5 प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति

प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति एक जटिल समस्या है, जिसके समाधान के लिए परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यदि इन सिद्धान्तों का मन्थन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि इनका प्रतिपादन दो प्रमुख आधारों पर किया गया है—प्लीस्टोसीन सागर तल में परिवर्तन तथा स्थलखण्ड में स्थिरता। स्थल खण्ड की स्थिरता में तीन दशाएं व्यक्त की गयी हैं—स्थिर स्थलखण्ड (stable land), अवतलित होता हुआ स्थलखण्ड (subsiding land) तथा ऊपर उठता स्थलखण्ड (emerging land)। प्रवाल भित्तियों में तटीय भित्ति की उत्पत्ति तो सरल है परन्तु अवरोधक भित्ति तथा एटॉल की उत्पत्ति जटिल है। इनकी उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—1. अवतलन सिद्धान्त (subsidence theory) तथा 2. स्थिर स्थल सिद्धान्त (non-subsidence theory)। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत डार्विन का सिद्धान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत मरे, अगासीज, डेली आदि के सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं।

1. डार्विन का अवतलन सिद्धान्त

चार्ल्स डार्विन ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन 1837 में किया, किन्तु 1842 में उसमें संशोधन किया गया। डार्विन ने प्रवाल भित्तियों के अध्ययन के बाद पाया कि यद्यपि प्रवाल छिछले सागर में ही जीवित रह सकते हैं तथापि उनसे निर्मित भित्तियाँ अत्यधिक गहराई तक पायी जाती हैं, जहाँ पर प्रवाल किसी भी हालत में जीवित नहीं रह सकते। इस विरोधाभास को दूर करने के लिए डार्विन ने बताया कि जिस स्थल या द्वीप के साथ प्रवाल भित्ति बनती है, वह स्थिर नहीं होता है, वरन् उसमें क्रमश: अवतलन होता है। इन्होंने यह भी बताया कि तटीय प्रवाल भित्ति, अवरोधक प्रवाल भित्ति तथा एटॉल, प्रवाल भित्ति की क्रमिक विकासीय अवस्थायें (successive evolutionary stages) हैं।

सर्वप्रथम आदर्श चबूतरे के साथ प्रवाल का आविर्भाव होता है तथा वे ऊपर की ओर बढ़कर सागर तल तक पहुँच जाते हैं, जिस कारण तटीय प्रवाल भित्ति (fringing reef) का निर्माण होता है। इसके बाद स्थलखण्ड में अवतलन हो जाता है, जिस कारण प्रवाल अधिक गहराई में पहुँच जाते हैं। परिणामस्वरूप जीवित रहने के लिए तथा अपने भोजन को एकत्रित करने के लिए इनमें ऊपर तथा बाहर की ओर तेजी से वृद्धि होती है। तट के पास वृद्धि रुक जाती हैं क्योंकि वहाँ भोजन का अभाव होता है। परिणामस्वरूप तट तथा भित्ति के बीच लैगून होती है। पुन: स्थलखण्ड का अवतलन होता है तथा द्वीप पूर्णतया जलमग्न हो जाता है और उसके चारों ओर वलयाकार प्रवाल भित्ति (एटॉल) का निर्माण हो जाता है।

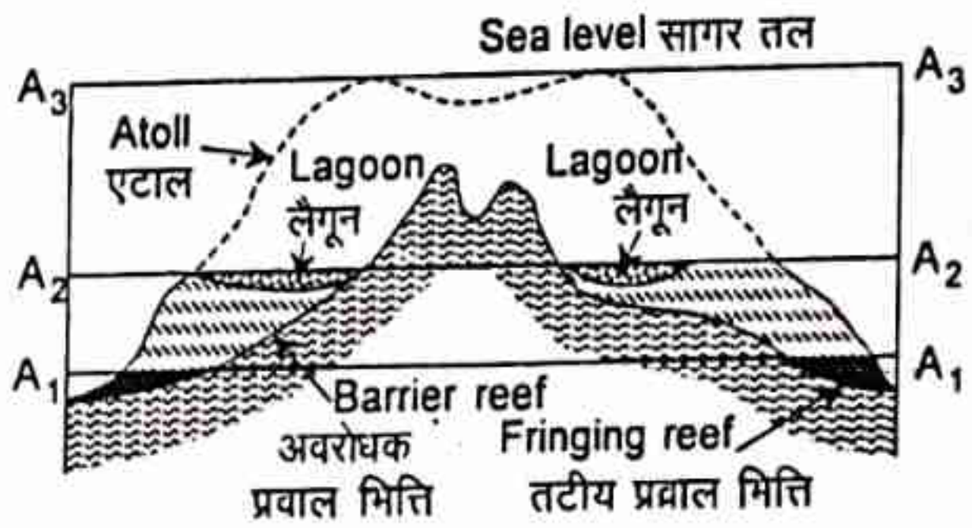

चित्र 30.4 : डार्विन के अनुसार प्रवाल भित्तियों का निर्माण A_1A_1—सागर तल (तटीय प्रवाल भित्ति), A_2 A_2—अवतलन के बाद द्वीप का सागर तल (अवरोधक प्रवाल भित्ति) तथा A_3A_3—द्वीप के पूर्णतया अवतलित हो जाने पर सागर तल तथा एटॉल का निर्माण।

स्थलखण्ड के निरन्तर अवतलन के बावजूद लैगून की गहराई बढ़ने नहीं पाती है, क्योंकि उसमें निरन्तर अवसाद का जमाव होता रहता है। डार्विन के सिद्धान्त के पक्ष में कई प्रमाण मिलते हैं—

➢ लैगून का निरन्तर छिछला बना रहना स्थलखण्ड के अवतलन को इंगित करता है। यदि स्थलखण्ड स्थिर रहता तो निरन्तर जमाव के कारण लैगून भर जाती।

➢ प्रवाल भित्ति वाले द्वीपों के किनारे पर क्लिफ की अनुपस्थिति स्थलखण्ड के अवतलन को प्रदर्शित करती है क्योंकि क्लिफ केवल स्थिर तट के सहारे ही पाये जाते हैं।

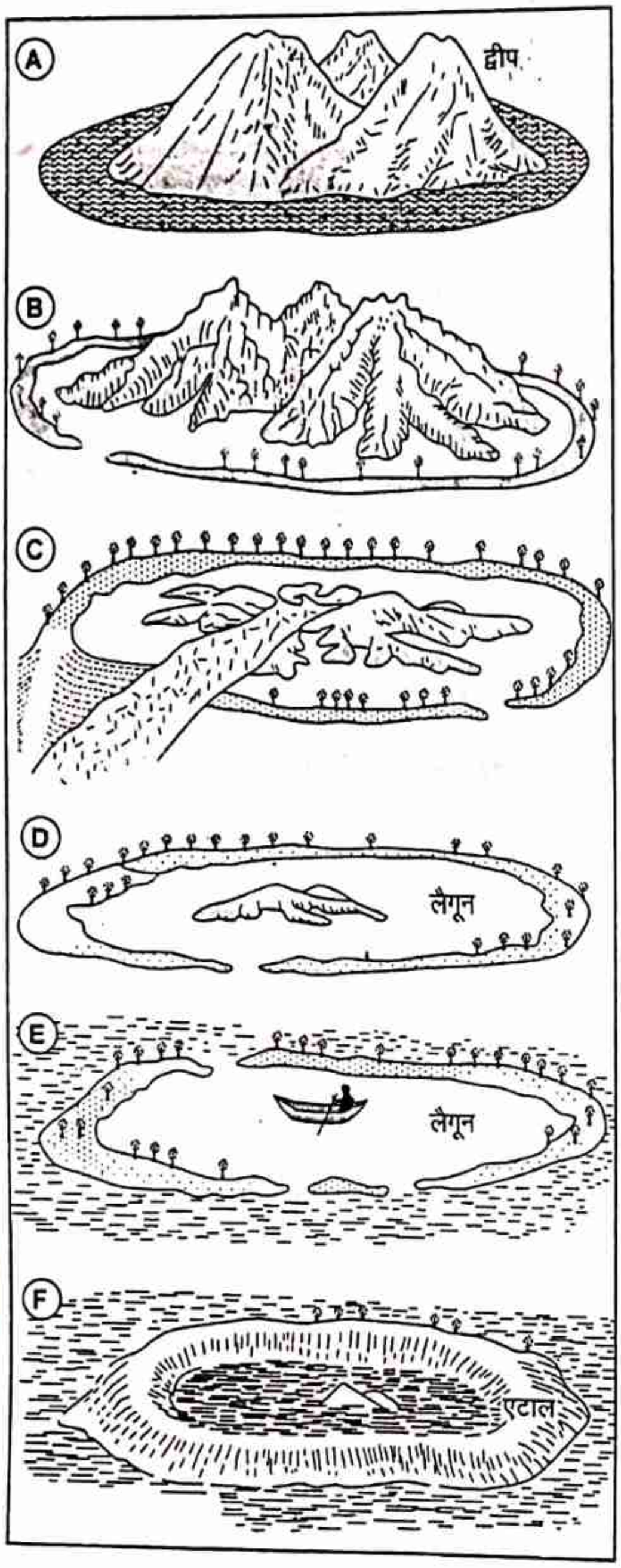

चित्र 30.5 : अवतलन सिद्धान्त के आधार पर प्रवाल भित्ति के विकास की अवस्थाएँ।

➢ प्रशान्त महासागर में जिन भागों के सहारे उत्थित पुलिन (raised beaches) पायी जाती हैं, उनके सहारे प्रवाल भित्तियों (अवरोधक तथा एटॉल) का पूर्णतया अभाव है।

➢ एटॉलयुक्त द्वीपों के ऊपरी भाग अत्यधिक खड़े ढाल वाले होते हैं। इस तरह का अतयन्त तीव्र ढाल पर्वतीय शिखर के ऊपरी भाग पर ही मिलता है। इससे स्थलखण्ड का अवतलन प्रमाणित होता है।

➢ प्रवाल भित्ति की मोटाई ऊपर से नीचे की ओर बढ़ती जाती है, जिससे प्रमाणित होता है कि प्रवाल भित्ति का निर्माण अवतलित होते हुए आधार पर हुआ है।

आलोचना—यदि तटीय प्रवाल भित्ति, अवरोधक प्रवाल भित्ति तथा एटॉल, प्रवाल भित्तियों की विकासीय अवस्थाएं हैं तो एक ही द्वीप के सहारे एक ओर तटीय प्रवाल भित्ति तथा दूसरी ओर अवरोधक प्रवाल भित्ति को साथ-साथ नहीं मिलना चाहिए, परन्तु नयी खोजों के आधार पर इस तरह के अनेक प्रमाण मिले हैं। यदि डार्विन के सिद्धान्त को मान लिया जाय तो अवतलन के कारण प्रशान्त महासागर के अधिकांश द्वीप जलमग्न होकर अदृश्य हो जायेंगे। कहीं-कहीं पर उठते द्वीप के साथ भी प्रवाल भित्तियाँ पायी जाती हैं।

2. मरे का स्थिर स्थल सिद्धान्त

स्थिर स्थल सिद्धान्त के अन्तर्गत भी दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत यह माना जाता है कि प्रवाल भित्ति का निर्माण स्थिर सागर तल के साथ अन्त: सागरीय चबूतरों पर होता है। दूसरे वर्ग के अनुसार प्रवाल भित्ति के निर्माण के लिए आवश्यक स्थल की प्राप्ति सागर तल में गिरावट के कारण होती है परन्तु स्थल स्थिर रहता है। मरे का सिद्धान्त प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आता है। मरे ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन 1880 में किया। उन्होंने यह बताया कि प्रवाल 30 फैदम (180 फीट) की गहराई तक पनप सकते हैं। सागर तल तथा स्थल स्थिर होते हैं। सागर तल के नीचे अनेक अन्त:सागरीय चबूतरे, ज्वालामुखी शिखर, द्वीप आदि होते हैं, जिनके ऊपर प्रवाल भित्ति का निर्माण होता है। यदि ये स्थल प्रवाल की गहराई (coral depth, जहाँ तक प्रवाल जिन्दा रह सकते हैं) से ऊपर या नीचे होते हैं तो उनकी प्राप्ति निम्न रूपों में होती है—(i) यदि ज्वालामुखी शिखर या द्वीप

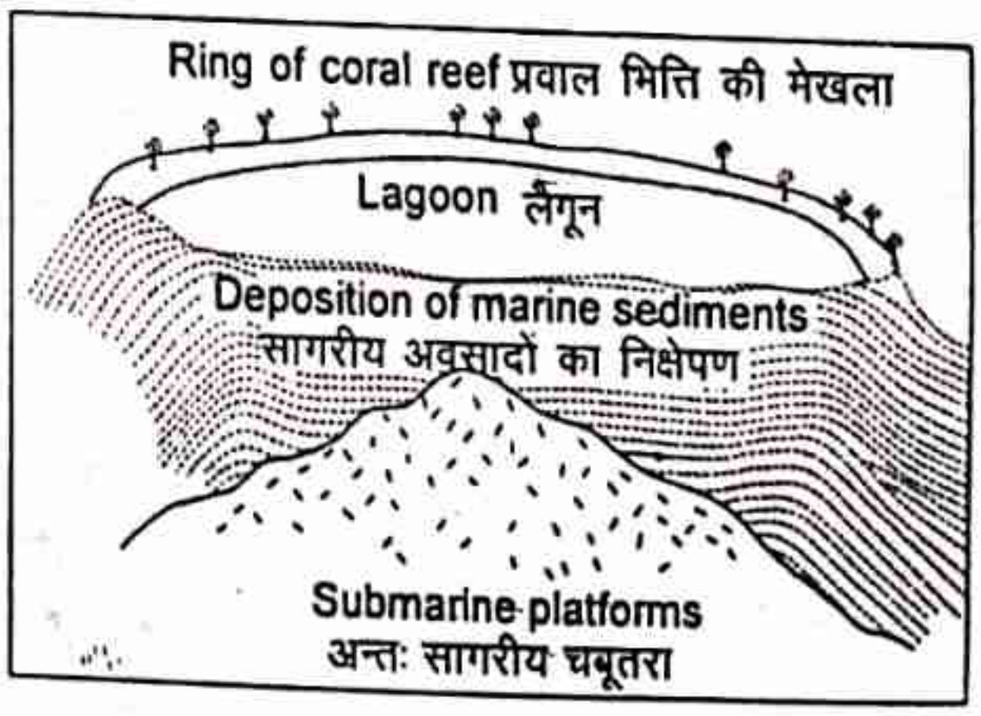

चित्र 30.6 : मरे के अनुसार प्रवाल भित्ति का निर्माण।

प्रवाल तल (सागर तल से 180 फीट नीचे) से ऊपर है, तो उसका अपरदन तथा घुलन क्रिया द्वारा अवनयन (lowering) हो जाता है और (ii) यदि वह प्रवाल तल से नीचे है, तो उस पर अन्त:सागरीय पेलेजिक जमाव होता है, जिस कारण आवश्यक गहराई (30 फैदम) प्राप्त हो जाती है।

30 फैदम की गहराई प्राप्त हो जाने पर प्रवाल अपना घरौंदा बनाना प्रारम्भ कर देते हैं तथा प्रारम्भ में तटीय प्रवाल भित्ति (fringing reef) का निर्माण होता है। प्रारम्भ में प्रवाल का विकास ऊपर की ओर तथा आगे चलकर बाहर की ओर होने लगता है। तटीय प्रवाल में निरन्तर विकास के कारण अवरोधक प्रवाल भित्ति (barrier reef) का निर्माण होता है। स्थल तथा प्रवाल भित्ति के बीच के भाग के घुल जाने के कारण लैगून का निर्माण होता है। अन्त: सागरीय चबूतरों के शीर्ष पर प्रवाल के चतुर्दिक विकास के कारण एटॉल का निर्माण होता है।

आलोचना

➢ मरे के अनुसार प्रवाल भित्ति के निर्माण के लिए अनेक अन्त: सागरीय शिखर तथा चबूतरे होने चाहिए जो कि सम्भव नहीं है।

➢ मरे ने एक ही स्थान पर 30 फैदम की गहराई तक अपरदन तथा निक्षेप की दो परस्पर विरोधी सक्रिय प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है जो कि न्याय संगत नहीं है।

➢ सागरीय तरंगों द्वारा अपरदन तथा निक्षेपण की 30 फैदम की गहराई तक की अधिकतम सीमा मान्य नहीं है।

➢ मरे ने लैगून का निर्माण प्रवाल भित्ति तथा स्थल के बीच के भाग के घुल जाने से बताया है। यह मत भी भ्रामक है, क्योंकि यदि घुलन क्रिया इतनी सक्रिय है तो इससे अन्त: सागरीय चबूतरों पर स्थित पेलैजिक जमाव भी घुल सकता है।

➢ यदि स्थल स्थिर है तो लैगून जमाव द्वारा भर जायेगी और उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।

➢ मरे के अनुसार प्रवाल की गहराई 180 फीट (30 फैदम) से अधिक नहीं हो सकती है, परन्तु इससे अधिक गहराई में भी प्रवाल मिलते हैं।

3. डेली का हिमानी नियंत्रण सिद्धान्त (Glacial Control Theory)

डेली ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन 1915 में उस समय किया, जबकि उनको यह विश्वास हो गया कि सागरों में प्रवाल भित्तियों का निर्माण प्लीस्टोसीन हिमकाल के बाद ही हुआ है। प्लीस्टोसीन हिमकाल के समय सागरीय जल के हिम में बदल जाने के कारण सागर तल में 33 से 38 फैदम तक का अवनयन (lowering) हो गया। सागरीय जल के तापमान में अवनयन के कारण जो भी प्रवाल थे, वे मर गये। सागर तल में अवनयन के कारण महाद्वीपीय तटों तथा द्वीपों के सहारे अपरदित चबूतरों तथा सोपानों का निर्माण हुआ। हिमकाल के अवसान के बाद हिम के जल में परिणत हो जाने के कारण सागर तल पुन: 33 से 38 फैदम तक ऊपर उठ गया। परिणामस्वरूप अपरदित चबूतरे 38 फैदम की गहराई तक डूब गये। जो प्रवाल बचे रह गये वे तथा नये प्रवाल जलमग्न संकरे चबूतरों पर अपना घरौंदा बनाने लगे, जिस कारण तटीय प्रवाल भित्ति का निर्माण हुआ। चौड़े चबूतरों पर अवरोधक प्रवाल भित्ति का निर्माण हुआ। एटॉल का निर्माण एकाकी अन्त:सागरीय पठारों के ऊपर हुआ। प्रवाल भित्ति तथा स्थल के मध्य समान गहराई वाली लैगून का निर्माण हुआ।

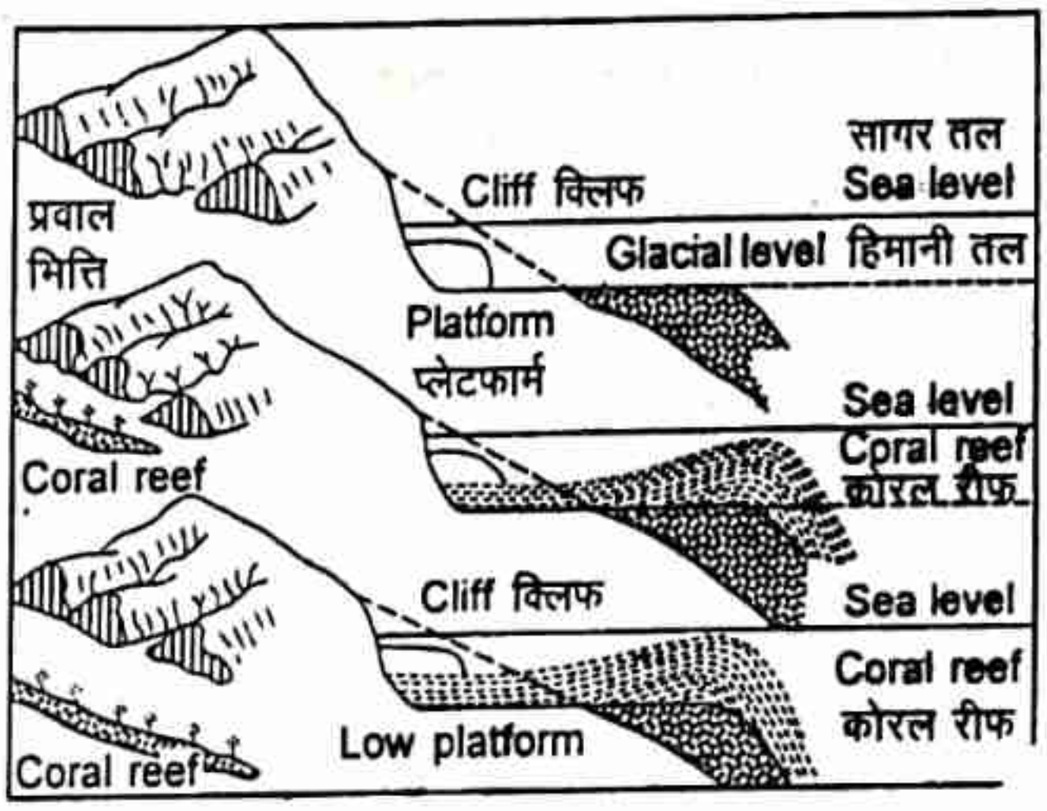

चित्र 30.7 : डेली के अनुसार प्रवाल भित्ति का निर्माण।

आलोचना

(i) इस सिद्धान्त के अनुसार सभी लैगून की गहराई समान होनी चाहिए, परन्तु डेविस ने बताया है कि सभी लैगून की गहराई भिन्न-भिन्न तो होती ही है, एक ही लैगून के विभिन्न भागों में भी गहराई में अन्तर (120 से 300 फीट) होता है। कहीं-कहीं पर यह गहराई 20 से 600 फीट तक पायी जाती है।

(ii) यदि सागर तल में अवनयन हुआ होता तो तटों तथा द्वीपीय किनारों पर क्लिफ का निर्माण हुआ होगा, जिन्हें इस समय भी परिलक्षित होना चाहिए, परन्तु ये क्लिफ दृष्टिगत नहीं होते हैं। वास्तव में उस समय प्रवाल भित्तियों के कारण ही तटों पर क्लिफ नहीं बन पाये होंगे।

(iii) यदि हिमकाल के समय 33 से 38 फैदम तक सभी सागरीय भागों का अपरदन हो गया तो तट तथा प्रवाल भित्तियों के बीच द्वीप नहीं मिलने चाहिएँ, परन्तु ऐसे द्वीप मिलते हैं।

4. डेविस की संकल्पना

अमेरिकी भूआकृतिविज्ञानवेत्ता विलियम मोरिस डेविस ने 1914-18 में प्रवाल भित्तियों के निर्माण सम्बन्धी प्राचीन सिद्धान्त—अवतलन सिद्धान्त को पुनरुज्जीवित किया तथा अनेक भौतिक प्रमाण प्रस्तुत किये। उन्होंने बताया कि प्रवाल का निर्माण अवतलित होते हुए स्थल के साथ ही होता है,

क्योंकि उसके सहारे क्लिफ नहीं मिलते हैं। डेविस ने प्लीस्टोसीन हिमकाल के समय सागर तल में परिवर्तन को भी सम्मिलित किया है। इस तरह डेविस ने कोई नया सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया है, वरन् डार्विन के पुराने सिद्धान्त को ही नये प्रमाण के आधार पर पुष्ट करने का प्रयास किया है। डेविस ने विश्व के कई स्थानों से प्रवाल भित्तियों के भ्वाकृतिक साक्ष्य प्रस्तुत किया तथा प्रवाल भित्तियों से सम्बन्धित तब तक कई अनुत्तरित समस्याओं का हल भी प्रस्तुत किया। इनके अनुसार प्रवाल का विकास धंसते स्थल के साथ प्रारम्भ होता है। कोरल सागर में टेढ़ी-मेढ़ी तथा कटी-फटी (indented and embayed coast lines) तट रेखा अवतलन (subsidence) तथा स्थल के निमज्जन (submergence) को प्रमाणित करती है। डेविस के अनुसार अधिकांश प्रवाल भित्तियों की लैगून की समान गहराई तथा उनके नितल (bottom) का चपटापन सरगर तल में समान गिरावट के कारण न होकर उनमें सागरीय अवसादों के कारण है। लैगूनों का छिछलापन उनमें अवसादों के लगातार निक्षेपण का परिणाम है। यदि जलमग्न अन्त: सागरीय चबूतरों को स्थिर मान लिया जाय तो अवसादों के लगातार निक्षेपण के कारण लैगून भर जायेगी तथा उससे जल का जब बाहर की ओर बहाव होगा तो प्रवाल मर जायेंगे। दूसरी तरफ यदि स्थल लगातार धंस रहा है तो लैगून में अवसादों की कोई भी मात्रा का समावेश हो जायेगा तथा लैगून में जल की गहराई यथावत बनी रहेगी। डेविस ने अपने मत की पुष्टि के लिए और अधिक साक्ष्य प्रस्तुत किया है।

30.6 प्रवाल विरंजन

(Coral Bleaching)

प्रवाल विरंजन का सामान्य अर्थ होता है शैवाल (algae) का श्वेत रंग होने से प्रकाश संश्लेषण (photosynthesis) न होने के कारण शैवाल के अभाव में प्रवाल का मर जाना। प्रवाल विरंजन की वास्तविक प्रक्रिया का स्पष्टीकरण इस अध्याय के अनुभाग 25.2 में दिया गया है। **भूमण्डलीय ताप वृद्धि** (global warming) को प्रवाल विरंजन का प्रमुख कारण चिन्हित किया गया है। 1997-98 में महासागरीय जल के तापमान में औसत से 2^0 सें० की वृद्धि होने से 60 से अधिक देशों के उष्णकटिबन्धी सागरों में भारी स्तर पर प्रवाल विरंजन होने के कारण प्रवालों की सामूहिक मृत्यु होने से **प्रवाल विनाश** (coral catastrophe) की स्थिति उत्पन्न हो गयी। यद्यपि प्रवाल विरंजन की घटना का अल्फ्रेड मेयर द्वारा 1919 में ही अवलोकन कर लिया गया था परन्तु इस प्रक्रिया तथा घटना के प्रति विश्व के विज्ञानियों का ध्यान 1998 में आकर्षित हुआ जबकि केनिया तट के पास तथा हिन्दमहासागर के द्वीपों (यथा : अण्डमान-मालदीव, लक्षद्वीप आदि) के 70 प्रतिशत से अधिक प्रवालों की मौत हो गयी। जब सागरीय जल के औसत सामान्य तापमान में 1^0 सें० से अधिक वृद्धि हो जाती है तो शैवाल का रंग सफेद हो जाता है। ज्ञातव्य है कि प्रवाल इन्हीं शैवाल को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं, अत: प्रवाल की वृद्धि शैवालों की समृद्धि, बहुलता एवं प्राप्ति पर निर्भर करती है। हरे रंग के शैवाल प्रकाशसंश्लेषण (photosynthesis) की प्रक्रिया द्वारा अपनी वृद्धि करते हैं। जब इनका विरंजन (हरे रंग का सफेद रंग में बदलना) हो जाता है तो शैवाल समाप्त होने लगते हैं, परिणामस्वरूप प्रचुर आहार के अभाव में प्रवाल मरने लगते हैं। इस समस्त प्रक्रिया को प्रवाल विरंजन कहते हैं।

क्लाइव विलकिंसन ने प्रवाल विरंजन के चार स्तरों का निर्धारण किया है—1. **कैटास्ट्राफिक विरंजन**—जब 70 प्रतिशत तक प्रवाल दुष्प्रभावित हो जाते हैं। 1997-98 में बहरीन, मालदीप, श्रीलंका, सिंगापुर तथा तंजानिया के छिछले सागरों में 95 प्रतिशत तक प्रवालों पर विरंजन का दुष्प्रभाव पड़ा था। 2. **प्रचण्ड विरंजन** (severe bleaching)—जब 50 से 70 प्रतिशत प्रवाल विरंजन के कारण मर जाते हैं। 1997-98 में केनिया, सेचलीस, थाईलैण्ड तथा वियतनाम के सागरीय भागों में प्रचण्ड प्रवाल विरंजन हुआ था। 3. **सामान्य विरंजन** (moderate bleaching) के अंतर्गत 20 से 50 प्रतिशत प्रवाल विरंजन का शिकार हो जाते हैं। परन्तु इनका शीघ्र ही पुनरजीवन (quick recovery) हो जाता है। 4. **नगण्य विरंजन** (insignificant or no bleaching) का प्रभाव नगण्य होता है क्योंकि प्रवाल इसे बर्दास्त कर लेते हैं।

1997-98 में भारत के अण्डमान एवं निकोबार द्वीपों में बड़े पैमाने पर प्रवाल विरंजन की घटना हुई थी। उल्लेखनीय है कि भारत में प्रवालों का क्षेत्रीय विस्तार 18,000 वर्ग किमी० है। मुख्य रूप से अण्डमान तथा निकोबार द्वीप एवं लक्षद्वीप के चारों तरफ प्रवालों ने अपना घरौंदा (colonies) बनाया है। इसके अलावा मनार की खाड़ी तथा कच्छ की खाड़ी में छोटे-छोटे क्षेत्रों (patches) में प्रवाल भित्ति का विकास हुआ है। पोर्टब्लेयर स्थित 'सोसायटी फार अण्डमान एण्ड निकोबार इकालजी' (SANE) द्वारा किए गए अध्ययन की रपट के अनुसार, 1998 में अण्डमान रीफ के चारों ओर प्रवालों का सामूहिक विरंजन (mass bleaching) तथा निकोबार रीफ के चारों ओर 30-70 प्रतिशत तक विरंजन हो गया था। इस विरंजन का प्रमुख कारण 1998 में अण्डमान सागर के तापमान में 2^0 सें० तक की वृद्धि रही है। गोवा स्थित भारतीय समुद्रविज्ञान संस्थान (NIO) द्वारा किये गये अध्ययन के अनुसार लक्षद्वीप में कावारत्ती तथा कदामत द्वीपों के प्रवालों में बैक्टीरियल रोग तथा सागरीय जल के तापमान में वृद्धि के कारण विरंजन से भारी क्षति हुई है। कच्छ की खाड़ी में प्रवालों का विरंजन स्थलीय भाग से आने वाले मलवा के निक्षेपण (siltation) के कारण होता है। प्रवाल विरंजन के निम्न कारण बताये गये हैं :

(1) अधिकांश विज्ञानियों ने भूमण्डलीय तापवृद्धि (global warming) को प्रवाल विरंजन, जिस कारण प्रवालों

की मृत्यु हो जाती है, को सर्वप्रमुख कारण माना है। 'ग्लोबल कोरल रीफ एलायन्स' (GCRA) के अनुसार जब भी प्रवाल विरंजन हुआ है, ग्रीष्मकाल के सबसे गर्म महीनों का तापमान सामान्य से 1° सें० से अधिक रहा है।

(2) एल निनो घटना का सम्बन्ध प्रवाल विरंजन से जोड़ा गया है। ज्ञातव्य है कि 1998 सबसे गर्म वर्ष रहा। उस समय एल निनो घटना भी प्रबलतम रही जिस कारण प्रशान्त महासागर का तापमान और अधिक बढ़ गया। 1983, 1987 तथा 1998 में जबकि प्रवाल विरंजन सर्वाधिक हुआ, एलनिनो का प्रभाव भी सर्वाधिक था। उल्लेखनीय है कि एल निनो का प्रवाल विरंजन पर प्रभाव सीमित क्षेत्रों में ही होता है।

(3) कभी-कभी अचानक संक्रामक रोगों, यथा—ब्लैक बैंड रोग, कोरल प्लेग, एस्परजिलोसिस तथा ह्वाइट बैण्ड रोग, के महामारी रूप ले लेने से प्रवालों में व्यापक स्तर पर मृत्यु होने लगती है।

(4) स्थानीय कारक सीमित क्षेत्रों में स्थानीय तथा प्रादेशिक स्तरों पर प्रवालों के अवनयन (coral degradation) का कारण बन जाते हैं। इन स्थानीय कारकों में प्रमुख हैं—1. भूमि उपयोग में परिवर्तन के कारण उच्च द्वीपों के अपरदन के कारण उत्पन्न अवसादों का सरिताओं द्वारा तटवर्ती सागरों में निक्षेपण; 2. औद्योगिक प्रतिष्ठानों से निकलने वाले नालों के गन्दे जल, नगरीय मलजल (urban sewage) तथा आयलस्लिक के कारण सागरीय जल का प्रदूषण; 3. मछली पकड़ने की गलत तथा क्षतिकारी पद्धति, आवश्यकता से अधिक मछली पकड़ना (over-fishing); 4. तरभागों का भरना (filling of wetlands) तथा सागरीय वनों का सफाया (ज्ञातव्य है कि सागरीय वन तथा तरभाग स्थल से आने वाले अवसादों को रोकते हैं तथा प्रदूषकों को छान कर अपने में अवरुद्ध कर लेते हैं तथा प्रवालों को इनसे बचाते हैं); 5. कोरल का खनन (भारत के तमिलनाडु तट के पास कोरल खनन के कारण प्रवालों का विनाश हो रहा है); 6. प्रवालों की दुर्लभ प्रजातियों को निकाल लेना आदि।

उल्लेखनीय है कि प्रवाल पुनरजीवन (recovery) की भी विशेषता होती है। पृथ्वी के विगत कालों में वृहदस्तरीय जलवायु में परिवर्तनों (हिमकाल का आगमन), सूर्यातप की मात्रा में उतार-चढ़ाव तथा कई बार विषम परिस्थितियों के बावजूद प्रवाल अपना अस्तित्व बनाये रखने एवं पुनरजीवन करने में सफल रहे हैं। दीर्घकालिक सन्दर्भ में प्रवाल भित्तियों का विलोप (extinction) तो नहीं हो पायेगा परन्तु प्रवाल विरंजन की एक घटना के दुष्प्रभावों से प्रवालों को उबरने के लिए 30 से 100 वर्ष का समय लगा सकता है (Down to Earth, August 15, 1999)। कोरल पारिस्थितिक तंत्र, भूमण्डलीय तापवृद्धि तथा प्रवाल विरंजन के बीच सम्बन्धों को समझने के लिए कोरल पारिस्थितिक तंत्र (ecosystem) का विशद अध्ययन तथा तहकीकात (investigation) आवश्यक है।

प्रश्न :- Topic :-

महासागरीय निक्षेप वर्णन
(Ocean Deposits)

27.1 सामान्य परिचय

महासागरीय नितल पर अवसादों के जमाव को 'महासागरीय निक्षेप' कहते हैं। इस विषय के अंतर्गत केवल उन निक्षेपों का ही अध्ययन करते हैं, जो असंगठित अवसादों के रूप में होते हैं तथा शैल के रूप में नहीं होते हैं। ये पदार्थ कई प्रकार के होते हैं तथा कई स्रोतों से प्राप्त होते हैं। धरातलीय भाग के अपरदन से प्राप्त अवसाद नदियों, पवन आदि द्वारा सागरों में लाये जाते हैं। ज्वालामुखी का उद्भेदन भी कुछ अवसाद प्रस्तुत करता है। इसके अलावा महासागरों में मिलने वाले जीवों, वनस्पतियों आदि के अवशेषों से भी अवसाद प्राप्त होते हैं। इस तरह सागरीय निक्षेप के अध्ययन के समय अवसादों के प्राप्तिस्थल, उनके स्वभाव, महासागरों में उनके परिवहन तथा उनके क्षैतिज एवं लम्बवत् वितरण को ध्यान में रखा जाता है। महासागरीय निक्षेपों के विषय में मरे तथा रेनार्ड ने सराहनीय प्रयास किये हैं।

27.2 महासागरीय निक्षेप के स्रोत एवं वर्गीकरण

महासागर में पाये जाने वाले अवसाद मुख्य रूप से तीन स्रोतों से प्राप्त होते हैं—1. स्थलीय या भूमिज स्रोत, 2. ज्वालामुखी का उद्भेदन तथा 3. सागरीय जीव एवं वनस्पतियाँ। इन स्रोतों से कई प्रकार के (कार्बनिक, अकार्बनिक, चूनायुक्त, सिलिकायुक्त आदि) अवसाद प्राप्त होते हैं। महासागरीय तली के निक्षेपों का उनके स्रोत के आधार पर निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है :

1. स्थलीय या भूमिज निक्षेप (terrigenous deposits) :

(i) बजरी (gravels)
(ii) रेत (sand)
(iii) सिल्ट
(iv) मृत्तिका (clay)
(v) पंक (mud)
(अ) नीली पंक
(ब) हरी पंक
(स) लाल पंक

2. ज्वालामुखी पदार्थ तथा निक्षेप

3. जैविक पदार्थ तथा निक्षेप

(i) नेरेटिक निक्षेप
(ii) पेलैजिक निक्षेप
(अ) चूना प्रधान ऊज :
(i) टेरोपाड ऊज
(ii) ग्लोबिजेरिना ऊज
(ब) सिलिका प्रधान ऊज :
(i) रेडियोलैरियन ऊज
(ii) डायटम ऊज

4. अजैविक (अकार्बनिक) पदार्थ तथा निक्षेप

(i) लाल मृत्तिका
(ii) उल्का धूलि

इनका संक्षिप्त ब्योरेवार विवरण प्रस्तुत करना अनिवार्य है।

1. स्थलीय या भूमिज पदार्थ (terrigenous materials)

धरातलीय भाग पर अपक्षय की क्रिया के कारण चट्टानों में विघटन तथा वियोजन होता है, जिस कारण चट्टानें बारीक से लेकर बड़े-बड़े टुकड़ों में टूटकर बिखर जाती हैं। इन्हें 'भूमिज पदार्थ' कहते हैं। अपरदन के कारक (मुख्य रूप से नदी

तथा पवन) इन पदार्थों का परिवहन करके इन्हें महासागरों में जमा करना प्रारम्भ कर देते हैं। चूँकि इन पदार्थों के आकार में पर्याप्त भिन्नता होती है, अत: सागरों में इनके निक्षेपण में श्रेणीकरण (gradation) पाया जाता है, अर्थात् बड़े-बड़े पदार्थ तट के पास जमा होते हैं तथा सागर की ओर जाने पर इनका आकार घटता जाता है। यहाँ तक कि सुदूर जाने पर ये सागरीय जल के साथ घोल के रूप में लटके रहते हैं। कणों के आकार, उनकी बनावट तथा रासायनिक संगठन के आधार पर भूमिज पदार्थों को बजरी, रेत तथा पंक, तीन प्रकारों में विभक्त करते हैं।

बजरी (gravel)—बजरी के अन्तर्गत कणों का आकार 2 से 256 मिमी० व्यास वाला होता है। इनके कणों के आकार में पर्याप्त श्रेणीकरण होता है। 256 मिमी० से अधिक व्यासवाले टुकड़े को **गोलाश्म** (boulder), 64 से 256 मिमी० व्यासवाले कण को **गोलाश्मिका** (cobble), 4 से 63 मिमी० व्यासवाले कण को **गुटिका** (pebble) तथा 2 से 3 मिमी० व्यासवाले कण को **कणिका** (granule) कहते हैं। ये पदार्थ इतने बड़े होते हैं कि इनका निक्षेप सागर तट के पास मग्नतट पर ही हो जाता है। पुन: विघटन के कारण इनका आकार छोटा होता रहता है। इन पदार्थों का आयात नदियों द्वारा होता है।

रेत (sand)—एक मिमी० से 1/16 मिमी० व्यासवाले कणों को 'रेत' कहा जाता है। कणों के आधार पर रेत के पाँच प्रकार होते हैं—1. अत्यधिक मोटी रेत (very coarse sand, व्यास 1 मिमी०), 2. मोटी रेत (coarse sand, व्यास 0.5 मिमी०), 3. मध्यम रेत (medium sand, व्यास 0.25 मिमी०), 4. बारीक रेत (fine sand, व्यास 0.125 मिमी०), तथा अत्यधिक बारीक रेत (very fine sand व्यास 1/16 मिमी०)। रेत का निर्माण भी धरातल से चट्टानों के विघटन से होता है, जिसे नदियाँ तथा पवन सागरों में लाकर जमा कर देती हैं। सागर में स्थित गोलाश्म, गुटिका आदि के विघटन के कारण भी रेत का निर्माण होता है। रेत के जमाव में तट से सागर की ओर रेत के कणों का आकार बारीक होता जाता है।

सिल्ट, मृत्तिका तथा पंक (silt, clay and mud)—1/17 मिमी० से 1/256 मिमी० व्यासवाले कणों को सिल्ट तथा 1/257 मिमी० से 1/8192 मिमी० व्यास वाले कणों को 'मृत्तिका' कहते हैं। पंक के कण मृत्तिका से भी छोटे होते हैं। मृत्तिका एक संयोजक तत्व (cementing element) होती है। इन पदार्थों का निर्माण धरातल पर विघटन के कारण होता है तथा नदियाँ इनका परिवहन करके सागर में निक्षेपित करती हैं। मृत्तिका तथा पंक का निक्षेप शान्त जल में होता है। यही कारण है कि इनका जमाव 100 से 1000 फैदम की गहराई पर पाया जाता है। मरे ने पंक को रंग के आधार पर तीन प्रकारों में विभक्त किया है।

(i) **नीली पंक** (blue mud)—लोहे के सल्फाइड तथा जैविक तत्वों से युक्त चट्टानों के विघटन से प्राप्त पदार्थों से नीली पंक का निर्माण होता है, जो कि प्राय: जलमग्न तटों पर गहरे भागों में पायी जाती है। इसका वास्तविक रंग नीलापन लिए हुए काला होता है तथा चूने का अंश 35% होता है। अटलाण्टिक महासागर, रूम सागर, आर्कटिक सागर तथा बन्द सागर में नीली पंक का निक्षेप अधिक पाया जाता है।

(ii) **लाल पंक** (red mud)—लोहे के आक्साइड से युक्त चट्टानों के विघटन से प्राप्त पदार्थों के जमाव से लाल पंक का निर्माण होता है। इसमें कैलशियम कार्बोनेट का प्रतिशत 32 होता है। इसका जमाव नीली पंक की तुलना में अत्यन्त कम पाया जाता है। इसका निक्षेप मुख्य रूप से पीत सागर, ब्राजील तट के पास तथा अटलाण्टिक महासागर के नितल पर पाया जाता है।

(iii) **हरी पंक** (green mud)—नीली पंक के सागरीय रासायनिक अपक्षय के कारण रंग परिवर्तन के कारण हरी पंक का निर्माण होता है। इसमें पोटैशियम का सिलिकेट तथा लोहा पाया जाता है। लोहे का अंश ग्लाइकोनाइट 7% से 8% तक पाया जाता है। पोटाश का अंश 7% तथा चूने का अंश लगभग 50% पाया जाता है। इसका जमाव उन सागरीय भागों में पाया जाता है, जहाँ पर नदियों का जल नहीं आ पाता है। उत्तरी अमेरिका के प्रशान्त तथा अटलाण्टिक तटों के पास, जापान, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अफ्रीका के तटों के पास हरी पंक 100 से 900 फैदम की गहराई तक पायी जाती है।

2. ज्वालामुखी पदार्थ

ज्वालामुखी के उद्गार से प्राप्त पदार्थों का निक्षेपण सागरों में दो स्रोतों से होता है। प्रथम धरातलीय भागों पर ज्वालामुखी के उद्गार से प्राप्त पदार्थों में विघटन होने से उनका आकार बारीक हो जाता है तथा वे पवन द्वारा उड़ाकर सागर में ले जाये जाते हैं। वर्षा का जल भी इन्हें नदियों के सहारे सागर में पहुँचाता है। दूसरा, महासागरों के अन्तर्गत ज्वालामुखी के उद्भेदन के कारण ज्वालामुखी पदार्थ सीधे सागरों में जमा कर दिया जाता है। सागरों के किनारे पर बड़े कणों वाले ज्वालामुखी पदार्थ मिलते हैं, जिन्हें ज्वालामुखी रेत कहते हैं। ज्वालामुखी का जमाव नीली पंक के समान होता है। इसका रंग भूरा तथा काला होता है।

3. जैविक पदार्थ

इसे 'कार्बनिक पदार्थ' भी कहा जाता है। इस जमाव का स्रोत सागर स्वयं है। इसके अन्तर्गत सागरीय जीवों के अस्थिपंजर तथा वनस्पतियों के अवशेष से प्राप्त पदार्थों को सम्मिलित किया जाता है। इनको दो वर्गों में रखा जाता है—1. तट तलवासी या **नेरिटिक पदार्थ** (neritic matter) तथा 2. अगाध सागरस्थ या **पेलैजिक पदार्थ** (pelagic matter)। नेरिटिक पदार्थों के अन्तर्गत जीवों के अस्थिपंजरों तथा वनस्पतियों के अवशेष को सम्मिलित किया जाता है, जब कि पेलैजिक पदार्थ में विभिन्न प्रकार की शैवाल (algae) के

अवशेष को सम्मिलित किया जाता है। सागरीय तरंगों द्वारा जीवों के अस्थिपंजरों तथा वनस्पतियों में विघटन एवं रासायनिक परिवर्तन होता रहता है, जिस कारण वे पंक तथा रेत में बदल जाते हैं तथा उसका जमाव सागर तली में हो जाता है। इनमें चूने के कार्बोनेट पाये जाते हैं तथा छिछले सागरों में मिलते हैं।

(i) **तट तलवासी या नेरिटिक पदार्थ**—सागरों में मिलने वाले जीव जन्तुओं के अवशेष से प्राप्त पदार्थों को नेरिटिक पदार्थ कहते हैं। इनका जमाव मुख्य रूप से महाद्वीपीय मग्नतटों पर पाया जाता है, जिनके ऊपर प्राय: भूमिज जमाव का आवरण पाया जाता है। इसके अन्तर्गत मोलस्क जीव के कोष तथा टुकड़े, रेडियोलेरिया के अस्थिपंजर तथ स्पंज की कण्टिका (spicule), चूनाप्रधान एवं अम्लप्रधान वनस्पति के अवशेष को सम्मिलित किया जाता है।

(ii) **अगाध सागरस्थ या पेलैजिक पदार्थ**—इसके अंतर्गत अगाध सागर में मिलने वाले शैवाल से निर्मित पदार्थों को सम्मिलित किया जाता है। वास्तव में ये पदार्थ पंक के रूप में पाये जाते हैं, जिन्हें **ऊज** कहा जाता है। चूना और सिलिका की मात्रा के आधार पर इन्हें दो उप पकारों में विभाजित करते हैं।

(1) **चूनाप्रधान ऊज** (calcareous ooze)—चूने के अंश की अधिकता के कारण ये पदार्थ अधिक गहराई पर नहीं पाये जाते हैं क्योंकि ये शीघ्र ही घुल जाते हैं। इनकी स्थिति 1000 से 2000 फैदम के बीच महासागरों की तली पर पायी जाती है। प्रमुख जीव के आधार पर चूनाप्रधान ऊज को पुन: दो उपभागों में विभाजित किया जाता है—

(अ) **टेरापोड ऊज** (pteropod ooze)—महत्वपूर्ण मोलस्क जीव टेरोपाड द्वारा इस ऊज का निर्माण होता है, जिसमें कैलशियम कार्बोनेट 80% पाया जाता है। इन जीवों के कोश पतले होते हैं, जिनकी व्यास 1.5 इंच की होती है। अयनवर्ती सागरों के गर्म जल में यह ऊज 300–1000 फैदम के बीच पायी जाती है। इसकी स्थिति मुख्य रूप से मूंगेवाले क्षेत्रों में अधिक पायी जाती है। अधिक गहराई पर यह अदृश्य होने लगती है तथा 2000 फैदम के बाद तो यह पूर्णतया अदृश्य हो जाती है। इसका जमाव प्रशान्त महासागर के प० तथा पू० भागों में, अजोर्स के पास, कनारी द्वीप, एण्टीलीस, रूम सागर के मध्यवर्ती अन्त:सागरीय कटक (ridge) तथा हिन्द महासागर में पाया जाता है।

(ब) **ग्लोबिजेरिना ऊज** (globigerina ooze)—इसका निर्माण मुख्य रूप से चूनाप्रधान ग्लोबिजेरिना जीव के कोश (shell) से होता है। इसका रंग दूधिया सफेद होता है, परन्तु इसके अलावा इसका रंग नीला, भूरा, पीला तथा हरा भी होता है। इसकी रासायनिक संरचना में कैलशियम 64.47%, सिलिका तत्व 1.64%, खनिज 3.33% तक पाये जाते हैं। प्रमुख खनिज ग्लाकोनाइट होता है। इसके अलावा क्वार्टज्, अभ्रक आदि खनिज भी मिलते हैं। इसका जमाव अटलाण्टिक महासागर के उष्ण तथा शीतोष्ण भागों, हिन्द महासागर के पूर्वी तथा पश्चिमी जलमग्न तटों तथा पूर्वी प्रशान्त महासागरों में अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। इस ऊज की स्थिति 2000 से 4000 फैदम के बीच पायी जाती है। इसके आगे अथाह सागर में यह नहीं पायी जाती है।

(2) **सिलिका प्रधान ऊज** (siliceous ooze)—सिलिका अंश की अधिकता के कारण इसे 'सिलिकायुक्त ऊज' कहते हैं। चूने की कमी के कारण यह ऊज जल्दी घुलती नहीं है, अत: ठंडे तथा गर्म दोनों प्रकार के सागरों में अत्यधिक गहराई तक पायी जाती है। इसका उपविभाजन उसमें मिलने वाले जीव विशेष के नाम के आधार पर किया जाता है।

(i) **रेडियोलेरियन ऊज** (radiolarian ooze)—रेडियोलेरियन ऊज का निर्माण रेडियोलेरिया, डायटम तथा फोरामिनिफेर जीवों के अवशेष से होता है। इसमें सिलिका अंश अधिक तथा कैलशियम कार्बोनेट का अंश कम (औसत 4%) होता है। गहराई के साथ चूने का अंश घटता जाता है। यह ऊज उष्ण कटिबंधीय महासागरों में 2000 से 5000 फैदम की गहराई तक पायी जाती है। प्रशान्त महासागर में अधिक क्षेत्र में पायी जाती है। इसके अलावा हिन्द महासागर के पूर्वी भाग में तथा अटलांटिक महासागर में छिटपुट रूप में पायी जाती है।

(ii) **डायटम ऊज** (diatom ooze)—डायटम ऊज का निर्माण अत्यन्त सूक्ष्म पौधों के अवशेष से होता है। इसमें मृत्तिका का अंश भी पाया जाता है। सिलिका का अंश अधिक होता है। कैलशियम का अंश केवल 3 से 30% तक ही होता है। स्थल के पास इसका रंग लाल होता है तथा स्थल से दूर इसका रंग पीला या मटमैला होता है। सूखने पर इसका रंग सफेद हो जाता है। डायटम ऊज उच्च अक्षांशों में गहरे सागरीय भागों में पायी जाती है। अण्टार्कटिका महाद्वीप के चारों ओर, द० तथा उ० प्रशान्त महासागर (अलास्का से जापान तक) में 600 से 2000 फैदम की गहराई तक डायटम ऊज अधिक मात्रा में पायी जाती है।

4. अकार्बनिक पदार्थ

महासागरीय जल के तापक्रम में परिवर्तन के कारण रासायनिक परिवर्तन होते रहते हैं, जिस कारण कई प्रकार के अकार्बनिक (अजैव) खनिज तथा तत्व महासागरों में जमा हो जाते हैं। इनमें प्रमुख हैं—डोलोमाइट, सिलिका, लोहा, मैंगनीज आक्साइड, फासफेट तथा पाइराइट। सागरों में रासायनिक परिवर्तनों के कारण कार्बनिक तथा अकार्बनिक पदार्थों में इतना मिश्रण हो जाता है कि उनमें विभाजन करना कठिन हो जाता है। महासागरीय तली में इन पदार्थों का जमाव अधिक विस्तृत क्षेत्रों में पाया जाता है।

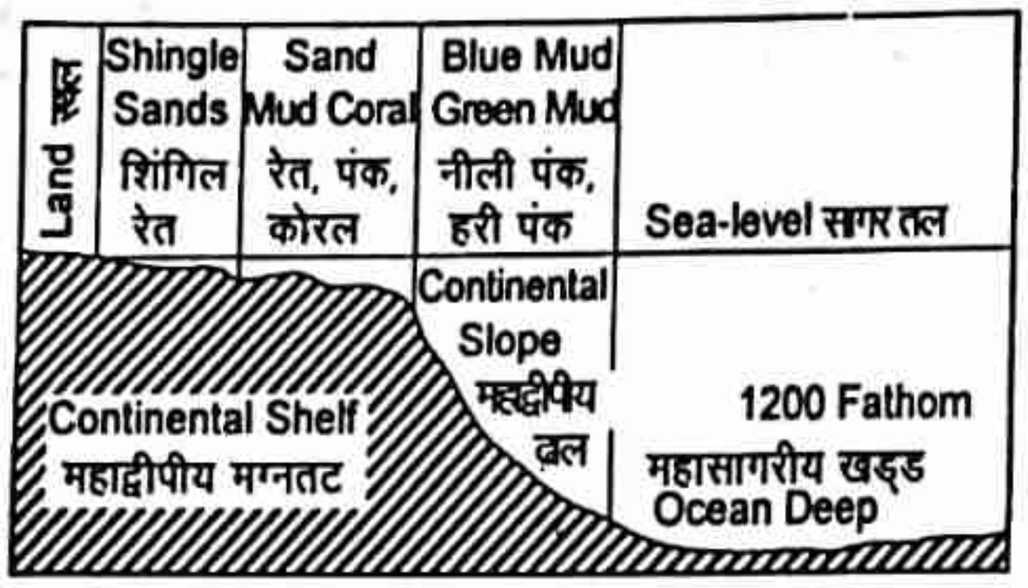

चित्र 27.1 : सागरीय निक्षेप का सामान्य वितरण (क्षैतिज)। कार्बनिक तथा अकार्बनिक पदार्थों में इतना मिश्रण हो जाता है कि उनमें विभाजन करना कठिन हो जाता है। महासागरीय तली में इन पदार्थों का जमाव अत्यधिक विस्तृत क्षेत्रों में पाया जाता है।

लाल मृत्तिका (red clay)—अकार्बनिक पदार्थों में लाल मृत्तिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि अगाध सागरीय जमावों में यह सबसे अधिक क्षेत्रों में पायी जाती है। इसके निर्माण में अल्यूमिनियम के सिलिकेट तथा लोहे के आक्साइड की मात्रा सर्वाधिक होती है। इसमें ज्वालामुखी के विघटित पदार्थों का अंश भी होता है। कुछ मात्रा में सागरीय जीवों के कम घिसने वाले भाग भी पाये जाते हैं। लाल मृत्तिका कोमल, लचीली तथा चिकनी होती है। सूखने पर लाल-भूरे रंग के पाउडर में बदल जाती है। इसमें कैलशियम 6.7%, सिलिकायुक्त जीवों के अवशेष 2.39% , अन्य तत्व (अल्यूमिनियम सिलिकेट, लोहा आदि) 85:35% पाये जाते हैं। प्राय: सभी सागरों में गहनतम भागों में लाल मृत्तिका पायी जाती है। अटलाण्टिक महासागर में 40° उ० से 40° द० अक्षांशों के मध्य, पूर्वी हिन्द महासागर तथा उत्तरी प्रशान्त महासागर में लाल मृत्तिका के विस्तृत क्षेत्र मिलते हैं। लाल मृत्तिका 2700 फैदम से अधिक गहरे भागों में पायी जाती है।

27.3 स्थिति के आधार पर महासागरीय निक्षेप का वर्गीकरण

स्थिति के आधार पर कई विद्वानों ने महासागरीय निक्षेपों को कई रूपों में, कई प्रकारों में विभाजित किया है। इनमें से मरे, जेनेकिन्स आदि के विभाजन उल्लेखनीय हैं :

मरे का विभाजन—मरे ने सागरीय निक्षेपों को दो प्रकारों में विभाजित किया है—स्थलीय या भूमिज निक्षेप तथा अगाध सागरस्थ या पेलैजिक निक्षेप। इनमें से भूमिज निक्षेप महाद्वीपीय जलमग्न तटों (continental shelves) तथा महाद्वीपीय ढालों पर पाये जाते हैं जबकि पेलैजिक निक्षेप महासागरीय तली में अधिक गहराई में पाये जाते हैं। पेलैजिक निक्षेप बारीक पदार्थों से निर्मित होते हैं तथा उनका रंग लाल या भूरा रंग होता है, जबकि भूमिज निक्षेप मोटे कणों से बने होते हैं एवं उनका रंग नीला, पीला या लाल हो सकता है।

जेनकिन्स का वर्गीकरण—जेनकिन्स ने सागरीय निक्षेप को तीन प्रकारों में विभाजित किया है—(i) अथाह गहराई के जमाव, (ii) छिछले जल के जमाव तथा (iii) तटीय जमाव। इनके वर्गीकरण का विशद विवरण नीचे प्रस्तुत है।

(अ) पेलैजिक निक्षेप

(1) लाल मृत्तिका
(2) रेडियोलैरियन ऊज
(3) डायटम ऊज
(4) ग्लोबिजेरिना ऊज
(5) टेरोपाड ऊज

(ब) स्थलीय या भूमिज निक्षेप

(1) नीली पंक
(2) लाल पंक
(3) हरी पंक
(4) कोरल पंक
(5) ज्वालामुखी पंक
(6) बजरी
(7) रेत

गहराई के आधार पर वर्गीकरण

1. अधिक गहरे जल का निक्षेप (100 फैदम से नीचे)

(अ) पेलैजिक निक्षेप

(1) लाल मृत्तिका
(2) रेडियोलैरियन ऊज
(3) डायटम ऊज
(4) ग्लोबिजेरिना ऊज
(5) टेरोपाड ऊज

(ब) भूमिज निक्षेप

(1) नीली पंक
(2) लाल पंक
(3) हरी पंक
(4) कोरल पंक
(5) ज्वालामुखी पंक

2. छिछले सागर का निक्षेप

(निम्न ज्वार तल से 100 फैदम तक)

(1) बजरी
(2) रेत
(3) पंक

3. तटीय निक्षेप

(उच्च तथा निम्न ज्वार तल के बीच)

(1) बजरी
(2) रेत
(3) पंक

27.4 महासागरीय निक्षेप का सामान्य वर्गीकरण

1. भूमिज निक्षेप
   (1) तटीय निक्षेप
   (2) छिछले सागर का निक्षेप
   (3) भूमिज पंक

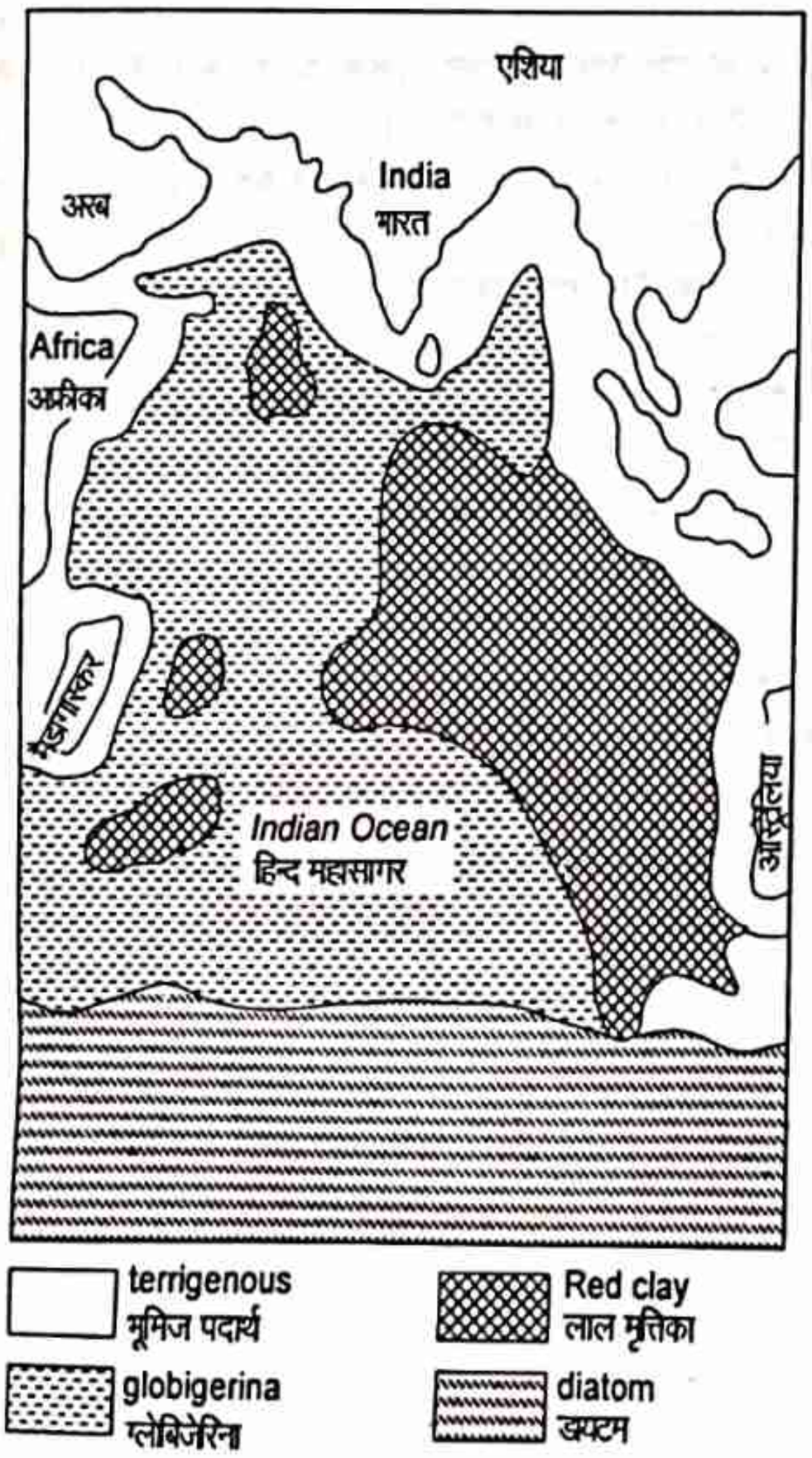

चित्र 27.2 : हिन्द महासागर में सागरीय निक्षेप का क्षैतिज वितरण।

2. नेरिटिक निक्षेप
   (1) छिछले सागर का नेरिटिक निक्षेप
   (2) गहरे सागर का नेरिटिक निक्षेप
   (3) पेलैजिक निक्षेप

1. स्थलीय या भूमिज निक्षेप (Terrigenous Deposits)

स्थलीय निक्षेपों के पदार्थ मुख्य रूप से धरातलीय चट्टानों के विघटन या वियोजन से प्राप्त होते हैं, जिन्हें पवन, नदियाँ आदि परिवहन करके महासागरों में लाती हैं। इन पदार्थों में बजरी (gravel), रेत (sand), पंक (mud) ज्वालामुखी पदार्थ आदि तथा कुछ जीवों के अवशेष सम्मिलित किये जाते हैं। तट से सागर की ओर इस जमाव में पूर्ण श्रेणीकरण (gradation)

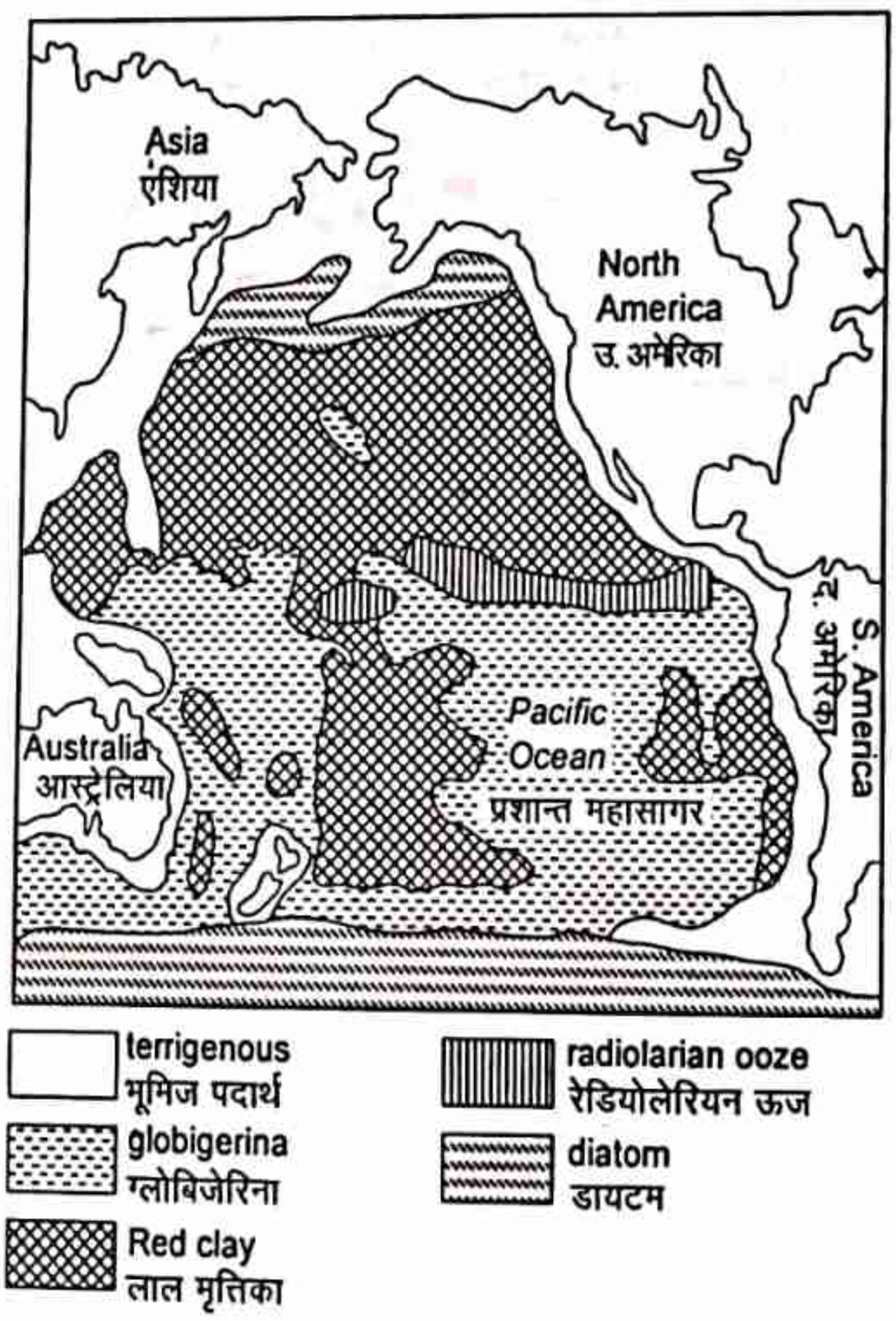

चित्र 27.3 : प्रशान्त महासागर में सागरीय निक्षेप का क्षैतिज वितरण।

पाया जाता है, अर्थात् तट के पास बड़े तथा मोटे कण पाये जाते हैं तथा सागर की ओर इनका क्रम क्रमशः बजरी, रेत, सिल्ट, मृत्तिका तथा पंक के रूप में होता है। इनका रंग नीला, पीला तथा लाल होता है। महासागरीय धाराओं तथा लहरों द्वारा श्रेणीकरण में अव्यवस्था हो जाती है। गहराई

के आधार पर भूमिज निक्षेप को तीन प्रकारों में विभक्त किया जाता है :

चित्र 27.4 : आन्ध्र महासागर में सागरीय निक्षेप का क्षैतिज वितरण।

1. गहरे जल के निक्षेप—100 फैदम के नीचे पाये जाते हैं। गहराई के आधार पर (अधिक से कम गहराई की ओर) क्रमशः नीली पंक, लाल पंक, हरी पंक, मूंगे की पंक तथा ज्वालामुखी पंक पायी जाती है।

2. छिछले जल के जमाव—100 फैदम से निम्न ज्वार तल के बीच पाये जाते हैं, जिसमें बजरी, रेत, सिल्ट, मृत्तिका आदि पायी जाती है।

3. तटीय जमाव—उच्च तथा निम्न ज्वार तल के बीच पाये जाते हैं, जिनके अन्तर्गत बजरी, बजरी रेत, सिल्ट, मृत्तिका आदि को सम्मिलित किया जाता है। विभिन्न प्रकार के भूमिज पदार्थों का विशद विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

2. पेलैजिक निक्षेप

महासागरों में मिलने वाले जीवों तथा वनस्पतियों के अवशेषों तथा कार्बनिक तत्वों के निक्षेप को, जो कि महासागरों में अधिक गहराई पर पाये जाते हैं, **'पेलैजिक निक्षेप'** कहते हैं। पेलैजिक निक्षेपों में विभिन्न प्रकार की ऊज का वितरण सर्वाधिक मात्रा में पाया जाता है। समस्त सागरीय निक्षेपों के 0.4% भाग में टेरोपाड ऊज, 6.4% में डायटम ऊज, 3.4% भाग में रेडियोलेरियन ऊज एवं 30.1% भाग में लाल मृत्तिका पायी जाती है। इनमें से टेरोपाड ऊज 5 लाख वर्गमील क्षेत्रफल में पायी जाती है। ग्लोबीजेरिना ऊज का निक्षेप प्रशान्त महासागर में 2.5 करोड़ वर्गमील क्षेत्रफल में, अटलांटिक महासागर में 1.47 करोड़ वर्गमील में तथा हिन्दमहासागर में 1.22 करोड़ वर्गमील क्षेत्रफल में पाया जाता है। रेडियोलेरियन ऊज का निक्षेप प्रशान्त महासागर तथा हिन्द महासागर में 20,00,000 वर्गमील क्षेत्रफल में पाया जाता है। डायटम ऊज का निक्षेप उत्तरी प्रशान्त महासागर में 40,000 वर्गमील और दक्षिणी महासागरों में 1.07 करोड़ वर्गमील क्षेत्रफल में पाया जाता है। समस्त महासागरों को मिलाकर लगभग 5 करोड़ वर्गमील क्षेत्रफल में लाल मृत्तिका का निक्षेप पाया जाता है। विभिन्न प्रकार के पेलैजिक पदार्थों का विशेष विवरण पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है।